हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

ग्रन्थावली का यह आठवाँ खण्ड आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के दो प्रेरणा-स्रोत महाकवियों कालिदास तथा रवीन्द्र को समर्पित है। एक ने केवल अपने साहित्य के माध्यम से उन्हें हिल्लोलित-प्रणोदित किया, और दूसरे ने साहित्य के साथ-ही-साथ अपने नैकट्य से भी उनके भीतर अव्यवहित प्राणधारा का संचार किया। यहाँ द्विवेदीजी की तीन पुस्तकें प्रस्तुत हैं मेघदूत : एक पुरानी कहानी, कालिदास की लालित्य-योजना और मृत्युंजय रवीन्द्र। "मेघदूत : एक पुरानी कहानी के माध्यम से भारतीय वाङ्मय की एक सरस एवं लोकप्रिय कृति को नतन मूल्यवान और किंचित् मौलिक परिधान में पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गयी है। (रवीन्द्र भ्रमर) कालिदास की लालित्य योजना में "पाण्डित्य है, शास्त्रज्ञान है, चिन्तन-मनन है, मूल्यांकन की विवेचनी मनीषा का नवीन बोध है, पूर्व और पश्चिम की प्राक्तन उपलब्धियों का बुद्धिसंगत समंजन है और सर्जनात्मक प्रतिभा का विपर्यानिष्ठ और विपर्यायनिष्ठ उभयविध उन्मेष है। (करुणापति त्रिपाठी) और मृत्युंजय रवीन्द्र "अत्यन्त उदात्त क्षणों में कवि के अन्तर से फूट पड़नेवाले विचारों से लेकर साधारण-से-साधारण क्षणों में जग उठनेवाली सुकुमार भावुकता और सामान्य-से-सामान्य अवसरों पर बिखर पड़नेवाले हास्य और निष्कण्टक व्यंग्य की फुलझड़ियों के उल्लेख से व्यक्तित्व-सम्बन्धी प्रायः सभी निबन्धों में सहज रसमयता आ गयी है।" (इलाचन्द्र जोशी)

प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

कालिदास तथा रवीन्द्र

मेघदूत : एक पुरानी कहानी

कालिदास की लालित्य-योजना

मृत्युंजय रवीन्द्र

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

8

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना
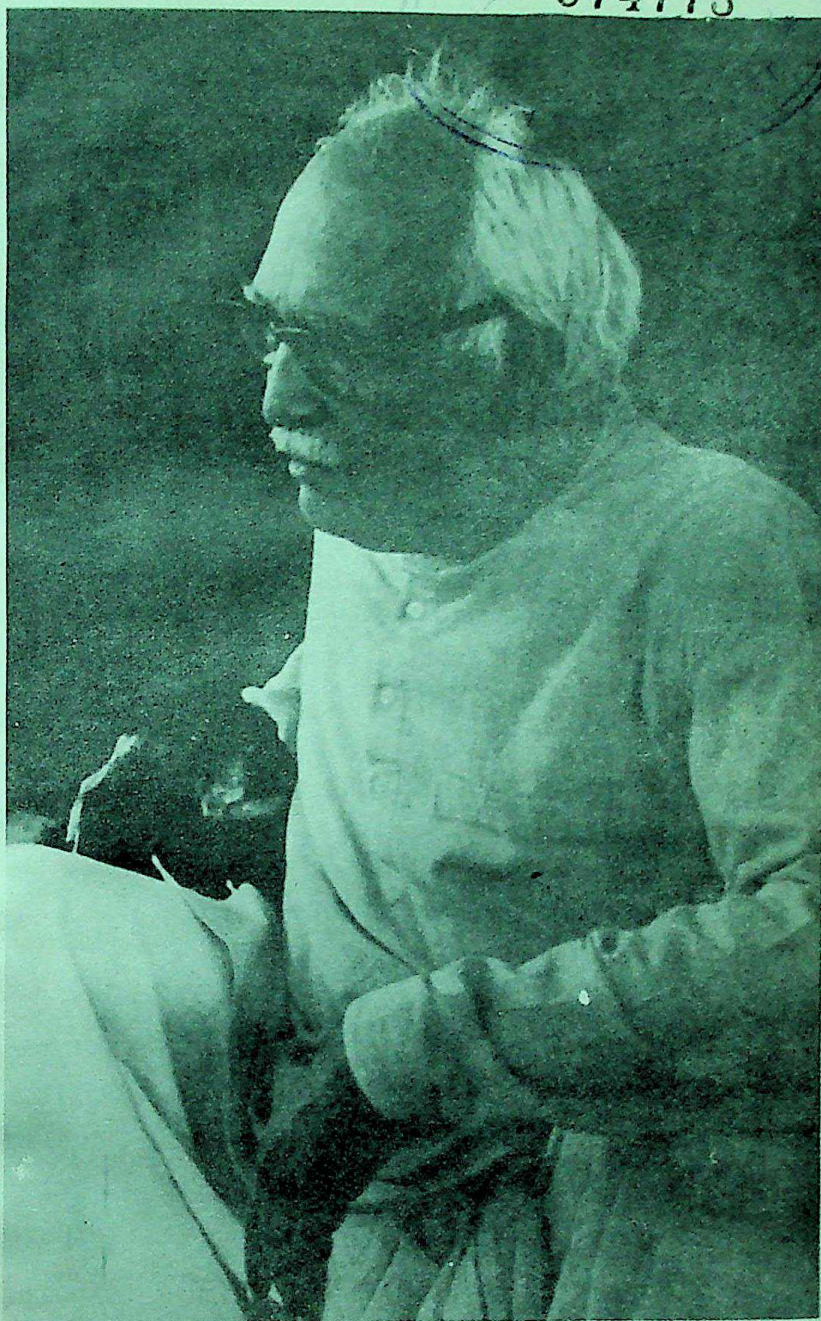
"मरे बच्चे को गोद में दबाये रहनेवाली बँदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धित्सा के नशे में चूर होकर अपना सर्बस खो दें।"

—कल्पलता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्नेह-छाया में

"ऐसे गुरु की शिष्यता प्राप्त करनेवाले मेरे-जैसे भाग्यवान् कितने हैं !"

—आलोक-पर्व

मेघदूत

कविवर कबे कोन् विस्मृत बरषे
कोन् पुण्य आषाढ़ेर प्रथम दिवसे
लिखेछिले मेघदूत। मेघमन्द्र श्लोक
विश्वेर विरही यत सकलेर शोक
राखियाछे आपन आँधारे स्तरे स्तरे
सघन सङ्गीत माझे पुञ्जीभूत क'रे॥

सेदिन से उज्जयिनी प्रासाद शिखरे
की ना जानि घनघटा विद्युत्-उत्सव,
उद्दाम पवनवेग, गुरु गुरु रव।
गम्भीर निर्घोष सेइ मेघ संघर्षेर
जागाये तुलियाछिल सहस्र वर्षेर
अन्तर्गूढ़ बाष्पाकुल विच्छेद क्रन्दन
एक दिने। छिन्न करि' कालेर बन्धन
सेइ दिन झ'रे पड़ेछिल अविरल
चिर दिवसेर येन रुद्ध अश्रुजल
आर्द्र करि' तोमार उदार श्लोक राशि॥

सेदिन कि जगतेर यतेक प्रवासी
जोड़ हस्ते मुख पाने शून्ये तुलि' माथा

द्विवेदीजी की हस्तलिपि में रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा बंगाली में अनुवादित 'मेघदूत' के कुछ छन्द

एकखानि छोटो क्षेत आमि एकेला,
चारिदिके बाँका जल कोरिछे खेला।
परपारे देखि आँका तरुछाया मसी माखा,
ग्रामखानि मेघे ढाका प्रभातबेला।
ए पारेते छोटो क्षेत आमि एकेला॥

गान गेये तरी बेये के आसे पारे।
देखे येन मने हय चिनि उहारे।
भरापाले च'ले याय, कोनो दिके नाहि चाय,
ढेउगुलि निरुपाय भाङे दु धारे,
देखे येन मने हय चिनि उहारे॥

ओगो तुमि कोथा याओ कोन विदेशे।
बारेक भिड़ाओ तरी कूलेते एसे।
येयो येथा येते चाओ, यारे खुसि तारे दाओ
शुधु तुमि निये याओ क्षणिक हेसे
आमार सोनार धान कूलेते एसे॥

यत चाओ तत लओ तरणी 'परे।
आरो आछे,— आर नाइ, दियेछि भ'रे।
एतकाल नदीकूले याहा ल'ये छिनू भूले,
सकलि दिलाम तुले थरे विथरे,
एखन आमारे लह करुणा करे॥

ठाँइ नाइ, ठाँइ नाइ, छोटो से तरी
आमारि सोनार धाने गियेछे भरि।
श्रावण-गगन घिरे घन मेघ घुरे फिरे,
शून्य नदीर तीरे रहिनु पड़ि',
याहा छिल निये गेल सोनार तरी॥

फाल्गुन, १२९८ — "सोनार तरी"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता 'सोनार तरी' का एक अंश
द्विवेदीजीकी हस्तलिपि में

निवेदन

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन में अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थीं जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोड़कर वे चले गये हैं। **हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली** की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की शृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-विन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचना-दृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन में विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्हीं अद्वितीय प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पाँचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयी हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके, इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्रायः अभिभूत रहे हैं, अतः दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थीं और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योतिःशास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया; और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रणप्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम वृहद् हिन्दी विश्व परिवार को समर्पित करते हैं। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि में थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे।

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

अनुक्रम

"मनुष्य क्षमा कर सकता है, देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदय से लाचार है, देवता नियम का कठोर प्रवर्त्तयिता है। मनुष्य नियम से विचलित हो जाता है, पर देवता की कुटिल भृकुटि नियम की निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह गलती कर सकता है, देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियन्ता है।"

"धन्य हो महाकाल ! तुमने अपनी कुहकमयी शक्ति के द्वारा सारे जगत् के मूल सत्य पर सुवर्णमय आवरण डाल रखा है। अगर यह हिरण्मय पात्र का आवरण न होता, तो कदाचित् मनुष्य का चित्त रेगिस्तान के समान नीरस हो जाता, उसमें अभिलाष-चंचल भाव कभी दिखलायी ही नहीं देते और कदाचित् वह रूप के माध्यम से तुम्हें पकड़ नहीं पाता। नग्न सत्य शायद दुर्वह बोझ ही होता। अच्छा ही है जो मनुष्य को अनावृत्त नग्न सत्य के वास्तव रूप का पता नहीं है। होता तो अपने चित्त के विक्रियाओं के ताने-बाने से वह सत्य को इतना रागरक्त करके न देखता। कहाँ होती उस समय महामाया के त्रिजगन्मनोज्ञ रूप की उल्लास-मुखर कल्पना ? अच्छा ही हुआ जो विधाता ने सत्य के मुख को हिरण्मय पात्र से ढँक दिया है।"

—मेघदूत : एक पुरानी कहानी
ग्रन्थावली-8, पृष्ठ 22, 51

"मनुष्य के अन्तर में जो प्रकाश है वह उसके बाह्य आचरण में भी प्रकट होता है। अन्तर और बाह्य जगत् एकदम असम्बद्ध नहीं हैं। यह समझना कि बाहरी आचरण से आन्तरिक शुचिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक नहीं है। इसलिए महापुरुषों का बाहरी आचरण भी कुतूहल और जिज्ञासा का विषय बन जाता है। वस्तुतः, सत्य जब आचरित या सेवित बनता है तभी धर्म बनता है। जो विचार आचार के रूप में नहीं उतारा गया, वह केवल बात-की-बात है।"

"सम्पूर्ण देश आज नया मार्ग खोज रहा है। परीक्षाओं की प्रणाली अब विचारशील लोगों को सन्तोष नहीं दे रही है, डिग्री के मोह ने वास्तविक ज्ञान को आच्छन्न कर लिया है, विद्यालयों की पढ़ाई का काई निश्चित उद्देश्य नहीं रह गया है। सर्वत्र यह अनुभव किया जा रहा है कि यान्त्रिक जड़ता से मुक्ति पाने का कोई उपाय खोजना चाहिए। शिक्षा यदि इस प्रकार की दृष्टि नहीं पैदा कर सकती जो मनुष्य-जीवन के श्रेष्ठ मानों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर सके, सामाजिक मंगल की चेतना उत्पन्न कर सके और मानवता के आदर्श को जीवन में प्रतिष्ठित कर सके तो वह भार-मात्र है।"

—मृत्युंजय रवीन्द्र
ग्रन्थावली-8, पृष्ठ 279, 418

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

८
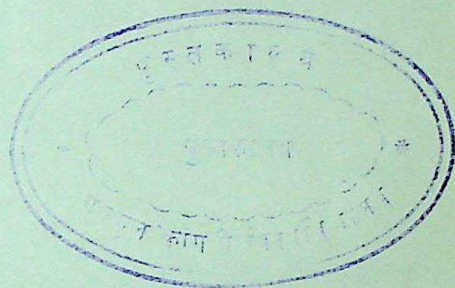
मेघदूत : एक पुरानी कहानी

निवेदन

आज से तीन वर्ष पूर्व मेरी आँखें बहुत खराब हो गयीं। तीन-चार महीने तक असह्य पीड़ा थी और पढ़ना-लिखना तो दूर दिन में आँख खोलकर ताकना भी मना था। जब पीड़ा की मात्रा कुछ कम हुई तो विश्राम के लिए शान्ति-निकेतन के अपने पुराने आवास में एक महीने के लिए चला गया। दिन-भर आँख बन्द किये रहता था, और निश्चेष्ट पड़ा रहता था, पर मन में लिख-पढ़ न सकने के कारण एक प्रकार का विचित्र उद्वेग बना रहता था। एक दिन मेरे मित्र और अग्रज-समान पूज्य पं. निताई विनोद गोस्वामी ने कहा कि आप भी बैठे-बैठे 'मेघदूत' की एक व्याख्या क्यों न लिख दें! गोस्वामीजी बहुत ही उच्चकोटि के विद्वान् और सहृदय व्यक्ति हैं। उनके इस इंगित ने मुझे प्रेरणा दी। मैंने उनसे कहा कि 'गीता' और 'मेघदूत' हमारे देश के दो विचित्र ग्रन्थ हैं। धर्म और अध्यात्म का उपदेश देनेवाला हरएक विद्वान् और आचार्य गीता की एक व्याख्या अवश्य लिख जाता है, और साहित्य-रसिक कवि और सहृदयजन कोई-न-कोई टीका, व्याख्या, कविता या आलोचना 'मेघदूत' के सम्बन्ध में अवश्य लिख जाते हैं। ये दोनों ग्रन्थ विश्वनाथजी के मन्दिर के घण्टे के समान हैं। हर तीर्थयात्री एक बार इनको अवश्य बजा जाता है। गोस्वामीजी का सुझाव बिल्कुल ठीक था। मुझे 'मेघदूत' पर कुछ लिखना चाहिए। पाँचों सवारों में नाम लिखाने का इससे सुगम साधन और कोई नहीं है।

इस प्रकार 'मेघदूत' की व्याख्या लिखने की प्रेरणा मिली। एक बुरी आदत यह पड़ गयी है कि जब लिखने बैठता हूँ तो दो-चार पुस्तकें अवश्य खोल लेता हूँ। कुछ उद्धरण देने के लिए और कुछ अपनी बात की पुष्टि के लिए प्रमाण संग्रह करने के लिए; परन्तु जब आँखें खराब हों, लिखने-पढ़ने पर सख्त पाबन्दी हो, और पुस्तक माँगने पर मित्रों की ओर से भी डाँट पड़ने की ही आशंका हो तब उपाय ही क्या है? इसीलिए कोई टीका या व्याख्या लिखना तो सम्भव नहीं था, जो कुछ लिखा या लिखाया गया वह 'गप्प' से अधिक की मर्यादा नहीं रखता। इसीलिए मैंने इसका नाम भी दिया—'मेघदूत: एक पुरानी कहानी'। जो कुछ

लिखा गया वह निस्सन्देह मूल श्लोकों के आधार पर ही लिखा गया, परन्तु ऐसी बातें भी उसमें आ गयी हैं, जो लिखे गये अर्थों की पुष्टि के लिए जोड़ दी गयी थीं। बाद में पाद-टिप्पणी में वे मूल श्लोक भी लिख लिये गये, जिनके आधार पर व्याख्या प्रस्तुत की गयी थी। ये अंश कलकत्ते के 'नया समाज' में कुछ दिनों तक प्रकाशित होते रहे। शान्ति-निकेतन में पूर्वमेघ का अधिकांश लिख लिया गया था, परन्तु ग्रन्थ पूरा नहीं हुआ। मुझे फिर कर्मस्थान पर लौट आना पड़ा और अनेक कामों में उलझ जाना पड़ा। पुस्तक अधूरी ही पड़ी रह गयी। लेकिन इस बीच कई सहृदय विद्वानों ने उसे पूरा कर देने का आग्रह किया। मेरे दो प्रिय छात्र—श्री मदनमोहन पाण्डेय और श्री विश्वनाथप्रसादजी—ने बार-बार आग्रह और तगादा करके और किसी भी समय लिखने को तैयार होकर बाकी अंश भी पूरा करा लिया और इस प्रकार यह कहानी किसी तरह किनारे लगी।

'मेघदूत' अद्‌भुत काव्य है। अब तक इस पर सैकड़ों व्याख्याएँ लिखी जा चुकी हैं। आधुनिक युग में यह और भी लोकप्रिय हुआ। भारतीय भाषाओं में इसके कई समश्लोकी और पद्यात्मक अनुवाद हुए हैं। आधुनिक हिन्दी के अन्यतम प्रवर्त्तक राजा लक्ष्मणसिंह से लेकर इस युग के नवीन विचारवाले युवक कवियों तक ने इसे अपने ढंग से कहने का प्रयत्न किया है। जो भी इसे पढ़ता है, उसे अपने ढंग से इसमें ताजगी दिखायी पड़ती है। क्या कारण है? सम्भवतः 'मेघदूत' मनुष्य की चिरनवीन विरह-वेदना और मिलनाकांक्षा का सर्वोत्तम काव्य है। शायद ही कोई काव्य हो जो मनुष्य को इतनी गहराई में आन्दोलित और प्रभावित कर सका हो। ऐसे अद्‌भुत काव्य का इतना लोकप्रिय होना आश्चर्य की बात नहीं है।

मेरी यह व्याख्या कैसी हुई है, इस पर विचार करना मेरा काम नहीं है। 'स्वान्तः सुखाय' बहुत बड़ा शब्द है। परन्तु मैंने जिन दो-चार निबन्धों और पुस्तकों की रचना सचमुच 'स्वान्तः सुखाय' की है, उनमें यह भी एक है। यह जैसी भी है, सहृदयों के कर-कमलों में समर्पित है। उन्हीं का स्नेह पाकर यह धन्य हो सकती है।

काशी, 20.11.1957 **हजारीप्रसाद द्विवेदी**

मेघदूत : एक पुरानी कहानी

[1]

कहानी बहुत पुरानी है, किन्तु बार-बार नये सिरे से कही जाती है। अतः एक बार फिर दुहराने में कोई नुकसान नहीं है।

एक यक्ष था, अलकापुरी का निवासी। इस देश और इस काल के निवासियों की दृष्टि से देखा जाय तो वह निहायत गरीब नहीं कहा जा सकता। दूर से ही उसके विशाल महल का तोरण इन्द्रधनुष के समान झलमलाया करता था। मकान की सीमा में ही जो मनोहर वापी उसने बनवायी थी, उसकी सीढ़ियाँ मरकत मणि की शिलाओं से बाँधी गयी थीं और उसके भीतर वैदूर्य मणि के स्निग्ध-चिकने-नालों पर मनोहर स्वर्ण-कमल खिले रहते थे। इस वापी के निकट ही इन्द्रनील मणियों से बना हुआ क्रीड़ा-पर्वत था, जिसके चारों ओर कनक-कदली का बेड़ा लगा था। एक माधवी-मण्डप का क्रीड़ानिकुंज था, जिसके ठीक मध्य में स्फटिक मणि की चौकी पर कांचनी वासयष्टि थी, जिस पर उस यक्ष का शौकीन पालतू मयूर बैठा करता था---शौकीन इसलिए कि यक्षप्रिया की चूड़ियों की झंकार से ही नाच लेने में उसे रस मिलता था। ग़रज़ कि मकान की शान देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह गरीब था। उसके बाहरी द्वार के शाखा-स्तम्भों पर पद्म और शंख थे, जिसका मतलब कुछ विद्वान् यह बताते हैं कि शंख और पद्म तक की सम्पत्ति उसके पास थी और कुछ विद्वान् इसे उन दिनों के पैसेवालों की महत्त्वाकांक्षा का चिह्न-मात्र मानते हैं। जो भी हो, यक्ष बहुत गरीब नहीं था। कल्पवृक्ष के पास रहनेवालों को धन की क्या कमी हो सकती है भला !

परन्तु निर्धन चाहे न हो, नौकरीपेशा आदमी वह ज़रूर था। यह तो नहीं मालूम कि वह क्या काम करता था; मगर 'मेघदूत' के टीकाकारों ने जो अनुमान भिड़ाये हैं, उनसे यही पता लगता है कि वह कोई बहुत ऊँचे ओहदे का आदमी नहीं था। कुछ लोग बताते हैं कि यक्षपति कुवेर का माली था। प्रिया के प्रेम में वह

निरन्तर ऐसा पगा रहता था कि काम-काज पर बिल्कुल ध्यान नहीं देता था। एक दिन इन्द्र का मतवाला हाथी ऐरावत आकर बगीचा उजाड़ गया और इन हज़रत को पता भी नहीं चला ! कुबेर रईस आदमी थे, फूलों के बड़े शौकीन। उन्हें यक्ष की—बेचारे का नाम किसी ने नहीं बताया—इस हरकत पर क्रोध आया और उसे साल-भर के लिए देश-निकाले की सज़ा दे दी। दूसरे लोग कहते हैं, कुबेर ने प्रातःकाल पूजा के लिए ताजे कमल के फूल लाने के काम पर उसे नियुक्त किया था। पर प्रातःकाल उठ सकने में कठिनाई थी और यह प्रमादी सेवक बासी फूल दे आया करता था। जो हो, इतना स्पष्ट लगता है कि नौकरी वह मामूली-सी ही करता था। ग़फ़लत कर गया और साल-भर के लिए देश-निकाले का दण्डभागी बना। पहली कहानी कुछ अधिक ठीक जान पड़ती है। जरूर ऐरावत ने ही इस बेचारे की दुर्दशा करायी होगी ! 'मेघदूत' में ऐसा इशारा भी है।

कुबेर चाहते, तो जुर्माना कर सकते थे। पर वह दण्ड बेकार होता, क्योंकि कल्पवृक्ष से वह जो चाहता, वही माँग लेता और जुर्माना चुका देता। जेलखाने वहाँ शायद थे ही नहीं। उस नगरी में एकमात्र बन्धन प्रिया का बाहु-पाश था। पर कुबेर ने इस दण्ड से कोई विशेष फायदा नहीं देखा। असल में देश-निकाले से बढ़कर और कोई दण्ड उस देश में हो ही नहीं सकता था। मगर यक्ष कुबेर का चाहे जितना भी अदना नौकर क्यों न हो, था देवयोनि का जीव। निधियाँ उसके अधिकार में थीं, सिद्धियाँ उसके लिए सब-कुछ करने को प्रस्तुत थीं। इसलिए सिर्फ राजादेश से यदि दण्ड दिया जाता, तो यक्ष कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य कर लेता, जिससे वह अलका के बाहर भी आराम से रह सकता था। हज़ार हो, देवयोनि में जन्मा था, सो कुबेर ने उसे सज़ा नहीं दी, शाप दिया। देवता ही देवता को मारना जानता है। लोहा ही लोहे को काट सकता है।

प्रेमजन्य प्रमाद इतिहास में और भी हुए हैं। यक्ष ने जो ग़फ़लत की, वैसी ही और भी कई बार की गयी है। कहते हैं, खानखाना अब्दुर्रहीम का एक साधारण भृत्य प्रिया-प्रेम में कर्त्तव्य-बुद्धि से इतना हीन हो गया कि छह महीने तक काम पर ही न गया। गया तो डरता हुआ और जीवन की सबसे कठिन सजा सुनने की आशंका लिये हुए। उसकी प्रिया कविता लिख लेती थी। उसने पुरजे पर एक बरवै छन्द लिख दिया था। इस पर कवि रहीम ने भृत्य का अपराध क्षमा कर दिया था और पुरस्कार भी दिया था। वे मनुष्य थे, पर कुबेर तो देवता थे। मनुष्य क्षमा कर सकता है, देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदय से लाचार है, देवता नियम का कठोर प्रवर्त्तयिता है। मनुष्य नियम से विचलित हो जाता है, पर देवता की कुटिल भृकुटि नियम की निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह गलती कर सकता है, देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियन्ता है। सो कुबेर ने उसे शाप दे दिया।

उस बेचारे की महिमा कम हो गयी। उसका देवत्व जाता रहा। कहाँ जाय, क्या करे ? शहर अच्छे नहीं लगते, जंगलों में मन नहीं रमता, जीवन में पहली

बार प्रिया का दुःसह वियोग सहना पड़ा। उसने रामगिरि के पवित्र आश्रम में अपनी बस्ती बनायी। बड़े-बड़े घनच्छाय वृक्षों से आश्रम लहलहा रहा था और ठण्डे पानी के वे पवित्र सोते यहाँ काफी संख्या में थे, जिनमें जनकनन्दिनी ने न जाने कितनी बार स्नान किया था। विरह की बेचैनी काटने के लिए इससे अच्छा स्थान नहीं चुना जा सकता था। राम से बड़ा विरही और कौन हो सकता है? और इतना अपार धैर्य और किसमें मिल सकता है? अपने हाथों से राम और सीता ने जो पेड़ लगाये थे, उनकी शीतल छाया से बढ़कर शामक वस्तु और क्या हो सकती है? यक्ष ने बहुत सोच-समझकर, निहायत अक्लमन्दी से यही स्थान चुना—पवित्र, शीतल और शामक।

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ 1 ॥

रामगिरि सरगुजा-रियासत की कोई छोटी-सी पहाड़ी है। एक समतल भूमि पर से यह पहाड़ी उठी है। बहुत ऊँची नहीं है। लेकिन इसके उत्तर की ओर और उत्तर-पूर्व की ओर काफी ऊँची पर्वतमालाएँ हैं। पहाड़ जहाँ थोड़ा समतल होकर नीचे की ओर ढलता है, उस ढलाव को संस्कृत में 'सानु' या 'पर्वत-नितम्ब' कहते हैं। रामगिरि के ढलाव बड़े मनोरम हैं। बेचारा यक्ष आठ महीने तो किसी प्रकार काट गया, पर अचानक आषाढ़ मास की पहली तिथि को रामगिरि के सानु-देश में लगे हुए एक काले मेघ को देखकर व्याकुल हो उठा। वर्षा का सुहावना काल किसे नहीं व्याकुल कर देता? यक्ष बेचारा तो यों ही विरह का मारा था। जब आसमान मेघों से, पृथ्वी जलधारा से, दिशाएँ विद्युल्लताओं से, वन-कुंज पुष्पों से और नदियाँ नवीन जल-राशि से भरती रहती हैं, तो मनुष्य का लाचार हृदय भी अकारण औत्सुक्य से भरने लगता है—जैसे कुछ अनजाना खो गया हो, कुछ अनचीता हो गया हो। विरही यक्ष ने पर्वत के सानु-देश पर सटे हुए काले मेघ को देखा। कैसा देखा? जैसे कोई काला मतवाला हाथी पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मारने का खेल खेल रहा हो! किसी दिन इन्द्र के मतवाले हाथी ने इसी प्रकार ढूँसा मारकर कुबेर का बगीचा बरबाद कर दिया था। यक्ष का सोने का संसार धूल में मिल गया। वह दुनिया के एक कोने में फेंक दिया गया, प्रिया से दूर—बहुत दूर। आज यह मेघ भी मतवाले हाथी के समान पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मार रहा है। यक्ष का हृदय चंचल हो उठा। उसे अपनी प्रिया का ध्यान आया—तपे हुए सोने के समान वर्ण, छरहरा शरीर, नुकीले दाँत, पके बिम्बफल के समान अधर, चकित हरिणी के समान नेत्र—विधाता की मानो पहली रचना हो, जब उनके पास सब सामग्री पूरी मात्रा में थी, कहीं उन्होंने कृपणता नहीं दिखायी; शोभा की खानि, सौन्दर्य की तरंगिणी, कमनीयता की मूर्त्ति। हा विधाता, आज फिर यह हाथी आया! क्या अनर्थ करेगा यह? लेकिन यक्ष ने ध्यान से देखा, यह हाथी के समान दिखायी देने-

वाला जीव हाथी नहीं है, पहाड़ पर अटका हुआ मेघ है। भीगी हवा के झोंकों से हिल रहा है, आगे बढ़ता है, पीछे हटता है, झूमता है, झमकता है ! ना, यह ढूँसा मारनेवाला हाथी नहीं है। यह तो हवा के झोंके से झूमनेवाला मेघ है। विरह से उसका शरीर बहुत जर्जर हो गया था, हाथ में का सुवर्ण कंकण ढीला होकर खिसक गया था, जैसे पतझड़ के मौसम में खड़ा देवदारु का वृक्ष हो—श्रीहीन, पौरुष-हीन। 'अबला' के वियोग में ऐसी निर्बलता भी आ जाती है !

आठ मास बीत गये, पर अब नहीं सहा जाता। प्रियवियोग के आठ मास ! रामगिरि का कोना-कोना रामप्रेममय जीवन की स्मृतियाँ ताजी करता रहता था। कनक-वलय के भ्रंश होने से मालूम हुआ कि अब शरीर असमर्थ हो गया है। अब नहीं सहा जायेगा और इसी बीच आषाढ़ का प्रथम दिवस, पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मारनेवाले मतवाले हाथी-सा दिखनेवाला यह काला मेघ ! हा राम !

> तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
> नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
> आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
> वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ 2 ॥

विरह का मारा यक्ष मेघ के सामने आकर खड़ा हो गया। मेघ ही तो है ! बलिहारी है इस मसृण-मेदुर कान्ति की ! राजराज कुबेर के उस हतभाग्य अनुचर की आँखों में आँसू आये और आकर रुक गये। कितनी भक्ति और निष्ठा के साथ उसने मालिक की सेवा की थी और कितने दिनों तक ! ज़रा-सी गलती पर उन्हें क्या उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए था ? आज वह इस नील-मेदुर कान्तिवाले मेघ के सामने ऐसा जबदा खड़ा है कि आँसू भी नहीं निकल पा रहे हैं। मेघ को देखकर सुखी लोगों का चित्त भी कुछ और-का-और हो जाता है, विरही तो विरही है। जिनके प्रणयी नजदीक हैं—इतने नजदीक कि गले से गला उलझा हुआ—वे भी व्याकुल हो जाते हैं; फिर उन लोगों की क्या अवस्था होगी, जो प्रिय से दूर हों, जहाँ चिट्ठी-पत्री भी दुर्लभ हो ! यक्ष यही सोचता हुआ देर तक मेघ के सामने खड़ा रहा। पर खड़ा क्या हुआ जाता था ? उत्कण्ठा जगानेवाले मेघ के सामने खड़ा होना क्या सहज है ? फिर भी वह खड़ा रहा, देर तक खड़ा रहा। उसके हृदय में तूफान आये और गये—पुरानी बातें एक-एक करके उठीं और विलीन हुईं। क्या था, और क्या हो गया ! वह 'अन्तर्बाष्प' हो रहा। आँसुओं का पारावार भीतर ही विक्षुभित हो रहा था, बाहर उसका कोई चिह्न नहीं दिखायी दे रहा था, जैसे आँधी आने के पहले थमथमाया हुआ वायु-मण्डल हो।

> तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
> रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
> मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
> कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ 3 ॥

कैलास पर वर्षा ज़रा देर से शुरू होती है। मध्यदेश में आषाढ़ की पहली

तिथि को ही मेघ दीख गया, किन्तु वहाँ अभी देर है। सावन के महीने में वहाँ झमाझम पानी बरसने लगता है। यक्ष ने व्याकुल भाव से सोचा कि 'मेरी यह अवस्था है, तो बेचारी उस कोमल बालिका की क्या दशा होगी ? सावन के महीने में जब परत-पर-परत के समान सजी हुई मेघमाला से आकाश भर जायेगा, पहाड़ों पर नाचनेवाले मयूर जब हर मेघ-निःस्वन के ताल पर छमाछम नाचते रहेंगे और नीचे धरती कन्दली-पुष्पों से गमगमा उठेंगी, तो विरहिणी किधर दृष्टि ले जायेगी ? सब ओर केवल हूक पैदा करनेवाले दृश्य होंगे--केवल बेध देनेवाली शोभा !' सावन के महीने को संस्कृत में 'नभस्' कहते हैं। सचमुच ही इस महीने में आसमान धरती पर उतर आता है। क्या होगा उस प्रेम-पुत्तलिका का उस विकराल सावन में ? इन दिनों तो वह किसी प्रकार दिन गिन लेती होगी, वीणा बजाकर मन बहला लेती होगी, मुखरा सारिका से प्रिय का नाम सुन लेती होगी, चित्रकर्म में विश्राम पा लेती होगी; किन्तु सावन के महीने में जब एक ही साथ नर्त्तमान मयूर और परितृप्त चातक की पुकार का, उद्भिन्न-केसर कदम्ब और उद्घाटित-पटला मालती की भीनी-भीनी गन्ध का और सबके ऊपर रिमझिम-रिमझिम बरसनेवाले बादलों की झड़ी का आक्रमण होगा, तो क्या वह धैर्य रख सकेगी ? हा विधाता, सावन में यक्षप्रिया कैसे बचेगी !

और सावन के आने में देर ही कितनी है ? वह सिर पर आ गया है—बिलकुल प्रत्यासन्न। दयिता—प्रिया—के प्राणों का कुछ अवलम्ब होना चाहिए। कुछ तो करना ही चाहिए। और कुछ नहीं, तो प्रिय का कुशल-संवाद भी मामूली सहारा नहीं होता। परन्तु कौन ले जायेगा यह संवाद ? रास्ते में जाने कितनी नदियाँ हैं, कितने पहाड़ हैं, वर्षा का भयंकर मार्ग-रोधी काल है। बड़े-बड़े राजे भी इन दिनों घर से निकलने की हिम्मत नहीं करते। परिव्राजक जन भी चुपचाप कहीं बैठ रहते हैं। इस दुर्घट-काल में कौन सन्देशा ले जायेगा ? सावन तक सन्देशा अवश्य पहुँच जाना चाहिए। रामचन्द्र का सन्देशा तो महाबलवान हनूमान ले गये थे। पर यक्ष को ऐसा दूत कहाँ मिलेगा ? ना, यह असम्भव बात है। यक्ष ने व्याकुल भाव से सोचा कि कौन कामचारी ऐसा है, जो उसका सन्देशा ले जाये। सन्देशवाहक के पहले ही मेघ पहुँचा, तो फिर कोई आशा नहीं, प्रिया के प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। फिर कहाँ का सन्देशा और कहाँ का प्रेम ! जब सन्देशवाहक के पहले मेघ ही सावन में अलकापुरी में पहुँचेगा, तो क्यों न मेघ को ही सन्देशवाहक बनाया जाये ? यक्ष का चेहरा क्षण-भर में खिल उठा। इतनी सीधी-सी बात समझने में इतनी देर लगी ! उसने तुरन्त ताजे कुरैया के फूलों को तोड़कर प्रीति-स्निग्ध कण्ठ से मेघ को भेंट किये— स्वागत है, नवीन जीवन ले आनेवाले प्रेम-वाहक बलाहक ! स्वागत है ! यह अर्घ्य ग्रहण करो, श्रद्धा और प्रीति का अर्घ्य। स्वागत है, नील मेदुर कान्तिवाले मोहन घनश्याम, स्वागत है !

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्वनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।

स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ 4 ॥

लेकिन यह तो पागलपन की हद है ! 'धाम-धूम-नीर औ समीरन कौ सन्निपात, ऐसो जड़ मेघ कहा दूत-काज करि है ?'—आज तक यह हुआ भी है ? धुएँ, प्रकाश, जल और वायु से बना हुआ मेघ कहाँ, और सन्देश ले जानेवाला चतुर सन्देशवाहक कहाँ ! यक्ष का दिमाग खराब हो गया क्या ? वररुचि ने बताया है कि प्रेमपत्र ले जानेवाले को बहुत सावधान होना चाहिए। उसे हर अवस्था की सुकुमारता का ज्ञान होना चाहिए। हर्षातिरेक से विरही के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, कभी लम्बी भूमिका से उनका दम घुट जाता है, कभी अनुकूल लोगों की संगति में बैठे हुए विरही शुभ सन्देश के फलस्वरूप कष्ट पाने लगते हैं—हज़ार बातों का ध्यान रखना होता है। और यह भाग्यहीन यक्ष इस जड़ मेघ को प्रेम-सन्देश का वाहक बनाना चाहता है !

मगर यक्ष को यह सब सोचने की फुरसत नहीं थी। वह कामनाओं से कातर था, औत्सुक्य से आर्त्त था। 'आरत के चित रहै न चेतू'—वह होश में नहीं था। ऐसा प्रायः देखा गया है कि प्रेम-वियोग की पीड़ा से जो लोग व्यथित होते हैं, वे चेतन-अचेतन, बड़े-छोटे सबके सामने दयनीय होकर—कृपण होकर—उपस्थित होते हैं। मानो हर आदमी उनके साथ सहानुभूति ही दिखायेगा, हर ईंट-पत्थर उनकी सहायता ही कर देगा ! क्यों ऐसा होता है ? क्या प्रेम-दशा में उत्थित व्यक्ति संसार के प्रत्येक जड़-चेतन के भीतर किसी अन्तर्विलीन विराट् चेतना का सन्धान पा जाता है ? ज़रूर पा जाता होगा। यक्ष तो अवश्य पाने में समर्थ हुआ था। उसने मेघ को परम सहानुभूति-सम्पन्न मित्र के रूप में ही देखा; उसने हृदय गला देने-वाला सन्देश भेजा। अत्यन्त विश्वसनीय घनिष्ठ मित्र के सिवा और किसी से यह सन्देश नहीं कहा जा सकता। उसे आप पागल कहें, प्रकृतिकृपण कहें; पर उसने जगत् के भीतर निरन्तर स्पन्दित होनेवाली विराट् चेतना को पहचान लिया था।

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ 5 ॥

पुरानी कहानी का कथामुख या भूमिका-भाग इतना ही है। आधुनिक पाठक कुछ और जानना चाहेगा। यक्ष उस समय—किस समय ? प्रातःकाल, दोपहर को या सन्ध्या समय ?—किधर मुँह करके बैठा था ? मेघ पर्वत के किस किनारे लगा हुआ था ? इस सम्बन्ध में कालिदास ने कुछ नहीं बताया। यक्ष का नाम तक तो बताया ही नहीं, फिर अधिक की क्या आशा की जाय। मगर हवा ज़रूर दक्षिण से आ रही थी और मेघ महाशय भी उत्तर की ओर चलने को प्रस्तुत जान पड़ते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि इस यक्ष-जैसा विरही सदा उत्तर की ओर मुँह करके बैठा रहता होगा। उसकी प्रिया उत्तर की ओर ही रहती थी। रामगिरि के दक्षिणी

किनारे पर वह उत्तर की ओर मुँह किये बैठा होगा, उदास और कातर। सामने की किसी चोटी के निम्नतर ढलाव के पास मेघ-रूपी हाथी ढूँसा मारने का खेल खेल रहा होगा। समय कदाचित् सन्ध्या-काल का हो। इसी समय उसके चेतना-चेतनविवेक के ह्रास होने की सबसे अधिक सम्भावना है। कहते हैं, विरही इसी समय सबसे अधिक व्याकुल होता है और इसी समय वह सहारा ढूँढ़ता फिरता है। इस समय सहारा नहीं मिलने से व्याकुलता पागलपन की सीमा तक पहुँच जाती है। अपभ्रंश के कवि ने एक नवीन विरह की सतायी विरहिणी से कहलवाया है कि 'मैं समझती थी कि प्रिय-विरहिता बालाओं का कोई-न-कोई सायंकाल अवश्य धरहर करनेवाला मिल जाता होगा; पर यह धारणा एकदम गलत साबित हुई। इस समय तो कम्बख्त चाँद भी—जो शीतलता के लिए बहुत प्रसिद्ध है—ऐसा तपता है, जैसा प्रलय-काल में सूर्य तपता है!

मइँ जाणिउँ पिय विरहियहँ, कवि धरु होइ वियालि।
णवर मियंकु वि तह तवइ, जह दिणयरु खय गालि॥

मगर यक्ष इतना अनुभवहीन विरही नहीं था। वह जानता था कि विधाता जब वाम होता है, तो चित्र में भी प्रिय-कल्पना व्यर्थ हो जाती है। स्वप्न में भी मिलन असफल रह जाता है। कोई भी युक्ति काम नहीं करती। फिर भी दिन में उसे कुछ-न-कुछ सहारा मिल जाता था। हरिणी के नयनों में, वृक्षों के अरुण किसलयों में, पद्म के वेधक कोरकों में, प्रियंगु लता की झूमती वल्लरी में प्रिया के किसी-न-किसी अंग का साम्य मिल ही जाता था। यद्यपि उसे इस बात का बड़ा दुःख था कि उसे एक ही जगह सब अंगों का साम्य नहीं मिल पाता। लेकिन जब भाग्य खोटा हो, तो इतना तो सहना ही पड़ता है। सन्ध्या समय जब धीरे-धीरे अन्धकार धरती-तल पर उतरने लगता और सब-कुछ पर घने काले अंजन को पोत देता, तो यह सहारा भी जाता रहता। निश्चय ही उस समय उसका मन सबसे अधिक उत्क्षिप्त होता होगा। मतवाले काले हाथी-जैसा दिखनेवाला मेघ निश्चय ही सायंकाल दिखा होगा। कालिदास ने कुछ सोचकर ही ये सब बातें नहीं बतायीं। वे चाहते, तो सन्ध्या का ऐसा मनोरम चित्र खींच देते कि बस, पढ़ते ही बनता। पर उन्होंने इस पचड़े को छोड़ दिया। जो छूट गया, उसे छूटा ही रहने दिया जाय।

[2]

स्वागत-वचन बोलने के बाद यक्ष सोचने लगा कि क्या उपाय करूँ कि यह मेघ प्रसन्न होकर मेरा काम कर दे। कुछ ऐसा कहना चाहिए, जिससे पहले ही वाक्य में यह सन्तुष्ट हो जाय। कहीं ऐसा न हो कि प्रथम वाक्य से ही नाराज हो जाय। जिससे काम लेना हो, उसकी थोड़ी खुशामद तो करनी ही चाहिए। प्रिय सत्य के बोलने का आदेश तो शास्त्र ने भी दे रखा है। सबसे बड़ी खुशामद वंश की प्रशंसा है। कम लोग होंगे, जो इस अस्त्र से घायल न हो जाते हों। यक्ष का दिमाग थोड़ा

गड़बड़ जरूर हो गया था, लेकिन उसके अन्तर्गूढ़ मानस-भाण्डार में विचार-शृंखला बनी हुई थी। केवल ऊपरी सतह पर आलोड़न का वेग अधिक था, गहराई में विशेष अन्तर नहीं आया था। इसीलिए उसने ठीक ढंग से— शास्त्र-नियमों के बिल्कुल अनुकूल रूप में---खुशामद शुरू की। बोला—"भाई मेघ, मैं तुम्हें जानता हूँ, तुम्हारे पुरखों को जानता हूँ। ऐसा कौन होगा, जो पुष्कर और आवर्त्तक-जैसे महान् मेघों को न जानता हो! महाकाल जब अपनी सृष्टि-रचना की क्रीड़ा का उपसंहार करना चाहते हैं, तो कौन उनकी सहायता करता है? कौन अपने प्रलयंकर गर्जनों और धारासार वर्षणों से त्रैलोक्य को विकम्पित कर देता है? सारा संसार पुष्कर और आवर्त्तक-जैसे महान् मेघों की कीर्त्ति से परिचित है। ऐसे प्रतापी कुल में तुम्हारा जन्म है; तुम इस भुवनविदित वंश में उत्पन्न हुए हो। महान् कुल में महान् लोग ही पैदा होते हैं। शिव की जटा से ही वीरभद्र उत्पन्न हो सकते हैं। समुद्र से ही कौस्तुभ का जन्म सम्भव है। ऊँचे कुल में ही महान् पुरुष पैदा होते हैं। मैं तुम्हारे वंश को जानता हूँ, और तुम्हें भी जानता हूँ। तुम इन्द्र के प्रकृति-पुरुष हो---पब्लिक-रिलेशन्स-आफिसर! तुम ही प्रजा-प्रकृति से उनका सम्बन्ध स्थापित करते हो। तुम्हारे ही बल पर इन्द्र की सारी लोकप्रियता है। तुम ऐसे-वैसे अफसर नहीं हो। काम-रूप हो, इच्छानुसार रूप ग्रहण कर सकते हो। ज़रूरत पड़ने पर भारी पड़ गये, फिर मौका देखकर हल्के बन गये। कभी ऐसा गर्जन किया कि दुनिया काँप उठी, कभी ऐसा बरसे कि संसार पानी-पानी हो गया। तुम्हारी कामरूपता मुझसे अपरिचित नहीं है। जैसा तुम्हारा कुल बड़ा, वैसा ही तुम्हारा काम बड़ा। तुम मानसरोवर के सहस्रदल कमल हो। मैं भाग्य का मारा प्रार्थी हूँ। एक छोटी-सी प्रार्थना लेकर तुम्हारे पास आया हूँ। देखो महान् मेघराज, मैं प्रिय-वियुक्त हूँ। विधाता मुझसे अप्रसन्न है। सब-कुछ सोच-समझकर ही तुम्हारे पास आया हूँ। मेरी प्रार्थना तुम ठुकरा दोगे, तो भी मैं बहुत विचलित नहीं हूँगा। बड़ों के पास याचना करनी चाहिए, अगर सफल नहीं भी हुई, तो अधर्म से की गयी सफल प्रार्थना से अच्छी ही रहेगी। मैं दान नहीं, दाता देखता हूँ। महत्त्व की बात यह नहीं है कि क्या मिला। महत्त्व की बात है कि किससे मिला। 'दान तो ना चाइ, चाइजे दाता!' सो महान् मेघ, मैं बहुत दुखी हूँ, बन्धु से---प्रियजन से—दूर।"

> जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
> जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
> तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
> याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ 6 ॥

यक्ष ने यदि प्रिया-विरह से अत्यन्त कातर होकर मानसिक सन्तुलन न खो दिया होता, तो थोड़ी देर रुककर देखता कि महान् मेघराज के चित्त पर प्रभाव क्या पड़ा। पुष्कर और आवर्त्तक-वंश के कुलदीप ने कुछ समझा भी या नहीं। परन्तु यक्ष को इतनी फ़ुरसत नहीं थी। फिर इतना शास्त्र-शुद्ध युक्ति-तर्क-संगत स्तुति-

वाक्य कभी व्यर्थ हो सकता है ? ज़रूर मेघ ने उसकी प्रार्थना सुन ली है। उसने कल्पना के नेत्रों से देखा कि मेघ सावधान हो गया है। उसने ढूंसा मारने की क्रीड़ा छोड़ दी है। शायद सन्ध्या थोड़ी और गाढ़ हो आयी थी और भीगी हवा कुछ और आर्द्र होकर स्तब्ध हो गयी थी और इसीलिए मेघ की चपलता कम हो गयी थी। यक्ष का हृदय गद्गद हो गया। विधाता आज बहुत अप्रसन्न नहीं है, मेघ प्रार्थना सुनना चाहता है। मानो प्रसन्न हास्य के साथ पूछ रहा है--'कहो, क्या कहना चाहते हो, अवहित हूँ।' यक्ष ने कातर भाव से कहा :

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
वाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ 7 ॥

"हे जलद, तुम सन्तप्त व्यक्तियों को शरण देते हो। मुझसे बड़ा सन्तप्त और कौन होगा ? मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। देखो, कुबेर के क्रोध से मेरा सत्यानाश हो गया है। मैं अपनी प्राणप्रिया से वियुक्त हो गया हूँ। उसी के पास तुम्हें मेरा सन्देश ले जाना है। यक्षेश्वरों की जो वस्ती अलका है, वहीं वह रहती है। अलका देखने-लायक नगरी है। उसमें बड़े-बड़े हर्म्य हैं। 'हर्म्य' समझ गये न ? इधर लोग धनिकों के मकान को हर्म्य कहने लगे हैं। लेकिन असली बात यह है कि धनसेठों की घनी अट्टालिकाओं से भरी बस्ती में बहुत कम मकान ऐसे होते हैं, जिनमें घर्म या धूप पहुँच सके। जो बहुत ऊँचे होते हैं, वे ही 'घर्म्य' हो पाते हैं। 'घर्म्य' शब्द ही जरा मुलायम होकर 'हर्म्य' बन गया है। 'हर्म्य' अर्थात् वे ऊँची अट्टालिकाएँ, जिनके ऊपरी तल्ले में अनायास धूप पहुँच जाती हो। अलका में ऐसे हर्म्यों की ठेलम-ठेल है। और इन हर्म्यों में धूप जो आती है सो तो आती ही है, इनकी बड़ी भारी विशेषता यह है कि ये नित्य चाँदनी से धुलते रहते हैं। कैसे ? नगरी के बाहरी उद्यान में शिवजी रहते हैं और उनके सिर में सदा चन्द्रमा की कला वर्त्तमान रहती है, उसी से ये धुलते रहते हैं। नहीं प्यारे, तुमने ठीक नहीं समझा। आसमान से जो चाँदनी बरसती है, उससे महल भींज सकते हैं, धुलते नहीं। किन्तु अलका की अट्टालिकाएँ शिव-शिरःस्थिता चन्द्रकला से धुलती रहती हैं। ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, दाहिने से बायें और बायें से दाहिने न जाने कितनी बार यह चाँदनी अट्टालिकाओं को अपनी पवित्र तरंगों से धोती रहती है। जानते हो क्यों ? नटराज जब उल्लसित होकर ताण्डव-लिप्त होते हैं, तो चन्द्रकला को सैकड़ों चारियों में घूमना पड़ता है, बीसियों अंगहारों में विलसित होना पड़ता है और डमरू के ताल-ताल पर जब उनकी चंचल भृकुटियाँ थिरक उठती हैं, तो चन्द्रकला निरन्तर तरंगमाला विकीर्ण करती रहती है। इसीलिए कहता हूँ मित्र, अलका की अट्टालिकाएँ चन्द्र-किरणों से निरन्तर धौत होती रहती हैं।"

यक्ष जानता था और उसे आशंका थी कि कामचारी मेघ भी जानता ही होगा कि संसार में सिर्फ दो नगरियों को यह सौभाग्य प्राप्त है—अलका को और काशी

को। दोनों ही धूर्जटि के आनन्द-लोल ताण्डव से नित्य उल्लसित रहती हैं, दोनों की अट्टालिकाएँ हर-शिरोविहारिणी चन्द्रकला की पवित्र तरंगों से धुलती रहती हैं। परन्तु दोनों में अन्तर भी है। काशी साधकों की पुरी है, अलका सिद्धों की; काशी का साधक ऊपर उठता है, अलका के भोगी लोगों का पुण्य निरन्तर क्षीण होता रहता है; काशी कर्म-क्षेत्र है, अलका भोग-क्षेत्र। मेघ कह सकता है कि उसे यदि 'हरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या' नगरी देखनी ही हो, तो वह काशी चला जायेगा, अलका क्यों जायेगा? मर्त्यवासी कर्म के प्रेमी हैं, देवताओं की भोग-भूमि में जाकर वे मूर्ख क्यों बनें? ठीक है, परन्तु काशी के शिव का ताण्डव आरूढ़ साधक देख पाते हैं, आरुरुक्षु को वह नहीं दीखता, और अलका में यह सब झमेला नहीं है। इसीलिए वहाँ अनायास ही शिव के ताण्डव का नयनहारी दृश्य देखना सम्भव है। काशी में बसने की सलाह दी जाती है, अलका में दो-चार दिन के लिए घूमने-फिरने की। इसीलिए यक्ष बिना साँस रोके सब कह गया—"सन्देश ले जाना है तुम्हें (वहीं बस नहीं जाना है), मैं कुबेर के क्रोध का शिकार हूँ, इसलिए यहाँ दीख रहा हूँ (इस पहाड़ का निवासी नहीं हूँ), तुम्हें अलका जाना है (किसी मामूली शहर में नहीं), वहाँ धूर्जटि के अपूर्व ताण्डव से ताण्डवमान चन्द्रमरीचियों की अपूर्व तरंगमाला दिखेगी (बिना कठोर साधना के तुम और कहीं यह नहीं पा सकते) और सबसे बढ़कर सन्तापदग्ध विरहिणी को शीतल करना है (जो तुम्हारे-जैसे कुलीन का स्वाभाविक धर्म है); सो भाई, देरी मत करो।"

अचानक यक्ष ने देखा कि मेघ के ऊपर तो सिरे पर हल्की-सी बिजली की रेखा थिरक गयी! तो क्या मेघ मुस्करा रहा है? क्यों? शायद उसने समझ लिया है कि यक्ष खुशामद कर रहा है, स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रलोभन दिखा रहा है। चाटु-वाक्य और उत्कोच, दोनों का प्रयोग कर रहा है। उसका मन बैठ गया—"गलत समझ रहे हो भाई मेघ, मैं सिर्फ स्वार्थ की बात नहीं कर रहा हूँ। सचमुच तुम उपकारी हो। जब हवा के मार्ग से तुम चल पड़ोगे, तो प्रवासी पतियों की प्रियाएँ बड़े विश्वास के साथ तुम्हें देखेंगी। हाय, हाय, दीर्घ-विरह से उनके केश अस्त-व्यस्त हो गये होंगे। जब दक्षिण-पूर्वी हवा के झोंके के साथ तुम आकाश में जाओगे, तो वे बड़ी आशा लेकर तुम्हारी ओर ताकेंगी। उस समय निश्चय ही उनके बिखरे केश हवा के झोंकों से और भी बिखर जायेंगे, वे उड़कर उनके मुँह पर पड़ने लगेंगे। अहा, कितना करुण होगा वह विलोल-अलक मुख-मण्डल! अपनी किसलय के समान लाल-लाल कोमल-कोमल अंगुलियों से उन केशों को वे सँभालेंगी और ऊपर की ओर मुख करके तुम्हें आशा के साथ देखेंगी। तुम नहीं जानते प्यारे, कि विरहिणियों के हृदय में तुम आशा का कैसा प्रलयपूर ला दोगे! तुम क्या जानो कि यह आशा व्यर्थ नहीं है? ऐसा कौन हत-भाग्य प्रवासी पति होगा, जो तुम्हारी इस नील-मेदुर कान्ति को देखकर औत्सुक्य-चंचल होकर घर लौटने की न सोचे? निखिल विश्व के कण-कण में नवीन रूप में उत्पन्न होने की जो व्याकुल वेदना है, आकर्षण का जो बन्धन है, उसे तुम नया करते रहते हो। सुप्त प्रेम को जगाने का

मोहनमन्त्र विधाता ने तुम्हीं को सिखाया है। विरहिणी यदि तुम्हें देखकर आश्वस्त होती है, तो उसका आश्वस्त होना अकारण नहीं है। तुम हवा पर उड़े नहीं कि विरही प्रवासियों की दुनिया में घर पहुँचने की हड़बड़ी जागी नहीं! मेरे-जैसा कोई भाग्यहीन पराधीन जन हो, तो बात दूसरी है; नहीं तो कोई भी स्वाधीन विरही भरे आषाढ़ में प्रिया से दूर नहीं रह सकता। इसीलिए कहता हूँ, तुम अन्यथा न समझो। तुम सिर्फ मेरा नहीं, सारी दुनिया का उपकार करोगे।

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ 8 ॥

"तो अब देर मत करो। शुभस्य शीघ्रम्। यात्रा का ऐसा सुन्दर क्षण तुम्हें नहीं मिल सकता। मन्द-मन्द चलनेवाली हवा तुम्हारे अनुकूल बह रही है। यह शुभ लक्षण है। बड़े लोग यात्रा करनेवालों को 'शान्त और अनुकूल पवन' पाने का आशीर्वाद दिया करते हैं। कण्व ने अपनी प्यारी कन्या को यात्रा के समय 'शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः' कहकर आशीर्वाद दिया था। वह तुम्हें आज अनायास प्राप्त है। कितनी मीठी हवा है, कितनी शान्त, कितनी मन्थर! और तुम्हारे पीछे से वह मन्द-मन्द चल रही है। यही तो शान्तानुकूल पवन है। मगर इतना ही नहीं है। शकुन भी पूर्ण रूप से तुम्हारे अनुकूल है। बायीं ओर पपीहे का आ जाना यों ही बहुत शुभ शकुन है, फिर यह चातक तो तुम्हारा परमप्रिय सम्बन्धी है। ऐसा प्रेमी दुर्लभ है। मर जायेगा, मगर तुम्हारे सिवा और किसी का जल नहीं ग्रहण करेगा। देखो ज़रा उसका गर्वीला चेहरा! जान पड़ता है, त्रैलोक्य का राज पा गया है। आज यह सब प्रकार से सगन्ध है, सम्बन्धों के मिलने से प्रसन्न, गर्व-युक्त और प्रिया-मिलन की आशा से उत्पन्न नैसर्गिक सौरभ से मण्डित। कैसी मीठी आवाज है इसकी! वाह, आज शुभयात्रा का बड़ा ही मनोहर योग है— शान्त और अनुकूल पवन, वाम भाग में गर्वीले चातक की मधुर ध्वनि और एक और भी चीज जो इस समय तो नहीं दिखायी दे रही है, लेकिन तुम्हारे प्रस्थान करते ही ठीक पीछे से आकर उपस्थित हो जायेगी। बात यह है कि जब तुम आकाश में थोड़ा ऊपर उठोगे, तो बलाकाओं (बकवालाओं) को स्पष्ट हो जायेगा कि अब उनके गर्भाधान के आनन्दोत्सव का समय आ गया और कतार बाँधकर वे तुम्हारे पीछे-पीछे निकल पड़ेंगी। शायद तुम नहीं जानते कि यह तुम्हारा मसृण-मेदुर रूप कितना सुन्दर है! यह रूप नयन-सुभग है। 'नयन-सुभग' का अर्थ तुमने शायद नहीं समझा। 'सुभग' उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसके भीतर स्वाभाविक रूप से वह रंजन गुण रहता है, जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर। उसके इस आन्तरिक वशीकरण धर्म को 'सौभाग्य' कहते हैं। विधाता सहृदय को अपने हाथ से जो दस गुण देते हैं, उनमें यह अन्तिम है। अन्तिम भी और श्रेष्ठ भी। (रूपं वर्णः प्रभा रागः आभि-

जात्यं विलासिता । लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः) । तुम मित्र, हर प्रकार से सुभग हो---नयन-सुभग ! तुम्हारा यह रूप क्या छिपाये छिपेगा ? एक बार तुम आसमान में उड़ान लो । देखो, जगत् का अशेष प्रीति-भाण्डार किस प्रकार उद्वेलित हो उठता है ! शान्त और अनुकूल पवन, बायीं ओर गर्वीले चातकों की मधुर ध्वनि और पीछे-पीछे आनन्दोल्लास में प्रमत्त बलाकाएँ—आहा, इतने शुभ शकुन एक साथ कहाँ मिलेंगे ?"

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरंचातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ।।9।।

यहाँ आकर यक्ष थोड़ा चुप होकर देखने लगा कि उसके स्तोक-वाक्यों, प्रलोभनों और प्रोत्साहनों का क्या असर हुआ । पवन बहुत हल्की गति से बह रहा था। उपरले सिरे पर जो श्वेत बाष्पों का कुण्डलित पटल था, उसमें कुछ हल्की हलचल दिखायी पड़ी । विरही निःशेष जगत् के मनोभाव को समझ लेता है । यक्ष ने भी मेघ के सहानुभूति-सम्पन्न हृदय को समझ लिया । मेघ निस्सन्देह सहायता करने को प्रस्तुत है, पर उसे आशंका है कि इतने व्याकुल प्रेमी की सुकुमार प्रिया क्या अब तक जीवित होगी ! अलका तक जाकर अन्त में यदि यही देखना पड़ा कि वह प्रतिप्राणा चल बसी है, तो यह परिश्रम व्यर्थ हो जायेगा । फिर मान लो जी ही रही हो, तो यह क्या सम्भव है कि अलका के हरम (हर्म्य) में अपरिचित मेघ महाशय घुस जायें और बिना पिटे लौट आयें ? मेघ के मस्तिष्क की इस आशंका को यक्ष ने साफ देख लिया । उसने सोचा कि मेघ को समझा देना चाहिए कि वह व्यर्थ परेशान हो रहा है । इतना भी क्या परेशान होना, बोला—"भाई मेरे, अपनी भौजाई को तुम अवश्य पाओगे । बेचारी दिन गिन रही होगी । वह मरी नहीं है, मर नहीं सकती । परम पतिव्रता है वह ! मुझे देखे बिना उसके प्राण निकल ही नहीं सकेंगे । सिर्फ इतना करो दोस्त, कि रुको मत । चले चलो । मेरी बात मानो, वह अवश्य मिलेगी । और तुम तो उसके प्यारे देवर हुए, तुमसे क्या पर्दा हो सकता है भला ! तुम्हारी पतिव्रता भौजाई निश्चित रूप से जीवित है । प्रायः रमणियों के फूल के समान प्रेम-परायण हृदय को—जो प्रतिक्षण बिखर जाने की स्थिति में रहता है—आशा का बन्धन बिखर जाने से रोके रहता है । आशा का बन्धन बड़ा कठोर होता है मित्र ! तुम्हारी भौजाई भी उसी के बल पर जी रही होगी । उसकी आशा मामूली आशा नहीं है । पतिव्रता के परम पवित्र विश्वास से वह लालित है । सँझौती के समय दीपक की प्रथम लौ के साथ वह प्रकाशित होती है, प्रदोषकाल में भगवती तुलसी को निवेदित आरात्रिक प्रदीप के साथ नित्य उद्दीप्त होती है और प्रत्यूष-काल के उदीयमान नवभास्कर की रागारुण ज्योति-रश्मियों से नित्य दृढ़ निबद्ध होती रहती है । उसकी एक-एक क्रिया में प्रिय-कल्याण की मंगल-भावना है, प्रत्येक धड़कन में प्रिय के सकुशल आगमन की दिव्य प्रार्थना है, प्रत्येक निःश्वास

में व्याकुल यह विनिवेदन है--'हे भगवान्, वे जहाँ हों, वहीं उनका मंगल हो, मेरा व्रत उनकी रक्षा करे, मेरी पूजा उनका कल्याण करे, मेरा पुण्य उन्हें विजयी बनावे!' पतिव्रता का आशाबन्ध इतना दुर्बल नहीं होता मित्र, कि इतनी जल्दी बिखर जाय। उसमें आत्म-दान का तेज होता है, कठोर संयम की दृढ़ता होती है और अनन्यगामी प्रेम का वज्रलेप होता है। मैं कहता हूँ, मेरी बात पर विश्वास करो, तुम्हारी पति-परायणा भ्रातृजाया जीवित है। दुर्बल वह अवश्य होगी, दिन गिनते-गिनते उसकी अंगुलियाँ जरूर नख-जर्जर हो गयी होंगी, परन्तु उसे तुम देखोगे अवश्य !

> तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
> मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।
> आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
> सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।। 10 ।।

"क्या कहा ? साथी कहाँ है ? इतनी दूर अकेले कैसे जा सकोगे ? बड़े भोले दिखते हो सखे ! गुणी लोग अपने गुण से प्रायः अपरिचित होते हैं। पहले ही कह चुका हूँ, तुम सब प्रकार से सुभग हो। तुम्हारे पास प्रेमी मित्र तो अनायास खिंच आयेंगे। पुष्प कहीं भौंरों को निमन्त्रण देता है ? चुम्बक कहीं लोहे को पुकारता फिरता है ? समुद्र क्या नदियों की खुशामद करता फिरता है ? नहीं, यह सौभाग्य-धर्म का स्वाभाविक खिंचाव है। यह जो कण-कण में खिंचाव है, ग्रह-तारा और भू-मण्डल में आकर्ष-रश्मियों का महाकर्ष-जाल बिछा हुआ है, वह सहज आकर्षण की महिमा है सखे ! तुम्हारा रूप 'नयन-सुभग' है। उसे देखते ही बलाकाएँ उत्सुक हो उठती हैं और तुम्हारा यह गर्जन 'श्रवण-सुभग' है। एक बार इससे वायुमण्डल में हल्का-सा कम्पन होने दो और देखो कि धरती का अशेष मातृत्व किस तेज़ी से फट पड़ता है। मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि कहाँ से शिलीन्ध्रों—कुकुरमुत्तों—की यह विशाल सेना एकाएक जाग उठती है ! ज़रा-सा वायुमण्डल तुम्हारे गर्जन से कम्पित हुआ नहीं कि धरती के कण-कण में वेपथु-कम्पन उत्पन्न हो जाते हैं। वह निःशेष भाव से अपने अन्तरतर की सारी महिमा न जाने किस महा अनजाने को निवेदन करने के लिए व्याकुल हो उठती है। पहले प्रकट होते हैं ये शोभन-शिलीन्ध्र—कोमल, अनाडम्बर ! सृष्टि के अदनार शैशव के प्रतिरूप ! तुमको पता भी नहीं कि तुम्हारा श्रवण-सुभग गर्जन किस प्रकार धरती को देखते-देखते उच्छिलीन्ध्र बनाकर उसकी अवन्ध्यता की घोषणा करता है--मानो किसी विराट् चैतन्य की विग्रहवती पुकार हो, मानो विपुल विश्व में व्याप्त चेतना के पुलकोद्गम को जगानेवाला मोहन वाक्य हो। कौन है, जो इस श्रवण-सुभग गर्जन को सुनकर तुम्हारे पीछे दौड़ पड़ने को व्याकुल न होगा ? एक बात तो निश्चित है। तुम्हारे इस अकारण व्याकुल बना देनेवाले, अनायास उत्सुक कर देनेवाले—श्रवण-सुभग—गर्जन को सुनकर मानसरोवर जाने को उत्कण्ठित राजहंस कमलिनी-लता के मृदुल किसलयों का पाथेय लेकर उड़ेंगे और कैलास तक तुम्हारा साथ देंगे। हंसों को तो तुम जानते हो मित्र ! कितने व्याकुल हो उठते हैं तुम्हारे गर्जन से ! वे

उड़ते हैं, उड़ते हैं, उड़ते हैं—अक्लान्त, अश्रान्त ! कहाँ जाते हैं ? मानसरोवर को ! क्यों जाते हैं ? हाय-हाय, कहीं तुम उनकी व्याकुल पीड़ा को जान पाते ! न जाने कितने युगों से विधाता ने उनके हृदय में यह व्याकुल चांचल्य भर दिया है। नित्य नवीन होते रहने की व्याकुल लालसा । सन्तान-परम्परा में अपने-आपको सुरक्षित रखने की दुर्दम्य वासना ! क्यों ऐसा होता है ? प्रजापति की सहायता के लिए विधाता ने इतनी मीठी पीड़ा—पुष्प-वाणों की इतनी निर्मम चोट—क्यों बनायी ? कोई नहीं जानता सखे, कोई नहीं जानता कि क्या होगा इस अद्भुत सृष्टि-प्रक्रिया का ! परन्तु जो हो, तुम निश्चित समझो, राजहंसों का दल तुम्हारा अन्त तक साथ देगा । तुम्हारे श्रवण-सुभग गर्जन से जगी हुई व्याकुल मधुर पीड़ा उन्हें चैन से बैठने नहीं देगी । वे तुरन्त तुम्हारे साथ हो जायेंगे । साथी की क्या कमी है ?

> कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
> तच्छ्रुत्वा ते श्रवण-सुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
> आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
> सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।। 11 ।।

"तो, अब देर मत करो । अपने प्रिय मित्र इस ऊँचे पर्वत को आलिंगन कर लो । इसकी मेखलाएँ लोकपूजित भगवान् रामचन्द्र के पवित्र चरणों से अंकित हैं । यह तुम्हारे सखा होने के योग्य ही है । तुम भी ऊँचे, यह भी ऊँचा । तुम भी पवित्र, यह भी पवित्र । मैं जानता हूँ कि दीर्घ व्यवधान के बाद ही समय-समय पर तुम्हारा और इस महान् पर्वत का मिलन होता है और इसके तप्त शिखरों पर जब तुम्हारी प्रथम वारि-धारा गिरती है, तो इससे उष्ण बाष्प निकलता है । यह उष्ण बाष्प और कुछ नहीं, दीर्घ व्यवधान के बाद मिले हुए मित्र के मिलन से उत्पन्न गर्म आँसू ही हैं । इन उष्ण बाष्पों को त्याग करके तुम्हारा मित्र अपने आन्तरिक प्रेम का ही परिचय देता है । ऐसे मित्र से विदा लेना कष्टकर कर्त्तव्य है । पर बड़ों को यह सब कष्टकर कर्त्तव्यपालन करने ही पड़ते हैं । कितने लोग उत्सुकता के साथ तुम्हारी बाट जोह रहे हैं, कितने लोग तुम्हारी सहायता बिना सूखे जा रहे हैं । चलना तो है ही, विदा तो लेनी ही पड़ेगी । जो होना ही है, उसके लिए अधिक चिन्तित होने से लाभ नहीं । मित्र को आलिंगन करो, विदा लो । समय-समय पर तुम्हारा मिलन तो होता ही रहता है । फिर मिलने का आश्वासन देकर निकल पड़ो ।"

> आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्यशैलं
> वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
> काले-काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
> स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ।। 12 ।।

[3]

यक्ष ने ध्यान से देखा, तो स्पष्ट प्रतीत हुआ कि मेघराज सन्देशहर बनने को प्रस्तुत है । उसके घने-चिकने श्यामल शरीर में एकदम अचंचल भाव आ गया था । पानी-

पानी होकर गिर पड़ने को उत्सुक बाष्पपुंज का प्रत्येक कण निःस्पन्द हो गया था और निर्मल जलसीकरों के भार से उसका अंग-अंग अवहित मनुष्य की भाँति शान्त-स्तब्ध हो गया था। मेघ इस बार 'जलद' रूप में दिखायी दिया। जल-दान से समस्त जगत् को परितृप्त करने के सामर्थ्य के कारण ही मेघ को 'जलद' कहते हैं। पुंजित धूमराशि को यह नाम नहीं दिया जा सकता--'जलदानेन हि जलदो न हि जलदो पुञ्जितो धूमो' मेघ जलद है, अपने-आपको दलित द्राक्षा की तरह से निचोड़कर दे डालनेवाला ! जिस समय वह परिपूर्ण होता है, उस समय वह समस्त विश्व का है, उसके शरीर का एक-एक कण दूसरों की तृप्ति के लिए है। निःशेष भाव से अपने-आपको दे डालना ही वास्तविक सौन्दर्य है ! जलद अपने को निःशेष भाव से देता है, यही तो उसकी शोभा है--'रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः।'

परन्तु यक्ष के मन में यहीं एक आशंका हुई। मेघ उन यक्षों की जाति का नहीं है, जो केवल संचय ही करना जानते हैं; यह तो उन क्षणजन्मा मानवों की जाति का है, जो केवल लुटाना ही जानते हैं--दोनों हाथों से लुटाते हैं, लुटाते हैं, लुटाते हैं ! ऐसे फक्कड़ों का क्या ठिकाना ! अड़े तो अड़ गये, ढले तो ढल गये। मेघ भी उन्हीं मस्तमौला लोगों की टोली का जीव है। किधर चलने को हुए और किधर निकल गये। दुखी कहाँ नहीं हैं, सन्तप्त किस दिशा में नहीं मिलते ? जिसने दुखियों का दुःख ही दूर करने का व्रत ले रखा हो, उसका कार्यक्रम क्या होगा ! ना, मेघ महाशय को रास्ता अवश्य बता देना चाहिए। पता नहीं ये फक्कड़राम झूमते-झूमते--लस्टम-पस्टम—जब तक अलका पहुँचेंगे तब तक यक्षप्रिया की क्या दुर्दशा हो जाये। दूसरे मेघ पहुँचकर न जाने क्या ऊधम मचा देंगे। यही सोचकर यक्ष ने कहा —"भाई जलद, तुम्हारा व्रत मुझे मालूम है। तुम अपार जल-सम्पत्ति लुटाने के व्रती हो। मगर दोस्त, लुटाने से ही तो लुटाने का व्रत नहीं निभता ! कुछ संग्रह भी होना चाहिए। यह मैं मानता हूँ कि संग्रह करने के लिए ओछों के पास नहीं जाना चाहिए, जिससे लिया जाय वह भी समानधर्मा होना चाहिए—मस्तमौला, कल की फिकर न रखनेवाला। सो सुनो, तुम्हें ऐसा रास्ता बताये देता हूँ, जो तुम्हारे इस महान् व्रत का सहायक होगा। ऐसा रास्ता, जिससे चलो तो जितना चाहो लुटाओ और जितना चाहो फिर भर लो। ऐसी-ऐसी नदियाँ जो बिल्कुल तुम्हारी ही तरह फक्कड़, तुम्हारी ही तरह आत्मदान में समर्थ और तुम्हारे एक इशारे पर अपना सर्वस्व तुम्हें दे देने को कटिबद्ध ! धन्य हैं ये नदियाँ, जो पवित्र और निर्मल धारा को दिवारात्रि लुटा रही हैं, कभी रुकती नहीं, कभी थकती नहीं ! देखकर तुम्हारी आँख जुड़ा जायेंगी। और फिर ऐसे पर्वत बताऊँ कि तुम्हें रास्ते में कोई कष्ट ही न हो। लम्बी यात्रा है, तुम उच्च स्तर के यात्री हो, कुछ ऊँचे-ऊँचे पर्वतों का पता नहीं रहेगा, तो कष्ट होगा तुम्हें। इसीलिए पहले मैं तुम्हें उस मार्ग को समझा दूँ जिसमें थक जाने पर विश्राम करने योग्य पर्वत मिलते रहेंगे और जल-सम्पत्ति के चुक जाने पर उसे प्रचुर मात्रा में नदियों से प्राप्त कर सकोगे। सन्देशा बाद में सुनना। वह बड़ा हृदयद्रावक है, उसे तुम्हें अपने कानों से पी जाना पड़ेगा। उस

हृदयद्रावक 'श्रवणपेय' सन्देशे को सुनकर क्या तुम एक क्षण भी रुक सकोगे ? इसीलिए कहता हूँ, पर्वतों पर विश्राम करते हुए और झरनों का ठण्डा पानी पीते हुए उड़ो। कमजोरी और थकान तो अवश्य अनुभव करोगे। इसीलिए उन शीतल झरनों की बात बताये देता हूँ, जिनका पानी क्लान्त होने पर पी लोगे। इधर-उधर भटक गये, तो सन्देशा ले जाने का कार्य व्यर्थ हो जायेगा। रास्ता अवश्य समझ लो।

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
सन्देशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥ 13 ॥

"यहाँ जो यह सरस बेतों का जंगल देख रहे हो---जो मस्ती से झूम रहा है और तुम्हारी फुहारों का आसरा किये बिना ही लहलहा रहा है—यहीं से तुम्हारी यात्रा शुरू होगी। यहाँ से तुम्हें उत्तर की ओर चलना होगा। अभी तो तुम इस पर्वत के सानु-देश पर ही अटके हो, इसके शिखर को पार करने के लिए थोड़ा ऊपर उड़के चक्कर काटना होगा। मेरे दोस्त, रास्ते के विघ्न यहीं से शुरू हो जायेंगे। जानते ही हो कि हिमालय और विन्ध्य पर्वत सिद्धों के संचरण से मोहन और पवित्र बने रहते हैं। जिस समय तुम आसमान में थोड़ा-सा ऊपर उठकर उत्तर की ओर बढ़ने के लिए उड़ान लोगे, उस समय तुम्हारी यह मृदुल-मेदुर छवि देखने ही योग्य होगी। सिद्धों की मुग्धवधुएँ आश्चर्य के साथ ऊपर मुँह करके देखेंगी और चकित होकर सोचेंगी कि कहीं हवा पहाड़ के किसी शिखर को तो उड़ाये नहीं लिये जा रही है। उस चकित-चकित दृष्टि की शोभा का क्या कहना ! उनका दोष भी क्या है मित्र ? तुम्हारा जब यह जल-भार से भरित श्यामल शरीर आकाश में उठेगा, तो उसकी गुरुता, उच्चता और वर्ण-सौन्दर्य को देखकर मुग्धा वधुएँ पहाड़ की चोटी मान लें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? मैं ठीक जानता हूँ दोस्त, उन 'बड़री अँखियान' को देखने के बाद तुम्हारा मन वहाँ उलझ जायेगा। लेकिन रुकना मत, और भी उत्साह से आगे बढ़ना। ये सिद्ध-वधुओं की 'चकितहरिणीप्रेक्षणा' आँखें केवल शुभ यात्रा का निर्देश करेंगी। और भी मोहन, और भी सुन्दर वस्तुएँ आगे तुम्हारे मार्ग में मिलनेवाली हैं।

"लेकिन एक और भी विघ्न है। जिस बेत-वन के ऊपर से उड़ने को कह रहा हूँ, उसे मैं 'निचुल-निकुंज' कहा करता हूँ। इसलिए ही नहीं कि बेत को संस्कृत में 'निचुल' कहते हैं, बल्कि इसलिए कि महाकवि कालिदास के सहृदय मित्र 'निचुल' कवि से इसकी बड़ी समानता है। दोनों ही प्रतिकूल परिस्थितियों में सरस बने रह सके हैं। निचुल कवि विपत्तियों से म्लान नहीं हुआ, दुःखों से कातर नहीं हुआ, प्रतिकूल परिस्थितियों में सूख नहीं गया, सदा प्रसन्न, सदा सरस, सदा मस्त रहा ! इस बेत-वन में उसके स्वभाव की झलक मिलती है। परन्तु इसके ऊपर से जब तुम उड़ोगे और उत्तर की ओर बढ़ोगे, तो विन्ध्याटवी के घने जंगलों में पहुँचोगे। पूर्व

समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैली हुई विन्ध्याटवी बड़ी विचित्र वनस्थली है। मरीच-पल्लव कुतरते हुए शुक-शावकों से मनोहर, कम्पिल्ल तरु को झकझोरते हुए वानर-यूथों से शोभित, जम्बूफलों के आस्वादन से अभिमत्त भल्लूक युवकों से भीषण और मदमत्त विशालकाय हाथियों के संचरण से भयंकर विन्ध्याटवी अपना उपमान आप ही है। रामगिरि के उत्तर के घने जंगलों में विचरण करते हुए पर्वताकार हाथियों को देखकर तुम्हें भ्रम होगा कि बड़े-बड़े दिग्गजों से अध्युसित वन-खण्ड में पहुँच गये हो। इस घने जंगल को मैं 'दिङ्नागवन' कहता हूँ।

"क्यों कहता हूँ, बताऊँ? इन पर्वताकार हाथियों को दिङ्नाग या दिग्गज कहना तो ठीक ही है, परन्तु ये लोग कालिदास के प्रतिस्पर्धी बौद्ध-पण्डित दिङ्नाग से अद्भुत समानता रखते हैं (और इन सरस निचुलों के स्वभाव से उनका पार्थक्य भी बहुत स्पष्ट है)। दिङ्नाग पण्डित बड़े शास्त्रार्थी थे। अपने तीक्ष्ण शर के समान वेध देनेवाले तर्क के मारे वे स्वयं परेशान रहते थे। तर्क की आँच से उनकी सारी सहृदयता सूख गयी थी। वे कालिदास से भी भिड़ पड़े थे। भला तर्क-कर्कश पण्डित और सहृदय रसवर्षी कवि का क्या मुकाबला! परन्तु दिङ्नाग तो उस गँवार पहलवान की भाँति हर आदमी को ललकारा करते थे, जो सबकी महिमा की परीक्षा पंजा लड़ाकर किया करता था। दिङ्नाग को लोग पंजा लड़ानेवाला ही कहने लगे थे। उन्होंने 'हस्तबल-प्रकरण' या 'मुष्टि-प्रकरण' नामक ग्रन्थ लिखा था। परिहास में कालिदास के अनुयायियों ने 'मुष्टि-प्रकरण' का अर्थ कर लिया 'पंजा लड़ाने की कला बतानेवाला ग्रन्थ!' इस प्रकार दिङ्नाग पण्डित स्वयं 'हस्तबल' या 'मुष्टिबल' के कायल थे। इधर विन्ध्याटवी के दानवाकार हाथी भी प्रतिस्पर्द्धियों से सूँड़ (या हाथ) उठाकर लड़ पड़ते हैं। अब बताओ, इन दिग्गजों को 'दिङ्नाग' न कहूँ, तो क्या कहूँ? सो, भाई, तुम्हें थोड़ा बचके रहना होगा। दिङ्नाग लोग तुमको निश्चय ही विराट् गजराज समझेंगे। मैंने भी पहले तुम्हें पर्वत-सानु पर ढूँसा मारनेवाला हाथी ही समझा था। इन दिङ्नागों की मोटी सूँड़ से जो तुम उलझे, तो जल्दी छुटकारा नहीं मिलेगा। उसे बचा जाना। मूर्खों से कहाँ तक उलझोगे? 'सरस निचुल निकुंज' से 'दिङ्नागवन' का अन्तर तो समझ ही गये होगे।"

अद्रेः शृंङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥ 14 ॥

इतना कहकर यक्ष ने दिङ्नागवन की ओर देखा। क्या देखा? धरती फोड़कर निकला हुआ मनोहर इन्द्रधनुष आसमान के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गया था। अहा, शोभा इसी को कहते हैं—ऐसा जान पड़ता था कि नाना रंग के सहस्रों रत्नों की मिलित प्रभा जगमग-जगमग कर रही हो! मानो किसी पतले मुँहवाली बाँबी में संचित मणिराशि से प्रभा की रंग-बिरंगी लहरें ऊपर की ओर

एक साथ फिंक रही हों—पतली-सी रंगीन प्रभा-रश्मि ! कहीं यक्ष के मित्र इस मेघ के श्यामल मृदुल शरीर पर इन्द्रधनुष की यह प्रभा पड़ जाती ! कितना मनोहर होता उस समय वह श्यामल शरीर ! ऐसा जान पड़ता जैसे गोपाल लाल के साँवले शरीर पर मयूरपिच्छों की प्रभा जगमगा रही हो। मगर असम्भव भी क्या है ? मेघ जब निचुल-निकुंज से ऊपर उठकर पश्चिम की ओर उड़ने के लिए चक्कर काटेगा, तो निस्सन्देह इन्द्रधनुष की यह मनोहर शोभा उसे श्यामसुन्दर की कान्ति प्रदान करेगी। उसने गद्गद भाव से कहा—"मित्र, मुझे बिल्कुल सन्देह नहीं है कि आज तुम इस इन्द्रधनुष के योग से नटवरनागर की शोभा धारण करोगे। यों ही तुम उपकारी मित्र हो—कृषि का सारा दारमदार तुम्हारे ही ऊपर है—फिर यह मोहन रूप ! विश्वास मानो मित्र, जनपद-वधुओं की आँखें तुम्हारे इस सौन्दर्य को पी जाना चाहेंगी। उन वधुओं में शोभा, कान्ति और माधुर्य-जैसे सहज अयत्नज अलंकरणों की कमी नहीं मिलेगी, किन्तु उन कृत्रिम विलास-लीलाओं का कहीं पता भी नहीं चलेगा, जो स्त्री के रूप को मादक तो बना देते हैं, पर उसे देवत्व की मर्यादा से च्युत कर देते हैं। स्त्री का रूप संसार की सबसे पवित्र वस्तु है। शोभा, कान्ति और माधुर्य उससे अनायास बरसते रहते हैं और देखनेवाले को शान्ति देते रहते हैं। किन्तु लीला, विलास, विच्छित्ति, मोट्टायित और कुट्टमित भाव देखनेवाले को मत्त बनाते हैं। तुम्हें अमृत मिलेगा, इतना निश्चित है। शराब नहीं मिलेगी, यह भी तय है। उन प्रीतिस्निग्ध नयनों का आदर दुर्लभ वस्तु है मित्र, वह पावन है, निर्मल है, शामक है। तुम्हें थोड़ा पानी वहाँ बरसाना पड़ेगा। शरीर भी हल्का होगा, जी भी हल्का होगा। तत्काल जोती हुई धरती पर जब तुम्हारी फुहारें पड़ेंगी, तो सोंधी-सोंधी गन्ध निकलेगी और पहाड़ की उपरले सतह की समतल-भूमि सुगन्धि से भर जायेगी। थोड़ा-सा बरसोगे, तो शरीर हल्का हो जायेगा, चाल में तेजी आ जायेगी। ज़रा-सा पच्छिम की ओर चलकर जो उत्तर की ओर मुड़ोगे, तो सामने आम्रकूट—अमरकण्टक—पर्वत मिलेगा। लेकिन पच्छिम की ओर मुड़ना जरूरी है, नहीं तो रामगिरि के उत्तर के ऊँचे पहाड़ों में अटक जाओगे।"

> रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता—
> द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
> येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
> बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः ।। 15 ।।
> त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
> प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
> सद्यःसीरोत्कर्षणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
> किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ।। 16 ।।

यक्ष सोचने लगा : आम्रकूट—अमरकण्टक—इधर की पहाड़ियों में सबसे ऊँचा है, उसके चारों ओर ढालू सानु-देश हैं। इसीलिए इसे सानुमान् कहते हैं। संसार में ऐसा पर्वत कदाचित् ही होगा, जिसके चारों किनारों में इस प्रकार की

सानुभूमियाँ हों। इस पर्वत के चारों ओर नदियों का बहाव फैला है। मतलब यह कि यह इधर सबसे ऊँचा पर्वत है। जब मेघ अपनी वर्षा से इस पर्वत की वनभूमियों में लगे प्रचण्ड दावानल को बुझा देगा, तो ऊँचा पर्वत उस मार्गश्रम से क्लान्त उपकारी मित्र को क्या सिर-माथे नहीं लेगा ? यह कैसे हो सकता है ? क्षुद्र भी अपने उपकारी मित्र से विमुख नहीं होता, फिर आम्रकूट तो आम्रकूट है—ऊँचा, मेघ का ही समानधर्मा। निस्सन्देह। आम्रकूट मेघ को अपने मस्तक पर बैठायेगा। वह भी एक विचित्र बात होगी। इस पर्वत के उपरले शिखरों पर जंगली आमों का गहन वन है—आम्रकूट नाम ही इन आमों के कारण पड़ा है। इनके फल पककर पीले हो जाते हैं और झड़कर वहीं गिरते हैं। उतनी ऊँचाई पर उनका कदरदान भी कौन है ! इन पीले आमों के कारण सारा शिखर-देश ऊपर से पाण्डुवर्ण का दिखायी देता है। सिद्ध और विद्याधर लोग ही ऊपर से इस पाण्डुर शोभा को देख सकते हैं। मर्त्यवासी उसका रस क्या जानें ? अब उस पाण्डुर शोभा के ऊपर काले मसृण मेघ के उतरने से अद्भुत शोभा निखर आयेगी। कौन देखेगा उस शोभा को ? केवल सिद्धों के जोड़े—अमर-मिथुन ! कैसी दिखेगी वह शोभा ? जिसे मर्त्यवासी देख ही नहीं सकेंगे उसकी चर्चा भी क्या ! लेकिन धरित्री के उद्भिन्न-यौवन मोहन रूप की कल्पना तो की ही जा सकती है। मेघ भी देवयोनि के जीवों के समान ऊपर उड़कर चलता है—समझ तो लेगा ही। इसीलिए मेघ ने प्रेमपूर्ण शब्दों में उसे बता दिया कि कैसी शोभा का गौरव उसे मिलने जा रहा है।

> त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
> वक्षत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
> न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
> प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥ 17 ॥
> छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
> स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
> नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
> मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ 18 ॥

यक्ष क्षण-भर स्थिर रहकर व्याकुल भाव से सोचने लगा कि आम्रकूट पर्वत के वनचर-वधू-भुक्त निकुंजों में कुछ देर रुककर मेघ उड़ा जा रहा है—उसे याद आयी नर्मदा की हरहराती हुई धारा, जो आम्रकूट से छोटे-छोटे सैकड़ों सोतों के रूप में बही हुई है और विन्ध्याचल के ऊबड़-खाबड़ पथरीले—उपल-विषम—मार्ग में छितराकर बहती हुई ऊपर से ऐसी दिखायी दे रही है, जैसे विशालकाय हाथी की पीठ पर झालरदार डोरिया चादर बिछी हो ! नर्मदा सचमुच शक्तिशालिनी नदी है। पर्वत-शिखरों को काटती हुई, जामुन के घने जंगलों को चीरकर हरहराती हुई वह अजीब मस्ती से बढ़ती है। हाथियों के तिक्त मद-जल से उसका जल सुवासित है, जामुनों की निरन्तर झड़ती हुई फलराशि से वह और भी मादक हो गयी है। मेघ जा रहा है, बरसता हुआ, गरजता हुआ, कड़कता हुआ। उसके

मन में यक्षप्रिया तक शीघ्र पहुँच जाने की उतावली है। वह छककर नर्मदा का मद-जलसिक्त जम्बूफल-सरसित पानी पी लेता है और आगे बढ़ता है—और भी, और भी तेज। ठीक भी तो है, अगर पानी पीकर मेघ भारी न हो ले, तो कौन जाने हवा का कौन-सा झोंका उसे किधर उड़ा ले जाय। जो खाली होता है, वह हल्का होता है; जो भरा होता है, वह भारी होता है!

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहुर्त्त
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ 19 ॥
तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिर्जम्बू-
कुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ 20 ॥

यक्ष कल्पना की आँखों से देख रहा है कि मेघ भी ठीक ही जा रहा है। रास्ता भूलने का प्रश्न ही नहीं है। अर्द्धोद्‌गत केसरों से हरित-कपिश बने हुए कदम्ब-कुसुमों को चाव के साथ निहारनेवाले भौंरे, कछारों में प्रथम मुकुलित कन्दली की मुलायम डीभियों को सतृष्ण भाव से टूँगते हुए हिरन और दावाग्नि से झुलसी हुई वन-भूमि से प्रथम वृष्टि के कारण निकली हुई सोंधी गन्ध को सूँघकर मस्त बने हुए हाथी उसे राह बताते जा रहे हैं। वह बढ़ा जा रहा है, चिन्तित है, व्याकुल है, पर्वतों के कुटज-पुष्प से सुरभित शिखरों पर वह विश्राम अवश्य करता है, पर नाममात्र के लिए। वह तेजी से उड़ता जा रहा है—शुक्ल अपांगों और सजल नयनों से मयूर उसका स्वागत करते हैं, पर मेघ उनकी भी माया काट जाता है। वह और आगे बढ़ता है। जिधर जाता है उधर ही खेत लहलहा उठते हैं, उपवन चहक उठते हैं, जनमण्डली उल्लासचंचल हो उठती है। मेघ सबको तृप्त करके, सबको प्रसन्न करके आगे बढ़ता है। देखते-देखते दशार्ण देश आ जाता है। दशार्ण देश, जहाँ मेघ के निकट आते ही पुष्पवाटिकाओं के बेड़े में लगे हुए नुकीली बाल के समान पाण्डुर पुष्पोंवाले केवड़ों से वनभूमि पीली होकर चमक उठती है, पक्षियों के नीड़ारम्भ के उद्योग से गाँव के पेड़ चहचहा उठते हैं, और दूर देश से आते हुए हंस कुछ दिनों के लिए रुक जाते हैं। मेघ बढ़ा जा रहा है।

रामगिरि से दशार्ण तक मेघ लम्बी उड़ान भरता है। यक्ष सोचता है : यों ही क्या यह दशार्ण को भी पार कर जायेगा। विन्ध्याटवी की मस्तानी नदी वेत्रवती, जो चट्टानों को तोड़कर हरहराती हुई बह रही है, की चंचल तरंगें लीलावती की विलास-लीलाओं का अनुकरण करती हैं। क्या मेघ इस दीर्घ-विरहिता प्रिया को भी छोड़ जायेगा? "ना मेरे दोस्त, यह गलती न करना। विदिशा (भेलसा) के पास इस अल्हड़ प्रेयसी को देखना तो ज़रा मृदु गर्जना कर देना, उसका चेहरा खिल जायेगा, उसकी लहरों में विभ्रमवती नायिका के भृकुटितर्जन की-सी विलास-लीला

खेल उठेगी। तुम झुकके उसका अधरामृत अवश्य पी लेना। ऐसी भी क्या जल्दी है ! विरह का मारा हूँ, तो क्या दूसरों की विरह-वेदना को समझने में भी गलती कर सकता हूँ ? विन्ध्य के उपल-विषम मार्ग में निरन्तर दौड़ती हुई, दूर तक फैले हुए वनफलों की झाड़ियों को दरेरती हुई, गिरती हुई, टूटती हुई, उठती हुई और फिर भी आगे बढ़ती हुई वेत्रवती की शोभा उपेक्षणीय नहीं है। हाय, वह कैसा सत्यानाशी प्रेम है, जो इस प्रकार कठोर साधना कराता है ! वहाँ तुम्हारी सारी सहृदयता को चुनौती मिलेगी। गलती न करना दोस्त !

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्॥ 21॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥ 22॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥ 23॥

[4]

"देखो मित्र, दशार्ण देश जितना ही सुन्दर है, उतना ही शानदार भी। इसकी राजधानी विदिशा नगरी दिगन्त तक में ख्याति कर चुकी है। पश्चिमी समुद्रतट की ओर जानेवाले यात्री विदिशा होते हुए जाते हैं और फिर दक्षिण-पश्चिम के व्यापारी जब पूर्वोत्तर किनारे पर और सुदूर प्रतिष्ठान, श्रावस्ती, कोसल और पाञ्चाल की यात्रा करते हैं, तो उन्हें विदिशा अवश्य आना पड़ता है। दुर्दान्त हैहयवंशी राजाओं के काल से ही इस नगरी की कीर्त्ति दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो गयी है। मौर्य नरपतियों ने जिन तीक्ष्ण-धार तलवारों के बल पर अपने साम्राज्य का विस्तार किया था, वे विदिशा में ही बनती थीं। महाराज अशोक की प्रिय महिषी इसी नगरी के आसपास कहीं रहती थीं। यद्यपि राजधानी के रूप में आज इस नगरी का महत्त्व क्षीण हो गया है, तथापि जनता के हृदय में उसे अब भी वही सम्मान प्राप्त है। शुंग-राजाओं के अश्वमेध, राजसूय और वाजपेय यज्ञों ने जन-चित्त को इतना आन्दोलित किया था कि सैकड़ों वर्षों के राज्यों के उत्थान-पतन के बाद भी जनता पुष्यमित्र और अग्निमित्र को ही चक्रवर्त्ती राजा मानती आ रही है। जनता का यह मानना उचित भी है। यवन-राजा आन्तलिकित ने भी विदिशा का लोहा माना था। उसका राजदूत हेलिओडोरस जिस दिन गरुड़ध्वज के साथ

प्रचुर उपायन लेकर राजाधिराज भागभद्र के दरबार में उपस्थित हुआ था, उस दिन दशार्ण के जन-समुद्र में मानो ज्वार आ गया था। पौरजानपदों के उस उल्लास ने शुंग-सेनाओं की विराट् जय-ध्वनि में मिलकर सिन्धु-तट के उस पार की म्लेच्छ-वाहिनी को चकित-कम्पित कर डाला था। विदिशा के विष्णुमन्दिर में हेलिओडोरस द्वारा स्थापित गरुड़ध्वज आज भी दशार्णवासियों के चित्त में गर्व का संचार करता है। बेतवा और चम्बल नदियों के संगम पर दूर तक फैली हुई विदिशा नगरी चक्रवर्ती राजा के अभाव में भी राजधानी कहलाने का गौरव प्राप्त करती है। उसके एक-एक कण में दशार्ण का स्वाभिमान मुखर हो रहा है। वेत्रवती के तट पर दूर-दूर तक फैले हुए श्रेष्ठिचत्वर और नागरक-सौध आज भी विदिशा की कीर्त्ति देश-देशान्तर में फैलाते रहते हैं। विदिशा में श्री और समृद्धि तो आज भी है, किन्तु राजधानी न होने के कारण और बाहरी आक्रमण के आतंक से परित्राण पाने की चिन्ता न होने के कारण संयम नहीं रह गया है। यहाँ के लोगों में विलासिता तो बढ़ गयी है, लेकिन दशार्ण जनपद के सीधे-सादे और तेजस्वी जनपद-वासियों के समान आत्म-गौरव और पौरुष-दर्प का भाव नहीं रह गया है। मित्र, तुम सहृदय हो; विदिशा के पौरजन और दशार्ण के जानपद जनों में इन दिनों जो विषम मानसिक व्यवधान आ गया है, उसे समझने में तुम्हें देर नहीं लगेगी। विदिशा में दायित्वहीन विलासिता आ गयी है, जो कामुकता का ही नामान्तर है। विदिशा के नागरक सौन्दर्य का नहीं, कामुकता का उपभोग करते हैं। इसलिए विदिशा की हवा से बचना ही उचित है। दो-चार दिन से अधिक टिकना अच्छा नहीं। तुम मनचले बटोही हो, अगर वहाँ के राग-रंग में उलझ गये, तो मेरा काम हो चुका ! मैंने पहले ही तुमको बताया है कि दशार्ण देश में हंस थोड़े ही दिन रहते हैं। जो नीर-क्षीर का भेद समझ सकता है, वह विदिशा के आसपास देर तक नहीं टिक सकता। तुम्हारे लिए भी प्रलोभन है। वेत्रवती की चंचल तरंगें विलासवती नायिका के भ्रू-भंग की तरह तुम्हें अवश्य आकर्षित करेंगी। जिस समय तुम इस वेत्रवती के स्वादु जल का पान करोगे, उस समय निस्सन्देह भ्रू-भंगविलासदक्षा छायावती नायिका के अधर-पान का सुख पाओगे। किन्तु मित्र, उलझ न जाना। वेत्रवती के तट-प्रान्त पर तुम्हारा जो मन्द-मन्द गर्जन होगा, वह निस्सन्देह उस नदी की चंचल तरंगों में और भी चंचलता ला देगा। तुम्हारा रूप नयन-सुभग है और तुम्हारा गर्जन कर्ण-सुभग। दोनों ही अनायास प्रेमिक जनों को इस प्रकार अकारण उत्सुक बना देते हैं, जिस प्रकार वसन्त-काल का पुष्पित सहकार भ्रमरावली को अनायास चंचल और उत्कण्ठित बना देता है। तुम्हारे इस नयन-सुभग रूप और श्रवण-सुभग गर्जन का मोहक आकर्षण बचाकर निकल जाय, ऐसी तरुणी कहाँ मिलेगी ? निस्सन्देह वेत्रवती के तरंग-चंचल हृदय की उपेक्षा अनुचित होगी और तुम्हारे-जैसे सहृदय से इसकी आशा भी नहीं करनी चाहिए। परन्तु फिर भी मित्र, ज्यादा न उलझना। आखिर 'वेत्रवती' प्रिया से सावधान न रहोगे, तो किस दिन क्या आ बीते कौन कह सकता है ? इसीलिए थोड़ा-सा रुककर और थोड़ा-सा झुककर उस

बिब्बोकवती के 'सभ्रू भंग' मुख का रस लेकर आगे बढ़ जाना।

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविफलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ।। 24 ।।

"विश्राम ही करना हो, तो तुम्हें जगह बताये देता हूँ। लेकिन विदिशा में तो हर्गिज न रुकना। अपने सरस हृदय का दुरुपयोग न कर बैठना।

"इस विदिशा नगरी के समीप ही निचली पहाड़ी नाम की एक छोटी-सी पहाड़ी है। केवल नाम से नीची नहीं है, आजकल काम से भी नीची हो गयी है। जिन दिनों विदिशा अपने असह्य प्रताप के तेज से सिन्धु-पार के दुर्दान्त नरपतियों को म्लान और दग्ध बनाया करती थी, उन दिनों निचली पहाड़ी सम्भ्रान्त नागर-जनों के वन-यात्रा और सरस्वती-विहार का काम करती थी। देश-देशान्तर से आये हुए गुणी-जन इस पहाड़ की छोटी-छोटी सजायी हुई कन्दराओं में, शिलावेश्मों में निवास करते थे; शास्त्रार्थ-विचार, काव्य-गोष्ठी, अक्षर-च्युतक, विन्दुमती, प्रहेलिका आदि मनोविनोदों के साथ-साथ लाव, तित्तिर और मेष के युद्ध का आयो-जन होता था। मल्ल-विद्या और शस्त्र-प्रतियोगिता का आह्वान होता था, पटह-निनाद के साथ काँस्य-कोशी और झर्झर यन्त्रों की मादक ध्वनि में व्यायाम-कौशल का प्रदर्शन होता था, और अनेक कारणों और अंगहारों के सूक्ष्म अभिनयों से नागर-जनों की शूरता और सुकुमारता की परीक्षा होती थी। उन दिनों निचली पहाड़ियों में आयोजित उत्सवों और शोभा-यात्राओं से दशार्ण की जनता बलदृप्त पौरुष के गौरव से अभिभूत हो जाती थी। आज अवस्था बदल गयी है। निचली पहाड़ी की प्राकृतिक शोभा आज भी ज्यों-की-त्यों है। दूर तक फैली हुई कदम्ब और कुटज की पंक्तियाँ, वन-पवन और बदरी-गुल्मों की छोटी-छोटी झाड़ियाँ और अयत्नवर्धित करवीर, कोविदार और आरग्वध वृक्षों की उलझी हुई अरण्यानी निचली पहाड़ी की नयनाभिराम शोभा को आज भी समृद्ध कर रही है। यद्यपि आज प्रशस्त वीथियों पर जंगली पौधे उग आये हैं और सरस्वती-विहार के प्रांगण में वन्य-बदरियों के झाड़ खड़े हो गये हैं, तथापि निचली पहाड़ी की कन्दराएँ आज भी जगमगाती रहती हैं। अब वे गुणियों का आश्रयस्थल न रहकर मनचले नागरिकों के प्रच्छन्न विलास की अभिसार-भूमियाँ बन गयी हैं। उन कन्दराओं का भाग्य भी विचित्र है, वे आज चरित्र-भ्रष्ट नागरकों और पण्य-रमणियों के उद्दाम विलास की गवाही देती रहती हैं। यहाँ ये कन्दराएँ उच्छृंखल विलासिता के लिए उपयोग में आनेवाली मादक हाला की गन्ध उगलती रहती हैं। यह गन्ध पण्य-विलासिनियों के श्रम-जल-सिक्त अंगराग के उत्कट परिमल से और भी विस्रगन्धी हो उठती है। मित्र, मैं जब कन्द-राओं या शिलावेश्मों को परिमलोद्गारि (गन्ध को उगलनेवाला) कहता हूँ, तो कवियों की तरह लाक्षणिक भाषा का प्रयोग नहीं करता। इन्हें सचमुच ही वमन करनेवाला मानता हूँ। जिस प्रेम में केवल विलासिता और नग्न कामुकता का ही

बोलबाला हो, वह अस्वस्थ मनोदशा की ही उपज है। उसमें प्रयुक्त होनेवाले समस्त सौगन्धिक द्रव्य मानव-चित्त के कलुष विकारों से सिक्त होकर विकृत हो जाते हैं। निचली पहाड़ी में विदिशा की नग्न कामवासना उच्छृंखल नृत्य करती है। मनुष्य के भीतर विधाता ने जिस अद्भुत गुणोंवाले यौवन को प्रतिष्ठित किया है, जो चित्त में अपूर्व औदार्य और आत्मदान का सामर्थ्य उद्बुद्ध करता है, उसे निचली पहाड़ी की कन्दराओं में पानी की तरह बहाया जा रहा है। मेरे सहृदय मित्र, वेत्रवती का रसपान करके तुम जब निचली पहाड़ी के ऊपर से उड़ोगे, तो यह देखकर प्रसन्न होगे कि पवन ने तुम्हारे आगमन का सन्देशा पहले से ही वहाँ पहुँचा रखा है और कदम्ब के फूलों से वनस्थली नीचे से ऊपर तक लहक उठी है। तुम देखोगे कि तुम्हारे सम्पर्क से इन उद्गत-केसर कदम्बपुष्पों के रूप में वनस्थली ही रोमांचित हो उठी है। आगमिष्यत्पतिका सुन्दरी की भाँति इस प्रतीक्षा-कातरा वनस्थली को देखकर निस्सन्देह तुम भी रोमांच-कण्टकित हो उठोगे। परन्तु हवा के झोंकों के साथ ऊपर उठी हुई परिमलोद्गार की भभक तुम्हें व्याकुल भी करेगी। एक तरफ वनस्थली का निसर्गसुकुमार प्रेम और दूसरी तरफ प्रच्छन्न कामुकों के कृत्रिम विलास से तुम्हारी मनोदशा विचित्र हो उठेगी। मैं कहता हूँ मित्र, तुम नीचे उतर आना, कदम्बों की मूक अभ्यर्थना से तुम पुलकित होओगे और पण्य विलासिनियों के परिमलोद्गार की भभक से तुम्हारी रक्षा होगी। शिलावेश्मों के उद्दाम यौवन-विलास से निचली पहाड़ी सचमुच 'निचली' हो गयी है। परन्तु तुम्हें वहाँ निश्छल अनुराग की शोभा अवश्य देखने को मिलेगी। वहाँ तुम नीचे आकर कदम्ब-वन की छाया में विश्राम कर सकते हो।

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ 25 ॥

"वहाँ विश्राम करके तुम आगे बढ़ना। एक रात्रि के विश्राम से तुम बहुत-कुछ जान जाओगे। तुम समझ सकोगे कि जो सम्पत्ति परिश्रम से नहीं अर्जित की जाती, और जिसके संरक्षण के लिए मनुष्य का रक्त पसीने में नहीं बदलता, वह केवल कुत्सित रुचि को प्रश्रय देती है। सात्विक सौन्दर्य वहाँ है, जहाँ चोटी का पसीना एड़ी तक आता है और नित्य समस्त विकारों को धोता रहता है। पसीना बड़ा पावक तत्त्व है मित्र, जहाँ इसकी धारा रुद्ध हो जाती है वहाँ कलुष और विकार जमकर खड़े हो जाते हैं। विदिशा के प्रच्छन्न विलासियों में यह पावनकारी तत्त्व नहीं है। वहाँ पुरुष और स्त्री भद्दी काम-वासना के शिकार हैं। उनके चेहरों में सात्विक तेज और उल्लसित करनेवाली दीप्ति नहीं रह गयी है। निश्चित रूप से तुम एक ही रात में हाँफ उठोगे, फिर भी मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि विश्राम करके आगे बढ़ना; क्योंकि प्रातःकाल निचली पहाड़ी के इर्द-गिर्द तुमको मनुष्य की सात्विक शोभा दिखायी देगी। वहाँ सवेरे सूर्योदय के साथ-ही-साथ तुम श्रम-जल-

स्नात नारियों की दिव्य शोभा देख सकोगे। नागरक लोगों के आनन्द और विलास के लिए कृषकों ने फूलों के अनेक बगीचे लगा रखे हैं। प्रातःकाल कृषक-वधुएँ फूल चुनने के लिए इन पुष्पोद्यानों में आ जाती हैं, उस प्रदेश में इन्हें 'पुष्पलावी' कहते हैं। 'पुष्पलावी' अर्थात् फूल चुननेवाली। ये पुष्पलावियाँ घर का काम-काज समाप्त करके उद्यानों में आ जाती हैं और मध्याह्न तक फूल चुनती रहती हैं। सूर्य के ताप से इनका मुखमण्डल म्लान हो उठता है, गण्डस्थल से पसीने की धारा बह चलती है और इस स्वेदधारा के निरन्तर संस्पर्श से उनके कानों के आभरण-रूप में विराजमान नील-कमल मलिन हो उठते हैं। दिन-भर की तपस्या के बाद वे इतना कमा लेती हैं कि किसी प्रकार उनकी जीवन-यात्रा चल सके। परन्तु तुमको यहीं सात्विक सौन्दर्य के दर्शन होंगे। उनके दीप्त मुखमण्डल पर शालीनता का तेज देखोगे; उनकी भ्रू-भंग-विलास से अपरिचित आँखों में सच्ची लज्जा के भार का दर्शन पाओगे और उनके उत्फुल्ल अधरों पर स्थिर भाव से विराजमान पवित्र स्मित-रेखा को देखकर तुम समझ सकोगे कि 'शुचि-स्मिता' किसे कहते हैं। इस पवित्र सौन्दर्य को देखकर तुम निचली पहाड़ी की उद्दाम और उन्मत्त विलास-लीला को भूल जाओगे। वहाँ तुम संचय का विकार देखोगे और यहाँ आत्मदान का सहज रूप। तुम स्वयं आत्मदानी हो; तुम जो कुछ भी संचय करते हो, दोनों हाथों से लुटाते जाते हो। लुटाये जाओ मित्र, यही जीवन की सार्थकता है। वन में और नदी-तीर पर उत्पन्न उद्यानों के यूथिका-जाल को भी जल-कणों से सिंचित करना और कुछ देर के लिए 'पुष्पलावियों' के क्लान्त मुखों को अपनी शीतल छाया से स्निग्ध करना भी न भूलना। तुम्हारी ठण्डी छाया के पड़ते ही वे क्षण-भर के लिए तुम्हारी ओर देखेंगी और तुम धन्य हो जाओगे। कहाँ मिलती है मित्र, पवित्र आँखों की आनन्दस्निग्ध दृष्टि! यह क्षण-भर का परिचय तुम्हारे लिए बहुत बड़ी निधि होगा। इसलिए कहता हूँ कि स्वेद-धारा के संस्पर्श से मलिन कर्णोत्पलवाले पवित्र मुखों को छाया देना न भूलना! यद्यपि यह परिचय तुम्हारा क्षणिक ही होगा, लेकिन इस एक क्षण का भी बड़ा महत्त्व है।

"कहते हैं, एक बार देवराज इन्द्र को भी इस पवित्र दृष्टि का आश्रय लेना पड़ा था। कहा जाता है कि दक्ष-यज्ञ में देवराज ने ऋषि-पत्नियों को कुदृष्टि से देखा था। ऋषियों के शाप से उनका शरीर विकृत हो गया, और स्वर्गलोक की राजलक्ष्मी स्वर्ग छोड़कर अन्यत्र चलने को प्रस्तुत हो गयी। बृहस्पति ने देवराज इन्द्र को इसका कारण बताया और कहा, 'तुम मर्त्यलोक में भ्रमण करो, यदि किसी पतिव्रता की दृष्टि तुम पर पड़ जायेगी, तो तुम्हारा शरीर और मन निष्कलुष हो जायेगा, और राजलक्ष्मी लौट आयेगी।' देवताओं के राजा इन्द्र मर्त्यलोक भ्रमण करते रहे, पर वांछित सौभाग्य उन्हें नहीं प्राप्त हुआ। अन्त में उन्होंने मेघ को वाहन बनाया और इन्हीं क्षेत्रों में जिन दिनों उड़ रहे थे, उन्हीं दिनों किसी श्रम-कातरा पतिव्रता पुष्पलावी की दृष्टि उनके ऊपर पड़ी और उनके सारे कलुष धुल गये।

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजालानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ।। 26 ।।

"मित्र, मेरी अभिलाषा है कि तुम उज्जयिनी होते हुए जाओ। रास्ता टेढ़ा अवश्य है; उत्तर की ओर जाने के लिए तुम चाहो तो सीधे उड़कर जा सकते हो, परन्तु तुम उज्जयिनी को न छोड़ना। रास्ता टेढ़ा है तो क्या हुआ ? महान् उद्देश्यों के लिए थोड़ी कठिनाई भी आ जाये, तो हिचकना नहीं चाहिए। यह उज्जयिनी बड़ी महिमामयी नगरी है। पुराकाल में ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर त्रिपुर नामक महाअसुर ऐसा दुर्दान्त हो गया था कि समस्त यज्ञ-याज्ञ बन्द हो गये थे और देवता लोग त्राहि-त्राहि कर उठे थे। उस समय उज्जयिनी के समीपवर्त्ती महाकाल-वन में देवता और शास्त्रों की रक्षा के लिए भगवान् शंकर ने कठोर तपश्चर्या से देवी को प्रसन्न करके महापाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था, जिससे उन्होंने त्रिपुर को तीन खण्डों में विध्वंस करने का सामर्थ्य पाया था। इसी जीत के कारण इस पुरी का नाम उज्जयिनी पड़ा। यह वह पुरी है जिसमें देवी ने शिव को अपने कृपा-कटाक्ष के प्रसाद से शक्तिशाली बनाया था। उज्जयिनी वस्तुतः प्रसन्न-रूपा देवी की ही छाया है। उत्तर-दिशा को जाने के लिए उज्जयिनी होते हुए जाना उचित ही है। तुम जिस 'उत्तर' दिशा में प्रस्थान कर रहे हो, उसमें पर्वत-कन्या के रूप में देवी ने शिव का प्रसाद पाना चाहा था।

"वहाँ देवी की तपस्या से शिव प्रसन्न हुए थे। परन्तु उज्जयिनी की कहानी बिल्कुल उलटी है। शिव ने तो देवी की तपस्या से प्रसन्न होकर पुष्पधन्वा देवता को भस्म किया था, परन्तु देवी की प्रसन्नता से शिव को जो महास्त्र प्राप्त हुआ, उससे उन्होंने त्रैलोक्य-कण्टक महाअसुर का विनाश किया था। दोनों प्रसादों का अन्तर तुम सहज ही समझ सकते हो। त्रिपुर-सुन्दरी का प्रसन्न-दक्षिण मुख कल्याण-कारिणी तेजोराशि को निरन्तर शक्ति-सम्पन्न किया करता है। विरहाग्नि की आँच से झुलसा हुआ मेरा हृदय आज व्याकुल-भाव से इस सत्य की उपलब्धि कर रहा है।

"शिव का शक्ति को प्रसन्न करना टेढ़ा मार्ग है। निस्सन्देह वह टेढ़ा है। प्रत्येक पिण्ड में शक्ति शिव को और शिव शक्ति को प्रसन्न करने के लिए तपो-निरत हैं। मैं मानता हूँ मित्र, कि अन्तरतर में जो ज्वाला जल रही है, वह विराट् विश्व में व्याप्त शिव और शक्ति की अनादि-अनन्त लीला से भिन्न नहीं है। वही विराट् लीला कण-कण में, रूप-रूप में स्फुरित हो रही है। मनुष्य-शरीर में षट्-चक्रों को भेदकर जो शक्ति का 'उत्जयन' है अर्थात् जो ऊपर की ओर जीतने की अभिलाषा से गमन है, वह भी टेढ़ा है। पिण्डवासिनी देवी 'षट्चक्रवक्रासना' है। 'उज्जयिनी' उसी ऊर्ध्व-गामिनी अभिसार-यात्रा का प्रतीक है। योगी केवल एक-मुख अभिसार की ही बात जानता है। परन्तु यह खण्ड-सत्य है सखे ! उज्जयिनी

का इतिहास बताता है कि शिव भी देवी का हृदय जय करने के लिए उतने ही उत्सुक और उतने ही चंचल हैं। जिस प्रकार नीचे से ऊपर की ओर अभिसार-यात्रा की चेष्टा चल रही है, उसी प्रकार ऊपर से नीचे की ओर भी अवतरण हो रहा है। योगी एक ही को देख पाता है, भक्त दोनों को देखता है। इसी वक्रतामें सहज भाव है। सहज बनने के लिए कठिन आयास करना पड़ता है मित्र! सीधी लकीर खींचना सचमुच टेढ़ा काम है। इसीलिए कहता हूँ, रास्ता टेढ़ा है तो होने दो, लेकिन उज्जयिनी जाओ अवश्य। उज्जयिनी के ऊँचे-ऊँचे महलों के कँगूरों से टकराने में तुम्हें रस मिलेगा। किसी जमाने में नगर के बड़े-बड़े रईसों के मकान सुधा-चूर्ण यानी चूने से पोते जाते थे, इसीलिए उन्हें 'सौध' कहा जाता था। उन दिनों ये श्वेत भवन दिन में सूर्य की किरणों से चमककर और रात में चन्द्रिका की धवल धारा में स्नान कर दूर से ही दिखायी देते थे। परन्तु उज्जयिनी में आजकल सुधा-चूर्ण से पुते हुए भवनों का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। एक-दो हों, तो दूर से देखने-दिखाने का प्रयास किया जाय। वहाँ तो सैकड़ों भवन हैं, एक-से-एक विशाल! शाल और अर्जुन के वृक्ष इस उज्जयिनी को घेरकर दूर तक इस प्रकार शोभित हो रहे हैं, जैसे श्वेत चादर ओढ़े हुए शाल-प्रांशु सैनिक खड़े हों। तिलक, अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और वकुल वृक्षों की घनच्छाया-पंक्तियाँ उज्जयिनी के चारों ओर दिन में भी रात्रि की शोभा उत्पन्न करती रहती हैं।

"उज्जयिनी के ऊपर उड़ोगे, तो तुम्हें सावधान होकर उड़ना होगा। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से टकरा जाने की आशंका पद-पद पर रहेगी, परन्तु वृक्षों की चोटी अगर बचा भी जाओ, तो भी उज्जयिनी के उन रंगीन महलों के कँगूरों से बच नहीं पाओगे। अब भी लोग उपचारवश इन गगनचुम्बी रंगीन अट्टालिकाओं को 'सौध' ही कहते रहे हैं; परन्तु विदिशा के सौधों को देखकर उनकी ऊँचाई के बारे में गलत धारणा न बना लेना। तुम्हें टकराना तो पड़ेगा ही। लेकिन बुरा क्या है? उज्जयिनी के सौध भी प्रेम की मर्यादा समझते हैं। तुम्हारे जैसे सहृदयों के लिए उनकी गोद खुली हुई है। वे अपनी विशाल ऊर्ध्वग.मी भुजाओं से तुम्हें चिर-परिचित प्रेमी की तरह गले लगायेंगे। इसीलिए इन विशाल सौधों के ऊपरी हिस्से को उत्संग समझकर तुम प्रीतिपूर्वक विश्राम करना। इनके उत्संग के प्रणय से तुम विमुख मत हो जाना। फिर एक बड़ा लाभ भी है। तुम्हारे हृदय में निरन्तर विराजमान जो विद्युत्प्रिया है, वह इन सौधों से टकराने पर अवश्य चमक उठेगी। उस समय विद्युत् की चमक से उज्जयिनी नगरी की सुन्दरियाँ त्रस्त-चकित होकर तुम्हारी ओर चंचल कटाक्ष निक्षेप करेंगी। मैं कहता हूँ दोस्त, इन चंचल कटाक्षों का रस यदि तुम नहीं ले सके, यदि उसमें तुम रम नहीं सके, तो तुम्हारा जनम अकारथ है। तुम सचमुच ही वंचित रह जाओगे। एक क्षण के लिए सोचो तो भला, देवी के कृपा-कटाक्षों से संसार कितने बड़े अनर्थ से निवृत्ति पा सका था। उज्जयिनी की पौर-ललनाओं की दृष्टि में त्रिपुर-सुन्दरी के उसी प्रसन्न कृपा-कटाक्ष की छाया है। विपुल ब्रह्माण्ड में व्याप्त त्रिपुर-सुन्दरी का त्रैलोक्य-मनोज रूप उज्जयिनी की

पौर-ललनाओं में नहीं देख सके, तो कहाँ देखोगे ? इसीलिए मेरा प्रस्ताव है कि कठिनाई की चिन्ता किये बिना तुम उज्जयिनी अवश्य जाओ, और वहाँ के विशाल भवनों के उत्संग में बैठकर उज्जयिनी की पौर-ललनाओं के लीला-कटाक्ष का रस अवश्य अनुभव करो।

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि नं रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ।। 27 ।।

"रास्ते में तुम्हें क्षीण-धारा निर्विन्ध्या नदी मिलेगी ! नदियाँ तुम्हारे वियोग से क्षीण हो जाती हैं। निर्विन्ध्या की यह क्षीणता तो विशेष रूप से उल्लेख्य है। उस वियोगिनी की दशा यदि तुम चुपचाप जाकर देख सको, तो ठीक-ठीक समझ सकोगे। लेकिन यह होने का नहीं। तुमसे पहले तुम्हारे स्पर्श से शीतल बनी वायु तुम्हारे आगमन का सन्देशा पहुँचा देगी। दीर्घ प्रतीक्षा के बाद निर्विन्ध्या के भाग जगेंगे। उसके क्षीण शरीर की शोभा प्रसन्नता की आवेगचटुल तरंगों के रूप में बिखर उठेगी। तुम्हारे स्पर्श से शीतल बनी वायु जब निर्विन्ध्या की चटुल तरंगों में और भी चंचलता ला देगी, तो तरंगों के ऊपर विस्रब्ध भाव से खेलते हुए पक्षी सिमटकर एक पंक्ति में आ जायेंगे; और अकारण उत्सुकता से मुखर हो उठेंगे। मैं कल्पना की आँख से देख रहा हूँ सखे, निर्विन्ध्या की लोल तरंगों पर एक ही पंक्ति में बैठकर उछलती हुई और भ्रंकार ध्वनि से दिङ्मण्डल को गुँजाती हुई बलाका-पंक्ति ऐसी मनोहर मालूम होगी, जैसे विरहविधुरा निर्विन्ध्या के कटिदेश पर चाँदी की करधनी झंकृत हो रही हो। इस वीचि-क्षोभ-वश स्तनित विहगश्रेणी की काँची को धारण करनेवाली निर्विन्ध्या की शोभा मेरे मन और प्राण को व्याकुल किये हुए है। वायु तुम्हारा सन्देश लेकर जिस प्रकार निर्विन्ध्या को तरंग विक्षोभ में चंचल कर देगी, ठीक उसी प्रकार मेरा सन्देश लेकर जब तुम मेरी प्रिया के पास पहुँचोगे, तो उसके हृदय में भी इसी प्रकार आवेग-चटुल तरंगें हिल्लोलित हो उठेंगी। मैं कल्पना की आँखों से प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि तुम्हारे आगमन के संवाद से निर्विन्ध्या की गति स्खलित होकर नयनाभिराम हो उठी है। उसके पैर धरती पर नहीं पड़ रहे हैं। तुम मौजी जीव हो, बुरा न मानना; विरही की आँखों से कभी तुमने उत्कण्ठा-कातर प्रिया का स्खलित-सुभग गमन देखा नहीं। निर्विन्ध्या की स्खलित गति का अनुमान करके मेरा हृदय कातर हो उठा है। प्रेम जब उद्वेल हो उठता है, जब वह हृदय में अँटाये नहीं अँटता, तभी इस प्रकार की स्खलित गति दिखायी देती है। मेरे मित्र, तुम उत्कण्ठा के इस दुर्वार आवेग की छटा छक के देखना। निर्विन्ध्या की तरंगें तुम्हें विरह-कातरा वधू की नाभि के समान गम्भीर-मनोहर दिखायी देंगी। मेरा हृदय कहता है कि यह आवर्त्त-माला तुम्हें आकृष्ट करने का संकेत है। परम लज्जावती वधू के मुख से आमन्त्रण की पुकार सुनने की आशा न रखना। क्षण-भर के लिए तुम झुककर उस लज्जावती की अभ्यर्थना

अवश्य कर लेना। नारी—तत्रापि प्रेम-विह्वला नारी—महामाया की निषेधरूपा प्रकृति का प्रतिनिधित्व करती है। वह अपने को निश्शेष भाव से लुटा देने में चरितार्थता अनुभव करती है। उसके विभ्रमों में ही प्रणय की कातर प्रार्थना छिपी रहती है। निर्विन्ध्या से अधिक विभ्रमवती नायिका तुम्हें कहाँ मिलेगी ? इसीलिए मेरा अनुरोध है कि एक बार उसकी प्रणय-कातर प्रार्थना को अवश्य स्वीकार करना। निर्विन्ध्या सचमुच विरहिणी नायिका है। विरहिणी की एक वेणी की भाँति उसकी क्षीण-धारा बहुत ही पतली हो गयी होगी। किनारे के वृक्षों से गिरे हुए जीर्ण पत्तों से ढककर वह उसी प्रकार पीली पड़ गयी होगी, जिस प्रकार मानवी विरहिणी विरह-व्यथा से पीली पड़ जाती है। हे सुभग, वह इस विरहावस्था के द्वारा तुम्हारे सौभाग्य की सूचना देती होगी। कुछ ऐसा उपाय करना कि इस बेचारी का विरह-दौर्बल्य दूर होवे।

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ 28 ॥
वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ 29 ॥

[5]

"इसके बाद अवन्तिका। निर्विन्ध्या नदी को सुख देकर तुम अवन्ति-जनपद में उपस्थित होगे। उस अवन्ति-देश में उपस्थित होगे, जिसके गाँव के बड़े-बूढ़े आज भी उदयन और वासवदत्ता की कहानियाँ सुनाया करते हैं। इस ललित उपाख्यान में शौर्य, प्रीति और प्रेमोन्माद का अद्भुत नाटकोचित उतार-चढ़ाव है। वासव-दत्ता और उदयन के प्रथम रोषोत्क्षिप्त चित्त का संघर्ष और उसकी पृष्ठभूमि में हृदय को द्रवित कर देनेवाली स्निग्ध चितवनों का आदान-प्रदान ग्राम-तरुणों के चित्त में कुशल कवि द्वारा निबद्ध नाटक के परस्पर-विरुद्ध जानेवाले संवेगों के संघर्ष से पैदा हुए झटके की गुदगुदी पैदा कर देता है। इस अवन्ति-देश में कहा जाता है कि देवता, तीर्थ, औषध और प्राणी कल्पान्त काल में सुरक्षित रहते हैं। समस्त जगत् जब महाप्रलय का शिकार हो जाता है, तो भी भविष्यत् कल्प के लिए बीजभूत सामग्री इसमें सुरक्षित रह जाती है। यहाँ समस्त तत्त्व-ग्राम को निश्शेष भाव से कवलित करके शयन करनेवाली महामाया की श्वासप्रक्रिया नित्य जाग्रत रहती है। इसीलिए अवन्ति-देश 'कवली-कृत निःशेषतत्त्व-ग्रामस्वरूपिणी' महा-माया की मानो नासिका है। इस देश में आकर तुम विशाला नामक उज्जयिनीपुरी को देखोगे। विशाला उज्जयिनी का दूसरा नाम है। यह नगरी सब प्रकार से

विशाल है। शोभा, सम्पत्ति और शालीनता यहाँ विग्रहवती होकर वास करती हैं, इसीलिए मैं इसे 'श्रीविशाला विशाला' कहता हूँ। मेरा ऐसा विचार है कि स्वर्ग में अपने पुण्यों का फल भोगनेवाले कृतीजन पुण्य समाप्त होने के पहले ही स्वर्ग के कान्तिमान् खण्ड को लेकर यहाँ आ बसे हैं। इसीलिए मैंने तुम्हें पहले ही बतलाया है कि उज्जयिनी भोगक्षेत्र है; काशी की भाँति वह कर्मक्षेत्र नहीं है। दीर्घकाल के पुण्यों का फल भोगने के लिए लोग यहाँ आ जाते हैं।"

> प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
> न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।।
> स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
> शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ।। 30 ।।

एक क्षण के लिए यक्ष का चेहरा खिल उठा। अलका और उज्जयिनी, दोनों में कितना साम्य है! दोनों ही परम पुण्यों के भोग के लिए बनी हैं, फिर भी अलका देव-योनि के लोगों के लिए है और उज्जयिनी मानव-योनि के। अलका भाग्यो-पार्जित समृद्धि का निवास-स्थान है और उज्जयिनी बाहु-बलार्जित लक्ष्मी की क्रीड़ा-भूमि। देव-योनि की बस्ती अलका पुण्यकर्मा व्यक्तियों की सिद्धि है, तो उज्जयिनी यतमान मनुष्यों की साधना-भूमि है। मेघ यदि उज्जयिनी होते हुए जायेगा, तो अलका का संक्षिप्त रूप देख लेगा, और उन समस्त विलासों से परि-चित हो जायेगा, जो पुण्यपुर के भोक्ताओं को अनायास प्राप्त हो जाते हैं। उज्जयिनी में शिप्रा की लोल तरंगों से सिक्त प्रत्यूषकालीन वायु क्लमविनोदन का सामर्थ्य भर देती है, जिस प्रकार अलका में मन्दाकिनी के निर्झर-सीकरों से शीतल बनी प्राभातिक वायु। एक क्षण के लिए यक्ष के शरीर में पुलक-कम्प का अनुभव हुआ। उसे वे सौभाग्यवती रात्रियाँ स्मरण हो आयीं, जिनमें प्रियासहचर होकर उसने प्रणय-सुख का अनुभव किया था। उसे याद आया कि सारी रात के जागर-खेद को निर्झर-सीकरों से सिक्त प्राभातिक वायु किस प्रकार अपनोदन कर दिया करती थी, और अशिथिल परिरम्भ-क्रिया द्वारा आयोजित संवाहन-सुख को किस प्रकार आनन्दसमुज्जवल बना दिया करती थी। उसने कल्पना की दृष्टि से शिप्रा की तरंगों से धौत मन्द-मन्द-संचारी प्रत्यूषकालिक प्राभातिक वायु में यह क्लान्ति-हर भाव देखा। उसने कल्पना की आँखों से देखा कि प्रभातकाल में शिप्रा के तटों पर सारसगण उन्मत्त कूजन से तट-प्रदेश को मुखरित किये हुए हैं और प्राभातिक वायु उनकी इस आनन्द-ध्वनि को उज्जयिनी के सौध-वातायनों के मार्ग से घसीटती हुई नागरजनों के विश्रामकक्ष तक पहुँचा रही है। यक्ष ने उन्मत भाव से अनुभव किया कि यह वायु का झोंका, जो सारसों के आनन्दकूजन को वहन करके रसिक दम्पतियों के विश्राम-कक्ष तक पहुँचा रहा है, खुशामदी प्रियतम से किसी अंश में कम नहीं है। आखिर चाटुकारिता में लीन प्रियतम भी तो अर्थहीन बातों से ही प्रिया की अंग-ग्लानि को दूर करना चाहता है। दोनों में अन्तर ही क्या है? फिर प्रातःकालीन विकसित कमलों की सुगन्धि से यह वायु उसी प्रकार भिदी होती

रहती होगी, जिस प्रकार प्रियतम का शरीर आश्लेषलग्न विभिन्न अंगरागों से गन्धमय हुआ रहता है। क्षण-भर में यक्ष की आँखों के सामने पुरानी अनुभूतियाँ साकार हो गयीं। वायु तो कोई जीवन्त प्राणी नहीं है। उसमें भिदी हुई सुगन्ध और बँधी हुई आनन्द-ध्वनि में प्रियतम की प्रार्थना-चाटुकारिता का आरोप कैसे किया जा सकता है? मनुष्य के अपने ही चित्त में जो राग है, जो उत्कण्ठा है, उसी को वह चराचर में व्याप्त करके देखता है। कहाँ प्राभातिक वायु और कहाँ प्रिया का चित्त-विनोदन करनेवाला प्रेमी! फिर भी यक्ष ने सारसों की उन्मद ध्वनि को वहन करनेवाले और प्रत्यूषकालीन विकसित कमलों की सुगन्धि को ढोनेवाले शिप्रा-वात में प्रियतम की ललक का आभास पाया। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वाह्य-जगत् को मनुष्य जैसा देखना चाहता है, वह वैसा ही देखता है। हमारे सामने जो कुछ व्यक्त है, वह हमारी लालसाओं के रंग में रँगा हुआ है। क्या यह लालसा निर्मूल है? क्या इसके द्वारा अग-जग में व्याप्त विराट् एक की अनुभूति का आभास नहीं मिलता? मनुष्य के चित्त में निश्चय ही प्रच्छन्न रूप से व्याप्त विराट् चैतन्य की लहरें लालसा के रूप में तरंगित होती रहती हैं। यक्ष के हृदय में जो अभिलाषा-चंचल वृत्तियाँ हैं, उन्होंने ही शिप्रा-वात में उस प्रार्थना-चाटुकार प्रियतम का आरोप किया है, जो वह स्वयं है या होना चाहता है। कहते हैं, विश्व में व्याप्त कालदेवता की सिसृक्षा ही व्यक्ति के चित्त में इस प्रकार की सर्जनात्मक लालसाओं के रूप में अभिव्यक्त होती रहती है। किन्तु यक्ष क्या इसे जान सका? समझता, तो क्या वह उन्मथित चित्त की उस लालसा के बन्धन से छुटकारा न पा जाता, जिसने समस्त जगत् को अपने रंग में रँगकर रंगीन बना डाला है? धन्य हो महाकाल! तुमने अपनी कुहकमयी शक्ति के द्वारा सारे जगत् के मूल सत्य पर सुवर्णमय आवरण डाल रखा है। अगर यह हिरण्मय पात्र का आवरण न होता, तो कदाचित् मनुष्य का चित्त रेगिस्तान के समान नीरस हो जाता, उसमें अभिलाष-चंचल भाव कभी दिखलायी ही नहीं देते और कदाचित् वह रूप के माध्यम से तुम्हें पकड़ नहीं पाता। नग्न सत्य शायद दुर्वह बोझ ही होता। अच्छा ही है जो मनुष्य को अनावृत नग्न सत्य के वास्तव रूप का पता नहीं है। होता तो अपने चित्त के विक्रियाओं के ताने-बाने से वह सत्य इतना रागरक्त करके न देख पाता। कहाँ होती उस समय महामाया के त्रिजगन्मनोज्ञ रूप की उल्लास-मुखर कल्पना? अच्छा ही हुआ जो विधाता ने सत्य के मुख को हिरण्मय पात्र से ढँक दिया है।

यक्ष ने भाव-विगलित भाषा में अपने दिल की बात मेघ से कह दी। मित्र से क्या दुराव? उसने शिप्रा-वात के बहाने मन्दाकिनी में निर्झर-स्नात वायु का ही स्मरण किया और उस वायु के बहाने अपने ही चित्त की प्रकृति उतारकर रख दी। हाय-हाय, प्रार्थना-चाटुकार शिप्रा-वात की कल्पना कितनी हृदय-वेधक थी!

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ।। 31 ।।

यक्ष ने कहा, "देखो मित्र ! उज्जयिनी की ललनाएँ अपने नितान्त 'घन-नीलविकुञ्चिताग्र' घुँघराली लटों में सुगन्धि लाने का प्रयत्न बराबर करती रहती हैं। इस देश में हेमन्त और शिशिर में दीर्घकाल तक सुगन्धित धूप से धूपित करके केशों में स्थायी रूप से सुगन्धि उत्पन्न करने की जो भोंडी प्रथा चल गयी है, वह उज्जयिनी की सुरुचि-सम्पन्न तरुणियों को मान्य नहीं है। वे हल्की सुगन्धिवाले सौगन्धिक द्रव्यों से प्रत्येक ऋतु में केश-संस्कार कर लिया करती हैं। यद्यपि वर्षा-काल में आमोद-मदिर पुष्प-गुच्छ और नयनाभिराम मालती-दाम केशों को सुगन्धि देने के लिए पर्याप्त होते हैं, तथापि आषाढ़ के इस प्रथम आविर्भाव-काल में स्वभाव-चतुर सुन्दरियाँ तुम्हारे अनिश्चित आगमन की प्रत्याशा में केश-संस्कार को संशयापन्न नहीं करना चाहतीं। उज्जयिनी के सौधों में केश-संस्कार के लिए जलाये गये हल्की सुगन्धिवाले धूप-धूम की धूम अवश्य मची होगी। शिप्रा के तट-प्रान्त को घेरकर जो विशाल भवन खड़े हुए हैं, उनके अवरोधगृह जालीदार पत्थरों के गवाक्षों से सुशोभित हैं। इन्हीं प्रासाद-जालों से 'जल-वेणिरम्या' शिप्रा की शोभा नित्य पुर-सुन्दरियों की आँखों में अभिलाष-चंचल भाव उत्पन्न करती है। जब तुम शिप्रा के ऊपर से उड़ते हुए पुरी में प्रवेश करोगे, तो सबसे पहले गवाक्ष-जालों से निकलती हुई धूप-धूम की रेखा तुम्हारा स्वागत करेगी। निःसन्देह इससे तुम्हारा शरीर पुष्ट होगा। बड़भागी हो मित्र, जो पुर-सुन्दरियों के विश्रब्ध क्षणों में आयोजित धूप-धूम का उद्वृत्त अंश पा सकोगे! उस धूम के साथ न जाने कितनी आकांक्षाएँ और कितनी लालसाएँ गवाक्ष-जालों के मार्ग से निकल रही होंगी। उसका स्पर्श पाकर तुममें भी नवीन उल्लास का संचार होगा। फिर तुम्हारे मित्र और प्रेमिक मयूर, जो इन विराट् भवनों के क्रीड़ा-पर्वतों पर विचरण कर रहे होंगे और जिनके लिए सुवर्णमयी वास-यष्टि का निर्माण किया गया होगा, तुम्हें देखकर नाच उठेंगे। नगरी में प्रवेश करते समय यही नृत्य तुम्हारे लिए प्रेमोपहार का काम करेगा। उज्जयिनी के प्रासादों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें भवन-दीर्घिका, वृक्ष-वाटिका और क्रीड़ा-पर्वत न हों और एक भी ऐसी वृक्ष-वाटिका नहीं है, जिसमें चम्पक, सिन्धुवार, बकुल, पाटल, पुन्नाग और सहकार के घनच्छाय वृक्ष न हों और जिसके अन्तःपुर से सटी हुई पुष्पवाटिका में मल्लिका, जाती, नव-मालिका, कुरण्टक, कुब्जक और दमनक लताओं की शोभा न दिखायी देती हो। उज्जयिनी के बड़े-बड़े भवन हर्म्य कहलाते हैं। एक जमाना था, जब नगरी के मध्य-भाग में बसनेवाले रईस छोटे-छोटे बन्द कक्षवाले महलों का निर्माण करते थे। उनका प्रधान उद्देश्य अर्जित सम्पत्ति की सुरक्षा होता था। उनके घरों में सूर्य की किरणों का प्रवेश भी नहीं हो पाता था। इसीलिए वे मकानों को ऊँचा बनाते थे, ताकि ऊँचाई पर बने हुए कक्षों में कुछ घर्म या घाम आ जाय। जो जितना ही धनी होता था, वह उतना ही ऊँचा कक्ष बनवा लेता था। जो कम धनी होता था,

उसका मकान सूर्य की किरणों से वंचित ही रह जाता था। यही कारण है कि उन ऊँचे मकानों को 'घर्म्य' कहा करते थे, अर्थात् जिनमें सूर्य की रोशनी पहुँच जाया करती थी। जनता में यही घर्म्य शब्द घिसकर 'हर्म्य' बन गया। किन्तु उज्जयिनी के नागरिक जनों में बन्द कक्षवाले भवनों का अब विशेष सम्मान नहीं रह गया है। उज्जयिनी के वीरों का बाहु-बल अब निर्विवाद रूप में 'गोप्ता' अर्थात् रक्षक के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। महाप्रतापी गुप्त नरपतियों ने जनता के भीतर विश्वास का संचार किया है, इसीलिए शिप्रा को घेरकर दूर-दूर तक विशाल प्रासाद बने हुए हैं, जो केवल सुन्दरियों की घुँघराली लटों को सुगन्धित करनेवाले धूप-धूम से ही नहीं, बल्कि उनके सुकुमार कर-पल्लवों से ललित पुष्प-लताओं से भी सुवासित रहते हैं। मैं इन विशाल हर्म्यों को 'कुसुम-सुरभि' कहना अधिक पसन्द करूँगा। ऐसी कोई भी ऋतु नहीं है, जिसमें कोई-न-कोई पुष्प इन पुष्पोद्यानों में न खिलते रहते हों। उनकी गन्ध से ये विशाल भवन निरन्तर सुरभित बने रहते हैं। इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि धूप-धूम से ज़रा मोटे ताज़े होकर और अपने मयूर-जैसे प्रिय मित्रों के नृत्योपहार से सुप्रसन्न होकर तुम इन कुसुम-सुरभित प्रासादों में रास्ते की थकान अवश्य दूर कर लेना। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि इन भवनों में तुम्हें ललित वनिताओं के चरणों के महावर से चिह्नित पदांकों में सर्वत्र शोभा और शालीनता के दर्शन होंगे। केश के धूप-धूम और महावर-खचित चरणों के नयनहारी चिह्न देखकर तुम शिखा से नख तक की शोभा का अनुमान कर सकोगे। इतना भी कम नहीं है। जो सचमुच सौन्दर्य का आश्रयस्थल है, उसका स्पर्श भी हृदय को विशाल और उन्नत बनानेवाला होता है। इसीलिए ललित वनिताओं के पदरागाङ्कित हर्म्यों में तुम्हें सच्ची शान्ति प्राप्त होगी।

> जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
> बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
> हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
> लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ 32 ॥

"लेकिन मार्ग की क्लान्ति दूर करने के बहाने कहीं अटक न जाना। तुम्हें पहले ही बताया है कि उज्जयिनी महाकालदेवता की लीलाभूमि है, यह त्रिभुवन-गुरु भगवान् चण्डीश्वर महादेव की तपस्या-भूमि है। 'चण्डीश्वर' नाम सार्थक है, मित्र! सहज कोपन-स्वभावा देवी महादेव की तपस्या से यहाँ प्रसन्न हुई थीं। दीर्घकाल तक उनकी बंकिम भृकुटियों में ऋजुता नहीं आयी, कुंचित ललाट-पट पर सहज भाव नहीं आया और उत्क्षिप्त हृदय में अनुकूल भावों का संचार नहीं हुआ। यह जो वक्ररूपा चण्डिका देवी हैं, वे समष्टि में व्याप्त स्पन्दहीन शिव की क्रिया-शक्ति के प्रथम उन्मेष का रूप हैं। व्यष्टि में भी जब भगवती परावाक् स्पन्दहीन परम शिव की क्रिया के रूप में प्रथम बार स्पन्दित होती हैं, तो 'पश्यन्ती' वाणी के रूप में 'अंकुशरूपा' होकर व्यक्त होती हैं। यही पराशक्ति का वक्रा, वामा या चण्डी-रूप है। पिण्ड में पश्यन्ती वाणी के रूप में व्यक्त यह सृष्टि के रूप में व्यक्त

होती हैं। जब यह मध्यमा वाणी के रूप में ऋजुता प्राप्त करती हैं, तो 'ऋजुरूपधरा दण्डरूपा' भगवती के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त पराशक्ति जब वक्ररूपा 'वामा' शक्ति के रूप में उल्लसित होती हैं, तो वह वेग बड़ा प्रचण्ड होता है। उसी स्पन्दन के उद्दाम वेग से अनन्त आकाश में व्याप्त शून्य सिहर उठता है और बार-बार प्रचण्ड आघात खाकर वस्तुपुञ्ज-रूपी फेन-रूप में सिमटने लगता है। जिस प्रकार स्वर्गलोक से सहस्रधार होकर गिरती हुई जाह्नवी की धारा को महाकाल अपने जटाजूट में धारण करके रिझाते हैं, उसी प्रकार इस चण्डवेगा वामा-शक्ति को शिव अपने जटा-जाल में उलझाना चाहते हैं। मित्र, जब-जब मैं अपनी सीमित दृष्टि से पराशक्ति के उस चण्ड वेग की कल्पना करता हूँ, तब-तब भय और त्रास से मेरा चित्त विदीर्ण हो उठता है, सारे शरीर में कम्प आ जाता है। कौन है, जो इस वक्ररूपा महाचण्डिका को प्रसन्न कर सकता है? कौन है, जो उनकी कुंचित भृकुटियों में सहज लीला का उद्रेक करा सकता है? कौन है, जो उनके रोष-काषायित नयनकोशों में व्रीडा का भाव संचारित कर सकता है? एकमात्र महाकालदेवता! मुझे देवी के 'पश्यन्ती' रूप में और सहस्रधार जाह्नवी के 'अवपतन्ती' रूप में अद्‌भुत साम्य दिखता है। समस्त लोक के कल्याण के लिए महाकाल ने देवी को प्रसन्न करने का व्रत लिया और चण्डीश्वर होने का गौरव प्राप्त किया। भगवान् चण्डीश्वर निरन्तर संसार-सागर के मन्थन और आलोड़न से स्वतः आविर्भूत विष का पान करते चले आ रहे हैं। इसीलिए वे त्रिभुवन-गुरु हैं। महाकाल के सिवा दूसरा कौन है, जो संसार-सागर से निरन्तर उद्‌भूत होनेवाले विष को पीता रहे और प्रजा को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करता रहे? एक ओर जहाँ वे त्रिभुवन-गुरु हैं, समस्त जगत् को अपने शान्तिमय क्रोड में आश्रय दे रहे हैं, वहीं दूसरी ओर वे चण्डीश्वर भी हैं। पराशक्ति के उद्दाम वेग को उन्होंने ही वश में कर रखा है। मेरे मित्र! महादेव के गण जब तुम्हें देखेंगे, तो यह समझकर कि उनके स्वामी के नीले कण्ठ की तरह तुम्हारा रंग है, तुम्हारा बड़ा आदर करेंगे। मेरा अनुमान है कि भगवान् महाकाल के दर्शन तुम्हें अनायास प्राप्त हो जायेंगे। उज्जयिनी के हर्म्य-शिखरों पर थोड़ी देर के लिए विश्राम करके तुरन्त महाकालदेवता के दर्शन के लिए चल देना। 'पूज्य-पूजा-व्यतिक्रम' यों ही बड़ा दोष है, परन्तु उज्जयिनी में तो वह मूर्खता भी है। जिसने त्रिभुवन-गुरु के चण्डीश्वर-रूप को नहीं समझा, वह पराशक्ति के पिण्ड-रूप में अभिव्यक्त पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप को भी नहीं समझ सकता। फिर मित्र, उस व्यक्ति से तुम क्या आशा रखते हो कि वह हृदय-देश के अतल गाम्भीर्य से निकली हुई प्रेमवाणी को समझ सकेगा? यह जो पिण्ड-रूप में 'महाकाल' प्रिय और प्रिया के रूप में द्विधाविभक्त होकर विद्यमान है, उसके उपरले स्तर के आकर्षण की गहराई में कैसे जा सकेगा? वह कैसे समझेगा कि विरह की यह जो कातर व्याकुलता है और मिलन की यह जो दुर्दान्त आकांक्षा है, वह महाकाल की पराशक्ति का ही उल्लास है? कितनी गहराई से यह मिलनाकांक्षा की कातर वाणी

ऊपर उठ-उठकर स्थूल वर्णमातृकाओं में अभिव्यक्त हो रही है ! कैसे उसे समझाओगे मित्र, कि वाक् और अर्थ का जो सम्पृक्त रूप चित्त में उठ-उठकर विलीन हो रहा है, वह वर्णमातृका के रूप में वामाशक्ति की अभिव्यक्ति मात्र है ? स्थूल जगत् में तो वह हिरण्यमय रूप के आवरण से इतना आच्छादित है कि उसे उसी स्तर पर पकड़ना असम्भव कार्य है। मेरे हृदय में इस समय जो उत्कण्ठा की लहरें हिल्लोलित हो रही हैं, वे क्या निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकाल के 'चण्डीप्रसादन-रूपा' उत्कण्ठा से पृथक् और विच्छिन्न हैं ? तुम्हारे हृदय में मेरे दैन्य के प्रति जो सहानुभूति है, और मेरी प्रिया के प्रति इस कातर वाणी को पहुँचा देने की जो उत्सुकता है, वह भी उस विराट् लीला से पृथक् और विच्छिन्न नहीं है। इसीलिए कहता हूँ कि उज्जयिनी जाकर तुम त्रिभुवन-गुरु के चण्डीश्वर-रूप के चरणों में अवश्य अपना प्रणिपात निवेदन करना । तुम्हें उनके गरल-मलिन कण्ठ का सावर्ण्य प्राप्त है, इसीलिए तुम मेरी बात को आसानी से समझ सकते हो। तुम चण्डीश्वर के धाम में जाने के उपयुक्त अधिकारी हो। चण्डीश्वर का धाम, जिसके उद्यान जल-क्रीड़ा में निरत युवतियों के स्नान से धुले हुए अंग-रागों और प्रफुल्ल कमल-पुष्पों के पराग-केसर से तथा गन्धवती नदी के तुषार से सिक्त पवन के द्वारा निरन्तर कम्पित हो रहे हैं। महामाया की सबसे सुकुमार और शालीन शोभा तरुणियों के रूप में अभिव्यक्त होती है और उत्फुल्ल कमलों में लीलायित हुआ करती है। व्यक्त जगत् में महामाया के त्रैलोक्य-मनोहर रूप के ये सर्वाधिक सुकुमार अधिष्ठान हैं। इनके स्पर्श से वायु में मस्ती आती है और मनोज्ञ संचार अभिव्यक्त होता है। इस वायु के स्पर्श से तुम अन्तरतर की गहराई में विराजमान पराशक्ति का अस्पष्ट आभास अनुभव कर सकोगे। चण्डीश्वर के इस पवित्र धाम में उपस्थित होना न भूलना। जो भगवान् महाकाल के इस रूप की पूजा नहीं कर सकता, वह चारुता और स्निग्धता के हृदयोन्माथी गुणों का परिचय भी नहीं प्राप्त कर सकता। व्यक्त जगत् के उपरले स्तर को खरोंच-खरोंचकर रस पाने की आशा करनेवाले कवि वातुल हैं। तुम गहराई में जाकर पराशक्ति के उन्मद विलास की आभा देखने का प्रयत्न अवश्य करना ।

भर्त्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।। 33 ।।

"मेरे प्यारे जलधर मित्र ! यद्यपि मेरा हृदय संगमोत्कण्ठा से कातर है और मैं प्राकृत जन के समान प्रलाप कर रहा हूँ, तथापि मुझे रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि मेरे हृदय में जो उत्कण्ठा और औत्सुक्य है, वह अकारण नहीं है। कहीं कोई बड़ी बात होनी चाहिए, जो मेरे शरीर और मन को मथे डालती है। मैं पागल नहीं हो गया हूँ। पागल उसे कहते हैं, जिसके हृदय के अभिलाष और उसे व्यक्त करने-वाली उपरले स्तर की वैखरी वाणी में सामंजस्य का पता नहीं रहता। मैं ज्ञानी भी

नहीं हूँ, क्योंकि ज्ञानी उसे कहते हैं, जो सत्य के अनावृत रूप को पकड़ लेने का दावा करता है। मैं भ्रान्त हूँ, व्याकुल हूँ, कातर हूँ। मुझे सत्य के अनावृत रूप का पता नहीं है, परन्तु उसके हिरण्मय आवरण और अन्तरतर के अनभिषिक्त जीवन-देवता का सामंजस्य मुझे मालूम है। भगवान् की ओर से तुम्हें जो नयन-सुभग रूप और श्रवण-सुभग गर्जन प्राप्त हुआ, वह भी सत्य का हिरण्मय आवरण ही है। मुझे रह-रहकर ऐसा लगता है कि सत्य ने अपने को सुन्दर रूप में अभिव्यक्त करने का जो प्रयास किया है, वही उसका हिरण्मय आवरण है। सत्य का जो यह प्रयास है, उसी को शास्त्रकारों ने इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का नाम दिया है। इन्हीं तीनों क्रियाओं से जगत् त्रिपुटीकृत है। इसी त्रिपुटीकृत जगत् की अभिव्यक्ति की जो प्रक्रिया है, वह देवी का 'त्रिपुरारूप' है। उसी रूप में समझने से मनुष्य का सीमित ज्ञान भी सार्थक और चरितार्थ होता है। मैं कहता हूँ मित्र, महाकाल के मन्दिर में जाकर तुम अपने इस श्यामल-मनोज्ञ रूप और मन्द-मन्द-श्रुति सुखकर गर्जन को चरितार्थ बना सकते हो। यदि तुम इस रूप और इस ध्वनि का यथार्थ फल पाना चाहते हो, तो महाकाल के मन्दिर में उसका अवसर ढूँढ़ लेना। किसी समय भी पहुँचना, किन्तु सूर्यास्त तक रुक अवश्य जाना। जब तक सूर्य अच्छी तरह आँखों से ओझल न हो जाय, तब तक प्रतीक्षा करना। जब सूर्यदेवता अस्ताचल में विलीन हो जायेंगे और सन्ध्या का झुटपुटा प्रकाश भी धीरे-धीरे म्लान हो जायेगा, उसी समय महाकाल के मन्दिर में आरती का नगारा बज उठेगा। उस समय आरात्रिक प्रदीपों को लेकर पूजा-परायण भक्त नृत्य-निमग्न हो उठेंगे और सन्ध्या का बलि-पटह गम्भीर निर्घोष के साथ ताल देता रहेगा। उस नगारे की आनन्द-ध्वनि के साथ तुम भी अपने श्रुति-मधुर गर्जन की ध्वनि मिला देना और इस प्रकार तुम्हें मधुर गर्जन का जो प्रसाद मिला है, उसका पूर्ण फल प्राप्त करना। मनुष्य के सभी शब्द, सभी स्पर्श और सभी रूप महाकाल-देवता के चरणों में निछावर होकर ही धन्य होते हैं। मुझे कोई सन्देह नहीं मित्र, कि उस सन्ध्याकालीन बलि-पटह के गम्भीर निनाद के साथ जब तुम्हारे मन्द निर्घोष का ताल मिलेगा, तभी वह सार्थक और चरितार्थ होगा। उस समय क्षण-भर के लिए जो आनन्द प्राप्त होगा, वही तुम्हारे जीवन की चरम सफलता होगी। मनुष्य अपनी सीमा को यदि क्षण-भर के लिए भी असीम के ताल से ताल मिलाने में चरितार्थ कर सके, तो उसका जन्म सार्थक हो जाता है। असीम की आराधना में लगाया हुआ एक क्षण भी सीमा को चरितार्थ कर देता है, अविकल फल का अधिकारी बना देता है।

> अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
> स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
> कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
> मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ 34॥

"सन्ध्याकालीन आरात्रिक के नगारे की मृदु-मन्द ध्वनि के बाद तुम्हें मन्दिर की नर्तकियों के मनोहर नृत्य देखने को मिलेंगे। इन नर्तकियों के ताल-ताल पर

किये हुए चरण-निक्षेप से कटि-भाग पर झूलती हुई रशना क्वणित हो उठेगी। लीलापूर्वक बीजित रत्नच्छाया से खचित चामरदण्ड मनोहर भाव से हिल उठेंगे और उनके सुकुमार हाथ इन लीलावधूत रत्नखचित चामरदण्डों के भार से क्लान्त हो उठेंगे। नर्त्तकियों के इस नृत्य को 'दैशिक' नृत्य कहते हैं। इसमें वे हाथ में खड्ग, कन्दुक, वस्त्र, दण्ड, चामर, माला और वीणा धारण करके नृत्य करती हैं। किसी जमाने में अवन्ति के इर्द-गिर्द वन्य जातियों में तरुणियों के शस्त्र लेकर उद्दाम नृत्य करने की प्रथा थी। अब भी गहन विन्ध्याटवी में बसनेवाली शबर युवतियाँ इस प्रकार का 'दैशिक' नृत्य किया करती हैं। जब तुम विन्ध्याटवी के शबराध्युषित क्षेत्रों के ऊपर से उड़ोगे, तो कभी-न-कभी इस उद्दाम नृत्य के देखने का अवसर भी पा सकोगे। अब उज्जयिनी की सम्भ्रान्त गणिकाओं ने उस उत्कट नृत्य को तालानुग बनाकर ललित मनोहर रूप में ढाल दिया है। नाम उसका अब भी 'दैशिक' ही चल रहा है। इस नृत्य में खड्ग और चामर आदि उपकरण केवल लीलाविलास के साधन-मात्र रह गये हैं। पटहनिनाद की पृष्ठभूमि में चामरधारिणी देवदासियों का नृत्य बहुत ही अभिराम हो जाता है। वीणा और वेणु, कलकाँस्य और कोशी आदि वाद्यों की ध्वनि के साथ क्वणित किंकिणी का रणन्-नूपुर नर्त्तकियों का ललित-मनोहर-नृत्य मादक वातावरण उत्पन्न करता है और बीच-बीच में पुजारियों का हुङ्कार और डमरू-निनाद उस मादक वातावरण को बरबस खींचकर महाकाल के चरणों में निक्षिप्त कर देता है। उज्जयिनी के प्रतापशाली नरपतियों ने भक्तिपूर्वक महाकाल की सेवा के लिए जो रत्नखचित सौवर्ण चामरदण्ड अर्पित किये हैं, वे आरात्रिक प्रदीपों से उद्भासित होकर अपूर्व शोभा उत्पन्न करते हैं। परन्तु श्रद्धा और भक्ति के आवेश में दिये हुए महार्घ रत्न और सुवर्णदण्ड इतने भारी हो गये हैं कि महाकाल मन्दिर की सुकुमार नर्त्तकियों की सुकुमार कलाइयाँ देर तक उस भार को सहन नहीं कर पातीं। शतावरी लता जिस प्रकार पूर्वी वायु के झकोरों से बार-बार विस्रस्त होकर क्लान्त-जैसी दिखने लगती है, उसी प्रकार सरस नृत्य इन सुकुमार ललनाओं को स्रस्तविधुर बना देता है। कहाँ मदन देवता के पुष्प-धनुष की भाँति सुकुमार ललनाएँ और कहाँ गुरुभार चामरदण्ड! मित्र, इन श्रान्त-क्लान्त क्रीडा-पुत्तलिकाओं जैसी-सुकुमार ललनाओं के क्लान्त मुखमण्डल पर स्वेद-बिन्दु झलक आयेंगे, उस समय तुम अपनी झीनी फुहारों से उनकी क्लान्ति दूर कर देना। वे कृतज्ञतापूर्वक अपनी मधुकरश्रेणी-जैसे दीर्घ और चंचल कटाक्षों से तुम्हारी ओर देखेंगी। मैं यह नहीं कहना चाहता मित्र, कि शिव-भक्ति का फल कामिनियों के नयनाभिराम रूप का दर्शन ही है, और इसीलिए भगवान् चण्डीश्वर के दर्शन का फल तत्काल मिल जायेगा। कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं। परन्तु मैं दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि ऐसी छिछली और भोंडी रसिकता शिव-भक्ति के न होने का परिणाम है। परन्तु इसमें मुझे रंच-मात्र भी सन्देह नहीं कि इन सुन्दरियों की क्लान्ति दूर करना तुम्हारे-जैसे सहृदय का पावन कर्त्तव्य होगा। महाकालदेवता के नाट्यमण्डप में सुकुमार नृत्य का आयोजन इसलिए नहीं किया

जाता कि वहाँ छिछली और भोंडी रसिकता के धनी शिवभक्त तत्काल फल पा जायें। यह नृत्य मनुष्य के भीतर जो ललित और सुन्दर है, उसका अर्घ्य महादेव को चढ़ाने का बहाना-मात्र है। पुराण-मुनियों ने नृत्य को देवताओं का सर्वश्रेष्ठ चाक्षुष-यज्ञ माना है। इस चाक्षुष-यज्ञ द्वारा महाकालदेवता की आराधना करना अपने-आपमें ही महत्त्वपूर्ण है। बड़े दुःख की बात है मित्र, कि उज्जयिनी में भी ऐसे हल्के संस्कारों के रसिक हैं, जो इस चाक्षुष-यज्ञ को ही जीवन का सबसे बड़ा फल मान लेते हैं! खैर, तुम नृत्य-परायण युवतियों की विलास-कातर गात्र-यष्टि और श्रम-कातर मुखमण्डल पर वर्षा की पहली फुहार देना। वह इस नृत्यरूपी चाक्षुष-यज्ञ को प्रत्यक्ष रूप से समृद्ध करेगी और तुम्हें जलधर होने का जो सौभाग्य मिला है, वह चरितार्थ होगा। इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि तुम वर्षाग्र-बिन्दुओं के निक्षेप से महादेव की आराधना में नवीन समृद्धि जोड़ देना। निस्सन्देह सहृदय नर्तकियाँ तुम्हें अपनी मनोहर चितवनों के प्रसाद से धन्य करेंगी।

पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर श्रेणिदीर्घान्किटाक्षान् ॥ 35 ॥

"मैं जानता हूँ मित्र, कि नृत्य-वादित्र से जब वहाँ का वातावरण भक्तिविद्ध हो जायेगा, उस समय तुम अपने-आपको सँभाल नहीं सकोगे। भक्तों की आराधना से प्रसन्न होकर स्वयं महादेव जब ताण्डव करने को उद्यत होंगे, तो तुम्हें भी अपना जीवन चरितार्थ करने का अवसर मिलेगा। उस समय अस्ताचलगामी सूर्य की लाल किरणों से तुम्हारा शरीर नवीन जवा पुष्प के समान लाल हो गया रहेगा। महादेव जब ताण्डव करने को उद्यत होंगे और उनकी भुजाएँ विशाल वनस्पतियों के समान आन्दोलित हो उठेंगी, तो ऐसा लगेगा जैसे एकाएक भुजा-रूपी वृक्षों का जंगल खड़ा हो गया है। उस समय तुम सावधानी से मण्डलाकार होकर उस भुजारूपी तरुवन पर छा जाना। एक क्षण के लिए भवानी के चित्त में उद्वेग की काली छाया उदित हो जायेगी। गजासुर को युद्ध में मर्दन करके भगवान् शंकर ने उस शोणित-बिन्दु-वर्षी खाल को ओढ़कर उन्मत्त ताण्डव किया था। क्षण-भर के लिए भवानी के चित्त में भगवान् शंकर का वही पुराना रूप खेल जायेगा। उस समय भगवान् के कोप को दूर करने के लिए और उद्धत ताण्डव-वेश को संयत करने के लिए देवी को बड़ा प्रयास करना पड़ा था। जिस समय शंकर के उद्दाम ताण्डव से दिशाएँ चटचटा उठी थीं, महाशून्य व्याकुल हो उठा था और ब्रह्माण्ड धसकने लगा था, समस्त प्रजा त्राहि-त्राहि पुकार उठी थी, उस समय देवी ने ललित-मनोहर लास्य-नृत्य से भगवान् को प्रसन्न करना चाहा था। दीर्घ आयास के बाद भगवान् का कोप शमित हुआ। उनके क्रोध-ताम्र मुखमण्डल में शान्त-स्निग्ध आभा दिखलायी पड़ी। जब भवानी शिव के भुजमण्डल में तुम्हें गजाजिन के रूप में लिपटा देखेंगी, तो क्षण-भर के लिए उनके चित्त में उद्वेग का संचार होगा। माता का करुणा-विद्रवि :

हृदय प्रजा के नवीन त्रास की आशंका से व्याकुल हो उठेगा। वे सोचने लगेंगी कि आज यह फिर गजाजिन महाकाल की भुजाओं में कैसे उलझ गया! वे शंकित हो उठेंगी कि कहीं फिर वह उत्ताल नर्त्तनवाला दृश्य तो उपस्थित नहीं हो रहा है! लेकिन जब वे समझ जायेंगी कि यह और कोई नहीं, वर्षाग्रबिन्दुओं का प्रथम संवाहक सान्ध्य बलाहक है, तो उनके प्रसन्न मुखमण्डल पर हल्की स्मितरेखा उदित हो उठेगी, वे एकटक से तुम्हारी भक्ति-भावना को निहारती रह जायेंगी। पशुपति भी अवश्य प्रसन्न होंगे, क्योंकि गजासुर के मर्दन के बाद से वे प्रायः ही गजाजिन धारण करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। माता पार्वती आशंकित रहती हैं कि यदि उन्हें फिर से गजाजिन प्राप्त हो जाये, तो वही उत्ताल ताण्डव फिर शुरू हो जायेगा। वे भगवान् शंकर को गजाजिन धारण करने से विरत करना चाहती हैं। भवानी की इस सुकुमार भावना को भगवान् शंकर भी समझते हैं और आदर की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें गजाजिन धारण करके ताण्डव करने की इच्छा तो रहती है, पर भवानी की भावनाओं को देखकर कुछ बोलते नहीं। जिस क्षण अनायास आर्द्र गजाजिन के रूप में विराट् बाहुवन में लीन हो जाओगे, उस क्षण उनके अधरों पर भी अवश्य लीला विलास की हल्की-सी स्मितरेखा खिल उठेगी। क्षण-मात्र के लिए देवी के चेहरे पर उद्वेग की काली रेखा देखकर वे चटुल परिहास का अनायास लब्ध अवसर पाकर प्रसन्न हो जायेंगे। तुम्हें भवानी और शंकर दोनों को बारी-बारी से प्रसन्न करने का सौभाग्य प्राप्त होगा, और तुम्हारा नयन-सुभग रूप धन्य हो जायेगा।

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥ 36॥

[6]

"मित्र, कहते हैं किसी समय ब्रह्मा के अनुरोध पर शिव ने सन्ध्याकाल में ताण्डव-नृत्य किया था। बड़ा विकट नृत्य था वह! तण्डु नामक मुनि को भगवान् शंकर ने इसी नृत्य का उपदेश किया था। किस प्रकार हाथ और पैर के योग से 108 प्रकार के करण बनते हैं, किस प्रकार दो विभिन्न करणों के योग से नृत्य-मातृकाएँ बनती हैं; फिर तीन करणों से 'कलापक', चार से 'मण्डन', पाँच से 'संघातक' आदि बनते हैं। इस बात को शिवजी ने निपुण भाव से तण्डु मुनि को सिखाया था। नौ करणों के योग से बत्तीस प्रकार के अंगहारों की विधियाँ सिखायी थीं और अंगहारों के साथ पाद, कटि, हाथ और कण्ठ के चतुर्विध रेचकों का उपदेश दिया था, और अन्त में रेचकों और अंगहारों से बने हुए विचित्र ताण्डव का अभिनय सिखाते-सिखाते विचित्र नृत्य में मस्त होकर बमभोलानाथ बन गये थे। शान्त-स्निग्ध पार्वती भोलानाथ के इस उत्ताल नर्त्तन से इतनी मुग्ध हुईं कि आनन्दोल्लास में

ललित भाव से स्वयं भी नाच उठीं। तण्डु मुनि को सिखाये जाने के कारण ही शिव का नृत्य ताण्डव कहलाया और ललित विलास से प्रेरित होने के कारण पार्वती का नृत्य लास्य कहलाया। तभी भक्तगण महादेव और पार्वती के अद्भुत और सुकुमार नृत्यों का अनुकरण करते आ रहे हैं। तभी से महाकाल के मन्दिर में दोनों ही नृत्य दिखाये जाते हैं। दक्ष-यज्ञ के अवसर पर भी महादेव ने विकट ताण्डव किया था। सुना है कि उस अवसर पर शिव के गण मृदंग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणक और दर्दुर आदि आतोद्य वाद्य बजा रहे थे और महादेव लय-तालसमन्वित उद्दाम मनोहर ताण्डव से उल्लसित हो उठे थे। महाकाल के मन्दिर में शिवभक्त लोग इन बाजों का प्रयोग करते हैं। मुझे यह सोचकर बड़ा आनन्द आ रहा है कि तुम नवीन आतोद्य का रूप धारण करोगे और अभिनव गजाजिन के रूप में महादेव के ताण्डव के प्रत्यक्ष साक्षी बनोगे। इसीलिए कहता हूँ कि सान्ध्य-आरात्रिक के अवसर पर महाकाल के मन्दिर पर अवश्य जाना। मेरा अनुमान है कि आरती समाप्त होने के बाद काफी रात हो जायेगी। उज्जयिनी के राजमार्ग अन्धकार से जूझते अवश्य रहेंगे, परन्तु उसे दूर करने में असमर्थ ही सिद्ध होंगे। नगरी के राजमार्ग सूचीभेद्य अन्धकार से आच्छन्न हो जायेंगे। नगर की ओर जब तुम लौटोगे, तो तुम्हारी काली छाया इस अन्धकार को और निबिड़ बना देगी। उस समय तक घर के काम-काज से फुर्सत पाकर नवीन अनुराग से चंचला अभि-सारिकाएँ प्रेमियों द्वारा निर्दिष्ट अभिसारस्थलों की ओर निकली होंगी। उस समय कसौटी पर कसी हुई कांचन-रेखा के समान सौदामिनी को अपने हृदयदेश पर उद्भासित करके इन रागोद्भ्रान्ता किशोरियों को मार्ग दिखाने में सहायता करना। मुझे आशंका है मित्र, कि तुम्हें उसी अवसर पर विनोद की न सूझ पड़े। कहीं ऐसा न कर बैठना कि झमाझम पानी बरसाकर और गम्भीर गर्जन करके भयत्रस्त मुखमण्डल और कम्पमान हृदय का रस लेने लगो! मेरी यह कातर प्रार्थना है कि उन प्रेमविह्वला अनुरागवतियों को व्याकुल न बना देना। चुहल करने का अवसर तुम्हें और मिलेगा। उज्जयिनी की अनुरागवती प्रेमिकाओं को परिहास के लिए भी छेड़ना अनुचित होगा। चुपचाप विद्युत् की हल्की आभा से मार्ग दिखाकर आगे बढ़ जाना।

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ।। 37 ।।

"परन्तु मैंने यह प्रार्थना करके तुम्हारे साथ थोड़ा अन्याय भी किया। बार-बार विद्युत्प्रिया को कौंधने को कहना सचमुच अपने हृदय की कठोरता को ही व्यक्त करना है। जानता हूँ मित्र, इसमें तुम्हारे हृदय-देश में विराजमान चिर-सहचरी विद्युत्प्रिया को कष्ट होगा और सुकुमार देहयष्टिवाली तन्वंगी अवश्य क्लान्त हो उठेगी। मुझे आशंका हो रही है कि उस समय तुम अपने इस अभागे मित्र को

कोसने लगोगे। लेकिन मैं करूँ तो क्या करूँ? मैं प्रथम प्रेम की व्याकुलता को जानता हूँ। न जाने कहाँ से यह दुर्वार अभिलाषा जाग उठती है, जो तरुण-युगल को खिन्न और व्याकुल कर देती है। मैं तुम्हारे कष्टों को अच्छी तरह समझकर ही यह कातर प्रार्थना कर रहा हूँ; परन्तु इन कष्टों को यथा-कथंचित् हल्का करने का उपाय भी बता देता हूँ। उज्जयिनी के विशाल हर्म्यों में अनेक मनोहर भवन-वलभियाँ हैं। रात को कहीं-कहीं छज्जेदार वलभियों में कबूतरों के जोड़े विश्रब्ध भाव से विश्राम करते हैं। जहाँ भी तुम्हें यह अनुभव होने लगे कि तुम्हारी विद्युत्-प्रिया थक गयी है, वहीं कहीं सुन्दर भवन-वलभी में चुपचाप कपोत-दम्पति के बगल में जा बैठना और प्रिया को विश्राम देने का प्रयत्न करना। चिर-विलास से खिन्न वधुओं के लिए प्रियतम के अंक में विश्रब्ध भाव से शयन करने के समान अधिक शान्तिदायक दूसरा उपाय नहीं है। मेरा विश्वास है कि प्रत्यूषकाल तक तुम दोनों मार्ग की क्लान्ति दूर करने में समर्थ हो सकोगे। सूर्योदय होते ही वहाँ से चल देना। मित्र, मेरा भी तो काम है। तुम्हारे-जैसे बन्धु-जन मेरे-जैसे दुःखित मित्रों की सहायता करने का जब बीड़ा उठाते हैं, तो आलस नहीं करते। तुम भी रात-भर विश्राम करके प्रत्यूषकाल में मेरी प्रिया के पास सँदेशा पहुँचाने के कार्य में सुस्ती न करना। जानता हूँ कि उज्जयिनी को इतनी जल्दी छोड़ देना सरल नहीं है। परन्तु तुम सहृद् हो, मेरे हृदय की कथा अपने हृदय में अनुभव कर सकते हो। सूर्य निकलते-निकलते तुम अलका की ओर बढ़ जाना।

"मगर ऐसी हड़बड़ी भी न करना कि उगते हुए सूर्यमण्डल पर आवरण की तरह छा जाओ। तुम नहीं जानते, लेकिन मैं जानता हूँ कि बहुत-से प्रेमी उसी समय अपनी उन प्रियाओं के आँसू पोंछते हैं, जो रात-भर प्रतीक्षा करते रहने के बाद भी प्रियदर्शन पाने का सौभाग्य नहीं पाये होतीं। उज्जयिनी के मनचले नागरक कभी-कभी पवित्र प्रेम का निरादर भी कर बैठते हैं। सूर्योदय-काल में खण्डिता वधुओं को आश्वासन का सुयोग तो मिल ही जाता है, और मित्र, सूर्यदेवता भी तो रात-भर की व्याकुल पद्मिनी-लताओं की आँखों पर ओस के रूप में छाये हुए अश्रुकणों को अपने किरणरूपी हाथों से पोंछने का अवसर पाते हैं। सबेरा होते ही यदि तुमने सूर्यमण्डल को ढँक दिया, तो यह पवित्र प्रेम-व्यापार भी रुक जायेगा। तुम सूर्यदेवता के किरणरूपी हाथों को रोक दोगे, तो सूर्यदेवता के चित्त में भी रोष का संचार होगा, और न जाने कुपित होकर वे क्या कर बैठें! इसीलिए कहता हूँ कि उतावली में गलती न कर बैठना।

तां कस्यांचिद्‌भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्य पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥ 38॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।

प्रालेयास्त्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ।। 39 ।।

"इस प्रकार धीरे-धीरे तुम जब उज्जयिनी के उत्तर की ओर बढ़ोगे, तो तुम्हें गम्भीरा नाम की नदी मिलेगी। नदियाँ तो तुमसे स्वभावतः प्रेम करती हैं; परन्तु गम्भीरा सचमुच गम्भीरा है। उसके प्रेम के इंगित को तुम तब तक नहीं समझ सकोगे, जब तक उसकी गम्भीर प्रकृति से परिचित नहीं हो सकोगे। गम्भीरा की प्रसन्न जलधारा गम्भीर सहृदय के चित्त के समान निर्मल है। तुम्हारा यह प्रकृति-सुभग शरीर छाया के रूप में उसकी निर्मल जलधारा में उद्भासित हो उठेगा। यही क्या कम है ? प्रकृति-गम्भीर प्रणयिनियों के चित्त में छायात्म होकर प्रवेश पाना भी दुर्लभ सौभाग्य है। कुमुद पुष्पों के समान स्वच्छ विशद मछलियों के उद्वर्त्त के रूप में गम्भीरा की अनुरागमयी दृष्टि प्रकट होगी। इससे अधिक की आशा वहाँ न रखना। परन्तु इसे समझने में भूल भी न करना। उस प्रेम-भरी चंचल चितवन का आदर करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। कहीं उस रागवती के हृदय के अतल गाम्भीर्य से निकले हुए प्रेम-संकेत की उपेक्षा न कर बैठना। प्रिया की प्रकृति को समझकर उसके प्रीति-संकेतों का मूल्य आँकना चाहिए। मित्र, गम्भीरा का निर्मल जल ही उसका वस्त्र है। दूर से उसकी पतली धारा नीली साड़ी की तरह दिखायी देती है। तट-प्रदेश पर उगी हुई वेतस-लताएँ ऐसी दिखायी देती हैं, मानो गम्भीरा अपने स्रस्त-शिथिल वस्त्र को हाथों की मनोहर उँगलियों से लीला-पूर्वक सँभाले हुए है। जिस समय तुम उसके इस प्रेम-शिथिल रूप को देखोगे, उस समय आगे बढ़ना कठिन हो जायेगा। मैं खूब जानता हूँ कि तुम अनुभवी रसिक हो; अवस्था-विशेष में पड़ी हुई प्रेमातुरा प्रिया की उपेक्षा करना तुम्हारे-जैसे सहृदयों के लिए असम्भव बात है। बड़े-बड़े लोग इसकी माया नहीं काट सके हैं; तुम्हारे लिए भी प्रलोभन के इस जाल को छिन्न करना कठिन हो जायेगा। लेकिन खैर।"

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ।। 40 ।।
तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ।। 41 ।।

यक्ष ने मेघ में थोड़ी-सी चंचलता देखी। उसे ऐसा लगा कि मार्ग बताने के बहाने उसने अपने हृदय का उद्वेग-निवेदन करना प्रारम्भ कर दिया है और मेघ उतावला हो उठा है। वह अलका-प्रस्थान करने के लिए व्याकुल है, किन्तु अपने मित्र यक्ष की हृदय-वेदना की उपेक्षा भी नहीं करना चाहता। अभी तो मार्ग बताने

में ही इतना समय लग गया, सँदेशा तो कुछ कहा ही नहीं गया ! उसने मेघ से अत्यन्त कातर वाणी में कहा कि "मित्र, रास्ता अवश्य सुन लो, देर तो हो ही रही है; किन्तु गलत रास्ते से कितनी देर होगी, यह कहना कठिन है।" यक्ष की आँखों में गम्भीरा के उस पार का मार्ग चित्रलिखित-सा प्रत्यक्ष हो उठा। उसने कल्पना की आँखों से देखा कि मेघ उसके प्रणय का सन्देश लेकर देवगिरि की ओर उड़ा जा रहा है। स्थान-स्थान पर बरसकर वह प्यासी धरती के सिक्त धरातल से सोंधी गन्ध उत्पन्न किये जा रहा है। हवा इस सोंधी गन्ध से रमणीय हो उठी है। विन्ध्याटवी के जंगली हाथी गर्जना करके इस वायु को पीकर मतवाले बनते जा रहे हैं, और विन्ध्य-पर्वत की पहाड़ियों के उदुम्बर (गूलर) वृक्षों के फल इस सोंधी और भारी हवा का सम्पर्क पाकर लाल होते जा रहे हैं। मेघ देवगिरि के मार्ग में दौड़ता जा रहा है। लेकिन वह क्या देवगिरि को भी इसी प्रकार पार कर जायेगा? क्या वह एक क्षण के लिए भी अब रुकेगा नहीं ? क्या धरती की सोंधी गन्ध से गुरुभार बनी हुई वायु देवगिरि की वनस्थलियों में चंचलता ले आकर आगे बढ़ जायेगी ? मेघ उड़ता जा रहा है, उद्दाम वेग से बढ़ता चला जा रहा है। रुकता नहीं, झुकता नहीं, निरन्तर शानदार उड़ान से आकाश को नयनाभिराम बनाता हुआ आगे ही बढ़ता चला जा रहा है। यक्ष ने उत्क्षिप्त होकर कहा—"रुको मित्र ! यह देवगिरि है, इस देवगिरि पर्वत पर महादेव के पुत्र, पार्वती के दुलारे कुमार स्कन्द जमकर बस गये हैं। देवगिरि उनकी नियत वासस्थली है। यह उनका सर्व-प्रिय वासस्थल है। यहाँ भी फिर पूज्य-पूजाव्यतिक्रम न कर बैठना। फूलों के बादल बनकर आकाश-गंगा के जल से आर्द्र कुसुम-राशि की वर्षा करके इस दृप्त कुमार की पूजा अवश्य कर लेना। इन्द्र की सेनाओं की रक्षा करने के लिए बालचन्द्र का आभरण धारण करनेवाले महादेव ने अपने उस तेज को अग्नि में निहित किया था, जो सूर्य से भी प्रचण्ड था। उसी तेज के मूर्तिमान रूप स्कन्ददेवता हैं। इनकी उपेक्षा न कर बैठना। भवानी अपने इस लाड़ले पुत्र को कितना प्यार करती हैं, इसका अन्दाजा इसी से लग जायेगा कि उनका प्रिय वाहन मयूर जब नृत्य-उल्लास में नाच उठता है और उसका वह मनोहर बर्ह, जिसमें ज्योति-रेखा के वलय पड़े हुए हैं, जब गिर जाता है, तो वे अपने दुलारे के वाहन का पंख समझकर अपने उन कानों में खोंस लेती हैं, जो नीलकमल के दलों को प्राप्त करने के उपयुक्त अधिकारी हैं। कार्त्तिकेय के उस मयूर की सफेद आँखें शिवजी के भाल-देश पर स्थित चन्द्रमा की किरणों से और भी चमकती रहती हैं। कार्त्तिकेय पर फूलों की वर्षा करने के पश्चात् तुम अपने उस मन्द्र ध्वनिवाले गर्जन से मयूर को नचा देना, जो देवगिरि की कन्दराओं से निकली प्रतिध्वनि से और भी गम्भीर हो उठेगी। ज़रा सोचो तो मित्र, कुमार कार्त्तिकेय का यह मयूर कितना बड़भागी है कि त्रैलोक्यजननी अपने कानों से नीलकमल को हटाकर उसके स्खलित बर्ह को धारण करती हैं ! इसीलिए कहता हूँ, ज़रा रुककर कार्त्तिकेय की अभ्यर्थना अवश्य कर लेना।

"मेरे जलधर मित्र, मैं तुम्हारे सहज समदर्शी रूप का प्रशंसक हूँ। ऊँचा हो

या नीचा हो, उजाड़ हो या बगीचा हो, तुम समान भाव से सबको जीवन-दान देते हो। किन्तु सब लोग ऐसी उदार नीतिवाले नहीं हुआ करते। लोगों में जन्म को लेकर, कुल और देश को लेकर, धन और दरिद्रता को लेकर छोटा-बड़ा समझने की भावना प्रबल है। जिस देवता को देवगिरि में अधिष्ठित देख रहे हो, उसके उद्भव के प्रताप से तुम परिचित हो ही; लेकिन कदाचित् तुम्हें यह नहीं मालूम कि इस देवता का उत्पत्ति-स्थान सरकण्डों का जंगल है! जिस तेज को पार्वती नहीं धारण कर सकीं, अग्निदेव नहीं धारण कर सके, महिमामयी गंगा की धारा नहीं धारण कर सकी, उसे सरकण्डों के घने जंगल ने निर्विकार भाव से स्वीकार कर लिया। कहते हैं, उस प्रदीप्त तेज से गंगा की धारा में भयंकर दाहक ज्वाला आविर्भूत हुई थी। उस तेज को सहन न कर सकने के कारण तरंग-रूपी हाथों से उन्होंने ठेलकर उसे पुलिन-भूमि पर फेंक दिया। वह तेज सरकण्डों के जंगल में छह टुकड़ों में विभाजित होकर कुमार 'षडानन' के रूप में आविर्भूत हुआ। उस समय पति-परित्यक्ता कृत्तिकाएँ उसी शरवन से कहीं जा रही थीं। उन्होंने षडानन कुमार को स्तन्यपान कराकर बड़ा किया, इसलिए उस कुमार का नाम कार्त्तिकेय पड़ा। सर-कण्डों के जंगल में पैदा होने के कारण इस महातेजस्वी कुमार के प्रति देवताओं में उपेक्षा-बुद्धि थी। कुमार ने विद्रोह किया। उस परम तेजस्वी कुमार के पराक्रम से विचलित होकर देव-सेना को उसे स्वामी-रूप में वरण करना पड़ा और तब जाकर राक्षसों के भयंकर उत्पात से देवलोक की रक्षा हो सकी। ऐसी प्रसिद्धि है मित्र, कि दीर्घकाल तक स्कन्दकुमार वन्य जातियों के ही देवता के रूप में पूजित रहे। आर्य जनता ने बहुत दिनों तक उन्हें अपना देवता नहीं माना। लेकिन तेज की कोई कब तक उपेक्षा कर सकता है? आज के प्रबल प्रतापी नरपतियों ने कुमार को प्रमुख देवता के रूप में स्वीकार किया है। प्राग्-ज्योतिषपुर से वंक्षु-नद तक जो गुप्त-नर-पतियों का प्रताप और विक्रम सूर्य के समान चमक रहा है, उसमें स्कन्द की आरा-धना का प्रमुख हाथ है। ऐसे महातेजस्वी देवता की उपेक्षा सिर्फ इसलिए करना कि वह सरकण्डों के जंगल में उत्पन्न हुआ है, अनुचित बात थी। तुम ऐसा प्रमाद न कर बैठना। शरवन (सरकण्डों का वन) में उत्पन्न देवता की आराधना किये बिना आगे न बढ़ना। देवगिरि में स्कन्ददेवता की आवास-भूमि के चारों ओर विषम पर्वत-मालाएँ हैं। सीधी उड़ान भरके तुम आगे नहीं बढ़ सकोगे। इस विषम पार्वत्य मार्ग को पार करने के लिए तुम्हें रह-रहकर ऊँचाई पर उड़ना पड़ेगा और इस प्रकार तुम्हें मार्ग को उल्लंघित करके जाना अर्थात् ऊपर उठ-उठके लाँघना पड़ेगा। ऐसा अवसर आ सकता है कि तुम्हें इतनी ऊँचाई पर उठना पड़े कि मार्ग में सिद्ध-दम्पतियों से टकरा जाना पड़े। ये लोग प्रतिदिन कुमार कार्त्तिकेय की पूजा करने के लिए इधर आया करते हैं। इन सिद्ध-दम्पतियों का सुन्दर रूप तुम्हें बड़ा मनभावना मालूम होगा, परन्तु यह आशंका नहीं है कि उन्हें रास्ता देने के लिए तुम्हें दायें-बायें मुड़ना पड़े। अगर ऐसी वक्रगति से चलना पड़ा, तो तुम्हें अवश्य कष्ट होगा। सिद्ध-दम्पतियों के हाथ में मधुर ध्वनि करनेवाली वीणा अवश्य रहती

है। तुम्हें देखते ही वे अवश्य रास्ता छोड़ देंगे; क्योंकि उन्हें डर होगा कि तुम्हारे आर्द्र शरीर से जल के जो फुहारे अनायास निकला करते हैं, वे वीणा के तारों को भिगोकर ऐसा न बना दें कि उनसे सुन्दर ध्वनि निकलने में कठिनाई हो। अपनी वीणा को वे प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं, इसलिए मैं निश्चित जानता हूँ कि तुम्हें दूर से देखकर ही वे रास्ता छोड़ देंगे। इस प्रकार बाधाओं से विचलित हुए बिना तुम सरसर उड़ते चले जाना। देवगिरि की उच्चावच पार्वत्य भूमि को पार करते ही तुम्हें चम्बल के विस्तीर्ण ढूहों के ऊपर से उड़ना पड़ेगा। चम्बल का पुराना नाम चर्मण्वती है। शरवनोत्पन्न महातेजस्वी देवता कुमार कार्त्तिकेय के समान इस शक्तिशाली नदी के प्रति भी आर्य जनता ने दीर्घकाल से उपेक्षा का भाव बना रखा है। थोड़ी ही दूर पर जो दशपुर नाम का नगर मिलेगा, वहाँ के प्रतापी राजा रन्तिदेव ने 'गवालम्भ' यज्ञ किया था। इस संज्ञपन यज्ञ में सैकड़ों गायें बलि हुई थीं। कहते हैं कि उनके चमड़ों को धोकर सुखाया जाता था और उससे जो पानी बहा, वही चर्मण्वती नदी के रूप में परिणत हो गया। इन प्रदेशों में प्रसिद्ध है कि चमड़े से उत्पन्न होने के कारण यह नदी अपवित्र हो गयी है। मैं जब इन गवालम्भ यज्ञों की कल्पना करता हूँ, तो भय से व्याकुल हो उठता हूँ। रुद्रों की माता, आदित्यों की स्वसा, वसुओं की दुहिता सुरभि-तनयाएँ क्या इसी प्रकार बलि देने के लिए बनी हैं? महाराज रन्तिदेव की कीर्त्ति चर्मण्वती नदी के प्रवाह में परिणत होकर रह गयी और परिणाम यह हुआ है कि योजनों तक इस नदी ने अत्यन्त उर्वर भूमि को ऊबड़-खाबड़ ढूहों के रूप में वन्ध्या बना रखा है। जहाँ तक इस नदी के दृप्त पौरुष का सामर्थ्य है, वहाँ की भूमि को जोतने के लिए कोई 'गोवंश' का उपयोग नहीं कर सकता। पता नहीं प्रजा ने किस अभिप्राय से चर्मण्वती नदी के प्रादुर्भाव के विषय में ऐसी कीर्त्तिकथा गढ़ ली है। परन्तु मैं कहता हूँ मित्र, जिस दिन प्रजा इस नदी के प्रवाह को मंगल-बुद्धि से निश्चित प्रणालिका-मार्ग से नियन्त्रित कर लेगी, उस दिन इस बदनाम नदी के प्रवाह से सोना झरेगा। तेज को बुरा नाम देकर बदनाम करना अपनी असमर्थता का विज्ञापन करना है। तुम यहाँ भी चूक न जाना। ज़रा झुककर इस महातेजस्विनी नदी का सम्मान कर लेना। इससे तुम उपयुक्त व्यक्ति का उपयुक्त सम्मान ही करोगे।

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्॥ 42॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना—
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धितेजः॥ 43॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ 44 ॥
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनया लम्भजां मानयिष्य-
न्स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥ 45 ॥

"जिस समय तुम चर्मण्वती नदी में पानी लेने के लिए झुकोगे उस समय तुम्हारा मार्ग छोड़कर हट गये हुए सिद्ध विद्याधर आदि देवजाति के गायक तुम्हारी जो अद्भुत शोभा देखेंगे, उसकी कल्पना करके मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है। कैसी होगी वह शोभा ! सुदूर ऊपर से सिद्ध विद्याधर चर्मण्वती नदी की चौड़ी धारा को भी पतली लकीर के समान देखेंगे, उस पर झुका हुआ तुम्हारा यह नील शरीर, जिसने भगवान् विष्णु के रंग को चुरा लिया है, इन्द्रनीलमणि के समान दिखायी पड़ेगा ! आँखें मल-मलकर सिद्धगण अवाक्-भाव से सोचेंगे कि धरती ने एक लड़वाली मोती की माला तो नहीं पहन रखी है, जिसके मध्यभाग में बड़ी-सी इन्द्रनीलमणि शोभित हो रही है ! धरती की एकावली मुक्तामाला की इन्द्रनील-मणि ! सिद्ध विद्याधरों की दृष्टि जिस समय चकित भाव से इस शोभा को देखती रहेगी, उस समय वह अपने-आपमें भी मामूली शोभा नहीं होगी। मैं यह सोच-सोचकर पुलकित हो रहा हूँ।

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ 46 ॥

[7]

"थोड़ी देर के लिए सिद्ध विद्याधरों को चकित करनेवाली शोभा का हेतु बनकर तुम आगे बढ़ जाना। देर तक अच्छे-से-अच्छे कौतुक का पात्र बनना उचित नहीं होता। ज्यों ही तुम चर्मण्वती के ढूहों को पार करोगे, त्यों ही दशपुर नामक नगर के ऊपर चक्कर काटते दिखायी दोगे। मित्र, सिद्ध-वधुओं की मुग्ध-चकित-दृष्टि का प्रसाद व्यर्थ नहीं जायेगा। दशपुर की वधुएँ भी तुम्हें अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से कौतूहलपूर्वक देखेंगी। उन बड़ी-बड़ी आँखों की भ्रूलताएँ विभ्रम-विलास से अनभिज्ञ नहीं हैं। जब उनके नयन-पक्ष्म ऊपर उठें और उनमें कृष्णशारप्रभावाली वह मनोहर चितवन, जो रंगों में उछाले हुए कुन्द पुष्पों के पीछे दौड़नेवाली भ्रमरा-वली की शोभा की प्रतिस्पर्द्धिनी होती है, तुम्हारी ओर व्यापारित हो, तो मेरे सहृदय मित्र, तुम उनका लक्ष्य बनना। अपनी शोभा को ऐसे मनोहर नयनों का

विषय नहीं बनाओगे, तो फिर इस सजल श्यामल रूप को कैसे चरितार्थ करोगे !''

यक्ष ने इतना कहने के बाद देखा कि मेघ मुस्करा रहा है। सोचने लगा, उससे क्या कोई प्रमाद हो गया है ? क्या वह ऐसा कुछ कह गया है, जो उसे नहीं कहना चाहिए ? विरह-विधुर का चित्त वश में नहीं रहता, कण्ठ गद्‌गद हो आता है और वाणी स्खलित हो जाती है। अवश्य उससे कोई स्खलन हुआ है, नहीं तो मेघ-जैसा मित्र ऐसी अर्थ-भरी हँसी नहीं हँसता। उसे तुरन्त स्मरण आया कि उसने दशपुर-वधुओं के नयनों को उपमा में कृष्णशारप्रभा की कान्तिवाला कहा है ! जो कहना चाहता था, वह नहीं कहा गया; और जो नहीं कहना चाहता था, वह अनायास मुँह से निकल गया। कृष्णशार का अर्थ हुआ अधिक काली, कुछ सफेदी और कुछ लाली की मिश्रित छटा। वह दृष्टि जो 'अमिय हलाहल मद-भरी' होती है तथा जिसमें 'श्वेत, श्याम और रतनार' का मिश्रण होता है। लेकिन मेघ ने कहना चाहा था 'कृष्णसार' अर्थात् मृग-विशेष। उसके मन में रन्तिदेव के विकट यज्ञों की बात घूम रही थी। वह बताना चाहता था कि तुम जिस देश में जा रहे हो, वह याज्ञिक देश है, वहाँ कृष्णसार मृग स्वच्छन्द चरा करते हैं। उनकी काली-काली कँटीली आँखों की चितवन वैसी ही होती है, जैसी सफेद कुन्द-पुष्प के पीछे दौड़नेवाली भ्रमर-पंक्ति। परन्तु स्खलित वचन के कारण 'कृष्णसार' की जगह 'कृष्णशार' कह गया। बोला—"बुरा क्या है मित्र ! विरही बन्धु के स्खलित वचनों से यदि कृष्ण-सार मृग की कान्तिवाले नयन 'अमिय हलाहल मद-भरे' मान लिये जायँ, तो जो व्यक्ति उनका विषय बन रहा है, उसे हानि ही क्या है ? जानता हूँ, तुम मेरे स्खलित वचनों से अपने ही वैदग्ध्य का अपलाप कर लेना चाहते हो। लेकिन मैं सचमुच मानता हूँ कि दशपुर-वधुओं के नयन, पवित्र यज्ञ-भूमि में संचरण करनेवाले कृष्ण-सार मृगों की प्रभा को ही धारण करते हैं। दशपुर-वधुओं की पवित्र आँखों से इन भीत-चपल मृगों और उनके भोले-भोले पवित्र दृगों की कान्ति हीं तुलनीय हो सकती है। मैं सचमुच ही तुम्हें मादक दृष्टि का शिकार होने की आशंका से बचाना चाहता हूँ। मेरी स्खलित वाणी को प्रमाण न मान लेना।

"देखो बन्धु, तुम अब पवित्र यज्ञ-भूमि के मार्ग से संचरण करोगे। यहाँ का सौन्दर्य भी निश्छल और पवित्र होता है। इधर तो एक प्रकार के ऐसे भी रसिक-जन दिखायी देने लगे हैं, जो पुर-वधू के प्रत्येक कौतूहल में साभिलाष भाव ही देखते हैं। वे यह मानना ही नहीं चाहते कि पुर-वधुओं की कौतूहल-भरी दृष्टि जीवन-देवता की उस नित्य विमर्श-शक्ति की रूपमय अभिव्यक्ति है, जो प्रति क्षण मृत्यु के स्नान से सृष्टि को पवित्र करती रहती है और नित्य नवीन शोभा के प्रति औत्सुक्य-चंचल भाव जाग्रत करती है। कौतूहल नवीन के प्रति न जाने किस आत्मी-यता के सम्बन्ध को निरन्तर व्यक्त करता रहता है। रम्य वस्तुओं को देखकर और मधुर ध्वनियों को सुनकर सुखित जन्तु भी पर्युत्सुक हो उठता है। निस्सन्देह यह पर्युत्सुकी भाव अकारण नहीं है। अवश्य ही जन्मजन्मान्तर का सौहार्द चित्त में व्याकुल स्मृतियों को जगाता रहता है और माया के कंचुक से बद्धजीव छटपटाकर

रह जाता है और उन सम्बन्धों को स्मरण नहीं कर पाता। कुतूहल विराट् अभेदानु-भूति की प्रत्यक्ष दृग्गोचर अभिव्यक्ति है, उसको छोटा नहीं बनाना चाहिए। आगे-पीछे, दाहिने-बायें, जीवन में सैकड़ों वस्तुओं के प्रति मनुष्य कुतूहली होता है। कौन बतायेगा मित्र, कि हमारे अस्तित्व के किस अतल गाम्भीर्य से अकारण सौहार्द की यह क्षीण आभा हमारे चैतन्य के उपरले स्तर को क्षण-भर के लिए उद्भासित कर दिया करती है! मैं भी नहीं जानता और तुम भी नहीं जानते कि पौर-रमणियों और जानपद-वधुओं की मुग्ध दृष्टियों में तुम्हारी इस श्यामल शोभा के प्रति कौन-सा सौहार्द-भाव अहेतुक उद्वेल हो उठता है। कहीं कुछ गहराई में होना चाहिए जो हमारी सारी सत्ता को आलोड़ित कर देता है।"

यक्ष ने देखा कि मेघ के परिहास-लोल मुखमण्डल पर गम्भीर भाव आ गया है। वह सौन्दर्य-तत्त्व की अधिक व्याख्या सुनने को प्रस्तुत नहीं है। विरही हो, तो विरही की तरह बात करो बाबा! मनुष्य-जीवन के अस्तित्व की गहराई में डुबकी क्यों लगाते हो? क्षण-भर के लिए उसका कण्ठ सूख गया, आँखें सजल हो गयीं! ऐसा जान पड़ा, जैसे हृदय-स्थित प्रिया ने भृकुटि-तर्जन के साथ कहा हो—'विलम्ब के कारण तुम हो।' यक्ष ने अपना अपराध समझा। दशपुर तक पहुँची हुई उसकी दृष्टि तीव्र गति से अलका की ओर धावमान हुई। उसने देखा—मेघ सरस्वती और दृषद्वती नामक देव-नदियों के अन्तर्वर्त्ती द्वाव में उड़ता चला जा रहा है। उसकी छाया इस देवनिर्मित ब्रह्मावर्त्त-देश को अवगाहित करती हुई आगे बढ़ती जा रही है। वह उस इतिहास-विश्रुत कुरुक्षेत्र प्रदेश के ऊपर उड़ता जा रहा है, जहाँ किसी समय गाण्डीव-धन्वा अर्जुन ने इसी प्रकार वाण की वर्षा से छबीले नौजवान वीरों के मनोहर मुखों को अपने वाणों की सफेद धारा से उसी प्रकार भूलुण्ठित कर डाला था, जिस प्रकार झमाझम वर्षा करके उसका मित्र मेघ कुरुक्षेत्र के सरोवरों के कमलों को निपातित कर रहा है। ठीक रास्ते-रास्ते जा रहे हो दोस्त, आगे बढ़ते जाओ। अलका जाने का मार्ग इसी क्षत्रिय-विनाशी क्षेत्र के ऊपर से है। हाय-हाय! युद्ध की भीषण ज्वाला में इस कौरव-क्षेत्र में न जाने कितनी सुहागिनों का सुहाग झुलस गया था। गाण्डीव-धन्वा के प्रबल भुजदण्ड ने न जाने कितने होनहार तरुणों का वध किया था। युद्ध भी कैसा भयंकर रोग है! जब वह मनुष्य के चित्त को उन्मत्त बना देता है, तो एक-दूसरे के प्राण-घात के लिए तत्पर जंगली भैंसों से मनुष्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता। लेकिन अब बात बढ़ाना उचित नहीं है। कुरुक्षेत्र का रक्त-कर्दम अब सूख गया है। काल-देवता का स्निग्ध भृकुटि-पात इस भयंकर नर-संहार के ऊपर विस्मृति का पर्दा डाल चुका है—उसी प्रकार जिस प्रकार, मेघ इस धरती पर अपनी छाया डालता भागा जा रहा है।

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ 47॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ।। 48 ।।

मेघ अब सरस्वती के पवित्र जल के ऊपर उड़ता चला जा रहा है। सरस्वती का पवित्र जल ! महाभारत के सबसे फक्कड़ और मस्तमौला वीर बलराम जब कौरव और पाण्डव सेनाओं में अपने ही प्रियजनों को जूझते देखकर युद्ध से विमुख हो गये थे, तो इस भयंकर शस्त्र-प्रतिद्वन्द्विता में निरर्थक अहंकारों और संकीर्ण वैर-भाव का आभास पाकर वे कुरुक्षेत्र की भीषण मार-काट से दूर रहने का संकल्प लेकर इसी सरस्वती नदी के तट पर आ बसे थे। अपनी अत्यन्त प्रिय हाला को, जो रेवती के नयनों से अंकित होने के कारण और भी मादक हो उठती थी, छोड़कर इस सरस्वती के पवित्र जल का ही सेवन करते थे। उल्लसित भाव से यक्ष ने कहा—"मित्र, तुम भी इस पवित्र जल का पान करके शुद्ध हो जाओगे। भीतर स्वच्छ और ऊपर से काले।"

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना—
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ।। 49 ।।

मेघ और भी आगे बढ़ता है। उस महिमामयी नदी के पास पहुँचता है, जो कनखल के निकट शैलाधिराज हिमालय से नीचे उतरती है। यह जह्नु मुनि की कन्या राजा सगर के पुत्रों को स्वर्ग भेजने में सोपान-पंक्ति बन गयी थी। गंगा सच-मुच महिमामयी नदी है। जितनी ही पवित्र, उतनी ही शक्तिमती। महिमामयी गंगा ने गौरी की कुटिल भृकुटियों की परवा नहीं की, अपने उज्ज्वल फेनों के बहाने उनकी इस भ्रूभंगिमा का उपहास किया, और स्वाधीनभर्तृका ज्येष्ठा नायिका की भाँति अपने तरंग-रूपी हाथों से शिव के भालदेश में विराजमान चन्द्रमा से लगकर भगवान् शंकर के केशों को पकड़ लिया था। मेघ यहाँ भी उड़ता चला जा रहा है। क्या इस महिमामयी नदी को वह यों ही छोड़ जायेगा ? "नहीं मित्र, गंगा संसार की अप्रतिम नदी है। वह भगवान् की उपचिकीर्षा का ही स्रोतमय रूप है। इस पवित्र नदी का पानी तुम्हें पीना ही पड़ेगा। जब तुम गंगा का स्वच्छ स्फटिक के समान निर्मल जल पीने के लिए झुकोगे, तो ऐसा मालूम होगा, जैसे कोई विशाल दिग्गज अपना आधा पिछला हिस्सा उठाकर पानी के लिए आकाश से झुकता आ रहा है। उस निर्मल जलधारा में तुम्हारी काली छाया जब दौड़ती रहेगी, तो देखनेवालों को ऐसा अभिराम मालूम होगा जैसे प्रयाग के बहुत पहले ही अप्रत्याशित स्थान पर गंगा और यमुना का संगम हो रहा है।"

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।

गौरीवक्त्रभृकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ।। 50 ।।

मेघ और भी आगे बढ़ता है। यक्ष के कल्पना-विहारी नयनों के सामने शोभा का समुद्र लहरा उठता है। अब हिमालय की देवभूमि सामने आती जा रही है। गंगा जिस पर्वत से निकलती है, उसकी शिलाओं में कस्तूरी-मृग के बैठने के कारण सुगन्धि आ गयी होती है। वह नीचे से ऊपर तक हिमाच्छादित होने के कारण सफेद दिखायी देता है। इसी तुषार-गौर पर्वत की ऊँची चोटी पर मेघ थोड़ा विश्राम करता है। "ठीक है, मित्र, देवगिरि से इस तुषार-गौर पर्वत तक तुम केवल उड़ते ही जा रहे हो। नदियों का पानी पीते हो और प्रजा के मंगल के लिए उसे दोनों हाथों लुटाते हो। थोड़ा विश्राम तो करना ही चाहिए। मैं उस शोभा की कल्पना कर सकता हूँ, जिस समय तुम गंगा को जन्म देनेवाले महान् गिरिराज के तुषार-गौर श्रृंग पर क्षण-भर के लिए विश्राम करने लगोगे, उस समय ऐसा जान पड़ेगा कि महादेव के श्वेत वृषभ ने कहीं कीचड़ में अपनी सींगों से जमके उखाड़ने का सुख लूटा है, और अब उन सींगों में काला कीचड़ लिपटा हुआ है। यदि यह देखना कि विशालकाय देवदारु वृक्षों की शाखाओं के संघर्ष से उत्पन्न दावाग्नि ने चमरी गौओं की सुन्दर पुच्छों को झुलसा दिया है और इस प्रकार वह हिमालय को पीड़ा पहुँचा रही है, तो सहस्रधार होकर बरस जाना। तुम्हें इस प्रकार पीड़ा पहुँचानेवाले दावानल को अवश्य शान्त कर देना चाहिए। सज्जनों के पास जब सम्पत्ति आती है, तो उसका एक ही फल होता है—दुखित जनों के दुःख का निवारण। यदि विपत्ति ग्रस्त लोगों को विपत्ति से बचाया न जा सके, तो सम्पत्ति का मूल्य ही क्या है? जड़-सम्पत्ति संचित होकर केवल विकार की सृष्टि करती है; किन्तु विपत्तिग्रस्त लोगों की सेवा में नियोजित होकर वह सार्थक हो जाती है। इसीलिए कहता हूँ कि उत्तम जनों की सम्पत्ति का एक ही फल है—दुखित जनों का दुःख-निवारण। तुम्हारे पास जो जल-धारा की सम्पत्ति है, उसका भी यही उपयोग होना चाहिए। मित्र! हिमालय में लगी हुई दावाग्नि को धारासार वर्षा के द्वारा शमन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययासौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा ।। 51 ।।
आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एवं प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य श्रृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ।। 52 ।।

"यदि तुम्हारे गर्जन को न सहकर क्रोध से उन्मत्त होकर शरभ नामक हिरण उछल-कूद मचायें और तुम्हारे मार्ग में बाधा उपस्थित करें, तो उन्हें उचित दण्ड

देना। हिमालय के वन-प्रदेश में रहनेवाले ये मृग बड़े चंचल होते हैं। मेघ-गर्जन से क्रुद्ध होकर जब ये कूदने लगते हैं, तो इस बात का भी ध्यान नहीं रखते हैं कि उछल-कूद से उन्हीं का अंग भंग होगा। ये तुम्हारा मार्ग तो क्या रोक सकेंगे, लेकिन जब ये झुण्ड-के-झुण्ड निकलकर वेगपूर्वक कूदने और दौड़ने लगेंगे, तो कठिनाई अवश्य उत्पन्न कर देंगे। ओले गिराकर उन्हें तुम तितर-बितर कर देना। इस प्रकार के निष्फल प्रयत्न करनेवालों को परिभव नहीं मिलेगा, तो और क्या मिलेगा? अपनी शक्ति को न समझकर बड़ों की मर्यादा लाँघने की हिमाकत करनेवाले इसी प्रकार अपमानित होते हैं।

तं चेद्वायौ सरति सरसस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाःसम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ 53 ॥
ये सरम्भोत्पतनरभसाः स्वांगभंगाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वान सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ 54 ॥

"हिमालय का यह प्रदेश भगवान् शंकर के संचार से अत्यन्त पवित्र हो गया है। यहाँ की एक शिला तो उनके चरणों से निश्चित रूप से चिह्नित है। सिद्ध-जन नित्य इसकी पूजा किया करते हैं। जब तुम इस स्थान पर पहुँचना तो भक्ति-नम्र होकर उसकी प्रदक्षिणा अवश्य कर लेना। हिमालय की भूमि में विचरण करने-वाले सिद्ध लोगों ने मन्त्र-तन्त्र योग का बहुत प्रचार कर रखा है, किन्तु उनमें भक्ति का अभाव है। भगवान् शंकर के प्रति जिन लोगों की श्रद्धा है और उनके ऊपर जिनका अखण्ड विश्वास है, वे ही शाश्वत पद के अधिकारी हैं। इसके दो करण हैं : बाह्यकरण और अन्तःकरण। मनुष्य जब तक अपनी बुद्धि पर भरोसा रखता है, तब तक वह अशाश्वत और शाश्वत तत्त्वों का भेद भुला नहीं पाता। बाह्य-करणों के प्रति अनास्था होने के बाद भी वह अन्तःकरणों को अर्थात् मन, बुद्धि इत्यादि को कसके पकड़े रहता है। वह समझता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रु उसके पीछे पड़े हुए हैं, इनका उच्छेद किये बिना वह शान्ति की साँस नहीं ले सकता। कष्टसाध्य तपस्याओं के द्वारा और कठिन योग-क्रियाओं के द्वारा वह अपने अन्तःकरण के विकारों को मारने का प्रयत्न करता है। लेकिन ये विकार क्षीण होकर भी जीवित रह जाते हैं और ज़रा भी शिथिलता आयी कि धर दबोचते हैं। मैं मानता हूँ मित्र, कि अन्तःकरण के इन विकारों का उन्मूलन करने का प्रयत्न ही व्यर्थ है। ये तो हमारे अन्तरात्मा के सीमा-बद्ध होने के लक्षण हैं। विद्या, कला, राग, काल और नियति—माया के इन पाँच कंचुकों से कंचुकित शिव ही जीवरूप में प्रकट हुआ है। जब तक जीव 'जीव' है, तब तक न तो वह इन विकारों से मुक्त हो सकता है और न इन विकारों को असत्य कहा जा सकता है। ये सभी जीव के

अपने सत्य हैं। इनके पाप-आकर्षण से भीत नहीं होना चाहिए। श्रद्धा और भक्ति के द्वारा इनकी वृत्ति को जड़ विकारों की ओर से हटाकर चिन्मय तत्त्व की ओर उन्मुख कर देना चाहिए। जड़-विषयक रति को चिद्विषया बना देने के सिवा भक्ति का कोई और मतलब नहीं होता। जो रति पुत्र, दारा और धनादि के प्रति है, उसे समस्त चराचर के मूल में स्थित चिदानन्दमय महासत्य की ओर उन्मुख कर देने का नाम ही भक्ति है। उस समय अन्तःकरण के विकारों को सुखा देने या नष्ट कर देने का प्रयत्न नहीं होता, बल्कि अन्तःकरण को दूसरी ओर फेर देने का प्रयत्न होता है। मनुष्य के लिए यह मार्ग सहज और स्वाभाविक है। श्रद्धावान होकर जीव अपने-आपको ही पा जाता है। अन्तःकरण के इस अन्यमुखीकरण को मैं 'करण-विगम' कहता हूँ—'करणविगम' अर्थात् 'करणों' को दूसरी ओर मोड़ देना। एक बार यदि समस्त अन्तःकरण की प्रवृत्तियों और बाह्यीकरणों की प्रचेष्टाओं को चिद्घन-विग्रह महादेव के चरणों में केन्द्रित किया जा सके, तो समस्त पाप और कलमष स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं और उस महादेव के शाश्वत अनुचर होने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया जाता है। इसलिए महादेव के चरण-न्यास से पवित्र शिलापट्ट को भक्ति-भाव से प्रणाम करने के बाद तुम महादेव के प्रति श्रद्धा न खोओगे और उस फल को प्राप्त करोगे जिससे बढ़कर कोई दूसरी चरितार्थता नहीं।

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ।। 55 ।।

"देखो भाई, हिमालय पर कीचक जाति के बाँस पाये जाते हैं जो वायु से पूर्ण होकर मधुर ध्वनि किया करते हैं। वहीं किन्नर युवतियाँ सम्मिलित भाव से त्रिपुर-विजय का गान भी करती हैं। इसी प्रकार स्वाभाविक वेणु-निनाद के साथ कल-कण्ठी किन्नरियों का गान चलता रहता है। कमी केवल मुरज वाद्य की रह जाती है। यदि उस प्रदेश की कन्दराओं में तुम्हारा गर्जन ध्वनित हो उठे, तो भगवान् शंकर के संगीत का जो अंग अपूर्ण रह गया है, वह पूर्ण हो जायेगा। ऐसा सौभाग्य किसे मिलता है ? कीचक-वेणुओं की अयत्न-साधित मधुर वंशी-ध्वनि और तुम्हारे मधुर गर्जनों से प्रतिध्वनित गिरिकन्दराओं से निकलनेवाली मृदंग-ध्वनि, और इन दोनों के साथ ताल मिलाती हुई किन्नर-वधुओं की कण्ठ-ध्वनि। तुम्हारे इस मनोहर सौभाग्य की बलिहारी है, मित्र !

"हिमालय के तट-प्रदेश के जो भी दर्शनीय स्थान हैं, उन्हें तुम देख लेना; मगर जल्दी करना। यथासम्भव एक उड़ान में इन सुन्दर स्थलों को देखकर आगे बढ़ना। तुम्हें आगे हंस-द्वार मिलेगा। इसी मार्ग से प्रतिवर्ष सहस्रों हंस, कारण्डव और क्रौंच पक्षी उत्तर कुरु पर्वत तक उड़कर जाते हैं। कहते हैं कि किसी समय शिवजी से अस्त्रविद्या सीखते समय परशुरामजी ने स्कन्द के साथ प्रतियोगिता करके एक बाण

में क्रौंच पर्वत को इस प्रकार छेद डाला था, जैसे वह मिट्टी का ढेला हो। तबसे यह क्रौंच-रन्ध्र परशुरामजी के यश का मार्ग ही बन गया। इसी मार्ग से उत्तर की ओर प्रस्थान करना। जब उस समय तिरछी उड़ान लेकर उड़ोगे, तो ऐसा जान पड़ेगा कि बलि को नियमन करने के लिए त्रिविक्रमरूपधारी विष्णु के श्याम चरण ही शोभित हो रहे हैं। विष्णु ने भी तिर्यक् गति के कारण इसी प्रकार का तिरछा पादन्यास किया था।

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिस्या-
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ 56 ॥
प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषा-
न्हंसंद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनसुरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥ 57 ॥

"इस तिरश्चीन उड्डान के द्वारा ऊपर उड़कर तुम एकदम कैलास के अतिथि हो जाओगे—कैलास, जिसकी सानु-देश की सन्धियाँ दस मुखवाले रावण की बीसों भुजाओं से झकझोर डाली गयी थीं, जिसकी स्फटिक-निर्मल चोटियाँ देवांगनाओं के दर्पण का काम करती हैं, और जिसकी कुमुद के समान स्वच्छ ऊँची चोटियाँ आसमान में व्याप्त होकर इस प्रकार स्थित हैं, मानो त्रिनयन महादेव ताण्डव-काल में जो अट्टहास करते हैं, वह प्रतिदिन संचित होता हुआ इस प्रकार पुंजीभूत हो गया है। इस महान् कैलास को देखकर तुम्हारे चित्त में गरिमा-जन्य श्रद्धा और समृद्धि-जन्य कौतूहल एक ही साथ उदित होंगे।"

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥ 58 ॥

यक्ष की कल्पना-प्रवण आँखों ने शुभ्र कैलास के ऊपर उड़ते हुए मेघ को देखा। कैसी अपूर्व शोभा थी वह ! मेघ की श्यामल कान्ति ऐसी दिखायी दे रही थी, जैसे यत्नपूर्वक मर्दित स्निग्ध आँजन में निखर आयी हुई आश्यामल कान्ति हो। जब अंजन काँस्य पात्र पर रखे हुए नवनीत में मिलाकर देर तक मर्दित किया जाता है, तो उसमें एक प्रकार की स्निग्ध-मेदुर श्यामल कान्ति निखर आती है जो गाढ़ कज्जल के वर्ण से थोड़ी हलकी होती है। आषाढ़ के प्रथम जलधर में वैसी ही मोहन कान्ति पायी जाती है। यक्ष कल्पना की आँखों से देख रहा है कि हाथी के दाँत के समान शुक्ल वर्ण के पर्वतशृंग पर स्निग्ध भिन्नांजन कान्तिवाला मेघ छाया हुआ है। बलिहारी है उस मनोहर छवि की ! ऐसा जान पड़ता है कि गौर वर्ण के प्रियदर्शन बलरामजी अपने कन्धों पर कोई काला उत्तरीय धारण करके खड़े हैं।

आहा, यह शोभा तो 'स्तिमित' नयनों से देखने योग्य है ! यक्ष की कल्पनाशील आँखों में यह मनोहर दृश्य टँगा-सा रह गया।

> उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
> सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
> शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
> मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥ 59 ॥

कैलास पर्वत हर-गौरी का क्रीड़ा-निकेतन है। 'शम्भु-रहस्य' में बताया गया है कि चार पर्वतों को शिवजी की क्रीड़ा के लिए बनाया गया—कैलास, सुमेरु, मन्दर और गन्धमादन। उनमें भी कैलास शिवजी का सबसे प्रिय क्रीड़ा-शैल है। यहीं शिव और पार्वती का नित्य-विहार चलता रहता है। निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त शिव और शक्ति की जो रहस्यमयी लीला लोकचक्षु से अगोचर होकर निरन्तर चल रही है, वही यहाँ प्रत्यक्ष विग्रह धारण करके भक्तजनों को स्पष्ट दिखायी देती है। यहाँ प्रत्येक पिण्ड में चलनेवाली शिव और शक्ति की वह लीला मनोविकारों के रूप में अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने के इंगित रूप में प्रत्यक्ष हो रही है। असम्भव नहीं कि जब मेघ वहाँ पहुँचे, उसी समय शिवजी अपने सर्पों के कंकन का परित्याग करके गौरी का हाथ पकड़कर इस कैलास पर्वत पर घूम रहे हों। यह भी सम्भव है कि उस समय वे दोनों ही पैदल चंक्रमण के लिए निकल पड़े हों। यदि शिव का करावलम्ब पाकर गौरी लीलापूर्वक उस क्रीड़ा-शैल पर विचरण कर रही हों, तो मेघ का क्या कर्त्तव्य होता है ? पर्वत-श्रेणियों में उतरने-चढ़ने में उनको कष्ट होता होगा। "देखो मित्र, यह तुम्हारे लिए बहुत ही उपयुक्त अवसर होगा। उस समय तुम अपनी जल-राशि को भीतर ही रोककर अपने वाष्प-निर्मित शरीर को ज़रा कड़ा बना लेना और अपने शरीर को इस भंगिमा में रचित करना कि वह सीढ़ी-जैसा बन जाय। तुम इन्द्र देवता के कामरूप अनुचर हो, तुम्हारे लिए असम्भव क्या है ? अपने अंगों को इस प्रकार मोड़ना कि मणितट पर चढ़नेवाली गौरी के लिए सोपान बन जाय। इससे बढ़कर जीवन को चरितार्थ करने का अवसर तुम्हें कहाँ मिलेगा मित्र ? हर-पार्वती के चरणों से पवित्र होने का अवसर कितने बड़भागियों को मिलता है।

> हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
> क्रीड़ाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
> भङ्गीभक्त्या विरचितवपुःस्तम्भितान्तर्जलौघः
> सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ 60 ॥

"एक खतरा भी है। उस क्रीड़ा-शैल पर कौतुकशीला देवांगनाएँ अपने कंकणों में लगे हुए हीरों की नोक से तुम्हारे शरीर को वेध-वेधकर जल-धारा भी निकालने का प्रयत्न करेंगी। तकलीफ तो तुम्हें होगी ही, लेकिन सुरयुवतियों के इस विनोद से तुम यन्त्रधारा-गृह के समान बन जाओगे। बड़े रईसों के घर में अनेक यत्न के द्वारा जो यन्त्रधारा-गृह बनाये जाते हैं, वे वहाँ अनायास बन जायेंगे। वे छोड़ भी

कैसे सकती हैं दोस्त ! इतनी गर्मी के बाद वे तुम्हें पायी रहेंगी। मेरा अनुमान है कि तुम सहज ही नहीं छूट पाओगे। भगवान् जाने, तुम छूटना चाहोगे भी या नहीं ! लेकिन काम तो तुम्हें मेरा करना ही पड़ेगा। यदि उनसे छुटकारा न मिले, तो मैं तुम्हें उपाय भी बताये देता हूँ। इन क्रीड़ा-चंचल युवतियों से बचने का एक उपाय है। उन्हें ज़रा श्रवण-परुष डरावने गर्जन से भयभीत बना देना। इन भय-त्रस्त तरुणियों का भागना भी तुम्हें कम पसन्द नहीं आयेगा। बस, अब तुरन्त आगे बढ़ जाना।

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे धर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भीपयेस्ताः ।। 61 ।।

"फिर तो तुम स्वर्ण-कमलों को उत्पन्न करनेवाले मान-सरोवर का जल पीना और ऐरावत के मुँह पर इस प्रकार छा जाना कि मालूम हो किसी ने उसे 'मुख-पट' से सज्जित किया है, और फिर कल्पद्रुम के उन पल्लवों को, जो झीने वस्त्रों के समान शोभित हो रहे हों, कँपा देना, और इस प्रकार अनेक प्रकार की ललित-क्रीड़ाओं के द्वारा मन बहलाते हुए उस पर्वतराज कैलास में प्रवेश करना। तुम कामचारी हो, उस कैलास पर्वत की गोद में अलका उसी प्रकार बैठी हुई है, जैसे अपने प्रणयी की गोद में कोई ऐसी सुन्दरी विराज रही हो, जिसका दुकूलपट्ट शिथिल होकर दूसरी ओर सरक गया हो। यह तुम्हें बताने की जरूरत नहीं होगी कि वही अलकापुरी है। तुम्हारे-जैसे निपुण कामचारी के लिए उसे देखकर पहचान न पाना असम्भव बात है। सतमंजिले मकानों से भरी हुई यह अलकापुरी वर्षा-काल में मेघमाला को उसी प्रकार धारण करती है, जैसे कोई कामिनी मुक्ता-जलग्रथित अलकों को धारण करती है।"

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ।। 62 ।।
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।। 63 ।।

उत्तर मेघ

अथ अलका। अब रास्ता बताने की जरूरत नहीं। मेघ — विरह-व्याकुल प्रियतम का सन्देशहर मेघ— अब गन्तव्य स्थान तक पहुँच जायेगा ! यक्ष सोचने लगा, यह वह काल है जब, मर्त्यलोक में प्रबल वायु से आध्मात होकर महिष के समान नील-कान्ति को धारण करनेवाले जलधर झमाझम बरस रहे हैं, चंचल विद्युल्लता रह-रहकर कौंध उठती है, और आसमान से बरसती हुई वारिधारा को क्षण-भर के लिए उज्ज्वल दीप्ति से देदीप्यमान कर देती है। पृथ्वी पर नये-नये हरित कान्ति-वाले तृण-शाद्वल आनन्दोल्लास में आसमान को छूने का प्रयत्न करना चाह रहे हैं और ऐसा जान पड़ता है कि क्रुद्ध जलधर इस स्पर्धा को सहन नहीं कर पा रहे हैं और मणिमय बाणों की अन्धाधुन्ध वर्षा करके पृथ्वी के वक्षःस्थल को शीर्ण-विदीर्ण करने पर तुले हुए हैं। आकाश में विचरण करनेवाले पक्षी भी क्रुद्ध जलधरों के इस अभियान में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। रंगीन-बर्हभार से मतवाले बने मयूर विकट केका-ध्वनि के साथ बादलों को बढ़ावा दे रहे हैं। आसमान में अपना एकमात्र अधिकार माननेवाली बलाकाएँ चीत्कार करके मेघों को ललकार रही हैं और कमल पत्रों का आसन छोड़कर आकाश में सोल्लास भागती हुई हंसों की पंक्ति आनन्दोद्गार के साथ जयध्वनि कर रही है। मर्त्यलोक में क्रुद्ध जलधरों ने कुहराम मचा रखा है; लेकिन अलका अभी शान्त है। अब भी वहाँ प्रथम मेघ का दर्शन नहीं हुआ है, अब भी वहाँ की कमलिनियाँ अनुद्विग्न हैं, अब भी वहाँ की मरकत सोपानवाली वापियों में स्फटिक के समान स्वच्छ जल शान्त और स्थिर है, अब भी मन्दाकिनी की तीव्र धारा भीषण आवर्त्तों से संकुल नहीं हुई है, अब भी वहाँ के गिरि-शिखर ढूँसा मारनेवाले महावृषभ की सींग पर लगे हुए पंक के समान धूसर-कान्ति नहीं धारण कर पाये हैं।

आठ महीने बाद आज पहली बार मेघ अलकापुरी में पहुँचा है। अलका, कैलास की मोहिनी प्रियतमा, प्रकृति-सुन्दरी की कुञ्चित अलकावली, सौन्दर्य-लक्ष्मी के भालपट्ट पर शोभित होनेवाली कस्तूरी की बिन्दी ! बीहड़ अरण्यों और दुर्गम शैल-प्रान्तरों को पार करता हुआ, शानदार नगरों और मनोहर उद्यानों को धन्य करता हुआ, उत्तुंग शैल-शिखरों और अभ्रंकष सौध-शृंगों पर विश्राम करता हुआ, देव-मूर्त्तियों और देव-तीर्थों के दर्शन से कृतार्थ होता हुआ मेघ थके-माँदे तीर्थ-यात्री की भाँति मार्ग की सारी क्लान्ति को भूलकर अपने गन्तव्य स्थान पर आ पहुँचा है। यक्ष के उत्कण्ठा-कातर चित्त में बार-बार यह आशंका हो रही है कि, यह मेघ अलका के महत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकेगा कि नहीं। अपनी प्रिय वास-भूमि को नित्य निवास करनेवाला व्यक्ति जितने गौरव के साथ देखता है, उतना क्या अजनबी अनुभव कर सकता है ? प्रेम और आदर परिचय से उत्पन्न होते हैं। जिसे पहचाना ही नहीं, उसके प्रति प्रेम कैसा और उसके गौरव के सम्बन्ध में आदर

भी कैसा ? फिर मर्त्यलोक का प्रेमी यह मेघ उस देवपुरी को क्या समझ सकेगा, जिसके बारे में यहाँ अनेक प्रकार की ऊल-जलूल कल्पनाएँ प्रचलित हैं। मर्त्यलोक के भोले लोग यह विश्वास करते हैं कि इस देवपुरी के निवासियों की आँखों से पीड़ा और वेदना के आँसू निकलते ही नहीं ! अश्वत्थ की सुकुमार टहनी से जब उसका सूखा हुआ जीर्ण-पत्र चुपचाप खिसक जाता है तो विशाल अश्वत्थ को जितनी हल्की वेदना होती है, उतनी हल्की वेदना भी देवलोक के निवासियों में नहीं दिखायी देती। हाय ! हाय ! वह लोक कितना नीरस और भोंडा होता होगा, जहाँ विरह-वेदना के आँसू निकलते ही नहीं; और प्रिय-वियोग की कल्पना से जहाँ हृदय में ऐसी टीस पैदा ही नहीं होती, जिसे शब्दों में व्यक्त न किया जा सके। यक्ष आज हृदय के अतल गाम्भीर्य से अनुभव कर रहा है कि जहाँ विरह की व्यथा नहीं है वहाँ सरस हृदय का दुर्ललित प्रेम भी नहीं है। आँसू में जीवन तरंगित होता रहता है। पीड़ा में प्रेम पनपा करता है। कहीं ऐसा न हो कि यह भाग्यहीन मेघ उन्हीं भोंडी कल्पनाओं से रँगी हुई दृष्टि से अलका को परखने लगे। अलका में यदि आँसू नहीं हैं तो यक्ष के हृदय की यह सारी पीड़ा मृगमरीचिका से अधिक मूल्य नहीं रखती। ये सारे प्रेमोद्गार, सारी अभिलाष-कातर उत्सुकता और सम्पूर्ण वेदना आडम्बर मात्र हैं।

अनुभयानिष्ठा रति रसाभास है। छाया के पीछे दौड़ना थोथा पागलपन है। परन्तु यक्ष जानता है कि यद्यपि अलका देवपुरी है, मर्त्यलोक की तुलना में वहाँ अनेक विशेषताएँ हैं और उन विशेषताओं को देखकर मर्त्यलोक के क्षणभंगुर जीवन धारण करनेवाले प्राणियों में उद्भट कल्पनाओं का तरंगित हो उठना स्वाभाविक है; तथापि यह कहना कि वहाँ प्रिय-विरह का सन्ताप ही नहीं है, मिलनोत्कण्ठा उत्कम्प ही नहीं है, विरह-विधुर चित्त का विक्षोभ ही नहीं है, सत्य का अपलाप मात्र है। मेघ को ठीक-ठीक समझा देना चाहिए कि अलका क्या है और क्या नहीं है।

इसी समय यक्ष ने देखा कि मेघ में अचानक विद्युल्लता का प्रकाश चमक उठा है। जान पड़ा ऐरावत के उदर-देश में बँधी सुवर्ण-रज्जु ही उद्भासित हो उठी है या क्षण-भर के लिए रामगिरि के शिखर-देश पर स्वच्छ रेशम की पताका फहरा उठी है। यह शुभ-लक्षण है। अलका की बात आते ही मेघ के वक्षस्थल पर उल्लसित होनेवाली यह आनन्दज्योति अलका के हर्म्यों में विराजित होनेवाली मणि-दीपावली की उज्ज्वल रेखा की भाँति दीप्त होकर भावी मंगल की सूचना दे रही है। जो काम सिद्ध होनेवाला होता है, उसमें ऐसे ही चिह्न प्रकट होते हैं। यह बिजली का कौंधना सूचित करता है कि काम बननेवाला है। आशा बड़ी दुरत्यय वस्तु है। कहाँ रामगिरि पर निवास करनेवाला विरही यक्ष का विद्युद्धारी मेघ और कहाँ अलका के सौधों में विराजित होनेवाली मणि-प्रदीपों की अभिराम आभा ! लेकिन यक्ष के चित्त में आशा संचरित हो गयी। क्यों ऐसा होता है ? जिन वस्तुओं से अभिलषित पदार्थ का रंचमात्र भी साम्य होता है, वे हृदयस्थित भाव-

राशि में इस प्रकार ज्वार क्यों उठा देती हैं ? क्या समस्त जड़-चेतन में व्याप्त कोई अन्तर्निहित चैतन्य-धारा प्रवाहित हो रही है जो मनुष्य के चित्त को निरन्तर उद्वेलित और उद्वेजित करती रहती है। यक्ष के चित्त में बिजली की इस कौंध ने कल्पना के महासमुद्र को मानो उद्वेल कर दिया। यह मेघ अलका के समान ही तो है जिसे देखकर प्रिया की प्रिय-निवासभूमि की कल्पना अनायास बाँध तोड़कर प्रवाहित हो उठती है, वह निस्सन्देह प्रेमी है। यक्ष ने कृतज्ञता से मेघ को देखा। उसका चित्त राग से उत्क्षिप्त हो उठा। मर्त्यवासियों की भाँति उसके भी चित्त में अलका की मनोहारिणी छटा रंगीन होकर प्रकट हुई। बोला—

"मेरे प्यारे मित्र, अलकापुरी कैलास की मनोरमा प्रियतमा है। इस पुरी को देखकर तुम्हें सचमुच आनन्द आयेगा। सच पूछो तो तुम्हारे इस 'नयन-सुभग' रूप का यदि कहीं साम्य है तो केवल अलकापुरी के रम्य प्रासादों में ही। यदि तुम्हारे शरीर में चंचल विद्युल्लता का निवास है तो अलकापुरी में वैसी ही हेम-कान्ति-वाली ललित वनिताओं का निवास है। तुम्हारे पास मनोमोहक सतरंगा धनुष है तो अलकापुरी के इन प्रासादों में रंग-विरंग के चित्र भी आलिखित हैं। अलकापुरी में शायद ही ऐसा कोई प्रासाद हो, जिसमें विविध प्रकार के भित्ति-चित्र और कल्प-वल्लियाँ न अंकित हों। कभी-कभी अन्तःपुर की छतों में चित्रित कल्प-वल्ली ऐसी मनोहर और चौंका देनेवाली होती है कि जान पड़ता है, अन्तःपुरिकाओं के सौन्दर्य को देखने के लिए सारा देव-मण्डल ही सिमटकर आ गया है। इन नयनाभिराम रंग-विरंगे चित्रों के साथ तुम्हारे हृदय-देश में विराजमान नयनाभिराम इन्द्रधनुष की तुलना आसानी से की जा सकती है। और यह जो तुम्हारा श्रवण-सुभग गर्जन है, जो जनपद-वधुओं के चित्त में आशा और नागर-रमणियों के चित्त में उत्कण्ठा का भाव जाग्रत करता रहता है, अलका के प्रासादों में निरन्तर ध्वनित होते रहने-वाले मृदंगों के साथ सहज ही तुलनीय हो सकता है। फिर, तुम्हारे सर्वांग में व्याप्त यह जो नील जल-राशि की श्यामल कान्ति दर्शक के चित्त और प्राण को मुग्ध बना देती है, वह भी अलका के उत्तुंग प्रासादों में नितान्त दुर्लभ नहीं है। इन प्रासादों की कुट्टिम भूमियाँ नीलम से बनी हुई हैं, जो इसी प्रकार की मसृण-मेदुर नीली प्रभा बखेरती रहती हैं और ऊँचाई में तो जिस प्रकार तुम हो उसी प्रकार ये भवन भी हैं। तुम दोनों के शिखर आसमान को खरोंचते रहते हैं; इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि अलकापुरी के प्रासाद सब प्रकार से तुम्हारे ही समान हैं!

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ 1 ॥

"अलकापुरी की वधुएँ हाथ में लीला-कमल धारण किये रहती हैं। मर्त्यलोक में महीयसी राजबालाओं के हाथ में लीला-कमल दे देना रूढ़ि बन गया है। पद्म का पुष्प स्त्री को पद्मिनी समझने में सहायक होता है। 'पद्मिनी' अर्थात् स्त्री-शोभा का

सर्वोत्तम अधिष्ठान। यह बड़ी मोहक कल्पना है मित्र ! मैंने पहले ही कहा है कि महामाया की त्रिजगन्मनोहरा शोभा के सर्वोत्तम अधिष्ठान दो ही हैं—नारी और कमलपुष्प। अलका में दोनों अपने सर्वोत्तम रूप में प्राप्त होते हैं। वहाँ की सुन्दरियाँ अपने मनोहर केश-जाल में ताज़े कुन्दपुष्पों को ग्रथित करती हैं और मुख-मण्डल पर श्री या ओप लाने के लिए लोध्र-पुष्पों के पराग-चूर्णों का व्यवहार करती हैं। वे चूड़ा में नवीन कुरबक-पुष्प को धारण करती हैं, कान में आगण्ड विलम्बि-केशर शिरीष-पुष्पों को धारण करती हैं और तुम्हारे आगमन की सूचना-मात्र से उल्लसित हो जानेवाले कदम्ब के केशर-प्रसरवाले पुष्पों को सीमन्त के अग्रभाग में लटका लिया करती हैं। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा मित्र, कि ये सभी फूल एक ही समय कैसे मिल जाते हैं, परन्तु अलका विचित्र पुरी है। वहाँ सब ऋतुओं के फूल सब समय खिले रहते हैं।

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं-
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ 2 ॥

"लोग ऐसा समझते हैं कि इस पुरी में ऐसे बहुत-से वृक्ष मिलेंगे, जो मत्त भ्रमरों के गुंजार से सदा मुखरित बने रहते हैं, क्योंकि उनमें सदा-सर्वदा पुष्प लगे रहते हैं; फिर, यहाँ की कमलिनियों में नित्य ही कमल खिले रहते हैं और नित्य हंस-श्रेणी से घिरी रहने के कारण ऐसा लगता है कि ये कमलिनियाँ हंस-श्रेणी की ही करधनी धारण किये हुए हैं। साधारणतः मयूर मेघ-माला को देखकर मत्त होते हैं और अपनी मधुर केका से उसका स्वागत करते हैं, परन्तु अलकापुरी की यह विशेषता बतायी जाती है कि यहाँ के घरों के पालतू मोर, जो क्रीड़ा-पर्वतों पर विचरण किया करते हैं और सुन्दरियों के कंकणवलय की ध्वनि से भी बोल पड़ते हैं, नित्य चमकीले और मनोहर बर्ह (मयूर-पिच्छ) से सुशोभित रहते हैं। और तो और, यह भी कहा जाता है कि अलकापुरी में नित्य ज्योत्स्ना बनी रहती है। इसीलिए वहाँ का सन्ध्याकाल उतना अन्धकारमय नहीं होता, जितना अन्य स्थानों में कृष्ण-पक्ष में हो जाया करता है।

यत्रोन्मत्त भ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापाः
नित्यज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥

"यहाँ तक तो फिर भी ठीक है। अलका वस्तुतः प्रकृति की दुलारी पुरी है, वहाँ सचमुच ही नित्य वसन्त है। किन्तु ऐसा भी कहते सुना है कि इस विचित्र अलकापुरी में किसी की आँखों में आँसू आते हैं तो केवल आनन्दोद्रेक के कारण ही, किसी अन्य दुःख-जनित हेतु से नहीं; शरीर में ताप अगर होता है तो केवल पुष्पों का अस्त्र धारण करनेवाले देवता के बाणों की चोट से ही उत्पन्न होता है, जो

प्रियजन के मिलन से शान्त भी हो जाता है; प्रेमियों में यहाँ कहीं बिछोह तो होता ही नहीं, यदि कदाचित् कहीं हो भी जाय तो यही समझना चाहिए कि प्रणय-कलह से उत्पन्न यह क्षणिक वियोग है; और अपार सम्पत्ति के मालिक इन यक्षों के शरीर में युवावस्था के अतिरिक्त और कोई अवस्था आती ही नहीं। यह यक्षपुरी की भोंडी कल्पना है। अलका इससे भिन्न है। वहाँ प्रेम-व्याकुल हृदयों में पीड़ा भी है, ललक भी है, वेदना भी है और उन्माद भी। यह और बात है कि वहाँ प्रकृति के दिये हुए साधन इन मानस भावों के उतार-चढ़ाव में विलक्षण ढंग के काम करते हैं। वहाँ की स्वच्छ स्फटिक मणियों की उपरली कुट्टिम भूमि में नक्षत्रों की छाया इतनी सफाई से पड़ती है कि वहाँ के प्रेमिक-युगल अनायास ज्योतिर्मयी छाया के पुष्पों से चित्रित बने हुए-से स्वच्छ विस्तर पा जाते हैं, हाथ से ही तोड़ लिये जाने योग्य पुष्प-स्तवकों की झबरीली छाया के नीचे वहाँ की कुंकुम-वर्ण किशोरियाँ मन्दाकिनी की फुहारों से शीतल बनी हुई मन्द-मन्द संचारी वायु के स्पर्श से पुलकित होकर रत्न-वालुकाओं से क्रीड़ा किया करती हैं। मर्त्यलोक में ये सारी चीजें बहुत मूल्यवान् मानी जाती हैं, पर अलका में तो हर गली-कूचे मिल जाती हैं। यदि इन सुन्दर यक्ष-यक्षिणियों के दर्शन के लिए देवता भी व्याकुल रहा करते हैं तो आश्चर्य ही क्या है! देवलोक में ये वस्तुएँ अलभ्य हैं और इन पर्वत-कन्याओं के सहज लीला-विलास में तो पार्वती की सहज लीला ही मूर्त्तिमती हो उठी है। वक्रिम-विलास के हेला-बिब्बोक और कुट्टमितों से जिन मर्त्यवासियों की दृष्टि सहज और पवित्र सौन्दर्य को समझ नहीं सकती, वह इन निसर्ग-कुमारियों के रूप-लावण्य के सम्बन्ध में भोंडी कल्पनाएँ करने लगें तो आश्चर्य ही क्या है! अलकापुरी नैसर्गिक शोभा का अक्षय निर्झर है, जड़ जगत् में भी और चेतन जगत् में भी।

> आनन्दोत्थं नयन-सलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
> र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
> नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
> र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥*

"फिर भी मेरे मित्र, अलका मर्त्यवासियों की दृष्टि में स्वप्नपुरी ही है। पूर्व-काल-संचित कर्म का भोग करनेवाले देव-योनि के लोग इस पुरी में निवास करते हैं। इसलिए वे निरन्तर सुखोपभोग के बहुमूल्य साधनों का व्यवहार करते रहते हैं। उनके निवास-स्थान स्फटिक मणियों के बने होते हैं, जिनके सहन में स्फटिक मणियों की ही कुट्टिमभूमि श्वेत आस्तरण के समान फैली होती है। रात को जब आसमान के नक्षत्र इस कुट्टिम-भूमि में छाया के रूप में प्रतिफलित होते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि सफेद चादर पर किसी ने सफेद फूल बिछा रखे हैं। कहना नहीं होगा कि यह नैसर्गिक आस्तरण कभी मैला नहीं होता। मर्त्यलोक में बिछायी जाने-

* यह और इसके पहले का श्लोक प्रक्षिप्त है। कई संस्कृत टीकाकारों ने इनकी टीका नहीं की है।

वाली चादरों और सफेद फूलों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती; क्योंकि मर्त्य-लोक की चादरें मैली हो जाया करती हैं और फूल कुम्हला जाया करते हैं। लेकिन यह अद्भुत चादर न तो मैली होती है और न इसके फूल कुम्हलाते ही हैं। ऐसी चादर पर अलकापुरी के यक्ष लोग दिव्याङ्गनाओं के साथ नृत्य और संगीत का सुख अनुभव करते हैं। और मन्द-मन्द भाव से ताड्यमान पुष्कर नामक बाजे की गम्भीर ध्वनि—जो बहुत-कुछ तुम्हारे गर्जन के समान ही है—की पृष्ठभूमि में नूपुर की झंकार और कंकण-वलयों के रणत्कार का रस लिया करते हैं। तुम जानते ही हो कि वहाँ कल्पवृक्ष नाम का समस्त कामनाओं को पूरा करनेवाला और इच्छा-मात्र से समस्त अभिलषित का दान करनेवाला अद्भुत वृक्ष है। मर्त्यवासियों के लिए इस वृक्ष का महत्त्व समझना कठिन है। इसी कल्पवृक्ष से उद्भूत रति-फल नामक मदिरा भी यक्ष-प्रेमियों को अनायास प्राप्त हो जाती है। एक बार कल्पना करो मित्र, विशाल-हर्म्यों के आँगन की कुट्टिम-भूमि पर अविराम भाव से बिछी हुई तारकावलि की छाया, दिव्य प्रेमिक-युगलों का उस पर अवस्थान और मन्द-मन्द भाव से गम्भीर ध्वनि करनेवाले 'पुष्कर' नामक बाजों के गम्भीर निर्घोष की पृष्ठभूमि में नृत्य करनेवाली अप्सराओं के कंकण-वलयों का रणत्कार और नूपुर और मेखला-किंकिणियों का झणत्कार और फिर अनायास-लब्ध मादक आसव का चषक !!

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ 3 ॥

"तुम आसानी से समझ सकते हो मित्र, कि यह अलकानगरी कितनी मोहक है। वहाँ की कन्याएँ मन्दाकिनी के जल की फुहारों से ठण्डी बनी हुई हवा में उसी के तट पर खड़े मन्दारवृक्षों की शीतल छाया में मुट्ठियों में बहुमूल्य मणियों को लेकर स्वर्ण-वालुकाओं में छिपाया करती हैं और उन्हें खोज निकालने का खेल खेला करती हैं। यह अयत्न-लभ्य सुकुमार और बहुमूल्य क्रीड़ा अन्यत्र कहाँ मिल सकती है ? दूर तक फैली हुई मन्दाकिनी की पुलिन-भूमि पर जो वालुका-राशि वहाँ फैली हुई है, वह सोने के कणों से इतनी भरी रहती है कि समूची सैकत-भूमि पीली सुनहली आभा से सदा देदीप्यमान रहती है। मर्त्यलोक में कुछ थोड़े-से सुवर्ण-कण बहकर आ जाते हैं और उनका मूल्य यहाँ बहुत अधिक माना जाता है; परन्तु अलका में मन्दाकिनी के दोनों तटों पर योजनों तक यह वालुका-राशि फैली हुई है। जो बालिकाएँ इस सैकत-भूमि पर क्रीड़ा करती रहती हैं, वे रूप-रंग और आभिजात्य में मर्त्य-लोक की श्रेष्ठ सुन्दरियों से भी बढ़कर होती हैं। यह न समझना कि अलकापुरी की बालिकाओं का सौन्दर्य कृत्रिम प्रसाधनों पर अवलम्बित है, वह सहज कमनीय है। उनका रूप देव-दुर्लभ है और उनका मन अनायास भाव से विचरण करनेवाले मृग-शिशुओं के समान सरल और मोहक है। मर्त्यलोक में जिन रत्नों को बहुत बहुमूल्य समझा जाता है, अलका के गली-कूचों में अनायास मिल

जाते हैं। इसीलिए अलका के विलास और समृद्धि के साधन सहज भाव से बिना किसी प्रयत्न के प्राप्त होते रहते हैं।

मन्दाकिन्या: सलिलशिशिरै: सेव्यमाना मरुद्भि—
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णा:।
अन्वेष्टव्यै: कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढै:
संक्रीडन्ते णिमभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्या: ॥ 4 ॥

"मज़ेदार बात तो यह है मित्र, कि जिन मणि-प्रदीपों की चर्चा इस तरफ के लोग परियों की कहानियों और पौराणिक गाथाओं में किया करते हैं, वे अलकापुरी की देहलियों में बिना किसी प्रयत्न के ही पहुँच जाया करती हैं, क्योंकि उनकी संख्या बहुत है और तुम्हें यह जानकर कुतूहल भी होगा और रस भी मिलेगा, कि ये रत्नमणि के प्रदीप कभी-कभी अलका की सुन्दरियों के लिए उलझन के विषय हो जाते हैं। जब वहाँ का प्रेमिक अपने रागोत्क्षिप्त चित्त के इंगित पर अपने हाथों से प्रिया की वस्त्र ग्रन्थि को शिथिल करने का प्रयास करते हैं और व्रीड़ा-व्याकुला प्रियतमा जब इन कभी न बुझनेवाले मणिप्रदीपों को बुझाना चाहती हैं, तो उनकी शिखा पर अचानक गुलाल-भरी मुट्ठियों से आक्रमण करके भी असफल हो जाती हैं; क्योंकि ये कमबख्त मणि-प्रदीप न फूंक से मरनेवाले हैं न गुलाल के चूर्णों से बुझनेवाले हैं। तो, उन व्रीड़ा-व्याकुला किशोरियों की क्या स्थिति होती होगी यह तुम आसानी से समझ सकते हो। जो रत्न-प्रदीप निरन्तर जलकर रात में गृहिणियों के विविध कार्यों में सहायता किया करते हैं, वे ही अवसर आने पर उन्हें धोखा दे देते हैं और लज्जा की रक्तिमा को सौ गुना बढ़ा देते हैं।

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टि: ॥ 5 ॥

"मित्र, अलकापुरी एक तो यों ही बहुत ऊँचे पर्वतों पर बसी है, दूसरे वहाँ के धनाधिपतियों ने सतमंजिले मकान बना रखे हैं। इन सतमंजिले मकानों को 'विमान' कहा जाता है। अलका के रसिक नागर अपने विशाल भवनों में भित्ति-चित्र अंकित करने में बड़ा आनन्द पाते हैं। उनकी दीवालें स्फटिक-मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान उज्जवल हैं और उन पर 'सूक्ष्मरेखा-विशारद्' कलाकार नाना रसों के चित्र अंकित करते हैं। दीवालों को पहले समान करके चूने से मजबूत बनाया जाता है, जिस पर भैंस के चमड़े को पानी में घोंटकर और अन्य मसालों के संयोग से बना एक विशेष द्रव्य पोता जाता है। ये कलाकार एक ऐसा 'वज्रलेप' बनाते हैं जो गर्म करने पर पिघल जाता है और दीवाल पर पोतने के वाद तत्काल सूख जाता है। इस वज्रलेप में सफेद मिट्टी या शंख का चूर्ण और मिश्री मिलाकर सफेद रंग की चिकनी ज़मीन बनायी जाती है। रंगीन ज़मीन बनाने के लिए और भी मसालों का उपयोग होता है। दक्षिणी भारत में नीलगिरि

पर जिस प्रकार 'नग' नामक सफेद पत्थर होता है, उसी से मिलता-जुलता स्फटिक-चूर्ण अलका के इर्द-गिर्द प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अलका के शिल्पी 'वज्र-लेप' में इन्हीं चूर्णों का प्रयोग करते हैं। मर्त्यलोक के कलाकार ईंट का चूर्ण, गुग्गुल, मोम, महुए का रस, मुसक, गुड़, कुसुम का तेल और चूने को घोंटकर उसमें दो भाग कच्चे बेल का चूर्ण मिलाते हैं, फिर अन्दाज से उचित मात्रा में भीत पर एक महीने तक धीरे-धीरे पोतते हैं और इस प्रकार वज्रलेप की भूमि को स्थायी रूप से रंगीन बनाने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि अलका में सभी प्रकार की समृद्धि है, पर ये मामूली चीजें वहाँ पर आसानी से नहीं मिलतीं। इसीलिए वज्रलेप की भित्तियों पर जो रंग चढ़ाये जाते हैं, वे उतने स्थायी नहीं हो पाते। लेकिन 'अलका' के 'विद्युत्-निर्माण' में कुशल कलाकार इससे हतोत्साह नहीं होते। प्रतिवर्ष तुम्हारे-जैसे सैकड़ों मेघ वायु के झोंकों के साथ उन सतमंजिले मकानों के भीतर घुस जाते हैं और उन सुन्दर चित्रों को गीला कर देते हैं। गीला होने से चित्र बिगड़ जाते हैं और अलका के कलाकारों को प्रतिवर्ष उन्हें फिर नया करना पड़ता है। नित्य निर्माण का जो उल्लास है, उसी का स्थायित्व इन चतुर चितेरों का काम्य है। अनन्त काल तक रंगों का बना रहना मर्त्यलोक के क्षणभंगुर चित्रकारों का काम्य हो सकता है, परन्तु जिन्हें दीर्घकाल तक नित्य-नवीन रूप-सृष्टि का उल्लास प्राप्त है उन शिल्पियों की बात ही और है! वे निर्माण के उत्साह को ही अधिक महत्त्व देते हैं, निर्माण के स्थायित्व को नहीं। तुम्हारे-जैसे चपल मेघों की विनाशकारी प्रवृत्तियों से उन्हें नव-नव रूप-निर्माण की प्रेरणा मिलती रहती है। वे इन हरकतों से बहुत चिन्तित नहीं होते। पर जो लोग उन भवनों में निवास करते हैं, वे इस विनाश-कृत्य से क्षुब्ध होते हैं। सुन्दर-मनोहर चित्रों को नवीन जलकणों से दूषित करना बहुत अच्छी बात नहीं है। चपल मेघ भी उनके क्षोभ को समझते हैं। यही कारण है कि चोर की भाँति घरों में घुसकर चित्रों को नष्ट करके चोर की ही भाँति दूसरी खिड़की से निकल जाते हैं। इतने ऊँचे महलों से कूदते समय कोई भी क्षीण-जर्जर हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु तुम्हारी जाति के लोग चतुर कलाबाज की तरह धुएँ की आकृति बनाकर भाग खड़े होते हैं। इन मेघों का चोर और जार की तरह घर में घुस पड़ना और मार खाने की आशंका से भाग खड़े होने की तरह निकल पड़ना, कोई उचित काम नहीं है। इसीलिए ज़रा तुम्हें सावधान होकर चलना होगा। लोलुप रसिक की भाँति अगर घर में घुस पड़े तो पिट जा सकते हो—धुएँ की शक्ल बनाओ तो और न बनाओ तो, जर्जर हो जाने की आशंका तो बनी ही रहेगी!

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गैः-
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ।। 6 ।।

"लेकिन साहस में सिद्धि बसती है। तुम्हें यदि घने बाँस की नलिका के आगे ताँबे के सूच्यग्र 'तिन्दुक' की, जो जौ-भर भीतर और जौ-भर बाहर निकला रहता

है, तथा उसमें लगी हुई बछड़े के कान के पास के मुलायम रोमों से बनी हुई तूलिका की करामात देखनी है तो साहस करना ही पड़ेगा। इन भवनों की ऊपरी छतों पर बनी हुई कल्प-वल्लियाँ देखते ही बनती हैं। दीवालों के चित्र और छतों की कल्प-वल्लियाँ इस प्रकार से अंकित होती हैं कि उन्हें देखकर भ्रम होता है कि देवताओं और मनुष्यों में जो सबसे सुन्दर और स्पृहणीय है, मानो अलका की अन्तःपुरनिवासिनियों का सौन्दर्य देखने के लिए सिमटकर एकत्र हो गये हैं। धारावाहिक लता-प्रतानों के भीतर से अंकुर और पत्र के रूप में निकले हुए सिद्ध-विद्याधरों के चित्र इतने मनोहर होते हैं कि नवीन दर्शक को भ्रम हो जाता है कि लताओं की ओट में छिपे हुए सौन्दर्यलोलुप देवगण उचककर कुछ देखने का प्रयास कर रहे हैं और पकड़े जाने की आशंका से फिर उन्हीं लताओं में छिप जाने को उद्यत हैं। इस शोभा को बिना देखे कैसे रहा जा सकता है? मर्त्यलोक में विचरण करते समय तुमने उज्जयिनी के उत्तर के प्रदेशों में जो कल्प-वल्लियाँ देखी हैं, उनमें मनुष्य की कामनाओं के कल्पित चित्र हैं। वे अपनी ऊँची उड़ान के कारण आकर्षक लगते हैं, लेकिन अलकापुरी की इन वल्लियों में यथार्थ चित्र हैं और निर्माण का कौशल ही उनका मुख्य आकर्षण है। यह विचित्र बात है मित्र, कि मर्त्यलोक के कलाकारों में अपनी कला को अमर बना देने की लालसा है, लेकिन अलकापुरी की कल्प-वल्लियों में स्वर्गलोक में कहीं न प्राप्त होनेवाली लालसा को जागरित करने का प्रयास है। तुम दोनों का अन्तर समझ सकोगे; क्योंकि तुम जहाँ एक ओर भुवन-विदित पुष्करावर्त्त के देव-वंश में उत्पन्न हुए हो, वहीं तुमने अपने चरित्र से यह सिद्ध कर दिया है कि अपने को निश्शेष भाव से मिटाकर नित्य बनते रहनेवाले नव-नव रूपों में उत्पन्न होते रहना ही सच्ची अमरता है। अलका के चित्रकारों को अपने शरीर के आवरण में जो नवीनता नहीं मिलती, उसे वे नित्य मिट-मिटकर बननेवाले चित्रों में पकड़ना चाहते हैं। इस आठ महीने के शाप-ग्रस्त जीवन में मैंने यह अनुभव किया है कि मर्त्यलोक की ऊर्ध्वगामिनी कल्पना के धनी शिल्पी सचमुच धन्य हैं, जिनमें लालसा का कम्पन है और नित्य नवीन होते रहनेवाले मानसविकारों का प्रसाद प्राप्त है। अमरलोक के निवासी मूँड़ मारकर जिन क्षण-भंगुर वासनाओं को कला के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, वे यहाँ कितनी सुलभ हैं! मेरे चित्त में इस समय नित्य बनती-बिगड़ती रहनेवाली लालसाओं का जो हाहाकार ठोस रूप में उपलब्ध हो रहा है, वह अमर-लोक के चिर-मिलन के भार से जर्जर शिल्पियों और शिल्प-विलासियों को कभी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रेम में आँसू नहीं है, लालसा की नित्य उमड़नेवाली आँधी नहीं है, वियोग-विधुर चित्त का क्रन्दन नहीं है, वह भोंडी विलासिता से रंचमात्र भी अधिक नहीं। परन्तु तुमने जीवन की दोनों कोटियों को देखा है। तुम निरन्तर विनाश के चक्र में पड़े रहकर 'जीवन-दान' किया करते हो, इसलिए दोनों का अन्तर आसानी से समझ सकोगे। मैं जानता हूँ कि मर्त्यलोक के निवासियों के चित्त में चिर-जीवी सौन्दर्य कितनी कल्पनाओं को उद्वेल करता रहता है और अमर-

लोक के निवासियों के चिर-सौन्दर्य-तृप्त चित्त में कितना भयंकर रेगिस्तान अनवरत भाव से विद्यमान रहता है। मैं तुम्हें अलका को मर्त्यलोक-निवासियों की दृष्टि से देखने की सलाह दूँगा। सतमंजिले मकान के गवाक्षद्वार से सशंक भाव से प्रवेश करने में यही मर्त्यलोकवासिनी दृष्टि रहेगी। जब तक तुम इस दृष्टि से उन भवनों के भीतर प्रियतम के भुजालिङ्गन से उच्छ्वसित उन सुन्दरियों को नहीं देखोगे, जिनकी थकान खुली चाँदनी में शैय्या के ऊपर लटकती हुई झालरदार चन्द्रकान्त मणियों से धीरे-धीरे टपकती बूँदों से दूर होती है, तब तक तुम सच्चा नेत्र-सुख नहीं प्राप्त कर सकोगे। भुजलताओं द्वारा प्राप्त आलिंगन या आश्लेष के बाद शिथिल बनी हुई सुन्दरियों को अपने वाष्प-बिन्दुओं से सिक्त करके श्रान्ति-क्लान्ति से मुक्त करना केवल मर्त्यवासियों की दृष्टि से ही आनन्ददायक होगा। नहीं तो अमरलोक की श्रान्ति और क्लान्ति कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है, वह तो चिर-सौन्दर्य के भार की मामूली-सी गाँठ-मात्र है। केवल भवनों में ही नहीं, कुबेर के मनोहर 'वैभ्राज' नामक वन में भी लालसाहीन प्रेमियों की रससिक्त बातें केवल मर्त्यलोक की दृष्टि से देखने से ही तुम्हारे सरस चित्त में औत्सुक्य का संचार कर सकती हैं। इतना ही अच्छा है कि अलका विशुद्ध देवपुरी से थोड़ा घटकर है। उसमें विलास-साधन तो सुलभ हैं, किन्तु लालसा-लोल और अनुराग-चंचल मनोविकार एकदम अप्राप्य नहीं हैं।

> यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां—
> मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
> त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
> व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ 7 ॥
> अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै—
> रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र सार्धम्।
> वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
> बद्धालापा वहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ 8 ॥

"उज्जयिनी तो तुमने देखी है मित्र, यहाँ रात को जब प्रणयमुग्धा कामिनियाँ घने अन्धकार में तेजी से अभिसारयात्रा पर निकलती हैं, तो उनके केश-पाश में सुकुमार भाव से गुँथे हुए पुष्प और किसलय खिसककर सड़कों पर गिर जाते हैं। कानों में लगे हुए मनोहर सोने के कर्ण-फूल चू पड़ते हैं और मोतियों की माला क्वचित् कदाचित टूटकर बिखर भी जाती है। उज्जयिनी के सहृदय नागरिक सूर्योदय के समय जब इन बिखरी हुई वस्तुओं को देखते हैं, तो उन्हें यह समझने में देर नहीं लगती कि इस मार्ग से मूर्तिमान अनुराग और औत्सुक्य निकला है। उनके संवेदनशील हृदय में भी अनुराग और औत्सुक्य का कम्पन अनुभव होता है। यह विचित्र रहस्य है मित्र, कि अनुमान से जाना हुआ अज्ञात हृदय का अनुराग किस प्रकार संवेदनशील अन्य हृदयों में भी अकारण कम्पन उत्पन्न कर देता है। क्या यह इस बात का सबूत नहीं है कि एक ही दुर्ललित शक्ति मनुष्य-मात्र के हृदय में निवास

कर रही हैं और रंचमात्र के इंगित से ही वह उसी प्रकार उद्वेल हो उठती है जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर महासमुद्र उद्वेलित हो उठता है ! कौन कह सकता है कि इन छोटी-छोटी घटनाओं में भुवनमोहिनी का अद्वैत विलास निरन्तर उद्घाटित नहीं होता रहता ? अलका के मार्गों में भी तेज चाल और जोर की धड़कन का अनुमान तुम इन वस्तुओं से लगा सकते हो। तुम वहाँ साधारण पुष्पों के स्थान पर केश-पाश-स्खलित मन्दारपुष्पों को देखोगे; साधारण कर्णफूल के स्थान पर कान से गिरे हुए कनक-कमलों को देखकर चकित हो जाओगे, और हारों के टूटे हुए धागों से बिखरी हुई महार्घ मणियों को देखकर अचरज में पड़ जाओगे। परन्तु अलका में ये वस्तुएँ दुर्लभ नहीं हैं। दुर्लभ हैं तो भीत-भीत भाव, क्षण-भंगुर लालसाओं का उत्कम्प और अकारण त्रस्त रहनेवाली आँखों की लीला। बाकी सब दृश्य तुम्हें उज्जयिनी के घनान्धकार में गुजरे हुए अनुराग से उत्क्षिप्त हृदयों की ही सूचना देंगे। मर्त्य-वासियों की दृष्टि से देखना। उन अमरों की आँखों से क्या देखोगे, जिनके पलक कभी गिरते ही नहीं ! पलक लज्जा के भार से झुकते हैं, उत्सुकता के आवेग से चंचल होते हैं और आश्चर्य के आवेश से विचलित होते हैं। पलकों की गति मर्त्य-लोक के निवासियों की सबसे बड़ी निधि है। जिन पलकों में भार नहीं, चांचल्य नहीं और जड़िमा नहीं, वे भी क्या पलक हैं ? उनमें लीला-विलास तरंगित नहीं होता, औत्सुक्य के भाव उद्वेल नहीं होते और शोभा की तरंगें लहराती नहीं। लेकिन यदि तुम मेरे समान शाप-ग्रस्त लोगों की दृष्टि से देखोगे या क्षण-भंगुर मर्त्यवासियों के चिरअतृप्त नयनों से उनका रस ग्रहण करना चाहोगे, तो गत्युत्कम्प-वश स्खलित मन्दार पुष्पों में, कनक-कमलों में और मुक्ताजालों में अपूर्व कम्पन उत्पन्न करनेवाली वह लालसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगी, जो इस लोक में बसने-वाले प्राणियों की अक्षय निधि है और जिनमें भुवन-मोहिनी का त्रैलोक्य-मनोज्ञ रूप नित्य उद्भासित होता रहता है।

> गत्युत्कंपादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
> पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
> मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै—
> र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ।। 9 ।।

"मित्र, कुबेर के मित्र और पूज्य भगवान् महादेव जहाँ निवास करते हैं, वहाँ पहुँचने की हिम्मत भौंरों की डोरीवाले धनुष्य के अधिकारी कामदेव में नहीं है। उसकी मधुकर-श्रेणी की बनी हुई यह प्रत्यंचा वहाँ खींचने से पहले ही टूट जाती है। परन्तु यह गन्धर्वपुरी कामदेव की अपनी नगरी है, वहाँ उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। वहाँ की चतुर वनिताओं के विभ्रम से ही उसका काम सिद्ध हो जाता है। चतुर वनिताओं का विभ्रम, जिसमें भ्रू-भंग के साथ प्रयुक्त नयन ही अमोघ अस्त्र का काम करते हैं। मनोजन्मा देवता भीत-भीत भाव से संचरण करता हुआ भी अपना काम अनायास बना लेता है। कहाँ मर्त्यवासियों के चित्त में अजस्र भाव से उत्पन्न होनेवाली विविध कामनाओं का चित्तोन्मथी प्रकोप और कहाँ भीत-

भीत भाव से संचरण करनेवाले मनोजन्मा देवता की कातर-साहाय्य प्रार्थना ! दोनों में बड़ा अन्तर है मित्र !

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ।। 10 ।।

"मुझे आशंका हो रही है मित्र, कि तुम मेरी बातों को ठीक-ठीक समझ रहे हो या नहीं । सौन्दर्य क्या है ? क्या शरीर में जो शोभा-विधायक धर्म हैं, वे अपने-आपमें सौन्दर्य कहला सकते हैं ? शरीर की विभिन्न अवयवों की रेखा में जो स्पष्टता होती है उसे 'रूप' कहते हैं; आँखों को विभिन्न प्रकार की स्निग्धताओं से तृप्त करनेवाले रंगों को 'वर्ण' कहते हैं; विशिष्ट प्रकार की चमक या चाकचिक्य से जो कान्ति झलमलाया करती है, उसे 'प्रेमा' कहते हैं; अधरों पर सहज भाव से खेलती रहनेवाली हँसी के कारण जिस धर्म से सहृदयों की दृष्टि आकर्षित हो जाती है, उसे 'राग' कहते हैं; फूल के समान मृदुता और कोमलता को व्यक्त करनेवाला वह गुण जो चित्त में एक प्रकार की स्पर्शजन्य आनन्द की गुदगुदी उत्पन्न करता है, 'आभिजात्य' कहलाता है; अंग-उपांग से निरन्तर नव-यौवन-जनित उल्लास से प्रकट होते रहनेवाली विभ्रम-विलास नामक चेष्टाएँ जिनमें कटाक्ष, भ्रूक्षेप इत्यादि का समुचित मात्रा में प्रयोग रहता है, 'विलासिता' कहलाती हैं; चन्द्रमा की भाँति आह्लादकारक उस मधुर स्निग्ध धर्म को, जो शारीरिक अवयवों के उचित सन्निवेश से व्यंजित होता रहता है, 'लावण्य' कहते हैं; सुघड़ व्यवहार और परिपाटी को व्यक्त करनेवाली शोभा 'छाया' कहलाती है; वह सहज-रंजक गुण ही, जिससे सहृदय जन उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर खिच आते हैं, वशीकरण धर्म है जिसे 'सौभाग्य' कहते हैं । पूर्वजन्म के अनेक पुण्यों के परिणाम से मर्त्यलोकवासियों में से किसी-किसी को इन दस में से थोड़े मिलते हैं । सब कहाँ मिल पाते हैं ? अलका में ये दसों धर्म अनायास प्राप्त होते रहते हैं । मर्त्यलोकवासी इन गुणों की न्यूनताओं को उस परम-पवित्र मानस-सम्पत्ति से उत्पन्न कर लिया करते हैं, जिसे 'प्रीति' कहते हैं । 'प्रीति' का सहज धर्म है अप्राप्त गुणों को अनायास उत्पन्न कर लेना । मर्त्यलोक में वह सुलभ है । यही इस लोक की विशेषता है । मर्त्यलोक के निवासी अनेक प्रकार के आभरणों की योजना करके सहज-लभ्य गुणों के अभाव की पूर्त्ति कर लेते हैं । ये आभरण अनेक प्रकार के हैं । कुछ केशों में पहने जाते हैं, कुछ शरीर पर धारण किये जाते हैं, कुछ वस्त्रों और अन्य बाह्य वस्तुओं की भाँति आरोप कर लिये जाते हैं और कुछ सुगन्धित द्रव्यों के योग से उत्पन्न कर लिये जाते हैं। अलका में इनके लिए विशेष प्रयत्न की जरूरत नहीं होती । वहाँ रंग-विरंगे वस्त्र, नयनों में विभ्रम उत्पन्न करनेवाली मदिरा, कोमल पत्ते तथा फूल-पौधों से लगाये जानेवाले महावर आदि सभी प्राकृतिक साधन कल्पवृक्ष ही दे दिया करता है। मर्त्यलोक के शिल्पी

इनके लिए कितना प्रयास करते हैं ? ताटंक, कुण्डल, कर्णवलय आदि अलंकार अंगों को बेधकर पहने जाते हैं, इसीलिए 'आवेध्य' कहलाते हैं। अंगद, कुंकुम, श्रोणी-सूत्र या करधनी, चूड़ामणि आदि अलंकार बाँधकर पहने जाते हैं, इसलिए इन्हें 'निबन्धनीय' कहा जाता है। उर्मिका, मंजीर, नूपुर आदि अलंकार प्रक्षेपपूर्वक पहने जाते हैं, इसलिए 'प्रक्षेप्य' कहे जाते हैं। झूलती हुई मालतीमाला, पुष्प-स्तवकों के अभिराम हार, मणि-खचित नक्षत्रमालिका आदि अलंकार शरीर पर आरोपित कर लिये जाते हैं, इसलिए ये 'आरोप्य' कहलाते हैं। इनके लिए कितने प्रकार के रत्न, स्वर्ण, मण्डनद्रव्य और कितनी प्रकार की शिल्प-कलाओं का आविष्कार किया गया है! जो नहीं है उसे पा लेने की अमर लालसा मर्त्यवासियों की विशेषता है। किन्तु जैसा कि मैंने तुमसे पहले ही कह रखा है, अलकापुरी विशुद्ध देवपुरी भी नहीं है। वह स्वर्ग और मर्त्य के बीच की कड़ी है। वहाँ जो लालसा है उसकी पूर्त्ति अनायास ही हो जाती है। उस प्राप्ति में आरम्भ नहीं है, प्रयत्न नहीं है और उद्यम का उल्लास नहीं है। ऐसे ही मोहक लोक में तुम्हें जाना है। उस कल्पवृक्ष के देश में समस्त मण्डन द्रव्य अनायास प्राप्त होते रहते हैं।

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्‌भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ 11 ॥

"परन्तु क्या सौन्दर्य इतना ही है ? ये सब शोभा के परिकर और व्यंजक-मात्र हैं। शोभा का मूल उत्स तो आत्मदान में है। जहाँ अपने-आपको दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर समर्पित कर देने की प्रवृत्ति नहीं है वहाँ कचधार्य, देहधार्य, परिधेय और विलेपन जैसे मण्डन द्रव्यों के निरन्तर प्राप्त होते रहने पर भी और रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, छाया और सौभाग्य के सुलभ होते रहने पर भी सच्चा सौन्दर्य नहीं बन पाता। अलका के गली-कूचों में बिखरे हुए रूप-वर्ण के अलंकार और मण्डन द्रव्यों को देखकर तुम यह न समझ बैठना, कि यहाँ सचमुच सौन्दर्य का निवास है। सौन्दर्य को देखना हो, तो तुम्हें थोड़ा प्रयास करना होगा, तुम्हें उस स्थान को खोजना होगा, जहाँ शाप-ग्रस्त व्यक्ति के चित्त में निरन्तर उद्वेल होती रहनेवाली अतृप्त लालसा व्याकुल भाव से किसी की प्रतीक्षा में सर्वस्व लौटा देने को प्रस्तुत है। वहीं तुम्हें जाना है, वही तुम्हारा लक्ष्य है, वहीं भेजना मेरी समस्त प्रार्थनाओं का उद्देश्य है। अलका में भी तुम्हें निष्कलुष प्रेम का समुद्र लहराता दिखायी देगा, आनन्द-निष्यन्दी अश्रुराशि की करुणाप्लावित धारा बहती मिलेगी, वियोग-विधुर चित्त के तप से विशुद्ध बना हुआ अनुराग दमकता दिखेगा। क्योंकि यहाँ भी देवता के कोप से शाप-ग्रस्त प्रणयी मिल जाते हैं, जो मर्त्यवासियों के समानधर्मा होते हैं। वे सचमुच धन्य हैं।

"अलका में सबसे समृद्धिशाली भवन यक्षाधिपति कुबेर का है, उसे पहचानने में तुम्हें कठिनाई नहीं होगी। उसके थोड़े ही उत्तर में मेरा घर है। दूर से ही

उसका इन्द्रधनुष के समान तोरण दिखायी देता है। इस रंगीन तोरण को देखकर तुम आसानी से उसे पहचान लोगे। उसके पास ही एक छोटा-सा मन्दारवृक्ष है, जिसे मेरी प्रिया ने पुत्रवत् पाल रखा है। तुम उसे देखते ही पहचान जाओगे, उसके झबरीले पुष्प-स्तबक धरती पर झुके होंगे। अभी बच्चा ही तो है। लेकिन क्या शानदार है उसके पुष्प-स्तबक की झबरीली शोभा ! हाथ से ही ये फूल प्राप्त कर लिये जा सकते हैं, क्योंकि बहुत ऊँचे पर नहीं खिले हैं। श्वेत चूर्ण से पुते हुए मोटे और चिकने हरे पत्तों की घनी छाया में झूलते हुए बैंगनी फूलों के गुच्छों की शोभा देखते ही बनेगी। कितने यत्न से प्रिया ने इसका लालन किया है, कितनी साध से इसे पाला है और कितने स्नेह से इसका सेचन किया है ! स्नेह-रस ही वास्तविक शोभा का उत्पादक है। इस हस्त-प्राप्य स्तबक-नमित बाल मन्दारवृक्ष को देखकर तुम मेरे घर को आसानी से पहचान लोगे।

> तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं
> दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
> यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे ।
> हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ 12 ॥

"इसके भीतर एक बावड़ी है, जिसकी सीढ़ियाँ हरी-हरी मरकत-मणियों से बाँधी गयी हैं। उसमें मार्जार-नेत्र के समान कृष्ण-कपिश और चिकनी वैदूर्यमणि के मृणालवाले इतने स्वर्ण-कमल खिले होंगे, कि उसका पानी दिखायी नहीं देता होगा। सुवर्ण-कमलों की घनी छाया से सारी बावड़ी ढँक-सी गयी होगी। इस बावड़ी में आकर बस गये हंस सारी चिन्ता भूलकर वहीं के हो जाते हैं; निकट ही जो उनका प्रिय गन्तव्य मानस-सरोवर है, वहाँ जाने की फिक्र उन्हें बिल्कुल नहीं होती। तुम्हारे इस श्यामल मेदुर रूप को देखकर हंस न जाने किस दुर्वार अभिलाषा से चंचल होकर मानस-सरोवर की ओर जाने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा मित्र, कि मेरे घर की बावड़ीवाले हंस तुम्हें देखकर भी मानस-सरोवर को नहीं जाना चाहेंगे। शायद तुम पहली बार अपनी पराजय देखोगे, पर बुरा न मानना सखे, यह सब तुम्हारी भाभी की अपूर्व स्नेह-सरस छाया का प्रभाव है। भुवनमोहिनी प्राणि-मात्र के चित्त में जिस सुकुमार चांचल्य को नित्य उल्लसित करती रहती हैं, उनका सुकुमारतम विलास तुम्हारी भाभी के स्नेह-मेदुर हृदय में आविर्भूत हुआ है। उस स्नेह का स्पर्श पाकर यदि हंस बेफिक्र हो गये हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जहाँ तुम्हारे इस मनोहर नयन-सुभग रूप को देखकर भी हंस व्याकुल न हो उठे हों, वही मानसरसैक शोभन रूप है, वहीं मेरी प्रिया रहती है। इस अद्भुत चिह्न को भूल न जाना, गाँठ बाँध लो।

> वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
> हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
> यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
> नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ 13 ॥

"उस बावड़ी के तट पर सुन्दर इन्द्रनीलमणियों से बने हुए शिखरवाला एक क्रीड़ा-पर्वत है, जिसके चारों ओर कनक-कदली का बेड़ा लगा हुआ है। यह क्रीड़ा-पर्वत मेरी गृहिणी को बड़ा प्यारा है और सही तो यह है मित्र, कि जब मैं तुम्हारे इस नीले शरीर के किनारों पर बिजली की कौंध देखता हूँ, तो कनक-कदली से वेष्टित नीलम के शिखरवाले उस क्रीड़ा-पर्वत की बात ही स्मरण करने लगता हूँ। एक-एक बार तो मेरा यह चित्त इतना कातर हो उठता है कि तुम्हीं को वह क्रीड़ा-पर्वत समझ लेता हूँ। रह-रहकर मेरे चित्त का यह विक्षेप मुझे पागल बना देता है। क्या मैं सचमुच पागल हो गया हूँ? तुम्हारे समान हितू को क्रीड़ा-पर्वत मान लेना पागलपन ही तो है! जो, जो नहीं है उसे वही समझ बैठना विक्षिप्त चित्त की ही तो करामात है! पर विवश हूँ मित्र, मुझे क्षमा करना। तुम्हें देखकर मेरे मन में क्रीड़ा-शैल का भ्रम होना बिल्कुल असंगत बात है, मैं समझता हूँ, पर विवश हूँ। यही क्या भुवनमोहिनी की माया है? चित्त में निहित भयंकर अभाव को प्रतिक्षण कुहक के द्वारा, इन्द्रजाल के द्वारा, भरने की उनकी जो क्रिया है उसे ही क्या शास्त्रकारों ने 'भाव' कहा है? मेरे मन में हर वस्तु को देखकर अभिलाष-कातर 'भाव' की तरंगें उठा करती हैं। मैं अपने 'भाव' को पहचान पाता हूँ। 'भाव' अर्थात् होना। जो मैं हूँ, जिसे पाकर मेरी सत्ता चरितार्थ होती है, वही तो मेरा 'भाव' है। क्या भुवनमोहिनी अपनी अद्भुत कुहक-तरंगों से मुझे नित्य बताना चाहती हैं कि मेरी चरितार्थता कहाँ है? यह अभिराम क्रीड़ा-पर्वत, जिस पर प्रिया के चरणों की मंजीर-ध्वनि मुखरित है, जिस पर उसके मृदुल-कोमल पद-संचार के समय महावर की लालिमा तरंगित हो उठती है, जिस पर वापी में स्नान करने के बाद निखरी हुई उसकी अंग-शोभा अनुभाव की लहरदार धारा से कान्ति की स्रोतस्विनी बहा देती है, हाय, यह क्या वही क्रीड़ा-शैल है! यहीं कहीं मेरी प्रिया—उदास प्रिया—बैठी मेरी बाट जोह रही होगी। परन्तु नहीं मित्र, यह निरा पागलपन है, मेरा चित्त अत्यन्त कातर हो उठा है, मैं तुम्हें अपने मकान का चिह्न बता रहा हूँ, पर न जाने कौन-सी दुर्वार शक्ति मुझे विवश कर देती है कि मैं तुम्हें क्रीड़ा-पर्वत समझ बैठता हूँ। ज़रा-सी समानता देखकर जो 'मनोज'-भावना समस्त ज्ञान को अवरुद्ध कर देती है और जो, जो नहीं है, उसे उसी रूप में उपस्थित कर देती है वह निश्चय ही व्यक्ति-चित्त में विच्छिन्न भाव से उत्पन्न और वस्तु-विशेष से साम्य द्वारा उद्दीप्त होनेवाली खण्ड-भावना नहीं है। धन्य हो त्रैलोक्यमनोज्ञ, त्रिकाल-कमनीय मनोमोहन देवता, कितना अखण्ड है तुम्हारा व्यापक प्रभाव! मेघ-जैसे मित्र को क्रीड़ा-शैल के रूप में उपस्थित करने में तुम्हें क्षण-भर भी आयास नहीं करना पड़ता, अन्तर्निहित अभिलाष-भावना में तुम अनायास ज्वार उत्पन्न कर देते हो। कहाँ वह मेरी मानसिक अभिलाष-धारा को उद्वेल कर देनेवाला चित्तोन्माथी क्रीड़ा-शैल और कहाँ यह अकारण सुहृद् मेघ! पर मित्र, बुरा न मानना, सच्चा सखा वही है जो सुहृद् के वास्तविक 'भाव' को प्रत्यक्ष करा दे; तुम्हें देखकर मैंने अपनी सत्ता की चरम सार्थकता का रहस्य समझ लिया है। तुम क्रीड़ा-शैल ही हो, प्रिया के स्पर्श के

कारण परम काम्य !"

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलैः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ 14 ॥

यक्ष ने अपने को सँभालने का प्रयत्न किया। मेघ के चेहरे पर कुछ हलचल दिख रही है। क्या सोच रहा है वह ! यही सोचता होगा वह कि यक्ष पागल हो गया है, इससे अधिक बात करना ठीक नहीं। ठीक ही तो है, यह भी कोई बात हुई, कि घर का पता बताने चले और भाव-गद्‌गद प्रलाप करने लगे ! कौन पूछता है कि तुम्हारे चित्त में जो कातरता है, वह भुवन-मोहिनी की अखण्ड भाव से व्याप्त इन्द्रजाल की माया है या व्यक्ति-विशेष में खण्ड-विच्छिन्न भाव से उठनेवाली काम-वासना ! विरही हो बाबा, तो विरही की तरह बात करो, बेतुकी ऊल-जलूल बातों में क्यों उलझते हो ? तन्त्रज्ञ की मुद्रा क्यों धारण करते हो ? सीधे क्यों नहीं कहते कि तुम्हारा घर कैसा है, कौन-से दरख्त हैं, कैसा फाटक है, कितने खम्भे हैं, उत्तर ओर है कि दक्खिनी सिरे पर ? ठीक ही तो है, सन्देश भेजना हो तो सीधी बातें करनी चाहिए। यक्ष ने व्याकुल भाव से अपने को धिक्कारा। अब वह ऊल-जलूल नहीं बकेगा। सीधी बात सीधी भाषा में कहेगा। "हाँ मित्र, उस क्रीड़ा-पर्वत पर एक माधवी-मण्डप है, कुरबक के बेड़े से घिरा हुआ। ठीक से समझ लो। उसमें दो छोटे-छोटे पेड़ हैं : एक अशोक का, एक बकुल का। अशोक के पेड़ के चंचल किसलय बस देखने ही लायक हैं। पार्वत्य प्रदेशों में यह विश्वास प्रचलित है कि अशोक सुन्दरी रमणियों के नूपुरयुक्त वाम-पाद के ताडन से और बकुल (मौलसिरी) उनकी मुख-मदिरा से सिंचकर पुष्पित हो उठते हैं। उधर वसन्तकाल में धूम-धाम से उत्सव मनाकर इन वृक्षों को फूलने के लिए प्ररोचित किया जाता है। हर घर में सुन्दरी किशोरी चरणाघात से अशोक को और मुख-मदिरा के सेचन से बकुल को पुष्पित करने का अभिनय करती हैं। यह केवल छद्म है, अभिनय है, प्रथापालन-मात्र है ! खैर, और जगह क्या होता है यह तो मुझे नहीं मालूम, पर मेरे घर के ये दोनों हजरत जब तक तुम्हारी भाभी के सनूपुर चरण और मुख-मदिरा का आनन्द नहीं उठा लेते तब तक फूलने से कतई इनकार कर देते हैं। पहाड़ों पर हजारों अशोक अनायास फूलते रहते हैं, कहाँ बिचारों को लाल-लाल चरणों का स्पर्श मिलता है ! पर हमारे हजरत ऐसे लाड़ले हैं कि उन्हें मेरी प्रिया का स्पर्श अवश्य मिलना चाहिए। अशोक महाशय तो ऐसे दुर्ललित हैं कि पूछो नहीं, चरण का ताडन उन्हें अवश्य मिलना चाहिए, सो भी दाहिने का नहीं, बायें चरण का ! दाहिने से लग जाये तो उन्हें ज्यादा चोट लग सकती है, उससे वे नाराज हो जाते हैं। बायाँ चरण चाहिए, नूपुर अवश्य रहना चाहिए, महावर न लगी हो तो उनकी खुशामद अधूरी रह जायेगी। हल्का-सा पदाघात, नूपुर की झीनी रुनझुन, कौसुम्भ-वस्त्र की लहरीली फरफराहट और लो, हजरत कन्धे से ही फूट पड़ते हैं, लाल

फूलों के गुच्छे झमाझम लहक उठते हैं ! यह शौकीनी है। मगर इस अशोक को दोष भी क्या दूँ, मैं भी तो उन नूपुरयुक्त चरणों को गोद में रख लेना चाहता हूँ, अशोक में पुष्प उत्पन्न होने के उत्सव के क्षणभर बाद ही मैं उन्हें गोद में लेकर सहलाया करता था ! हाय मित्र, उन पद्म-ताम्र चरणों की शोभा तुमने नहीं देखी, मैं व्याकुल भाव से सोच रहा हूँ कि उन्हें पाऊँ ! कहाँ पाऊँ, कैसे पाऊँ ? अशोक धन्य है, मैं भाग्यहीन हूँ। हाय, प्रिया के उन थके चरणों का संवाहन करने का अवसर कब मिलेगा ?"

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः ।। 15 ।।

फिर प्रलाप ! मेघ कह रहा है, उसे जल्दी है। पँवारा बन्द करो, सीधी बात कहो। "हाँ, ठीक है मित्र, बार-बार गलती हो जाती है। चित्त दुर्बल हो गया है। मेरे घर के और चिह्न भी हैं, सुन लो। ये जो दोनों वृक्ष हैं—अशोक और बकुल—उनके बीच में कच्चे बाँस के समान हरी चिकनी मणियों से बनी एक चौकी है, जिसके ऊपर स्फटिक की एक चौकोर पाटी बाँधी गयी है। उस पाटी पर सोने की एक वास-यष्टि है, जिस पर तुम्हारा सुहृद् मयूर सूर्यास्त के बाद नित्य आकर बैठता है। इस मयूर को भी तुम कम विदग्ध न समझना। भलेमानस को मेरी प्रिया चूड़ियों की रुनझुन से ही नचा देती है ? इंगुर-जैसी गोरी कलाइयों की रंगीन चूड़ियों की रुनझुन से नाच उठना क्या मामूली रस-संवेदना है ? मगर क्या करोगे मित्र, तुम्हारी भाभी के स्पर्श में ही रस है। उसने जिसे ही छू दिया, निहार दिया, छाया-दान किया, वही रसमग्न हो जाता है, वह पारसरूपा है !

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढ़वंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ।। 16 ।।

"इतना काफी है। इन चिह्नों को देखकर तुम मेरा घर पहचान लोगे। द्वार पर ही शंख और पद्म लिखे दिखायी देंगे। शंख अपने लहरदार आवर्त्तों के कारण और पद्म अपने क्रमवर्द्धमान दलों की निराली शोभा के कारण अनन्त समृद्धि के प्रतीक बन गये हैं। मेरे घर में लिखे गये शंख और पद्म आशा और विश्वास के ही निदर्शन हैं। हर गृहस्थ शंख और पद्म की संख्या तक पहुँचनेवाले धन की आकांक्षा करता है, आशा रखता है, विश्वास रखता है। मिलता है कि नहीं, यह बड़ी बात नहीं है। गृहस्थ मंगलकामी होता है, आशा उसकी प्रेरणा है, विश्वास उसका बल। मैंने भी अपने द्वार पर शंख और पद्म लिखवा रखे हैं। उन्हें देखते ही तुम पहचान लोगे। लेकिन सबसे बड़ा चिह्न यह है कि मेरा घर बहुत उदास दिख रहा होगा, मेरे अभाव में वहाँ उल्लास कहाँ रह गया होगा ? सूर्य के बिना कहीं कमल खिल

सकते हैं ?

एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥ 17 ॥

"बस, अब देर न करना। निश्चित रूप से यही मेरा घर है। उसी क्रीड़ा-पर्वत की चोटी पर जा बैठना। लेकिन कैसे जाओगे? वाह, यह भी कोई प्रश्न है! तुम इन्द्र के कामरूप अनुचर हो, जैसा चाहो वैसा ही रूप धारण कर सकते हो, इसमें तुम्हें क्या सोचना है, झट-से हाथी के बच्चे-जैसा रूप बना लेना और आहिस्ते से क्रीड़ा-पर्वत की चोटी पर जा बैठना। और फिर? फिर जुगनुओं की पंक्ति के समान झिलमिलानेवाली अपनी बिजली की दृष्टि से घर के भीतर झाँकना, बहुत हौले-हौले! तुमने अगर जल्दी-जल्दी तेज़ निगाह दौड़ायी तो अनर्थ हो सकता है, इसलिए, मित्र, बहुत सावधानी से आहिस्ते-आहिस्ते उस घर के कोने-कोने में दृष्टिनिपात करना, कड़कना नहीं, चमकना नहीं, चकाचौंध न उत्पन्न कर देना। तुम नहीं जानते कितने सुकुमार शरीर के कितने सुकुमार हृदय को तुम्हें पहचानना है। तेज़ रोशनी न कर देना, हल्की-हल्की रोशनी—अल्पाल्प भास!

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥ 18 ॥

"घुमन्तू मौजी जीव हो। उज्जयिनी से बढ़ोगे तो बौद्ध कलाकारों की बनायी हुई भोंडी तुन्दिल यक्ष-मूर्त्तियाँ तुम्हें बहुत मिलेंगी। इधर के लोगों ने मान लिया है कि सेठ और सेठानियाँ मोटे शरीर की होती हैं। जिसके पास पैसा होता है वही मोटा होता है, उसी के शरीर की चर्बी बढ़ जाती है और यक्षों से बड़ी सेठाई कहाँ मिलेगी? सो कल्पनाविलासी होते हुए भी यथार्थवादी हौंसवाले बौद्ध मूर्त्तिकार यक्षिणियों की भोंडी मूर्त्तियाँ बनाया करते हैं। साँची और भरहुत में इन मूर्त्तिकारों ने ऐसी सैकड़ों यक्षमूर्त्तियाँ बना रखी हैं और आज भी बनाते जा रहे हैं। इन्हें देखने के बाद तुम्हारी कल्पना में यक्ष-यक्षिणियों की ऐसी तुन्दिल भोंडी मूर्त्तियाँ घूमती रहेंगी। कहीं मेरी प्रिया को भी ऐसी न मान बैठना। मानता हूँ मित्र, कि पैसा मनुष्य को भीतर और बाहर से बेडौल बना देता है, पर मेरा घर ऐसा नहीं है। मेरी प्रिया के चित्त में उस अद्भुत प्रेमदेवता का निवास है, जो मनुष्यलोक में भी दुर्लभ है। इसलिए भीतर से बाहर तक वह कमनीय है। वह तन्वी है, पतली सुवर्ण-शलाका-सी! प्रथम कैशोर वय में जो तपे हुए कुन्दन का-सा गाढ़ पीत-रंग तरुणियों में श्यामा कान्ति निखार देता है, जिसके कारण यौवन के चढ़ाव पर खड़ी तरुणियों को 'श्यामा' कहकर सहृदय जन उल्लसित होते हैं, वही रंग तुम उसमें तरंगित होते देखोगे। वह सच्ची 'श्यामा' है। मुझे व्याकुल विरही समझकर मेरे

शब्दों को अन्यथा-प्रयुक्त मत समझना। मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि असली कुन्दन का श्यामाभ रंग विधाता एक ही बार बना सके थे और उसका उपयोग उन्होंने मेरी हृदयेश्वरी के बनाने में ही किया था। संयोग से ही वह मोहन रंग बन गया होगा, रोज-रोज थोड़े वह संयोग आता है, बना सो बना! और उसके नन्हे-नन्हे नुकीले दाँत? जब वह हँसती है तो मोती झरते हैं! शास्त्रों में जो लिखा है कि स्निग्ध, समान रूपवाले, एक कतार में समान भाव से विन्यस्त दाँतों को 'शिखरी' कहते हैं, जो ताम्बूल रस से सिक्त होने पर भी स्फुट कान्तिवाले, समान भाव से चमका करते हैं, वह तो मानो उसी को देखकर लिखा है। वह सचमुच 'शिखरि-दशना' है। शास्त्रकारों की दृष्टि भी कहाँ-कहाँ तक जाती है! निश्चय ही वे त्रिकालदर्शी होते हैं, नहीं तो इतना पहले इन सौभाग्यव्यंजक दाँतों का अनुमान वे कैसे कर सकते थे? तुम इन सुन्दर दाँतों को ताम्बूल-रस-सिक्त देखते तो मेरी बात समझ सकते। कहाँ देख पाओगे? उसने साल-भर तक पान खाया ही नहीं होगा। मगर फिर भी उन 'शिखरी' दाँतों को तुम पहचान लोगे। मगर मैं भी क्या प्रलाप बक रहा हूँ! तुम्हें उसके दाँत दिखेंगे कहाँ? हाय, उसने इन शाप-भ्रष्ट दिवसों में क्या कभी हँसने का अवसर पाया होगा मित्र, विरह ने सब झुलसा दिया होगा! वे कुन्दकलिका के समान दाँत कभी खुले ही नहीं होंगे। अधरोष्ठ भी सूख गये होंगे। परन्तु मेरा अनुमान है कि उन अधरों पर सहज विराजमान लालिमा, जो पके हुए बिम्बफल में ही दिखायी देती है, अब भी वैसी ही होगी। तुमने 'पक्व बिम्बाधर' शब्द सुना होगा, इसका अर्थ समझना चाहो तो उसी के अधरों को देखकर समझ सकते हो। हाय, वे अधर अब कैसे हो गये होंगे! और वे चकित हरिणी के नेत्रों के समान भीत-चपल बड़ी-बड़ी आँखें? मित्र, शोभा और विच्छित्ति उन आँखों के इशारे पर उठती-बैठती हैं। तुमने पद्मिनी जाति की उत्तम स्त्रियों की चर्चा सुनी होगी। महामाया का सबसे सुकुमार विलास स्त्री-शरीर के अवयवों में आविर्भूत हुआ है और उस विलास का सर्वाधिक मोहक अधिष्ठान पद्मिनी नारी है। महामाया का यह त्रैलोक्य-मनोज्ञ विलास पद्मिनी नारी के 'चकितमृगदृशाभप्रान्तरक्त' नयनों में उल्लसित होता है। मैं कहूँ कि महाशक्ति का सर्वोत्तम उल्लास नारी के नयन-कोरकों में तरंगित होता है, तो इसे गलत न समझना। एक बार जिसने इस प्रकार के शोभन नयनों का प्रसाद पा लिया वह धन्य है, उसने इस सृष्टि के मूल में स्पन्दित होनेवाली महामाया का प्रसाद पा लिया है। तुम जिस क्षण प्रिया के उन मनोज्ञ नयनों को देखोगे उसी समय तुम्हें अपना जीवन चरितार्थ जान पड़ेगा, तुम्हारे शत-शत जन्मान्तर कृतार्थ जान पड़ेंगे। क्योंकि तुम विधाता की आदि-सिसृक्षा को प्रत्यक्ष रूप में देखोगे। यदि मेरी हृदयेश्वरी बैठी होगी तो तुम उसकी तनुता, उसकी श्यामता, उसकी अधर-शोणिमा और उसके स्निग्ध नयन-कोरकों को देखते ही पहचान लोगे। पर कदाचित् वह गृह-कर्म में लगी हो, शायद खड़ी हो, शायद चल रही हो। फिर भी तुम्हें उसे पहचानने में देर नहीं लगेगी। उसका कटि-प्रदेश बहुत पतला है, नाभि गम्भीर है,

पीन-उन्नत वक्षस्थलों के कारण वह आगे झुकी हुई-सी लगती है, श्रोणी-भार के कारण गति में अलस विक्षेप है, बहुत धीरे-धीरे चल पाती है। मैं ठीक कहता हूँ मित्र, विधाता की आदि-सिसृक्षा को तुम उसमें प्रत्यक्ष देख पाओगे।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ 19॥

"आदि-सिसृक्षा! मन्त्रद्रष्टाओं ने कहा है कि परमशिव के मन में एक बार यह बात आयी कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ। उसी दिन वे दो तत्त्वों में अपने-आपको विभक्त करके प्रकट हुए। कोई नहीं जानता कि वह कौन-सी दुर्वार अभिलाष-भावना थी, जिसने परमशिव को इस प्रकार अपने-आपको द्विधा-विभक्त करने को प्ररोचित किया। उसी दिन से उस दुर्मद अभिलाष-भावना ने विश्व-ब्रह्माण्ड में शिव और शक्ति की अबाध लीला को मुखर कर रखा है। इसी को शास्त्रकारों ने 'सिसृक्षा' कहा है। और उसी दिन जो शिव और शक्ति का पारस्परिक आकर्षण व्यक्त हुआ वह 'आदिरस' कहा जाता है। भरतमुनि ने उसे ही 'आद्य-रस' या 'शृङ्गाररस' नाम दिया था। यह सारा जगत्प्रपंच उसी आद्य-रस का लीला-निकेत है। उसी दिन विश्वव्यापिनी महाशक्ति ने अपने-आपको भुवनमोहिनी-रूप में व्यक्त किया। वह भुवनमोहिनी विधाता की आदि-सृष्टि है। क्या होता होगा भुवन-मोहिनी का त्रैलोक्य-मनोहर रूप! कोई नहीं जानता कि उन्होंने कितने रूपों में कितनी बार अपने-आपको अभिव्यक्त किया है। मेरा हृदय कहता है कि 'पिण्ड' में कभी-कभी उस ब्रह्माण्ड-व्यापी शक्ति को देख लेने का सौभाग्य पुरातन पुण्यों के अतिरेक से ही होता होगा। उनकी महिमामयी अभिव्यक्ति को क्वचित्-कदा-चित् बड़भागी लोग ही देख सकते होंगे। अलका के इस शंख-पद्मांकित गृह में जो सौभाग्य-लक्ष्मी तुम्हें मिलेगी, उसमें मैंने भुवनमोहिनी—विधाता की आदिसृष्टि—को प्रत्यक्ष देखा है। मेरा सारा अस्तित्व तरल होकर उसी की ओर ढरक जाना चाहता है, यह कैसी रहस्य-लीला है! आदि-सिसृक्षा, आद्य-रस और आद्य-सृष्टि का रहस्य मेरे निकट हस्तामलक की भाँति प्रत्यक्ष हो रहा है। यह क्या उन्माद है, चित्त-विक्षेप है, चपल-वातुलता या मेरे जनमान्तरों की कृतार्थता है? नहीं जानता मित्र, कि तुम इसे क्या समझ रहे हो, परन्तु मेरा रोम-रोम आज पुलकित कदम्ब-केसर की भाँति उद्भिन्न होकर कहना चाहता है कि यहीं विधाता की 'आद्य-सृष्टि'—युवति-जनों में अभिव्यक्त होनेवाली भुवनमोहिनी—प्रत्यक्ष हो उठी है, यहीं उनका त्रैलोक्य-सौभग रूप मूर्त्तिमान हुआ है!

"अपने प्रिय-सहचर से वियुक्त चक्रवाकी की भाँति वह बहुत कम बोल रही होगी। उसे तुम मेरा दूसरा प्राण—द्वितीय जीवन—समझना। विरह के भार से भारी बने हुए दीर्घ दिवस बीतते जा रहे हैं, उत्कण्ठा गाढ़ से गाढ़तर होती जा रही है। मैं समझता हूँ कि वह शिशिरमथिता पद्मिनी के समान मुरझा गयी होगी।

उत्कण्ठा बड़ी कठिन मनःस्थिति है। जब हृदय-स्थित राग अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर पाता तो चित्त में महती वेदना का आविर्भाव होता है, जो समूचे शरीर को सुखा डालती है। मैंने अपनी प्रिया के जिस मोहन रूप का वर्णन किया है, वह निश्चय ही बदल गया होगा। शिशिरमथिता पद्मिनी में सहज उत्फुल्लता कहाँ रह जाती है! हाय, उसका रूप ही दूसरा हो गया होगा!

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥ 20॥

"निस्सन्देह प्रबल वेदना से उसकी आँखें सूज गयी होंगी, गर्म निःश्वासों की निरन्तर लगती रहनेवाली आँच से उसके ओष्ठ सूखकर फीके पड़ गये होंगे, कहाँ रह गयी होंगी चकित हरिणी के समान बरबस आकृष्ट करनेवाली आँखें और पक्व बिम्बफल के समान अधर-लालिमा! सब झुलस गया होगा! और उसका चाँद-सा सुन्दर मुख तो तुम पूरा देख भी नहीं सकोगे। अत्यन्त चिन्ताकातर होने के कारण आधा तो वह हथेली पर ही पड़ा होगा, और जो कुछ खुला भी होगा उस पर उसकी अस्त-व्यस्त चिकुर-राशि असंगत भाव से विथुरी होगी। ठीक उसी प्रकार की शोभा होगी, जैसी तुम्हारे द्वारा आच्छादित चन्द्रमण्डल की होती है। फिर या तो वह देवताओं की पूजा में व्यस्त मिलेगी, या अपनी कल्पना द्वारा मेरे विरह-निर्बल शरीर का चित्र बनाती दिखेगी, या फिर यह भी हो सकता है कि मीठी सुरीली आवाजवाली मैना से पूछती ही दिख जायेगी कि 'ऐ रसिके, तुझे क्या अपने मालिक की याद आती है, तू तो उन्हें बड़ी प्रिय थी!'

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया-
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥ 21॥
आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥ 22॥

"और यह भी हो सकता है कि मैले वस्त्र धारण किये गोद में वीणा लिये, उच्च स्वर से मेरा नाम लेकर और मेरे कुल की कीर्त्तिगाथा बनाकर गाने का प्रयत्न करती मिलेगी। हाय मित्र, कितना करुण होगा वह गान! निरन्तर झड़ने-वाली अश्रुधारा से भींगे हुए वीणा-यन्त्र को तो वह किसी प्रकार पोंछ भी लेती होगी, पर मेरे स्मरण से इतनी बेसुध होगी, कि सधे स्वरों के आरोह-अवरोह को भूल ही जाती होगी!

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्—
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्तीम् ॥ 23 ॥

"मगर सम्भावना और भी है। हो सकता है कि मेरे विरह के दिन से ही देहली पर दिये हुए पुष्पों को धरती पर फैलाकर गिन रही हो कि कितने दिन बीत गये, और कितने दिन और बाकी रह गये हैं। हो सकता है कि हृदय में मेरे साथ बिताये हुए आनन्दमुखर अवसरों का कल्पना द्वारा साक्षात्कार करके उसी के रस में मुग्ध बनी हो। प्रायः स्त्रियाँ प्रिय के विछोह के समय ऐसा-ही-कुछ करती हुई दिन काटा करती हैं—यही उनका विनोद होता है।

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ 24 ॥

"दिन तो किसी प्रकार उसके इन कामों से कट जाता होगा, पर रात कैसे कटती होगी ? मुझे आशंका है कि रात को उसका दुःख बहुत बढ़ जाता होगा, उस समय ऐसे विनोद काम नहीं आते होंगे। जब महाकाल-देवता धरित्री पर अन्धकार का काला पर्दा डाल देते हैं, तो अन्तःकरण समस्त कर्मजाल से विरत होकर विश्राम पाता है। यही समय प्रिय-विरहिताओं का सबसे कठोर समय होता है। दूर पड़े हुए प्रियतम के चित्त में जो भावतरंगें उठा करती हैं, वे न जाने कैसे प्रेमी के चित्त को मथित-व्याकुल कर देती हैं। कैसे इन लोगों की धड़कन सैकड़ों योजन दूर रहनेवाले प्रियजन के चित्त में कम्पन की प्रतितरंगें उत्पन्न करती हैं, यह भारी रहस्य है; कहीं-न-कहीं कोई अन्तर्निहित अद्वैत भावधारा अवश्य काम कर रही होगी, नहीं तो यह सब कैसे सम्भव हो सकता है ? इसीलिए मेरी सलाह यह है कि तुम निशीथकाल में मेरा सन्देशा सुनाकर उसे सुखी करना। मैं ठीक जानता हूँ, वह बिचारी उनींदी होकर धरती पर पड़ी होगी ! कैसी निद्रा, कैसी सेज ! खिड़की उसने अवश्य खोल रखी होगी, तुम चुपचाप उसी पर जा बैठना।

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्सन्देशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वी निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥ 25 ॥

"तुम नहीं समझ सकते मित्र, भगवान् न करें कि तुम्हें यह सब समझने का अवसर मिले ! विरह बड़ी दारुण अवस्था होती है। मेरी प्रिया की, पल्लविनी लता के समान यौवनभरित देह-यष्टि इस मानसिक दुःख के निरन्तर आक्रमण से क्षाम—क्षीण—हो गयी होगी; जैसे भरे वसन्त में वात्याव्याकुल पत्रहीना मधु-मालती लता हो। विरह-ताप के शमनार्थ उसने किसलयों की शय्या रची होगी

और उसके एक किनारे दुबकी पड़ी हुई इस प्रकार दिख रही होगी, जैसे कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की क्षीण चन्द्र-कला उषःकालीन प्राची दिशा में ठिठकी पड़ी रहती है। कोई ऐसा भी समय था, जब मेरे साथ नाना भाव के आनन्दजनक सुखों को अनुभव करती हुई उस दुःखिनी की रातें क्षण-भर की तरह कब समाप्त हो जाती थीं, इसका पता भी नहीं चल पाता था। आज वे रात्रियाँ कितनी दारुण बन गयी होंगी, विरह के कारण उनका विस्तार बहुत बढ़ गया-सा जान पड़ता होगा। जो रातें कभी पल-भर में समाप्त हो जाती थीं, उन्हें आज आँसुओं के साथ न जाने कैसे बिता रही होगी। विरहदीर्घ रात्रि-काल उसके लिए बड़े भयंकर हो उठे होंगे।

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ 26 ॥

"मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि चन्द्रमा की शीतल किरणें उसे कष्ट ही दे रही होंगी। पहले के अनुभवों से उत्साहित होकर जब वह जालीदार खिड़की के रास्ते से घर में प्रवेश करनेवाली चन्द्रकिरणों को आशा और विश्वास के साथ देखती होगी और शीतलता के स्थान पर उष्णता पाकर कातर भाव से तुरन्त अपनी दृष्टि हटा लेती होगी, तो उसका सुन्दर मुख कैसा करुण हो उठता होगा! हाय-हाय, उसकी आँखें दुख जाती होंगी, अश्रुभार से गीले पलकों से उन्हें ढकने का प्रयत्न करती होगी, और वे बड़ी-बड़ी आँखें मेघावृत दिवस में आधी-खुली आधी-मुँदी स्थलपद्मिनी के समान विचित्र करुण शोभा धारण करती होंगी। क्या कहोगे उन आँखों को मित्र, जो न खुली हैं, न मुँदी हैं, न जगी हैं, न सोयी हैं? मेरा अन्तस्तल उनकी कल्पना-मात्र से फटा जा रहा है। हाय मित्र, मेघावृत दिवस की स्थल-पद्मिनी—'न प्रबुद्धा न सुप्ता'!

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव।
चक्षुः खेदात् सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥ 27 ॥

"उसने मण्डन द्रव्यों का उपयोग तो छोड़ ही दिया होगा। उसे मण्डन द्रव्यों का बड़ा शौक है। घर में कस्तूरी, कुंकुम, चन्दन, कर्पूर, अगुरु, कुलक, दन्तवास, पटवास, सहकार, तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अंजन, गोरोचन, क्या नहीं है? पर इस समय तो कैसा तेल और कैसा फुलेल! बस, किसी तरह दो लोटा पानी डालकर नहा-भर लेती होगी। पूजा तो उससे छूट नहीं सकती, और इस समय तो प्रवासी प्रियतम की मंगल-कामना के लिए वह और भी आवश्यक हो गयी। इसलिए नहाना वह नहीं भूलती होगी। तुम चाहो तो इस पानी ढालने को 'शुद्ध-स्नान' कह सकते हो। मगर सोचो मित्र, इस शुद्ध-स्नान से उसके रेशम से भी अधिक मुलायम केश

कैसे रूखे हो गये होंगे। मैं निश्चित जानता हूँ कि उसके ये रूखे केश उसके मनोहर गुलाबी गालों पर बुरी तरह बिखर गये होंगे और लाल-लाल अधरों को क्लेश पहुँचानेवाले उत्तप्त निःश्वासों के झोंकों से हिल भी रहे होंगे। वह उन्हें हाथों से बराबर संयत करती होगी, पर यत्न-वंचित स्नेह-वंचित ये रूखे केश बार-बार उसके मुख पर छा जाते होंगे। बड़े लाड़ले हो गये हैं वे। बेचारे क्या जानते हैं कि उनके यत्न करने का प्रयासी चित्त कहीं खो गया है! कौन उनकी सेवा करे? चाहती होगी नींद आ जाय, सपनों में भी प्रिय का मिलन हो जाय, पर कमबख्त आँसुओं की अविरल धारा आँख भी तो लगने दे!

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्सम्भोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥ 28॥

"जिस दिन अभिशाप का मारा हुआ मैं बिदा हुआ, उस दिन उसने केशों को बाँधनेवाली माला फेंक दी और एक ही लट में उन्हें बाँध दिया। मैंने उमड़ते हुए आँसुओं की धारा को रोककर विदा ली। विदा लेना क्या सरल था? मगर बिदा लेनी पड़ी। विचित्र माया है मित्र, कोई नहीं चाहता कि उसका प्रिय बिछुड़ जाय, सभी चाहते हैं कि प्रियजन को बाहुपाश में बाँधकर रोक लें। पर संसार है कि सभी को छोड़-छाड़कर चल देना पड़ता है। मनुष्य कितना विवश है, कितना अपंग! नीचे से ऊपर तक भयंकर हाहाकार के भीतर से एक ही स्वर प्रबल भाव से सुनायी दे रहा है: 'रुक जाओ, ठहरो!' और इस स्वर के कोलाहल में अदृष्ट देवता के भृकुटितर्जन से निरन्तर सबको छोड़कर चल देने की प्रक्रिया अविराम गति से चल रही है। वह सामने जो राम-गिरि का निर्झर है, उसके भीतर इस हाहाकार का क्रन्दन मुझे नित्य सुनायी देता है। मुझे ऐसा लगता है कि ऊँचाई पर लोकचक्षु के बिलकुल अन्तराल में स्थित कोई प्रेयसी उसे अपनी शिथिल बाहुलताओं से जकड़ने का प्रयत्न कर रही है और कह रही है, 'क्या थोड़ा और नहीं रुक सकते' और वह कातर भाव से चीत्कार कर रहा है, 'नहीं प्रिये, ऊपर देवता विकट भृकुटि से इंगित कर रहा है कि तू शापग्रस्त है, तुझे नीचे गिरना पड़ेगा, नीचे, नीचे, और भी नीचे!' यही हुआ मित्र, जब प्रथम वियोग की कल्पना-मात्र से मेरी प्रिया ने व्याकुल होकर मेरे प्रस्थान-क्षण में मेरी ओर देखा था, अविरल अश्रुधारा से धौत होते रहने के कारण उसके गुलाबी कपोल फीके पड़ गये थे, आँखें सूज गयी थीं और मृणाल-नाल के समान उसकी बाँहें शिथिल श्यामालता की भाँति निश्चेष्ट हो गयी थीं। उसका कण्ठ वाष्प-रुद्ध था, वह कुछ बोल नहीं सकी, केवल भीतिजड़ नेत्रों की कन-खियों से उसने मेरी ओर विवश भाव से देखा। उस दृष्टि का अर्थ था, 'क्या अब कुछ भी नहीं हो सकता?' क्या हो सकता है प्रिये, तुम्हारी इस दशा को देखकर पाषाण पिघल सकता है, पर देवता तो पाषाण नहीं हैं, उन्हें विधाता ने सब दिया है, केवल हृदय नहीं दिया। चलना ही पड़ा। मैं निरन्तर इस निर्झर के हाहाकार

में अपनी ही कहानी सुना करता हूँ। कितनी करुण वेदना है, पर संसार है कि अपनी गति से चला ही जा रहा है। मैं जब चलने को प्रस्तुत हुआ, उस समय प्रिया ने उस मालती की माला—मालतीदाम—को केशों से उतार दिया, जिसे बड़े यत्न से मैंने स्वयं केश-पाश में उलझाया था। उसने सारे केशों की एक ही लट बनाकर समेट के बाँध लिया। मेरा अन्तःकरण जैसे फटकर द्विधाविभक्त हो गया। उसने कातर भाव से संक्षेप में कहा—'जब लौटोगे तो तुम्हीं ठीक करोगे।' हाय मित्र, यह शाप न जाने कब समाप्त होगा! इसका जब अन्त होगा, जब फिर लौट जाऊँगा, तभी उन केशों का कुछ संस्कार हो सकेगा; अभी वे ऐसे सूखे हो गये होंगे कि उन्हें छूने में उसे पीड़ा हो रही होगी, उलझी हुई स्पर्श-क्लिष्टा चोटी उसके गालों पर आ लटकती होगी, और वह बार-बार अपने—असंयमित होने के कारण बढ़े हुए नाखूनोंवाले हाथ से—हटाने का प्रयत्न कर रही होगी।

"इसमें एक रहस्य है। मैं जब बालक था, राजा कुबेर की सेवा में अभी नियुक्त ही हुआ था, उस समय गुह्यकेश्वरी ने एक बार आज्ञा दी कि आज सरस्वती-विहार में त्रैलोक्य-जननी पार्वती पधारनेवाली हैं, उनके चरणों में अर्घ्य देने के लिए सुन्दर ताजे फूलों का तोड़ा लेकर वहाँ उपस्थित होओ। मैंने आज्ञा का पालन किया। वैभ्राज वन के सर्वाधिक मनोहर और सुकुमार पुष्पों का चयन किया और यथा-समय सरस्वती-विहार में पहुँचा। भवन बहुत अच्छी तरह सजाया गया था। वहाँ जाने पर पता चला कि वहाँ केवल अलकापुरी की महिलाएँ ही उपस्थित थीं, पुरुष कोई नहीं था। एक क्षण के लिए मुझे संकोच हुआ, परन्तु गुह्यकेश्वरी की आज्ञा का उल्लंघन करना भी ठीक नहीं था। इसलिए द्वाररक्षिणियों की अनुमति लेकर सभास्थल पर पहुँच गया। प्रवेश करते ही त्रैलोक्य-जननी के दर्शन हुए। मेरा जन्म-जन्मान्तर कृतकृत्य हो गया। कोई ऐसा प्रसंग चल रहा था जिसमें मेरे अचानक पहुँचने से व्याघात की आशंका थी, इसलिए गुह्यकेश्वरी ने इंगित से आदेश दिया कि चुपचाप खड़े रहो, मैं कुछ ठिठका-सा वहीं खड़ा रहा। एक बार देवी की स्निग्ध दृष्टि मुझ पर पड़ी और मुझे ऐसा लगा कि मेरे अन्तर तक के समस्त कलुष आज धुल गये। उस समय एक विद्याधर-वधू पार्वती के चरण-स्पर्श करने पहुँची थी। उसकी सुन्दर मनोहर चिकुर-राशि खुली हुई थी और उसकी पीठ पर इस प्रकार झूल रही थी जैसे मधु-लोभ से आकृष्ट सैकड़ों भ्रमरों की पंक्तियाँ झूल रही हों। जगन्माता ने प्यार से उसका सिर चूम लिया और बड़े लाड़ के साथ उसे उठा लिया। फिर उन्होंने उसके केशों को तीन वेणियों में विभाजित किया और उन्हें एक-दूसरे से उलझाकर चोटी गुह दी, फिर मेरी ओर देखकर कहा—'मालतीमाला देना!' और फिर मालतीमाला को सुकुमार भाव से वेणी-मूल में लपेट दिया। उस निसर्ग-सुन्दर वधू के मनोहर रूप में चार चाँद लग गये। वेणी को धीरे-धीरे सहलाते हुए उन्होंने कहा—'जानती हो गुह्यकेश्वरी, यह बाह्य त्रिवेणी है, यह महामाया की ओर से सौभाग्यवती वधू को दिया हुआ सर्वोत्तम उपहार है।' गुह्य-केश्वरी ने विस्फारित नेत्रों से जगज्जननी की ओर देखा। बोली—'ज़रा समझाकर

कहो माता !' त्रैलोक्य-जननी पार्वती ने मन्द स्मित के कहा—'यह जो मेरुदण्ड है न, इसके मूल में, एक त्रिकोण शक्तिपीठ में, स्वयम्भू शिव विराजमान हैं, वहीं उन्हें साढ़े तीन वलयों में वेष्टित करके भगवती कुण्डलिनी अधोमुखी होकर विराजमान हैं। ऊपर मेरुदण्ड के बीच इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की त्रिवेणी है। मूलाधार में वह युक्त होकर निकलती हैं और मस्तक-स्थित सहस्रार के ठीक नीचे मुक्त वेणी के रूप में बिखर जाती हैं। अनेक साधना के बाद भगवती कुण्डलिनी जाग्रत होकर इस त्रिवेणी-मार्ग को धन्य करती हैं। परन्तु महामाया ने सौभाग्यवती रमणी को यह बाह्य त्रिवेणी का वरदान दिया है। यह सहस्रार से आरम्भ होकर युक्त वेणी के रूप में चलती है और मूलाधार पर आकर मुक्त वेणी के रूप में बिखर जाती है। यह अद्भुत त्रिवेणी अनायास रमणी को वह सिद्धि देती है जिसके लिए पुरुष को सैकड़ों प्रकार की कृच्छ्र-साधना करनी पड़ती है। मूलाधार से ऊर्ध्वगति होने के लिए भगवती कुण्डलिनी कठिन आराधना चाहती हैं। सहस्रार में विराजमान परम-प्रेयान् शिव से विमुख भगवती-कुण्डलिनी मानवती प्रिया के समान गर्विणी हैं। उनकी कुटिलता के कारण ही शिवजी उन्हें 'वामा' कहते हैं और साधक जन 'भुजंगिनी' कहते हैं। सौभाग्यवती रमणी के सहस्रार से उद्भूत यह अलक-त्रिवेणी बाह्य-भुजंगिनी है। चतुर दूतिका की भाँति यह उन्हें प्रिय के अनुकूल बनाती है; यही कारण है कि जो सामरस्य पुरुष के लिए अनेक कृच्छ्र तपों से भी दुर्लभ ही बना रह जाता है, वह सौभाग्यवती पतिव्रता को अनायास प्राप्त हो जाता है।'

"इतना कहने के बाद जगन्माता ने उस बालिका की ओर दृष्टि फेरी। उसकी वेणी-भुजंगिनी तब भी उन्हीं के हाथों में थी। उन्होंने फिर यत्नपूर्वक उस वेणी को सहलाया और बड़े दुलार से उसके कपोलों पर हलका-सा आघात करके मन्द स्मित के साथ कहा—'मेरे गुहने से नहीं होगा, जब तुम्हारा चहेता मन्त्र-चैतन्यपूर्वक गुहेगा, तब होगा। जा, भाग जा !'

"गुह्यकेश्वरी ने फिर आश्चर्य के साथ पूछा—'मन्त्रचैतन्य क्या होता है माता ?' देवी ने कहा—'जो भी मनन किया जाय, वही मन्त्र है। पर ध्यान, धारणा और समाधि जब एक ही विषय पर निबद्ध हो जाती हैं तब मन्त्रचैतन्य सिद्ध होता है। एक विषय का ध्यान, दूसरे की धारणा और तीसरे की समाधि मन्त्रचैतन्य में बाधक होती है। जब पतिधर्मचारिणी का प्रिय ध्यान, धारणा और समाधि में एक ही विषय में समाहित होता है, तभी यह सिद्धि दोनों को प्राप्त होती है।' गुह्यकेश्वरी ने और अचरज की मुद्रा धारण की। बोलीं—'अर्थात् ?' और मेरी ओर स्नेह-भरी दृष्टि से देखकर बोलीं—'अब तुम जा सकते हो वत्स !' मैंने अनिच्छापूर्वक आज्ञापालन किया। शायद मेरा पुराकृत पुण्य इतना प्रबल नहीं था कि मैं लोकजननी पार्वती के मुख से 'मन्त्रचैतन्य' की व्याख्या सुन सकता, या शायद कुछ ऐसी बात थी जिसका मैं अधिकारी नहीं। जो भी हो, मैं मन्त्रचैतन्य के ज्ञान से वंचित रह गया !

"पर मैंने एक बात गाँठ बाँध ली। पतिव्रता की वेणी को तीन धाराओं में विभाजित करके मालती-दाम से गुहना पति-धर्म है। मैंने कभी एक दिन के लिए भी इस प्रिय कर्त्तव्य के पालन में आलस नहीं किया। विवाह के बाद मेरा यह नित्यकर्म हो गया। हाय, आज आठ महीनों से मैं कर्त्तव्यच्युत हूँ, आठ महीने से सहस्रार की मुक्त वेणी नहीं बन सकी, आठ महीनों से यह शिवदूतिका भगवती कुण्डलिनी को सामरस्य भाव की ओर लाने का प्रयत्न नहीं कर सकी। उस दिन प्रिया ने उसे जो एक लट में बाँधा सो बाँध ही दिया। कब इस दारुण शाप का अन्त होगा, कब मैं प्रिया की वेणी सँवार सकूँगा, कब असंयत दुर्ललित केश उसके कपोल-प्रान्त पर अत्याचार करने से विरत होंगे, कब उसकी कमल-कोरक-सी अंगुलियों पर असंयमित नखों का संस्कार होगा, कब मैं पति-धर्म की मर्यादा के पालन में समर्थ हूँगा ! कब ! कब ! हाय मित्र !

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ।। 29 ।।

"मित्र, उसने सब आभूषण त्याग दिये होंगे, इसलिए उसकी कोमल देहयष्टि निराभरण होकर और भी हल्की हो गयी होगी। बार-बार दुःख के कठिन आघात सह-सहकर वह इतनी कमजोर हो गयी होगी कि इस कृशकोमल शरीर को सँभाल रखना भी उसके लिए आयास की बात हो गयी होगी। वह क्या ठीक से सो भी सकती होगी ! मैं निश्चित जानता हूँ कि उसकी यह कृश-दुर्बल तनु-लता दुबकी हुई शय्या के एक किनारे पड़ी होगी। तुम्हें भी उसकी यह दशा रुला देगी। तुम नवजलमय अश्रु अवश्य बरसाओगे। मैं जानता हूँ, तुम आर्द्र अन्तःकरणवाले सहृदय हो, ऐसे लोग दूसरों का दुःख देखकर अवश्य पसीज जाते हैं। तुम्हारी बड़ी करुण दशा होगी। उस दुःखिनी को देखकर तुम्हारे-जैसा आर्द्रान्तरात्मा रोये बिना कैसे रह सकता है !

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम् ।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।। 30 ।।

"मैं ठीक नहीं कह सकता कि जगन्माता ने जो मन्त्रसिद्धि की बात कही थी, वह क्या थी। क्या वह सिद्धि प्रिया को प्राप्त हो गयी है ? कैसे बताऊँ ? परन्तु एक बात मुझे बहुत आश्चर्यजनक लगती है। मेरे अनेक युवक मित्र अपनी प्रियाओं के सरस विहार की बातें मुझे सुना जाते थे। वे बताया करते थे, किस प्रकार अवहित चित्त से उन्होंने अपनी प्रेयसियों के कपोलदेश पर सुन्दर और सुडौल मंजरियाँ अंकित की हैं, किस प्रकार कस्तूरिकातिलक से उनके मनोहर भाल-पट्ट को अलंकृत किया है। मैंने भी कपोलदेश पर सुन्दर मंजरी बना देने का प्रयत्न किया। परन्तु

मुझसे वह कभी बन नहीं सकी। मैं जब तूलिका उठाता था तभी मेरे हाथों में कम्प उत्पन्न हो जाता, अंगुलि-प्रान्त स्वेदार्द्र हो उठते, और, और तो और, मेरे सारे शरीर में एक प्रकार की अवश जड़िमा आ जाती। तीन बार मैंने प्रयत्न किया और तीनों बार ऐसी ही दशा हुई। चौथी बार जब मैंने काँपते हाथों से तूलिका पकड़ी तो मेरी प्रिया ने मन्द-स्मित के साथ कहा, 'रहने दो, तुमसे नहीं होगा।' पर मैं सत्य कहता हूँ मित्र, दोष मेरा (अकेले का ही) नहीं था। चित्रकर्म के लिए चिक्कन मसृण आधार की आवश्यकता होती है। मुझे एक बार भी उसे प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं मिला। हाथ में तूलिका ली नहीं कि प्रिया के कपोल-प्रान्त उद्‌भिन्न केसर कदम्ब-पुष्प के समान रोमांचित हो जाते थे। ऐसी भूमि पर चित्र-कर्म कैसे हो सकता है? मैं अपने नव-विवाहित मित्रों के सौभाग्य से ईर्ष्या करता था। वे बड़भागी हैं जिन्हें न कम्प होता है, न स्वेद आता है, न रोमांच-विषम कपोलप्रदेश की बाधा मिलती है। पर जब मैं हाथ में वेणी लेता हूँ, तो मुझे ऐसा-कुछ अनुभव नहीं होता। मुझे प्रथम दिन ही बाह्य त्रिवेणी को मुक्त वेणी से युक्त वेणी में और युक्त वेणी से मुक्त वेणी में परिणत करने की सिद्धि मिल गयी थी। क्या मन्त्र सिद्धि का कुछ अंश मुझे भी मिल गया था? कौन बतायेगा?

"मुझे आशंका हो रही है कि तुम मेरी बात को अन्यथा तो नहीं समझ रहे हो। तुम्हारे चेहरे पर जो चपल स्मित-रेखा है, उसका अर्थ मैं समझ रहा हूँ। तुम कह रहे हो कि वाह दोस्त, संसार की सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता के पति होने का गौरव लेना चाहते हो, 'सुभग' कहलाने का अच्छा रास्ता खोज निकाला है—सुभग, जिसकी ओर रस-लुब्ध प्रेयसियाँ उसी प्रकार स्वयं आकृष्ट होती हैं जिस प्रकार भ्रमरा-वलियाँ उत्फुल्ल कुसुम की ओर आकृष्ट होती हैं! नहीं मित्र, मेरा मतलब ऐसा कुछ नहीं है। सुभग तो तुम हो। मैं विरह-व्यथा का मारा शापित-तापित अपने को 'सुभग' समझने का मिथ्या अहंकार कैसे धारण कर सकता हूँ? सुभगम्मन्य कोई और होते होंगे, मुझे गर्व के साथ अपने-आपको सौभाग्यशाली माननेवाला अधम जीव मत समझो। मैं तुम्हारी उस सखी——अपनी प्रिया—को ठीक-ठीक जानता हूँ, इसीलिए यह सब कह रहा हूँ। वह मुझे सचमुच प्यार करती है, जी भरकर प्यार करती है, इसीलिए मैं अनुमान से ऐसा कह रहा हूँ, कि वह ऐसी ही हो गयी होगी। इसे सुभगम्मन्य सौभाग्य-गर्वित की वाचालता न समझो। मेरा हृदय कहता है कि वह कितनी आर्त्त है। शीघ्र ही तुम उसे देखने पर मेरी बात ज्यों-की-त्यों प्रत्यक्ष देखोगे। तुम उस समय अनुभव करोगे कि मैं जो कह रहा हूँ, उसमें रत्ती-भर की अतिरंजना नहीं है! आखिर यह उसका प्रथम विरह है—अननुभूत, अज्ञात, अप्रत्याशित!

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत्॥ 31॥

"तुम जब उसके पास पहुँचोगे तो उसकी आँखें फड़केंगी। शास्त्रकारों ने कहा है कि अत्यन्त प्रिय संवाद की सूचना आँखें देती हैं, ऊपर की ओर फड़ककर। यह शुभ शकुन है। न जाने विधाता का कैसा रहस्यमय विधान है कि प्रिय या अप्रिय बात कान तक पहुँचने के पूर्व अंगों में विशेष प्रकार के स्पन्दन होने लगते हैं। सुदूर-स्थित प्रिय व्यक्ति के कुशल या अकुशल की सूचना पहले ही मिल जाती है। क्या यह इसीलिए होता है कि संसारव्यापी कोई एक ही चित्त है जो व्यक्तिचित्त के रूप में अभिव्यक्त और स्फुरित होता रहता है? अगर ऐसा न होता तो अनायास अंगों में स्पन्दन क्यों होने लगता? क्या यही शास्त्रकारों द्वारा बताये गये हिरण्यगर्भ की लीला है? मैं अज्ञ हूँ मित्र, मुझे ऐसा लगता है कि कोई विराट् चेतना अवश्य ब्रह्माण्ड-भर में व्याप्त है। एक व्यक्ति का चित्त यदि दूसरे व्यक्ति के चित्त के साथ एकतान हो सके, तो यह संवेदनशील विराट् चिति-शक्ति एक-दूसरे के भावों को सूक्ष्म भाव से अवश्य चालित करती है। अकारण उसमें पर्युत्सुकी भाव जाग पड़ता है। प्रिय के कुशल-संवाद से बढ़कर औत्सुक्य जाग्रत करनेवाली दूसरी वस्तु क्या हो सकती है? धन्य हो हिरण्यगर्भ, धन्य है तुम्हारी अपरम्पार लीला! मैं निश्चित जानता हूँ सखे, कि जब तुम निकट पहुँचोगे, तो तुम्हारी सखी के नयन भी ऊपर की ओर स्पन्दित होंगे। कैसे होंगे वे नयन? हाय, रूखे बालों के अत्याचार से उनके अपांग-वीक्षण की क्रिया अवरुद्ध हो गयी होगी; दीर्घकाल से उनमें स्निग्ध काजल नहीं पड़ने से वे फीके हो गये होंगे और मेरे वियोग के कारण उसने उन्मादक मधु-पान तो छोड़ ही दिया होगा; इसलिए मेरा परिचित चंचल भ्रू-विलास उन नयनों को भूल ही गया होगा। ऐसे ही करुणोत्पादक वे नयन तुम्हें दीखेंगे, परन्तु सब होने पर भी उनका सहज सौन्दर्य तो कहीं गया नहीं होगा। नील-कुवलय दल-मोहिनी शोभा ज्यों-की-त्यों बनी होगी। हाय मित्र, जब वे बिखरे बालों से अवरुद्ध कटाक्ष-वाले, अन-आँजे नयन ऊपर की ओर फड़केंगे, तो उस नील-कमल की मोहिनी शोभा धारण करेंगे जो चंचल मछलियों के ऊधम से चटुल हो उठता है। जब मैं मीन क्षोभ से चटुल बने कुवलय (नीलकमल) की शोभा धारण करनेवाले नयनों की कल्पना करता हूँ, तो जी में अजब कचोट अनुभव करता हूँ।

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ 32 ॥

"जाओ मित्र, जाओ, उस शोभा को यदि देख सके तो कृतार्थ होगे, मैं शापित विरही तो केवल कल्पना के नेत्रों से देखकर ही सन्तोष कर रहा हूँ। हिरण्यगर्भ की लीला धन्य है, न जाने वह कितने अंगों में स्पन्दन उत्पन्न करती है, न जाने कितने गूढ़ संकेतों से वह प्रियचित्त में अहैतुक औत्सुक्य का संचार करती है। अगर यह न होता तो यह कैसे सम्भव था मित्र, कि शुभ संवाद की सूचना काक सुना जाते, छिपकली बता देती और आँगन के वृक्ष कम्प-व्याकुल अज्ञात वेदना से चंचल

हो उठते। चराचर में यह विराट् चैतन्य का समष्टि चित्त कितने स्वरों में झंकृत होता रहता है, इसका कोई हिसाब नहीं है। शास्त्रकारों ने तो कुछ थोड़े-से शकुनों का उल्लेख-भर कर दिया है। प्रिय-कुशल-संवाद के ईषत् पूर्व ही नयन स्पन्दित हो उठते हैं, उरुदेश (जंघा) स्फुरित हो उठता है, मारो सुखद स्मृतियों का अजस्र भाण्डार बाँध तोड़कर निकल पड़ता है। धन्य हो हिरण्यगर्भ, तुम्हारी महिमा अपरम्पार है। मेरा चित्त विक्षुब्ध समुद्र की भाँति आज उत्तरंग है। प्रिया के गौर उरुदेश (जंघा) के स्पन्दन की बात सोचता हूँ, तो चित्त में हजार स्मृतियाँ उद्वेल हो उठती हैं। इन भाग्यहीन मेरी अंगुलियों ने न जाने अपने तीखे नाखून के अस्त्र से कितनी बार उन कोमल उरुयुगल पर अत्याचार किया है। हाय, आज उन पर मोतियों की लरवाली मनोहर करधनी भी न होगी। वे श्रान्त-शिथिल होने पर मेरी सेवा पाने के—संवाहन के—उचित अधिकारी थे, आज वे भी निराभरण हो गये होंगे और अत्याचार और सेवा दोनों से वंचित होकर कैसे-कुछ हो गये होंगे। मेरा चित्त उन्मथित है, मैं विवेक खो बैठा हूँ, हाय, मुलायम गोल कदली-स्तम्भ की भाँति वे मनोहर उरुयुगल! मगर छोड़ो इन बातों को। मेरे प्रमाद का बुरा न मानना। उनमें जो बायाँ है वही स्पन्दित होगा। स्त्रियों का ऐसा ही होता है। उनके सौभाग्य की सूचना बायें अंग स्पन्दित होकर देते हैं। कहते हैं कि जब प्रथम बार निस्पन्द पराशक्ति में स्फोट हुआ था, तो जो वामावर्त्त घूमा था, वह वामावर्त्त अंकुश रूप में उन्मिषित हुआ। त्रिपुरसुन्दरी का वह अंकुश आयुधवाला रूप ही क्रमशः स्फोट-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ संसार की सबसे सुकुमार, सबसे महनीय, सबसे कोमल वस्तु नारी रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पिण्ड-व्यक्ति में वह वामा नाड़ी से चलकर सहस्रार में विराजमान शिव को दक्षिणावर्त्त-वेष्टित करने का प्रयास करती है। शायद यही कारण है कि यह जो वाम अंग है, जो महामाया के स्वायत्त पक्षपात से धन्य हुआ है, वही नारी के मांगल्य को व्यक्त करता है। मैं सरस कदली-स्तम्भ के समान उस गौरवर्ण वाली बायीं जाँघ में स्पन्दन की बात सोच रहा हूँ। जल्दी जाओ मित्र, जल्दी जाकर आद्या-शक्ति के प्रथम उन्मेष की शाश्वत लीला को प्रकट करने का निमित्त बनो।

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्॥ 33॥

"देर मैं ही कर रहा हूँ। तुम ठीक कह रहो हो, देर का कारण मैं ही हूँ। परन्तु एक बार सोच देखो, कितना नाजुक काम तुम्हें सौंप रहा हूँ। वह फूल से भी अधिक मुलायम है, किसलय से भी अधिक अदनार है और नवनीत से अधिक कोमल है। ज़रा सावधानी से काम नहीं लोगे, तो अनर्थ हो जाने की आशंका है। मैं जानता हूँ कि तुम नहीं जानते, इसलिए तुम्हें बता देना मैं आवश्यक समझता हूँ। तुम चतुर हो, मुझे कोई सन्देह नहीं, पर मन नहीं मानता। यह मेरे दुर्बल चित्त

की पाप-आशंका है, पर तुम इसका बुरा न मानना। यह केवल चैतिक दैन्य का निदर्शन भी समझ सकते हो। पर जब तक मैं तुम्हें ठीक-ठीक समझा न दूँ, तब तक मुझे चैन न मिलेगा। थोड़ा धैर्य रखो, मैं संक्षेप में एक-दो बात कहकर अपना छोटा-सा सन्देश बता दूँगा। फिर तुम तेजी से उड़ जाना।

"बात इतनी-सी ही है मित्र, कि ज़रा सावधानी से काम करना। अपने इस दुखिया मित्र की दशा देखकर हड़बड़ी न कर बैठना। हो सकता है, जिस समय तुम वहाँ पहुँचो उस समय वह सो रही हो। शरीरधर्म ही तो है, नहीं तो उस विरह विधुरा कोमलांगी को नींद कहाँ! मुझे भी क्या नींद आती है? लेकिन मैं नींद की बाट जोहता रहता हूँ। ज़रा-सी झपकी आयी नहीं कि प्रिया का निसर्ग-सुन्दर रूप स्वप्न में साकार हो उठता है। उसकी भी यही दशा होगी। हँसो मत, परिहास की बात नहीं है। उसे यदि ज़रा-सी नींद आ गयी होगी तो निश्चय ही मुझे—प्रियतम को—स्वप्न में पा गयी होगी। निश्चय ही स्वप्न में उसकी भुजलता स्वप्न-लब्ध प्रिय के गाढ़ आलिंगन में बँधी होगी। मित्र, उसे इस सुख से वंचित न होने देना। गरजना मत, कड़कना मत, पहर-भर चुपचाप रुके रहना। जानता हूँ, पहर-भर एक ही जगह चुपचाप पड़े रहने में तुम्हें बड़ा कष्ट होगा, पर किसी प्रकार सह लेना। यह बहुत जरूरी है। इतना कष्ट तुम सह ही रहे हो, तो थोड़ा और सही। मेरी यह चिरौरी याद रखना! चुपचाप निःशब्द रुके रहना; ऐसा न हो कि उसका यह सुख-स्वप्न टूट जाय, भुजलता की आलिंगनजन्य गाँठ छूट जाय।

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि-
त्सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम्॥ 34॥

"देखो मित्र, वह बड़ी मनस्विनी है। एकाएक कोई परपुरुष उसकी ओर झाँके, तो वह नाराज हो जाती है। इसलिए भी तुम्हें बहुत चतुराई से काम लेना होगा। मैं जैसा बताता हूँ वैसा करना। पहले तो अपनी जलकणिका से शीतल बने हुए वायु के द्वारा उसे धीरे-धीरे जगाना। शास्त्र में कहा है कि जो प्रभु हो, मानी हो, मनस्वी हो, वह अगर सोया है तो हड़बड़ाकर उसे नहीं उठाना चाहिए। बहुत धीरे-धीरे मृदुमर्दन से पैर चाँपना चाहिए, या वक्षस्थल पर मृदु-मन्द भाव से पंखा झलना चाहिए, या फिर हलका-सा मधुर संगीत सुनाकर उठाना चाहिए। महारानियों की दासियाँ ऐसा ही करती हैं। शास्त्र का यह विधान मनस्विनी पतिव्रता स्त्रियों के लिए भी उसी प्रकार पालनीय है। मैं तुमसे ऐसा तो कैसे कहूँ कि तुम मृदु स्पर्श से उसके चरणों को धीरे-धीरे दबाना; विरह में मैं कितना भी विवेक खो बैठा हूँ तो भी मैं तुम्हारी और अपनी, दोनों की, मर्य्यादा का जानकार हूँ। परन्तु शीतल-व्यजन तुम्हारे जल-सीकरों से सिक्त वायु द्वारा आसानी से हो सकता है। इस मन्द और शीतल वायु में मालती-लता के पुष्पजाल की सुगन्धि तो अपने-आप मिल ही जायेगी। वह मालती-लता भी तो तुम्हारी प्रतीक्षा में मुरझायी पड़ी होगी—

मूर्छित, निद्रित, सुप्त ! तुम एक ही साथ दोनों को जगाना। वह वस्तुतः तुम्हारी सखी मालती-लता के पुष्प के समान ही सुकुमार है। तुम्हें एक साथ दो सुकुमार वस्तुओं को आश्वस्त करने का सुख मिलेगा। जब वह उठ जाय, उस समय अपनी बिजली को भीतर छिपा लेना। यदि इसकी चमक उसकी अलसायी आँखों पर पड़ेगी तो डर जा सकती है। खिड़की पर तुम्हें बैठा देखकर वह घबरा सकती है, उसकी आँखें मुँद जायेंगी। तुम्हें धीरे-धीरे अपने मृदु गर्जन के शब्दों में उस मानिनी से बात करना होगा। इन बातों का याद रखना बहुत आवश्यक है। यदि तुमने धीर-भाव से यह काम नहीं किया, तो यह सारा कष्ट व्यर्थ हो जायेगा। एकदम अपरिचित को खिड़की पर बैठा देखकर न जाने उसकी कैसी हालत हो, न जाने उसके कोमल चित्त में कौन-सी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो, न जाने कौन-सी पापाशंका उसके चित्त को मथित कर दे। इसलिए मित्र, तुम्हें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा। उसी अवसर पर तुम्हारी सारी चतुरता की परीक्षा होगी।

> तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
> प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
> विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
> वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ 35 ॥

"बहुत देर भी न करना। ज्यों ही उसे अपनी ओर उन्मुख देखना त्यों ही मेरा सन्देशा सुनाना आरम्भ कर देना। परन्तु सबसे पहले तुम्हें अपना परिचय दे देना होगा। मैं समझता हूँ कि तुम्हारा पहला वाक्य यह होना चाहिए कि 'हे सौभाग्यवती, मैं तुम्हारे पति का प्रिय मित्र मेघ हूँ।' ऐसा कहने से उसके चित्त से दो आशंकाएँ तुरन्त हट जायेंगी। पहली तो यह कि कहीं यह व्यक्ति कोई बुरी खबर तो नहीं लेकर आया है। ज्यों ही तुम उसे सौभाग्यवती कहकर पुकारोगे, त्यों ही उसकी यह आशंका मिट जायेगी। दूसरी आशंका यह, कि इतनी रात को चुपचाप किसी के घर में प्रवेश करनेवाला कोई दुष्ट तो नहीं है, या चोर तो नहीं है; लेकिन जब तुम कहोगे, कि तुम उसके पति के प्रिय मित्र हो, तो वह आश्वस्त होगी। उसके चित्त में औत्सुक्य का भाव आयेगा और आदर के साथ वह तुम्हारी ओर उन्मुख होगी। फिर तुरन्त तुम दूसरा वाक्य कहना। 'अपने हृदय में तुम्हारे प्रति तुम्हारे प्रेमी के दिये गये सन्देश को लेकर उपस्थित हुआ हूँ।' इसके बाद ही थोड़े शब्दों में तुम्हें यह भी बता देना होगा, कि तुम इस कार्य के सर्वथा उपयुक्त हो। तुम केवल सन्देशवाहक ही नहीं हो, विरही जनों के मिलन में संघटक भी हो। इसमें संकोच की कोई बात नहीं, आत्मश्लाघा की भी कोई बात नहीं है। जहाँ दुखी जनों के दुःख दूर करने का प्रश्न है, वहाँ आत्मश्लाघामूलक आत्म-परिचय उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। अपरिचित वैद्य यदि रोगी को अपना परिचय न दे, तो उसके मन में विश्वास कैसे उत्पन्न कर सकेगा? ऐसे अवसरों पर आत्मश्लाघा लोकहितैषणा की सहायक होती है। उसमें कोई दोष नहीं है। इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि तुम संकोच छोड़कर अपने बारे में इतना और कह देना, कि 'मैं वह हूँ

जो प्रवास में गये, थके हुए, चलने में उत्साह खो बैठे हुए उन बटोहियों में—जो अपने घरों में विसूरती हुई प्रियाओं की लट बनी हुई वेणियों को खोलने के लिए उत्सुक बने होते हैं—नवीन उत्साह का संचार करता है। मेरी मन्द्र-स्निग्ध ध्वनि सुनकर उनकी नसों में स्फूर्त्ति आती है, मन में उमंग भर जाता है, पैरों में तेज चलने की शक्ति आ जाती है। जो विरह के मारे हुए हैं, और मिलन के लिए व्याकुल हैं; किन्तु जो राह चलते-चलते थककर चूर हो गये हैं, उनमें नयी आशा, नयी उमंग, नयी स्फूर्त्ति भर देना मेरे मन्द गर्जन का ही करतब है। मैं पथ-क्लान्त प्रेमियों का सहारा हूँ और विरह-विधुर अबलाओं का साहस हूँ।' इसमें आत्म-श्लाघा की कोई बात नहीं है मित्र, तुम नहीं जानते, किन्तु मैं जानता हूँ कि इसमें रंचमात्र भी अतिरंजना नहीं है। तुम्हारा यह श्रवण-सुभग गर्जन, वियोग-व्यथित चित्त में कितनी आशा और औत्सुक्य का संचार करता है, यह तुम नहीं जानते! तुम नहीं जानते कि तुम्हारे सम्पर्क से शीतल बनी वायु बीजों में अंकुरित होने की कैसी वेदना उत्पन्न कर देती है। सृष्टि के मूल में महाशिव की जो मूल सिसृक्षा है उसको तुम निरन्तर मुखरित करते रहते हो, उन्मिषित होने के लिए व्याकुल करते रहते हो, और जहाँ कहीं भी चित्-शक्ति प्रसुप्त पड़ी होती है वहीं उसमें आत्मा-भिव्यक्ति के लिए चांचल्य उत्पन्न कर देते हो। कोई नहीं जानता कि यह सब कैसे होता है; परन्तु होता है, यह सत्य है। तुम्हारे मन्द-मधुर गर्जन को सुनकर मैंने अनुभव किया है कि निश्चय ही कोई एक समष्टि-चित्त है जिस पर एक ही समान प्रतिक्रिया होती रहती है, और तदनुसार व्यक्ति-चित्त में अपनी-अपनी अवस्था और प्रकृति के अनुकूल उद्‌बुद्ध होने की शक्ति जाग्रत होती रहती है। शास्त्रों में जिसे हिरण्यगर्भ कहा है, जो समस्त विश्वात्मा के समष्टि-चित्त का प्रतिरूप है, उसे तुम प्रत्यक्ष भाव से आन्दोलित-उल्लसित और व्याकुल करते रहते हो। हिरण्यगर्भ की लीला के तुम प्रमुख सूत्रधार हो। नहीं तो यह कैसे हो सकता, कि प्रसुप्त-से-प्रसुप्त अन्तःकरण में आत्माभिव्यक्ति की एक ही व्याकुल लीला समस्त जगत् में एक ही साथ चंचल हो उठती है! इसमें आत्मश्लाघा की कोई बात नहीं है। तुम्हें विधाता की ओर से यह वरदान प्राप्त हुआ है। इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि तुम बिना किसी संकोच के अपनी सहज प्रकृति का परिचय अवश्य दे देना। इससे उस विरहिणी का विश्वास बढ़ेगा और मेरा सन्देश सुनने की अभिलाषा बढ़ेगी। मेरी बातों को पागल का प्रलाप मत समझ लेना; जिस क्रम से कह रहा हूँ, उसी क्रम से कहना।

> भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धिमामम्बुवाहं
> तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
> यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
> मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ 36 ॥

"जब तुम ऐसा कहोगे तो निश्चय ही जिस प्रकार हनुमानजी की ओर सीताजी ने बड़े चाव से आँखें उठायी थीं, उसी प्रकार वह भी उच्छ्‌वसित-हृदय होकर

आदरपूर्वक तुम्हारी ओर देखेगी। सौम्य, तुम नहीं जानते कि तुम एक ही साथ कितनी आशाओं और आकांक्षाओं को उस विरहिणी के चित्त में उत्पन्न कर दोगे। यह तो तुम जानते ही हो, कि स्त्रियों के लिए अपने प्रिय का कुशल-संवाद और प्रेम-सन्देश, मिलन से थोड़ा ही कम होता है। केवल उसमें स्थूल मृण्मय संयोग की कमी आ जाती है; नहीं तो अन्तःकरण का चिन्मय मिलन ज्यों-का-त्यों प्राप्त होता है। इस चिन्मय मिलन का माहात्म्य मैं जानता हूँ। केवल स्थूल दृष्टिवाले बचकाने विचार के भोंड़े रसिक ही चिन्मय मिलन का रहस्य नहीं समझ पाते। वही महा-माया के वास्तविक चिन्मय रूप की अभिव्यक्ति है, स्थूल मिलन तो उसी को पाकर धन्य होता है। जहाँ अन्तस्तल में चिन्मय औत्सुक्य का अभाव है, जहाँ भीतर की प्रत्येक चेष्टा अन्तर्निहित चैतन्य से चालित और आन्दोलित नहीं है, वहाँ स्थूल मिलन का कोई महत्त्व नहीं है। तुम्हारी मन्द्रध्वनि से अन्तःस्थित चिन्मय देवता व्याकुल हो जाते हैं और वही व्याकुलता सच्चे प्रेम का मूल मन्त्र है। इसलिए कहता हूँ मित्र, कि प्रिय का संवाद और प्रेम का सन्देश स्थूल मिलन से थोड़े ही कम हैं। स्थूल मिलन उसकी अन्तिम परिणति है; चिन्मय मिलन ही उसका मूल-रूप है। वही महामाया की चेतन-प्रक्रिया है और वही हिरण्यगर्भ की वास्तविक लीला है।

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः ॥ 37 ॥

"हे आयुष्मन्, मेरे कहने से, और परोपकार करने की भावना से अपने को कृतार्थ करने के उद्देश्य से तुम उससे इस प्रकार कहना कि 'हे अबले, तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी रामगिरि के आश्रम में सकुशल है और तुम्हारी कुशल जानना चाहता है।' इतना शुरू में ही कह देना बहुत आवश्यक है। देखो मित्र, विपत्ति मनुष्य के लिए बड़ी सुलभ वस्तु है, वह अचानक आ सकती है और अकारण भी आ सकती है। दूर बैठा हुआ प्रियजन निरन्तर सोचता रहता है कि हमारे प्रिय पर कोई विपत्ति तो नहीं आयी; वह कुशल से तो है, कहीं किसी प्रकार के विघ्न का तो शिकार नहीं हो गया, किसी कठिनाई में पड़कर दुःख तो नहीं पा रहा है। विरही प्राणी के चित्त में पाप-आशंकाएँ निरन्तर उठा करती हैं। इसलिए और कुछ करने के पहले उसे यह बता देना आवश्यक है कि उसका प्रिय सकुशल है, उस पर कोई विपत्ति नहीं आयी। फिर जो लोग अत्यन्त कोमल-चित्त के हैं उनके मन को आश्वस्त करने के लिए कुशल-संवाद पहले कह देना ही उचित है। यदि सन्देश-वाहक कुशल-वृत्तान्त कहने में थोड़ा भी विलम्ब करे, तो न जाने उसके मन में कौन-सी आशंका आ उपस्थित हो। वह मूर्च्छित हो सकती है, विपन्न हो सकती है, इसलिए कुशलवाली बात पहले कहना आवश्यक है।

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ।। 38 ।।

"अब मेरा सन्देश सुनाना । मेरा कुशल-संवाद सुनकर वह आश्वस्त हो गयी रहेगी । सँदेशा क्या है मित्र, मैं विरह से व्याकुल हूँ, इसमें तो केवल दुःख-ही-दुःख का रोना है । मेरे कष्टों की गाथा सुनाकर तुम उस कोमल चित्त को और भी अधिक दुखी बनाओगे । लेकिन यह भी भुवन-मोहिनी की लीला का एक अद्भुत रहस्य है कि यद्यपि विरही जन अपने प्रिय के कुशल-संवाद के लिए अत्यन्त चिन्तित होते हैं, तथापि उन्हें यह जानकर प्रसन्नता होती है कि उनका प्रिय भी उन्हीं के समान व्याकुल है, चित्त-वैक्लव्य का आखेट बना हुआ है । उसे यदि यह मालूम हो जाये, कि उसका प्रेमी राग-रंग में मस्त है तो उसकी पीड़ा बढ़ जाती है; और उसे मालूम हो जाये, कि उसका प्रेमी वियोग में व्याकुल है, कातर है, तो उसे सुख मिलता है । इससे क्या यह नहीं सिद्ध होता, कि प्रत्येक व्यक्ति अपने चित्त के समानान्तर चित्त को देखकर सुखी होता है ? व्यक्ति-चित्त के इस दुहरे रूप को तुम क्या कहोगे ? भुवनमोहिनी के प्रत्येक इंगित में न जाने कितने रहस्य भरे हुए हैं; बुद्धि-व्यापार उसे समझने में एकदम असमर्थ है। इसलिए तुम्हें मेरी व्याकुलता का सन्देश कहने में हिचकना नहीं चाहिए । कहना, कि, हे सौभाग्यवती, तुम्हारे दूर बैठे हुए बिछोही प्रिय का मार्ग बैरी विधाता ने रोक रखा है; इसलिए वह तुमसे मिल भले ही न सके, परन्तु अपने दुर्बल अंगों को देखकर तुम्हारे दुर्बल अंग की बात समझ सकता है; अपनी गाढ़तम जलन से तुम्हारी तपन का अनुमान कर सकता है; अपनी निरन्तर बढ़ती हुई अश्रुधारा से तुम्हारे नयनों से झरती रहने-वाली निरन्तर अश्रुधारा को समझ सकता है; अपने उत्कण्ठित चित्त से तुम्हारी अहर्निश जगती हुई उत्कण्ठा का अन्दाजा लगा सकता है; अपने निरन्तर उठते हुए उष्ण उच्छ्वासों से तुम्हारे उच्छ्वासों की बात समझ सकता है । परन्तु हाय, वह बहुत दूर है इसलिए तुम्हारे सामीप्य का सुख नहीं प्राप्त कर सकता । परन्तु नित्य नवीन-नवीन संकल्पों से वह तुम्हारे अन्तःकरण में नित्य प्रवेश करता रहता है । उसका विश्वास है कि तुम संकल्पों का अनुभव कर रही होगी । बैरी विधाता केवल स्थूल मार्गों को रोक सकता है, सूक्ष्म मानस-संकल्पों को वह कैसे रोक सकेगा ? प्रिये, तुम अपने चित्त की गति से मेरे चित्त की गति को आसानी से समझ सकती हो । मेरे अन्तःकरण के संकल्प निस्सन्देह तुम्हारे अन्तःकरण में स्पन्दित होते होंगे ।

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ।। 39 ।।

"मैं अपनी अवस्था तुमसे क्या निवेदन करूँ ! एक वह ज़माना था, जब तुम्हारे प्रिय को तुमसे कोई ऐसी भी बात कहनी होती थी, जो तुम्हारी सखियों के सामने ज़ोर-ज़ोर से कहने में कोई संकोच नहीं होता, जो सहज भाव से सहज ही कही जा सकने योग्य होती, तो उसे भी तुम्हारा प्रिय तुम्हारे कान में कहता था ! क्यों कहता था ? तुम्हारे सुन्दर मुख के स्पर्श करने के लोभ से। स्पर्श करने का कोई बहाना ढूँढ़ निकालना ही उसका उद्देश्य होता था। अब तुम अपने उस प्रिय की न तो बात सुन सकती हो, न उसे आँख भरकर देख ही सकती हो। तुम्हारा वही प्रिय मेरे मुँह से उत्कण्ठा में विरचित इन शब्दों को तुम्हारे पास कहता है।

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट—-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ।। 40 ।।

"प्रिये, मैं श्यामालताओं में तुम्हारा शरीर, भीत-चकित हरिणी की आँखों में तुम्हारी मोहिनी चितवन, पूर्ण चन्द्र-मण्डल में तुम्हारे मुख की सुन्दर छाया, मयूरों के बर्ह-भार में तुम्हारे केशों का अनुपम सौन्दर्य, और नदी की हल्की तरंगों में तुम्हारे भ्रू-विलास की लीला देखा करता हूँ। परन्तु हाय प्रिये, एक स्थान पर तुम्हारा सादृश्य कहीं भी नहीं मिलता। प्रिये, चण्डि, तुम कोपनस्वभावा हो; एक ही स्थान पर तुम्हारा सम्पूर्ण सौन्दर्य पाना सम्भव नहीं। हाय प्रिये !"

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ।। 41 ।।

चण्डी—कोपन-स्वभावा ! यक्ष की आँखों से अश्रुधारा अविरल गति से बहने लगी। यह मेघ क्या इस बात को समझ पायेगा ! किसी दिन नारद मुनि ने पितृगृह गयी हुई पार्वती को शिव से लड़ा देने का संकल्प किया। बोले, 'तुम तो यहाँ बैठी हो, वहाँ शिव ने विचित्र लीला शुरू की है ! एक बड़ी ही सुन्दर स्त्री को हृदय में धारण किया है। तुम्हें यहाँ भेज दिया है और वहाँ नित्य रासलीला रचा रखी है।' पार्वती को क्रोध हुआ, ईर्ष्या हुई और वे रहस्य का पता लगाने चलीं। सहज-कोपनता ने उन्हें और भी रमणीय बना दिया। फिर उन्होंने भुवन-मोहिनी का रूप धारण किया। भक्त लोग उसी त्रैलोक्य-मनोज्ञ रूप को 'त्रिपुर-सुन्दरी' कहा करते हैं। वे जब भगवान् शंकर के पास पहुँचीं तो क्या देखा ? भगवान् कर्पूरगौर कान्ति से दमक रहे हैं। सिद्धासन बाँधकर अपूर्व भाव-मग्न समाधि में आसीन हैं। त्रिपुर-सुन्दरी की छाया उनके कपाट के समान गौर वक्ष-स्थल में प्रतिफलित हुई। त्रिपुर-सुन्दरी की भृकुटियाँ तन गयीं। उन्होंने समझा, यही वह स्त्री है जिसे शिव ने हृदय में छिपा रखा है। उनके मुख पर ईर्ष्या, कोप और असूया के कारण जो तमतमाहट हुई वह तपाये हुए कुन्दन की भाँति गाढ़

ताम्रवर्ण की शोभा में बदल गयी। छाया में भी यह प्रतिक्रिया दिखी, लेकिन रंग और भी श्यामल हो गया था। छाया ही तो थी! भवानी का चण्ड रूप और भी चण्डतर होकर उनकी छाया में अतिक्रमित हुआ। उनके कोप-व्याकुल रूप को देखकर समाधि से उठे हुए शिव ने शान्त स्वर में पूछा—'क्या बात है देवि!' देवी के मुख पर क्रोध का भाव और भी गाढ़ हो आया। उन्होंने कड़क के पूछा—'तुम्हारे हृदय में यह कौन स्त्री है?' शिव ने हँसकर उत्तर दिया—'तुम्हारी छाया!' देवी गल गयीं। उन्हें नारद का परिहास समझ में आ गया! भक्तों में वह छाया 'त्रिपुरभैरवी' के नाम से पूजित होती है। उसने भगवती के कोपन स्वभाव को उद्दीप्त किया था, बुद्धि को मोहग्रस्त बनाया था। तब से महाशक्ति की वह सहज-कोपना लीला नारीसौन्दर्य को खिलाती आयी है, प्रेम की जीर्णता को झाड़ती आयी है, अनुराग के हृदय में विक्षोभ की तरंगें उकसाती आयी है। हाय, मेघ क्या यह सब समझ सकेगा! कोमल भाव से उसने फिर अपना सँदेशा कहा—

"हे सुन्दरि! तुम्हारे प्रणय-कुपित रूप को पर्वतशिलाओं पर गेरू के रंग से चित्रित करता हूँ और तुम्हें मनाने के लिए जब अपने-आपको तुम्हारे चरणों पर डाल देने का प्रयास करता हूँ, तो उस समय बार-बार उमड़ते हुए आँसू मेरी दृष्टि-शक्ति को लोप कर देते हैं। हाय, क्रूर कृतान्त चित्र में भी हमारा-तुम्हारा मिलन नहीं सह सकता।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥ 42॥

"प्रिये, जब कभी मैं तुम्हें स्वप्न में देखता हूँ और निर्दय भाव से आलिंगन करने के लिए अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, उस समय वन-देवियाँ भी मेरी दशा पर तरस खाकर मोती के समान बड़े-बड़े अश्रु-बिन्दु वृक्षों के किसलयों पर प्रायः ढुलका देती हैं। मेरी इस दयनीय दशा से उनका भी चित्त द्रवित हो उठता है; उनकी भी आँखों से अश्रु टपक पड़ते हैं और वे भी दयार्द्र होकर व्याकुल हो उठती हैं।

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥ 43॥

"हे गुणवती, हिमालय की ओर से जो हवा दक्षिण की ओर चलती है; जो देवदारु द्रुमों के किसलय-पुट को भेद करने के कारण उसके क्षरित दुग्ध से सुगन्धित बनी होती है और हिमालय की तुषार-राशि के स्पर्श से शीतल बनी रहती है, उसे भी मैं हृदय से लगाता हूँ इस आशा से कि इसने तुम्हारे अंगों का स्पर्श किया होगा और मैं भी कथंचित् उसका स्पर्श पाकर धन्य हो सकूँगा।

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ 44 ॥

"हे चपलनेत्रे, मैं मन-ही-मन यह मनाया करता हूँ कि रात्रि के लम्बे-लम्बे तीन प्रहर किसी तरह क्षण-भर के समान हो जायँ, और दिन की तपिश हमेशा के लिए मन्द हो जाय, परन्तु मेरी यह दुर्लभ इच्छा कभी पूरी नहीं होती; और उस पर तुम्हारी वियोग-व्यथा के द्वारा पैदा हुई विरह की यह कड़ी आँच मुझे कहीं का नहीं रहने दे रही है। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि कहाँ जाऊँ। किसकी शरण लूँ, कौन मुझे इससे बचायेगा ! हाय प्रिये, मुझे इस जलन ने अशरण बना दिया है। ऐसा जान पड़ता है जैसे मैं अनाथ हो गया हूँ; न कोई सहारा देनेवाला है न ढाढ़स ही।"

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ 45 ॥

इतना कहने के बाद यक्ष ने दीर्घ निःश्वास लिया कि यह मैं क्या कह रहा हूँ ! ये सारी बातें क्या प्रिया के कोमल चित्त को और भी नहीं झुलसा देंगी ? मेरे इस दैन्य की कहानी सुनकर वह क्या और भी व्याकुल नहीं हो उठेगी ? यह भी कोई बात हुई ! अपने इस दुःख की गाथा सुनाकर मैं क्या कुछ ऐसा नहीं कर रहा हूँ जो पहले ही व्याकुल चित्त को और भी उन्मथित कर दे, और भी विक्षेप-कातर बना दे, और भी हाहाकार का शिकार बना डाले ? "ठहरो मित्र, यह मैं अनुचित कर रहा हूँ। मेरी दीन असहायावस्था को सुनकर वह विक्षिप्त हो जायेगी। तुम उससे ऐसा कहना कि हे कल्याणि, तुम्हारे निरन्तर चिन्तन से मेरी कोई हानि नहीं हो सकती, क्योंकि तुम कल्याणमयी हो। तुम्हें सदा अपने चित्त में प्राप्त करते रहना परम कल्याण का हेतु है। मैं सोच-विचारकर अपने हृदय को ढाढ़स भी बँधा लेता हूँ, इसीलिए तुम मेरे बारे में अधिक चिन्ता न करना। तुम्हारी-जैसी संजीवनी बूटी मेरे चित्त में निरन्तर कल्याण को उद्बोधित करती रहती है। हे मंगलमयि, मैं तुम्हारी बातों के स्मरण से ढाढ़स पाता हूँ, तुम्हारा चिन्तन ही मेरा शरण-दाता है। तुम मेरे लिए अधिक दुःखी न होओ। जिस चित्त में तुम्हारा निवास है वह अपना सहारा आप ही है, इसमें कातर होने की कोई बात नहीं। व्याकुल मत होना प्रिये, दुनिया में ऐसा कौन है जिसे सदा सुख ही मिलता है और फिर ऐसा भी कौन है जिसे एकान्त दुःख ही मिलता रहता हो ! गाड़ी के पहिये के चक्के के समान मनुष्य की दशा कभी ऊपर उठती है, कभी नीचे गिरती है।

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।। 46 ।।

"प्रिये, शीघ्र ही भगवान् विष्णु नाग-शय्या से उत्थित होंगे। कार्त्तिक शुक्ल-पक्ष की एकादशी अब बहुत दूर नहीं है। उसी दिन भगवान् विष्णु समस्त देवताओं के साथ निद्रा-लीला से मुक्त होते हैं, इसीलिए समस्त भुवन में वह तिथि-देवोत्थानी एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है। उसी दिन मेरे शाप का अवसान हो जायेगा। शेष चार महीने किसी प्रकार आँख मूँदकर बिता देने हैं। फिर तो हम दोनों वियोग-काल में सोची हुई सारी अभिलाषाओं को पूरा करेंगे। उस समय कार्त्तिक की शुक्लपक्ष की रात्रियाँ शरत्कालीन चन्द्रमा की सुहावनी किरणों से भास्वर बनकर प्रकट हुई रहेंगी, और हमारे चित्त का अभिलाष-तरंग उनके साथ अपना पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर लेंगी। आठ मास बीत गये तो चार मास और बीत ही जायेंगे।"

यक्ष ने मेघ के चकित मुखमण्डल की ओर देखा। समझ गया कि मेघ क्या सोच रहा है। अभी तो आषाढ़ का प्रथम दिवस है। कार्त्तिक के शुक्लपक्ष की एका-दशी के आने में निश्चित रूप से चार से अधिक महीने लगेंगे। "तुम ठीक कह रहे हो मित्र, परन्तु जब तक तुम अलकापुरी पहुँचोगे, तब तक आषाढ़ शुक्लपक्ष की एकादशी अवश्य आ गयी रहेगी। उस दिन मेरे शाप के केवल चार ही महीने बाकी रहेंगे। जो विरहिणी एक-एक क्षण और एक-एक मुहूर्त्त गिनकर दिन काट रही है, उसे यथासमय विरह-काल की सीमा को कम करके बताना ही उचित है। तुम आज से हिसाब मत करो। जिस दिन पहुँचोगे, उस दिन से हिसाब करना ठीक होगा। चार मास, सिर्फ चार मास!"

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शाङ्‌र्गपाणौ
शेषान्मासान्गम्य चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ।। 47 ।।

सँदेशा तो कह दिया गया। परन्तु इतनी बात तो कोई छलिया भी जाकर कह सकता है। कवि लोग कल्पना करके तो नित्य ही विरहियों की दशा का चित्रण किया करते हैं। यक्ष ने सोचा कि, बुद्धिमती यक्षपत्नी मेघ को कहीं वंचक न समझ ले। क्या सबूत है कि सचमुच ही यह उसके पति के पास से ही आ रहा है। घर में अनायास घुस जानेवाले वंचकों को तो बात बनाने की कला खूब आती है। नहीं, मेघ को कोई चिह्न देना होगा, कोई सहिदानी देनी होगी। कुछ ऐसा अभिज्ञान देना होगा जो निश्चित रूप से सिद्ध कर सके कि यह मेघ उसके पति के यहाँ से आ रहा है। कोई ऐसी बात, जिसे दो ही व्यक्ति जानते हैं: यक्ष और उसकी प्रिया। यक्ष ने मेघ से कहा—"मित्र, तुम इतना और कह देना। कहना कि हे अबले, तुम्हारे प्रिय ने यह भी कहलाया है कि एक बार जब तुम मेरे गले से लगी हुई शय्या पर सो रही थीं, उस समय तुम अचानक जोर से चिल्ला पड़ीं और सिसकी

भरकर रोती हुई जाग पड़ीं। जब मैंने बार-बार रोने का कारण पूछा तब तुमने आनन्द की हँसी को अपने भीतर ही रोक लिया, मैंने केवल तुम्हारे अधरों पर लगी हुई हल्की स्मित-रेखा से ही अनुमान लगाया। उस दबी हुई ईषद् विकसित मन्द मुस्कान के साथ तुमने कहा कि, 'छलिया, मैंने स्वप्न में देखा कि तुम किसी दूसरी स्त्री के साथ रमण कर रहे हो, इसीलिए एकाएक रो पड़ी।'

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥ 48 ॥

"हे चकितनयने, इस सहिदानी से ही तुम समझ लेना कि मैं सकुशल हूँ। दूसरों के कहने से मेरे ऊपर अविश्वास मत कर बैठना। न जाने लोग क्यों कहा करते हैं कि वियोग-काल में प्रेम क्षीण हो जाता है। ऐसा कहनेवाले न तो प्रेम का सच्चा स्वरूप ही जानते हैं, न विरह के अद्भुत उन्नायक गुणों का स्वरूप ही। सच्ची बात तो यह है कि जब मनचाही वस्तु नहीं मिलती, तभी उसके पाने के लिए चित्त की व्याकुलता बढ़ जाती है। रस उपचित होने लगता है और प्रेम राशीभूत होकर समृद्ध हो उठता है। रम्य वस्तु के प्रति देखते रहने की जो असाधारण चाह है उसे ही प्रेम कहते हैं, उसकी चिन्ता को 'अभिलाषा' कहते हैं, उसी का संग पाने की बुद्धि को 'राग' कहते हैं, उसकी ओर ढरक पड़ने की क्रिया को 'स्नेह' कहते हैं, उसके वियोग को सहन न कर सकने की दुर्बलता प्रेम कहलाती है। यह सब तो बिछोह की अवस्था में ही दीप्त और भास्वर होकर प्रकट होते हैं। जो कहते हैं कि विरह में प्रेम क्षीण हो जाता है, वे प्रेम के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। विरह राशीभूत प्रेम का प्रेरक है, उसका माहात्म्य अपरम्पार है।

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्यपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ 49 ॥

"हे मेघ, प्रथम विरह के उत्कट शोक से व्याकुल बनी हुई अपनी उस सखी को आश्वस्त करने के बाद उसे ढाढ़स बँधाकर और उसका कुशल-समाचार और पहचान लेकर तुम जल्दी ही मेरे पास लौट आना। लौटना आसान नहीं है। भगवान् त्रिलोचन के महावृषभ के द्वारा जिस कैलास पर्वत की चोटियाँ उखाड़ दी गयी होंगी, उसके भुवनमोहन गौरव और रूप को देखकर जल्दी लौट आना सरल नहीं है; फिर भी तुम पर्वत से लौटना अवश्य। मुझे भी तो ढाढ़स दिलाना है मित्र, मेरा भी तो प्राण व्याकुल है। प्रातःकाल खिले कुन्द-कुसुम के समान यह भी शिथिलवृन्त हो गया है, कभी भी चू पड़ सकता है। इन प्राणों की रक्षा करना भी तो तुम्हारा कर्त्तव्य है! इसलिए कह रहा हूँ कि लौटना यद्यपि कठिन है, तथापि भगवान् त्रिलोचन के वृषोत्खात कूट शैल से लौटना अवश्य। वहीं रम न जाना।

अपने इस दुखी मित्र के प्राणों की रक्षा का भी ध्यान रखना।

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः॥ 50॥

"हे सौम्य, तुमने अपने इस बन्धु का यह काम करना स्थिर कर लिया न! तुम्हारे मन में कोई दुविधा तो नहीं है? मेरे इस प्रश्न का यह मतलब न समझना कि मैं तुमसे कोई प्रतिवचन चाहता हूँ। तुम्हारी धीरता और परोपकार बुद्धि के विषय में मुझे रंचमात्र भी सन्देह नहीं है। खूब अच्छी तरह जानता हूँ मित्र, कि पपीहे जब तुमसे जल माँगते हैं तो चुपचाप तुम उन्हें जल दे देते हो। वहाँ किसी प्रकार के प्रतिवचन और प्रतिज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं होती। यह तो सज्जनों की रीति ही है कि जब कोई उनसे किसी बात की याचना करता है तो वे काम पूरा करके ही उत्तर देते हैं। मैं जानता हूँ कि तुमसे प्रतिवचन लेने की कोई आवश्यकता नहीं, तुम मेरा काम अवश्य करोगे। इतना मैं अवश्य कहना चाहता हूँ कि मैं अपने को अपराधी समझ रहा हूँ। तुम्हारे-जैसे महान् मित्र से इस प्रकार का दौत्य कर्म कराना अपराध नहीं तो क्या है? मैं अपनी प्रार्थना का अनौचित्य समझ रहा हूँ। घर से इतनी दूर इस रामगिरि पर कोई और दिखायी भी तो नहीं देता! चाहे मित्रता के नाते, चाहे मेरे विरहकातर चित्त पर तरस खाकर मेरा इतना-सा काम अवश्य कर देना। फिर तुम मस्तमौला हो, यथेच्छ घूमा करते हो, न ऊधो का लेना न माधो का देना! तुम्हारे-जैसे फक्कड़ से कोई काम कराना, तुम्हें निश्चित अवधि के बन्धनों में बाँधना बड़ा ही अनुचित है, लेकिन मेरी लाचारी की ओर देखो, मेरे अशरण भाव पर दृष्टि डालो, और अपने परोपकार-व्रत का ध्यान करो। बन्धन में थोड़ा पड़ना अवश्य है। इतना-सा काम कर लेने के बाद तुम मौज में जहाँ चाहो घूमो, जिन देशों को देखना चाहो देखो, एवं मस्ती और उल्लास की जिन्दगी बिताओ। मैं प्रतिदान में तुम्हें दे ही क्या सकता हूँ! मेरे पास केवल कातर चित्त की कृतज्ञता है, मैं केवल भगवान् से निरन्तर यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि मुझ पर जो बीत रही है, वह तुम पर कभी न बीते। तुम्हारी इस विद्युत्प्रिया के साथ तुम्हारा कभी वियोग न हो। परमशिव तुम्हारी समृद्धि दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ाते रहें और तुम्हारी अंकशायिनी विद्युल्लता क्षण-भर के लिए भी तुमसे अलग न हो।

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिपु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥ 51॥
एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।

इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ 52 ॥

मेघदूतस्य सौष्ठवम्

येन संजीवितं काव्यं दुर्व्याख्याविषमूर्च्छितम् ।
सुकवेः कालिदासस्य मल्लिनाथं नमामि तम् ॥ 1 ॥
शास्त्रैकमतिना तावत् सुधीया तेन सूरिणा ।
नामूलं लिखितं किंचित् नानपेक्षितमेव वा ॥ 2 ॥
त्यक्तं शास्त्रार्थविदुषा त्वीषन्मूलं रसान्वितम् ।
स्तोकानपेक्षितं चाथ विदग्धजनवांछितम् ॥ 3 ॥
रससारं सुगूढार्थं यथामति विचिन्वता ।
शास्त्रज्ञानविहीनेन व्योमकेशेन शास्त्रिणा ॥ 4 ॥
निबद्धा विमला व्याख्या रसभावैकदृष्टिना ।
स्वान्तःसुखसमाहर्त्र्या श्लक्षणया लोकभाषया ॥ 5 ॥
क्व कालिदासस्य गिरः गूढार्था रसनिर्भराः ।
क्व चाल्पविषया ह्यस्य मुग्धाऽज्ञानवती मतिः ॥ 6 ॥
अहो सुमहदस्त्यस्य मेघदूतस्य सौष्ठवम् ।
यद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रलोभ्यते ॥ 7 ॥
सरसेन सभावेन श्रद्धया चालितेन च ।
अनेनागलभयत्नेन प्रीयतां रसिकोत्तमः ॥ 8 ॥

कालिदास की लालित्य योजना

प्रथम संस्करण की भूमिका

मुझे कालिदास के सम्बन्ध में दो व्याख्यान देने का अवसर मिला था। ये व्याख्यान अलग-अलग आयोजित किये गये थे। कालिदास समारोह के समय उज्जैन में 'कालिदास की प्रसाधन-सामग्री' पर और पंजाब सरकार के भाषा विभाग के समारोह पर 'कालिदास की लालित्य योजना' पर। इन दोनों व्याख्यानों को नये सिरे से फिर से लिखकर यह पुस्तक बनी है। चि. मुकुन्द के अत्यन्त आग्रह के कारण ही इन व्याख्यानों को नया रूप दे सका। परन्तु यदि चि. पुरुषोत्तम ने रात-दिन करके लिखा न लिया होता तो कदाचित् ये यूँ ही पड़े रहते। इसलिए इस पुस्तक को प्रकाश में आने का श्रेय इन दोनों आयुष्मानों को ही है। पुस्तक अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके अब प्रकाशित हो रही है, यह मेरे लिए सन्तोष की बात है परन्तु वास्तविक परितोष तो तभी होगा जब वह सहृदय पाठकों को कुछ आकृष्ट करने में समर्थ होगी। जिन दो समारोहों की ऊपर चर्चा की गयी उनके आयोजकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। उन्हीं की प्रेरणा से कुछ इस दिशा में सोचने का अवसर मिला। फिर जिन विद्वानों की कृतियों से सहायता ली गयी उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। यदि इस प्रयास में कालिदास की लालित्य योजना के प्रति सहृदयों की कुछ जिज्ञासा उद्बुद्ध हुई तो इसे सार्थक मानूँगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

राष्ट्रीय कवि कालिदास

कवि तो बहुत होते हैं पर ऐसे कवि कम ही होते हैं जिन्हें राष्ट्र की समग्र सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति देने की कला पर अधिकार होता है। कालिदास ऐसी ही राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना को मूर्त्ति देनेवाले महान् कवि हैं। भारतवर्ष के ऋषियों, सन्तों, कलाकारों, राजपुरुषों और विचारकों ने जो कुछ उत्तम और महान् दिया है, उसके सहस्रों वर्ष के इतिहास का जो कुछ सौन्दर्य है, उसने मनुष्य को पशु-सुलभ धरातल से उठाकर देवत्व में प्रतिष्ठित करने की जितनी विधियों का सन्धान किया है उन सबको ललित-मोहन और सशक्त वाणी देने का काम कालिदास ने किया है। किसी पुराने कवि ने कालिदास का परिचय देते हुए कहा था कि मैं जब सच्चे कवियों की गिनती करने लगता हूँ तो कनीनिका (सबसे छोटी उँगली) पर पहला नाम कालिदास आता है, पर दूसरे नम्बर पर अनामिका नामक उँगली है जिस पर कोई और नाम सूझता ही नहीं; क्योंकि आज तक उस टक्कर का कोई दूसरा कवि हुआ ही नहीं। यह देखकर लगता है कि इस उँगली का नाम जो 'अनामिका' अर्थात् बिना नाम की उँगली दिया गया है सो बिल्कुल ठीक ही है :

> पुराकवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
> अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

यह बात बहुत दूर तक सत्य है। भारतवर्ष बहुत विशाल देश है—स्थान में भी और काल में भी। यह विशाल भूखण्ड भौगोलिक दृष्टि से सब प्रकार से एक अविभाज्य इकाई है। उत्तर में पर्वतराज हिमालय दोनों भुजाओं से पूर्व और पश्चिम समुद्र को छूता हुआ इस प्रकार छाया हुआ है मानो पृथ्वी का मानदण्ड हो। कालिदास ने कहा है—"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः। पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।" हिमालय के प्रदेशों को कालिदास ने देवभूमि कहा है—पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः और हिमालय पर्वत को देवतात्मा। रघुवंशियों ने जिस विशाल देश पर शासन किया

था वह कालिदास की भारतभूमि है। उन्होंने उसका वर्णन करते हुए कहा है—'आसमुद्रक्षितीशानाम्'—समुद्र तक फैली हुई पृथ्वी के शासक। सो, देवतात्मा नगाधिराज हिमालय द्वारा विभाजित समुद्र-मेखला भारतभूमि ही वह महान् राष्ट्र है जो कालिदास की वाणी में अपने सम्पूर्ण आध्यात्मिक और आधिभौतिक वैभव के साथ प्रकट हुआ है। इतिहास में तो यह देश और भी विपुल और विचित्र है। कालिदास के आविर्भाव-काल तक बाहर से अनेक मानवमण्डलियाँ इस देश में आ चुकी थीं। कुछ आक्रामक रूप में आयीं और कुछ इस देश की उर्वराभूमि में बस जाने की कामना से आयीं। उनके विविध प्रकार के आचार-विचार, नृत्य, गीत, उत्सव-आयोजन आदि ने इस महान् देश की जनमण्डली के वैचित्र्य में वृद्धि की थी। ये मानवमण्डलियाँ इस देश का अंश बन गयीं। यहाँ के मनीषियों के आध्यात्मिक विचारों से वे प्रभावित हुईं, परन्तु इस देश की रहन-सहन को प्रभावित करने में भी समर्थ हुईं। यह देश मानो विधाता की ओर से ही समस्त धर्म और संस्कृतियों का संगमस्थल बनाया गया था। नाना आचार-विचारों और विश्वासों की मिलनभूमि होने के कारण इस देश की संस्कृति में अनेक प्रकार के वैचित्र्य आये। काव्य में, चित्र में, मूर्त्ति में, वास्तु में, नृत्य-गीत-वादित्र में और नाटक आदि चाक्षुष कलाओं से नवीन बातों का समावेश होता गया और एक प्रकार की प्रच्छन्न गतिशीलता का प्रादुर्भाव हुआ। इस बहु-विचित्र जनमण्डली के सर्वोत्तम को रूप—ललित रूप—देना बड़ी मर्मभेदिनी दृष्टि और अर्थग्राहिका शक्ति का परिचायक है। कालिदास में यह शक्ति पूरी मात्रा में थी। इसीलिए वे सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना को ललित रूप देने में कृतकार्य हुए।

कालिदास जिस युग में आविर्भूत हुए थे उसके पहले भारतवर्ष के अनेक महिमान्वित शास्त्रों का उद्घोष हो चुका था, कई धार्मिक और आध्यात्मिक आन्दोलनों का उद्भव और विलय हो चुका था, अनेक कलाएँ प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर रूढ़िबद्धता की ओर अग्रसर हो चुकी थीं। वैदिक कर्मकाण्ड एक ओर उपनिषदों के अद्वैतवाद और दूसरी ओर बौद्ध और जैन धर्म के वेदविरोधी आन्दोलनों की प्रतिक्रिया का सामना कर चुका था, रामायण और महाभारत के शक्तिशाली कथा-साहित्य के बाद पौराणिक और निजन्धरी कथाओं का विपुल साहित्य निर्मित हो चुका था, ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रतिपादित कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म के बाद अन्तरात्मदर्शन के पक्षपाती सांख्य और योग के दार्शनिक सिद्धान्त जड़ जमा चुके थे, यवन शिल्पों का प्रवेश और तज्जन्य शक्तिशाली प्रतिक्रिया का उन्मेष हो चुका था, भारतवर्ष नयी राष्ट्रीयता के उत्साह से भरपूर था। उपनिषदों से ज्ञानमार्गी अद्वैत साधना का, रामायण से मानवीय आदर्शों से मुखरित आदर्शवाद का, महाभारत से बौद्धिक चरित्र-विकास का, धर्मसूत्रों और स्मृतियों से ब्राह्मण धर्मानुमोदित आचारसंहिता का, पुराणों से विभिन्न मानव-मण्डलियों में परिव्याप्त मिथक-कल्पना के समृद्ध तत्त्वों का, भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से नाटकीय व्यवस्था का, पाशुपत आगमों से सृष्टि-रहस्य का, सांख्य-योग से अन्तः-

केन्द्रित चित्तसमाधि का सार लेकर उन्होंने अपना जीवन-दर्शन रूपायित किया था। 'कुमारसम्भव' में पार्वती के मनोहर रूप का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा था कि ऐसा जान पड़ता है कि ब्रह्मा संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य एक ही स्थान पर देखना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने उपमा देने के लिए व्यवहृत होनेवाली सभी वस्तुओं को यत्नपूर्वक एकत्र कर उनके सौन्दर्य को यथास्थान विनिवेशित करके पार्वती का निर्माण किया था :

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥

ठीक यही बात कालिदास की कविता के बारे में कही जा सकती है। भारतीय धर्म, दर्शन, शिल्प और साधना में जो कुछ उदात्त है, जो कुछ दृप्त है, जो कुछ महनीय है, और जो कुछ ललित और मोहन है उनका प्रयत्नपूर्वक सजाया-सँवारा रूप कालिदास का काव्य है। यही कारण है कि सैकड़ों वर्ष तक उनकी कविता ने हमारे इस महान् देश को आनन्द और प्रेरणा दी है। वाल्मीकि और व्यास की कविता के समान ही उनकी कविता भी शक्तिशाली और महनीय चरित्रों की सृष्टि करने में समर्थ हुई है। सुकुमारता के साथ सुशीलता का, मानसिक मृदुता के साथ चारित्रिक दृढ़ता का, अपार वैभव के साथ विपुल वैराग्य का—सौन्दर्य के साथ धर्म का—ऐसा मणिकाञ्चन योग संसार के साहित्य में विरल है। पार्वती का रूप वर्णन करते समय उन्होंने मानो अपनी कविता के रूप की ही बात कही थी—'ध्रुवं वपुः काञ्चन पद्मधर्मि यन्मृदु प्रकृत्या च संसारमेव च। (पार्वती का शरीर काञ्चन पद्मधर्मि था, वह प्रकृति से ही जितना मृदु था उतना ही संसार भी था)। योगिराज श्री अरविन्द ने लिखा है कि "उनकी काव्य-सृष्टि रूप, शब्द, रस, घ्राण, स्पर्श, स्वाद और कल्पना के आनन्दों के ताने-बाने से बनी हुई है। इसमें उन्होंने भावात्मक, बौद्धिक, रसात्मक आदर्श के अत्यन्त मनोज्ञ कुसुम उगा दिये हैं। उनकी काव्य-रचना की दृश्यावली शोभन वस्तुओं की मनोरम स्वर्गस्थली है। उन सभी में पार्थिव सुषमा के केवल एक अधिनियम का शासन है। नैतिकता रसमय बना दी गयी है; बुद्धि सौन्दर्य-भावना से ओत-प्रोत और शासित हो गयी है; और फिर भी, वह कविता मन के दुर्बल द्रव में नहीं सन्तरण करती, ऐन्द्रिय विवशता में घुल-मिलकर अपनी सत्ता विलीन नहीं कर देती। इन्द्रियपरक सामान्य कविता के समान अपने ही माधुर्य से छककर यह कविता-कामिनी निद्रालस पलकों और घुंघराले केशों और शिथिल चरित्र के भार से बोझिल नहीं हो गयी है। कालिदास अपनी शैली के परिमार्जन, पदावली की सटीकता एवं शक्तिमत्ता, तथा अपनी सतर्क कलात्मक जागरूकता के कारण इस दुर्बलता से बच गये हैं।" परन्तु कालिदास के विषय में और भी आगे बढ़कर कहा जा सकता है कि उन्होंने सहजात मानस-विकारों का उदात्तीकरण किया है, उसे विलासिता से ऊपर उठाकर अध्यात्म तक पहुँचाया है। उन्होंने रूप को पार्थिव जड़ता से मुक्त किया है। शिवजी के मुख से उन्होंने

पार्वती से कहलवाया है— हे पार्वति, यह जो कहा जाता है कि सुन्दर रूप पापवृत्ति के लिए नहीं हुआ करता वह वचन आज सत्य सिद्ध हुआ है—'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।' कविवर रवीन्द्रनाथ ने ठीक ही कहा है कि "कालिदास ने अनाहूत प्रेम के उन्मत्त सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की है; उसे तरुण लावण्य के समुज्ज्वल रंगों से चित्रित किया है। किन्तु इसी उज्ज्वलता में उन्होंने अपना काव्य समाप्त नहीं किया। महाभारत के सारे कर्मों का अवसान जैसे महाप्रस्थान में हुआ, वैसे ही 'कुमारसम्भव' में सारे प्रेम का वेग मंगल-मिलन में समाप्त हुआ है।···कठिन तप और दुःसह विरह-व्रत द्वारा जो मिलन सम्पन्न हुआ है उसकी प्रकृति ही भिन्न है। यह मिलन, सौन्दर्य के सारे बाहरी आडम्बरों को छोड़कर, निर्मल वेश में कल्याण की कमनीय दीप्ति से जगमगा उठा है।" 'शकुन्तला' नाटक की भी यही कहानी है। 'कुमारसम्भव' और 'शकुन्तला' दोनों में ही अनाहूत रूपासक्ति भस्म होती है और तपस्या की ज्योति से विशुद्ध प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होती है। रूपासक्ति का अविचारित आक्रमण, काम है; तपस्या द्वारा शोधित उसकी निर्मल कान्ति, प्रेम है। कालिदास ने भारतीय मनीषा के सुचिन्तित तत्त्ववाद को मोहन रूप दिया है।

'कुमारसम्भव' की ब्रह्मा-स्तुति और 'रघुवंश' की विष्णु-स्तुति में कालिदास ने उपनिषदों का सार दे दिया है। भारतवर्ष के तत्त्वचिन्तन की ऐसी मनोरम प्रतिमा अन्यत्र दुर्लभ है।

कहने का अभिप्राय यह है कि कालिदास की वाणी से भारतवर्ष का महान्, उदात्त, और शान्तशोभन रूप मुखरित हुआ है। उन्होंने भारतवर्ष की अन्तरात्मा को वाणी दी है। उस वाणी में इस देश की अपूर्व मनीषा और महान् जीवन आदर्शों को रूप मिला है। वे सही अर्थों में हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

आज संसार के मनीषी कालिदास की इस महिमा को स्वीकार करते हैं। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में तीन प्रकार के कवियों की चर्चा की है—कुछ ऐसे होते हैं जिनकी कविता अपने घर तक ही सीमित रह जाती है, कुछ ऐसे होते हैं जिनकी रचना मित्रमण्डली तक पहुँच जाती है, परन्तु ऐसे कृती कवि थोड़े ही होते हैं जिनकी कविता सभी के मुखों पर पदन्यास करती हुई विश्वकुतूहली की भाँति दुनिया-भर में फैल जाती है :

> एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यमन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
> न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत् कस्यापि संचरति विश्वकुतूहलीव ॥

कालिदास की कविता ऐसी ही है। वह आज सारे संसार के सहृदयों को मुग्ध बना रही है पर यह नहीं भूला जा सकता कि उसमें भारतवर्ष का जो कुछ सर्वोत्तम है, उसी का स्वर गूँज रहा है।

कालिदास की रचनाएँ

कालिदास कब इस देश में उत्पन्न हुए, इस विषय में पण्डितों में मतभेद है। परम्परा-क्रम से उन्हें सन् ईसवी के पूर्व की प्रथम शताब्दी का कवि माना जाता है, परन्तु आधुनिक विद्वान् उन्हें गुप्तकाल का कवि मानने लगे हैं। यद्यपि उनके समय, जन्म-स्थान, कुल-गोत्र आदि के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं, पर इस बात से किसी का मतभेद नहीं है कि वे हमारे देश के शीर्षस्थानीय कवियों में हैं। वाल्मीकि और व्यास के बाद आसेतु हिमाचल जो कवि सबसे अधिक सम्मान-भाजन है वह कालिदास ही हैं। नये और पुराने आलोचक उन्हें निश्चित रूप से भारत का श्रेष्ठ कवि मानते हैं। उनके सात ग्रन्थ प्रामाणिक माने गये हैं जिनमें तीन नाटक हैं और चार काव्य। तीन नाटकों के नाम हैं—'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल'। चार काव्य हैं--'ऋतुसंहार', 'मेघदूत', 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव'। 'कुमारसम्भव' के केवल आठ सर्ग ही प्रामाणिक समझे जाते हैं। इन नाटकों और काव्यों में कालिदास ने भारतवर्ष की समूची साधना का निचोड़ रख दिया है। सम्पूर्ण भारतवर्ष इनका सम्मान करता है। बहुत प्राचीन काल से ही उन्हें राष्ट्रीय कवि की मर्यादा मिली हुई है। उनकी महिमा के बारे में कभी भी सन्देह नहीं किया गया है। सैकड़ों वर्ष तक कालिदास ने भारतीय मनीषा को प्रेरणा दी है और आज भी दे रहे हैं। विभिन्न रुचि के विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इस महान् कवि के साहित्य का अध्ययन किया है। अब भी वह प्रक्रिया चल रही है। चलती भी रहेगी। इस पुस्तक में उनकी लालित्य योजना पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

परन्तु इस विषय में विचार करने के पूर्व संक्षेप में उनकी कृतियों का परिचय पा लेना आवश्यक है। आगे यही प्रयास किया जा रहा है।

ऋतुसंहार

विद्वानों ने 'ऋतुसंहार' को कालिदास की आरम्भिक कृति माना है। कुछ तो ऐसे लोग भी हैं जो इसे कालिदास की कृति मानना ही नहीं चाहते। इसका कारण यह बताया जाता है कि यह कविता कालिदास के अन्य ग्रन्थों में पायी जानेवाली नैतिक विशेषताओं से बिल्कुल शून्य है। इसमें किसी प्रकार का वैचित्र्य नहीं है और किसी प्रकार का जीवन-दर्शन इसमें अभिव्यक्त नहीं हुआ है। कालिदास के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने इस ग्रन्थ पर टीका भी नहीं लिखी। यह भी इन विद्वानों के लिए एक ऐसा पक्का प्रमाण है जो यह सिद्ध करता है कि 'ऋतुसंहार' कालिदास की रचना नहीं है। परन्तु अधिकतर विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। अधिक-से-अधिक वे इतना मानने को तैयार हैं कि यह उनकी आरम्भिक कृति है।

निस्सन्देह यह काव्य कालिदास के ही हाथ का लिखा हुआ है। इसकी भाषा, इसकी सहज प्रसन्न शैली और जीवन-रस के प्रति इसमें अभिव्यक्त उल्लास-मुखर मनोभाव निश्चित रूप से बताते हैं कि यह कालिदास की ही रचना है।

'ऋतुसंहार' में ऋतुओं का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। यहाँ प्रकृति कोई तटस्थ बाहरी सत्ता नहीं है बल्कि मनुष्य की आशा-आकांक्षा के साथ निरन्तर ताल मिलाकर चलनेवाली वैसी ही अविछेद्य संगिनी है, जैसी वह कालिदास के अन्य ग्रन्थों में मिलती है। कठोर ग्रीष्म हो या कोमल वसन्त, आह्लादायिनी वर्षा हो या वेधक हेमन्त, अनुराग-प्रबोधक शरत् हो या मुरझा देनेवाला शिशिर, सर्वत्र प्रकृति मनुष्य की सहचरी के रूप में आती है, उसके अनुराग को दीप्त करती है, वियोग को उकसा देती है, आकांक्षा को तीव्र बनाती है और रमणेच्छा को उद्दीप्त करती है। युवक और युवतियों का विलास प्रकृति के साहचर्य से सौगुना वर्धित होकर प्रकट होता है। यद्यपि ग्रीष्म के दिन बड़े ही कष्टदायक होते हैं तथापि चन्द्रकिरणों से चमकती हुई रात्रियाँ विलासी और विलासिनियों के प्रेम में नवीन प्राण-शक्ति का सञ्चार करते हैं। इस भयंकर गर्मी में कमलों से भरे हुए और खिले हुए पाटल की गन्ध में बसे हुए जल में स्नान करना बहुत सुहाता है, चन्द्रमा की चाँदनी और मोतियों के हार सुख देते हैं। कालिदास विलासियों को आशीर्वाद देते हैं कि यह ऋतु तुम्हारे लिए, आनन्ददायक हो, ऐसा हो कि महल की ऊपरी छत पर ललित गीत के साथ सुन्दरियाँ आपका इस ऋतु में मनोविनोद करें :

> कमलवनचिताम्वु-पाटलामोदरम्य:
> सुखसलिलनिषेकैसेव्यचन्द्रांशुहार:।
> व्रजतु तव निदाघ: कामिनीभि: समेतो
> निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ।।

इसी प्रकार जल की फुहारों से भरे हुए बादलों के मतवाले हाथी पर चढ़ा हुआ, बिजली की पताका फहराता हुआ, बादलों की गरज के नगाड़े बजाता हुआ पावस राजसी ठाठ-बाट से पृथ्वी पर उतरता है। हरिणियों के मुँह की कुतरी हुई हरी-हरी घासों और नयी कोंपलोंवाले वृक्ष वनस्थली को आकर्षक बना देते हैं और अभिसारिकाएँ गरजते हुए बादलों से घनघोर बनी हुई रात्रि में भी अपने प्रेमियों का प्रसादन करने निकल पड़ती हैं, और जो लोग परदेश में गये हुए हैं उनकी प्रियाएँ माल्य आभरण एवं अनुलेपन आदि छोड़कर उदास हो जाती हैं। नयी केसर, केतकी और कदम्ब के नये फूलों की मालाएँ गूँथकर विलासिनियाँ अपने जूड़ों में बाँधती हैं और ककुभ के फूलों का झुमका कानों में पहन लेती हैं। वर्षा का मनोरम मेघ-गर्जन, चमकती विद्युल्लता, उमड़ते सरोवर, उल्लोल नदियाँ, कदम्ब और केसर आदि के फूल, धरती पर छायी हुई लाल-लाल वीरबहूटियाँ, मयूरों का उन्मद नर्त्तन, चातकों की व्याकुल पुकार, हंस-बलाकाओं का सोत्कण्ठ अभिसार—सब-कुछ विलासियों के लिए उत्तेजक मनोभाव और अननुभूत तृप्ति प्रदान

करते हैं।

और लो, यह काँस के वस्त्र पहने, प्रफुल्ल कमल के समान सुन्दर मुखवाली उन्मत्त हंसों की ध्वनि का नुपूर पहने, पके हुए धान-से मनोहर शरीरवाली, शरत् ऋतु नववधू के समान धरती पर उतर आयी। धरती काँस की झाड़ियों से, रात्रियाँ ठण्डी किरणवाले चन्द्रमा से, नदियों का पानी हंसों से, वनान्त सप्तच्छद पुष्पों से और उपवन मालती-सुमनों से सफेद हो गया। स्त्रियाँ अपनी घनी, घुँघराली, काली लटों में नवमालती की माला धारण करने लगीं और काञ्चन-कुण्डल के स्थान पर कानों में नील कमल पहनकर खिल उठीं। विलासिनियों ने मोतियों की माला, चन्दन रस, रशनाकलाप और कलनुपूरों से प्रेमियों का चित्त हरण करना शुरू कर दिया। कुमुदों के पुष्प, निर्जल सफेद बादलों की पंक्ति, निर्मल आकाश और स्वच्छ चन्द्रमा अनुराग को सौ-सौ गुना बढ़ाने लगा। कालिदास यहाँ भी विलासियों को आशीर्वाद देते हैं कि ऐसा हो कि यह विकच-कमलमुखी, फुल्लनीलकमलनयना, नवीन काशकुसुम-वसना, कुमुदरुचिरकान्ति यह शरदवधू कामिनी की भाँति तुम्हारे चित्त में अनुराग की नयी उमंगें तरंगित करे। यह आशीर्वाद हर ऋतु के प्रसंग में आता है।

फिर हेमन्त भी वैसा ही मनोरम है। नये शस्यों के अंकुर निकल आये, कामिनियों के मुख को उज्ज्वल बनानेवाले पुष्पपराग का जनक लोध्रकुसुम खिल उठा, धान पक गये, कमल मुरझा गये और हेमन्तकाल आ गया। कामिनियों ने नये वस्त्र धारण किये, नये गहने पहने और प्रेमियों के चित्त में उन्माद की झंझा बह गयी। इसी प्रकार शिशिरकाल भी युवकों और युवतियों के चित्त में उन्माद संचार करता है। यह ऐसा काल है कि कामिनियाँ कनक-कमल के समान मनोहर लाल-लाल सुन्दर अधरोंवाले, कान तक फैले हुए, रतनार शोभावाले नेत्रोंवाले मनोहर मुखों से ऐसी शोभा उत्पन्न करने लगीं कि ऐसा जान पड़ता है जैसे घर-घर में आकर लक्ष्मी बैठ गयी हो।

और अन्त में, वसन्त आता है। वसन्त क्या आया, प्रफुल्ल आम्रमंजरियों के पैने बाण लेकर, भ्रमरावली की प्रत्यंचावाले धनुष पर उन्हें सन्धान करके युवक प्रेमियों के चित्त को वेध देनेवाला कोई योद्धा ही आ पहुँचा। अद्भुत है यह वसन्त! सब प्रकार से सुन्दर वृक्ष फूलों से लद गये, तालाबों में कमल खिल उठे, पवन में सुगन्धि आ गयी, स्त्रियों में अनुराग-भावना संचरित हुई, सन्ध्या सुखदायक हो गयी और दिन रमणीय हो उठे। पुराने मोटे कपड़े छोड़ दिये गये, कुंकुमराग से रञ्जित महीन साड़ियाँ शरीरों पर जगमगा उठीं और प्रमदाएँ कानों में कर्णिकार, चंचल अलकों में अशोक तथा कवरी में नवमल्लिका की माला पहनकर घरों में 'जगर-मगर द्युति' फैलाने लगीं। कूजते हुए भौंरे, कूकते हुए कोकिल, पुष्पित शाखावाले आम्र वृक्ष, लाल-लाल पलाश, अनुरागियों के चित्त को चंचल बनाने लगे। सारा-का-सारा वसन्तकाल जिसमें सन्ध्याकाल रमणीय है, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में चटक आ गयी है, कोकिलों की कूक में मस्ती आ गयी है, पवन

सुगन्धित हो उठा है, मत्त भ्रमर गली-गली घूमने लगे हैं, फूलों के बाण धारण करनेवाले प्रेम देवता का रसायन ही हो उठा है।

इस प्रकार 'ऋतु संहार' अनुराग की अग्नि को प्रद्दीप्त करनेवाला काव्य है। पुष्प, लता, वृक्ष, पक्षी, नदी, सरोवर, आकाश, चन्द्रमा सभी युवजनोचित अनुराग को उद्दीप्त और मादक बनाते हैं। कालिदास ने इसमें किसी प्रकार जीवन-दर्शन तो नहीं दिया, परन्तु सारा काव्य मादक जीवन-रस से परिपूर्ण है।

मेघदूत

'मेघदूत' कालिदास का अत्यधिक लोकप्रिय काव्य है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बहुत सधे हाथों की रचना है। यह विरह का काव्य है। कर्त्तव्य से च्युत होने पर अपने स्वामी कुबेर द्वारा अभिशप्त एक यक्ष निर्वासित होकर रामगिरि पर आश्रय लेता है। उसे केवल सालभर के लिए ही निर्वासित होना पड़ा है। साल के कुछ महीने तो वह जैसे-तैसे काट लेता है, पर मेघों के घनघुम्मर काल में उसका चित्त व्याकुल हो जाता है और मेघ को ही दूत बनाकर वह अपनी प्रिया के प.स सन्देश भेजता है। कहानी बस इतनी-सी ही है, परन्तु कालिदास ने इतने ही में प्रकृति के प्रति अपने गाढ़ प्रेम को यक्ष के माध्यम से वियोग-व्याकुल भाषा में मुखर किया है। रामगिरि से अलकापुरी के मार्ग में विभिन्न स्थानों का वर्णन करते हुए उन्होंने मनुष्य के चिरन्तन विरह-व्याकुल भाव को ऐसी शक्तिशाली अभिव्यक्ति दी है कि संसार में यह काव्य अद्वितीय स्थान का अधिकारी माना जाने लगा है। यद्यपि यक्ष देवयोनि का व्यक्ति है, तथापि उसको बहाना बनाकर कालिदास ने मनुष्य के व्याकुल भावों को प्राणवन्त भाषा में प्रकट किया है। पद-पद पर प्रकृति इस मनोभाव के साथ सहानुभूति दिखाती है, उसे सहारा देती है, सहलाती है, शामक् मलह्म लगाती है।

मेघ को दूत बनाने का कोई तुक है ? धूम-ज्योति-सलिल और मरुत् का सन्निपात जड़ मेघ भला वह काम कर सकता है जो चतुर जीवन्त मनुष्य का करणीय है ? कालिदास इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि मेघों का दिखायी दे जाना कुछ ऐसा रहस्यमय व्यापार है कि जो लोग प्रियजन के साथ गले मिले रहते हैं वे भी, सुखी होकर भी, न जाने क्यों उत्कण्ठित हो उठते हैं, वियोगी की तो बात ही क्या है ! कोई नहीं जानता कि मेघों के घुमड़ने से यह औत्सुक्य भाव क्यों आता है। देवयोनि का यक्ष भी व्याकुल हो उठा, उसका चेतन-अचेतन का विवेक जाता रहा। प्रकृति मनुष्य के जीवन को किसी पर्दे के अन्तराल से प्रभावित करती रहती है। मेघ को वह अपने परम हितू सखा के रूप में देखता है। उसकी खुशामद करता है, अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्न करता है, प्रलोभन देता है और मन-ही-मन मान लेता है कि अब मेघ उसकी बात अवश्य मानेगा। माने भी क्यों नहीं ! सारी सृष्टि उसकी सहानुभूति पाने को तरसती है। वह सन्तप्त लोगों का शरणदाता है, प्रेमिकाएँ आँख बिछाकर उसकी प्रतीक्षा करती हैं, हंस-बलाका की कतारें उसके

दर्शनमात्र से व्याकुल होकर उसके पीछे भागने लगती हैं, धरती की गुप्त अभिलाषा अंकुरों के रूप में फूट पड़ती है, नदियाँ उसके मधुर मिलन के लिए उच्छ्वसित हो उठती हैं, पर्वत इस वरणीय अतिथि के स्वागत के लिए रोमाञ्चित हो उठते हैं—जड़ चेतन सभी में उसके दर्शन से रहस्यमयी व्याकुलता जाग उठती है। सबके चित्त को औत्सुक्य-व्याकुल करनेवाले मेघ से अधिक उपयुक्त सन्देश-वाहक कौन हो सकता है ?

यद्यपि मेघ को रास्ता बताने के बहाने ही सब-कुछ बताया जाता है, पर कालिदास की इन्द्रजाली भाषा और शैली भविष्य में होनेवाली घटनाओं को आँखों के सामने प्रत्यक्ष कर देती हैं। मेघ जब यक्ष-सन्देश लेकर उड़ेगा तो जो होगा वह प्रत्यक्ष होकर सामने आ जाता है। उसके श्रवण-सुभग गर्जन और नयन-सुभग रूप की महिमा अपरम्पार है। भ्रू विलास से अनभिज्ञ ग्राम-युवतियाँ उसे स्निग्ध दृष्टि से देखती हैं, क्योंकि वही उनकी कृषि को सफल बनाता है, रेवा नदी उसे सिर-आँखों उठा लेती है, कदम्ब के पुष्प उसकी सूचनामात्र से रोमांच-कण्टकित हो जाते हैं, ग्रीष्मताप-दग्ध वनस्थली मुकुलित हो उठती है, हिरण धमाचौकड़ी मचा देते हैं, सिद्धों और विद्याधरों में प्रियमिलन की अभिलाषा गाढ़ हो उठती है, मयूरियाँ आँसू-भरे नयनों से स्वागत करती हैं, पर्वतों पर उल्लास छा जाता है। मेघ को रास्ता बताते समय कालिदास विदिशा ले जाते हैं जहाँ वेत्रवती के भ्रू भंग-मनोहर मुख का चुम्बन उसे सुलभ होता है, नीचैः नामक पहाड़ियों पर पहुँचाते हैं जहाँ के शिलावेश्म (पत्थर के घर) विलासिनियों की मुख-मदिरा की महक उगलते रहते हैं, फूल चुननेवाली मालिनियों के बीच उपस्थित करते हैं जिनके श्रमबिन्दुओं के मार्जन करने का सुख उसे अनायास मिल जाता है और तब फिर अपनी प्रिय नगरी उज्जयिनी में ले जाते हैं। यह सब रास्ता बताने के बहाने होता है। उज्जयिनी के विशाल हर्म्यों की सुन्दरियों के लोल अपांग चितवन और निर्विन्ध्या के चटुल तरंगों से अभिव्यक्त अनुरागभाव का प्रलोभन देकर कालिदास ने मेघ को इस समृद्धिशाली नगरी में जाने को राजी किया है। अद्भुत है यह नगरी, मोहिनी है उसकी माया ! मेघ के पहुँचते ही सारसों का कलकूजन और भी व्याकुल हो उठता है, प्रातःकालीन कमलपुष्पों की सुगन्धि से आमोदित और शिप्रा तरंगों से शीतलित पवन अधीर प्रेमियों के समान चंचल और चाटुकार दिखायी देने लगता है, केश-संस्कार के लिए सुन्दरियों द्वारा आयोजित धूप-धूम खिड़कियों से निकलकर मेघ को मोटा-ताजा बना देते हैं, भवन-मयूर उन्मत्त-नर्त्तन से उसका स्वागत करते हैं, उसे भवन की ऊँची अटारियों पर विश्राम करने का उचित स्थान मिलता है। कालिदास यहाँ महाकाल का स्मरण करना नहीं भूलते। उज्जयिनी विचित्र विरोधों का सामंजस्य करके विराजमान है। एक ओर वहाँ भक्तों की आराधना है तो दूसरी ओर अभिसारिकाओं की साहसिक मिलन-यात्रा। इस प्रकार नदियों, पर्वतों, नगरियों और अरण्यानियों को औत्सुक्य-चंचल बनाता हुआ, सबको रसमय करता हुआ और सबका रस लेता हुआ मेघ अलकापुरी की ओर अग्रसर होगा। मेघदूत

के पूर्वार्द्ध में कालिदास ने प्रकृति के साथ जीवमात्र के अद्भुत रहस्यमय सम्बन्ध को बड़ी ही मार्मिक भाषा में जीवन्त रूप में उपस्थित किया है। यक्ष मेघ को रास्ता बताता है और प्रकृति सम्पूर्ण महिमा के साथ व्यक्त होती जाती है।

उज्जयिनी के बाद मेघ को चर्मण्वती नदी का भावोच्छ्वसित रूप देखने को मिलेगा, वह दशपुर, ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र होता हुआ कनखल पहुँचेगा जहाँ से गंगा हिमालय से धरती पर उतरती है, फिर क्रौंचद्वार और कैलास। सर्वत्र नदियाँ उससे मिलने को कातर हैं, वनस्थली सोल्लास स्वागत करने को प्रस्तुत है, वृक्ष और लताएँ प्रतीक्षा-विह्वल अवस्था में खड़ी हैं। मेघ जिधर से होकर निकलेगा उधर ही जीवन लहरा उठेगा, अनुराग की झंझा बह उठेगी, सरस आत्मनिवेदन हिल्लोलित हो उठेगा।

वहाँ से वह अलका पहुँचेगा। वहाँ उसे यक्षप्रिया का घर खोजने में विशेष आयास नहीं करना पड़ेगा। दूर से ही उस घर का विशाल तोरण दिखेगा, मरकत-शिला की सीढ़ियोंवाली वह वापी दिखायी देगी जिसमें सुवर्णकमल खिले होंगे, राजहंस हमेशा के लिए जमकर रह रहे होंगे। उस वापी के तट पर छोटा-सा तरुण मन्दार वृक्ष होगा। इन्द्रनील मणियों से बना क्रीड़ा-पर्वत होगा, कुरवक पुष्पों के वेड़े से घिरा माधवी मण्डप होगा और होंगे अशोक और वकुल के पेड़, जिनमें एक तो यक्षप्रिया के सनूपुर वामचरण की ताड़ना से खिल उठने का शौकीन होगा और दूसरा उसकी मुख-मदिरा के सेचन से। वहीं कहीं सोने की वासयष्टि पर यक्षप्रिया की सारिका बैठी होगी। सब-कुछ मोहन, सब-कुछ महनीय, सब-कुछ शालीन! यक्षप्रिया को पहचानना बहुत कठिन नहीं होगा। शोभा और विलास की उस नगरी में वह अकेली विरह-व्याकुला बैठी होगी। पर रूप उसका अब भी मनोहर होगा। वह कृश हो गयी होगी, केश उसके लटिया गये होंगे, चेहरा सूख गया होगा। बड़ी सावधानी से, बड़ी सुकुमार विधि से उससे उसके प्रेमी का सँदेशा सुनाना होगा। हड़बड़ी में कुछ कहने से अनर्थ हो सकता है। सँदेशा भी कैसा है? पत्थर को भी गला देनेवाला। वह एकान्त प्रेमी की व्याकुल व्यथा है, सन्तप्त हृदय का करुण क्रन्दन है। सँदेशे में पुरानी स्मृतियाँ, नयी अवस्था की दारुण वेदना है, आशाओं और आकुलताओं का समाचार है, पुनर्मिलन का आश्वासन है। कोई ऐसी बात नहीं है जो अन्य साधारण मनुष्यों के अनुभव से बाहर हो। सब-कुछ परिचित, सब-कुछ साधारण और फिर भी अनुभूति की तीव्रता से विद्ध। अनुभूति की यह तीव्रता उसमें नवीनता का संचार करती है। वह साधारण स्तर से उठकर असाधारण बनता है। कोई आश्चर्य नहीं कि लोगों ने अनुमान भिड़ाया है कि इसमें कुछ-न-कुछ कालिदास के व्यक्तिगत अनुभव अवश्य हैं।

काव्य के दो खण्ड हैं। पूर्व मेघ और उत्तर मेघ। इसकी योजना है—रास्ता बताने के बाद सँदेशा। लेकिन कालिदास को जल्दी नहीं मालूम पड़ती। यक्षप्रिया का पूर्ण रूप तभी निखरकर प्रकट हो सकता है जब उसे हम सम्पूर्ण वातावरण की पृष्ठभूमि में देखें। अलका का मोहन प्राकृतिक दृश्य, वहाँ के लोगों की विस्मयकारी

समृद्धि, वहाँ के वृक्ष, लता, सरोवर, वापी, देवालय, अधिदेवता, सबका परिचय आवश्यक है। वहाँ के कण-कण में व्याप्त मोहन सौन्दर्य, ललित कला, सुरुचिपूर्ण विलास लीला का शानदार वर्णन करके ही उस विरह-व्याकुला यक्ष प्रिया के कातर दुःख को समझा जा सकता है। जहाँ आनन्द और विलास बगरे फिरते हैं, जहाँ संगीत और काव्य उच्छलित होते रहते हैं, जहाँ केवल सुख-ही-सुख है, वहीं एक विरहिणी व्याकुल भाव से दिन गिन रही है। यक्षप्रिया की सुकुमार चारुता के इर्द-गिर्द उल्लास तरंगित हो रहा है। मेघ को उस वातावरण में जाना है और यक्षप्रिया को उसके व्याकुल प्रेमी की बातें सुनानी हैं। रास्ते का वर्णन अग-जग में व्याप्त व्याकुल वेदना को प्रकट करता है और अलका की समृद्धि और विलास एक ओर यक्ष के हृदय में व्याप्त पूर्व-अनुभूतियों का मादक वातावरण प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर यक्षप्रिया के 'पानी-बिच-मीन-पियासी' पीड़ा की दारुण अवस्था का आभास देता है। सब मिलाकर 'मेघदूत' चिरन्तन मानव-हृदय की व्याकुल वेदना को प्रत्यक्ष कराता है। उसमें कहीं भी पुरानापन नहीं है, वह सनातन है।

इस खण्डकाव्य में कालिदास अपने जीवन-दर्शन का थोड़ा-थोड़ा संकेत देते हैं। व्यक्ति मनुष्य के हृदय की व्याकुल वेदना को अग-जग में व्याप्त वेदना की पृष्ठभूमि में, उसी के साथ एकमेक करके निखारते हैं। कुछ भी विच्छिन्न नहीं है, कुछ भी अजनबी नहीं है, बिन्दु से लेकर पर्वत तक एक ही व्याकुल वेदना समुद्र की लहरों की तरह पछाड़ खा-खाकर लोट रही है। एक तार को छुओ और सहस्रों तार झनझना उठते हैं। सब तार मिलकर पूर्ण संगीत के निर्माण का कार्य करते हैं। नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही व्याकुल अभिलाष भाव उल्लसित हो रहा है। मिलन स्थिति-बिन्दु है, विरह गति-वेग है। दोनों के परस्पर आकर्षण से रूप की प्रतीति होती रहती है, विचार मूर्त्त आकार ग्रहण करते हैं, भावना सौन्दर्य बनती है। विरह में सौभाग्य पनपता है, रूप निखरता है, मन निर्मल होता है, बुद्धि एकता का सन्धान पाती है।

कुमारसम्भव

अपने अन्यान्य काव्यों और नाटकों में कालिदास ने शिव की महिमा का श्रद्धा-विगलित भाषा में उद्घोष किया है। 'रघुवंश', 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' में मंगलाचरण के रूप में शिव की वन्दना की है। परन्तु 'कुमारसम्भव' में उन्होंने ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। यह काव्य शिव-पार्वती के विवाह और कुमार के जन्म की ही कथा कहता है। इसलिए यह समष्टि प्रेम का काव्य है। शिव कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि 'विश्वमूर्त्ति' हैं। पार्वती निखिलभूत में व्याप्त ह्लादिनी शक्ति हैं। इसलिए कवि ने इसके मंगलाचरण में केवल एक ही शब्द का प्रयोग किया है जो प्रथम श्लोक के आरम्भ में आया है—'अस्ति' अर्थात् 'है'। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के साथ तुलना करने पर यह बात

और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वहाँ अष्टमूर्त्ति शिव की वन्दना है, अर्थात् जो शिव अपने-आपको बहुधा विभक्त करके संसार में व्याप्त हैं उनसे कल्याण प्राप्त करने की प्रार्थना की गयी है। वह व्यक्ति-प्रेम का काव्य है जबकि 'कुमारसम्भव' समष्टि-प्रेम का काव्य है। इसलिए कवि ने केवल 'अस्ति' शब्द का प्रयोग करके इंगित से यह बताने का प्रयत्न किया है कि शिव और पार्वती का प्रेम सत्ता मात्र है। वह 'है', प्रत्येक पिण्ड के भीतर मनुष्यलोक से देवलोक तक व्याप्त महाशक्ति की प्रेम-लीला है। यह सम्भव है कि कालिदास ने अपने काव्यों में पुरुष और स्त्री के पारस्परिक आकर्षण का जो मोहक चित्रण किया है उसके कारण कुछ लोग उनके जीवन-काल में ही उन पर घोर शृंगारी कवि होने का दोषारोप करने लगे हों और उन्हीं आक्षेपों के उत्तर में कवि ने पुरुष और स्त्री के प्रेम को शाश्वत भूमिका पर रखकर इस महान् काव्य के प्रणयन की बात सोची हो। इस काव्य में स्पष्ट रूप से कवि ने यह घोषणा की है कि देवाधिदेव शिव ने ही पुरुष और स्त्री के रूप में अपने-आपको द्विधा-विभक्त किया है। इस पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्व में जो पारस्परिक आकर्षण है वह भगवान् शिव की आदि सिसृक्षा का ही विलास है। एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होकर वे उस प्रथम शिवत्व की अवस्था को ही प्राप्त करना चाहते हैं। विशुद्ध प्रेम में जो अद्वैत भावना आती है वह शिवत्व की ही अनुभूति का एक रूप है। इसी महान् उद्देश्य को दृष्टि में रखकर महाकवि ने शिव और पार्वती को सनातन पुरुषत्व और स्त्रीत्व का प्रतीक बनाया है--और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि शुद्ध, पवित्र और सच्चा प्रेम क्या होता है। काव्य के आरम्भ में ही हिमालय का बड़ा ही महनीय रूप उपस्थित किया गया है, उसे 'देवतात्मा' कहा गया है और समस्त रत्नों और प्रसाधन-सामग्रियों की उद्भव भूमि कहा गया है। पार्वती इसी महान् हिमालय की कन्या हैं। प्राण ढालकर कवि ने उनकी बाल्यावस्था से लेकर किशोरावस्था तक का मोहक चित्र प्रस्तुत किया है।

हिमालय के एक किनारे पर कैलास पर्वत है, जहाँ शिवजी समाधि लगाकर बैठे हुए हैं। उधर तारकासुर नामक भयानक दैत्य ने देवनगरी को विध्वस्त कर दिया है। आसुरी शक्ति के सामने दैवी शक्ति पराजित हो गयी है और संसार महानाश की काली छाया का शिकार हो चुका है। देवता ब्रह्मा की स्तुति करते हैं और वहीं उन्हें यह जानने को मिलता है कि शिव और पार्वती के समागम से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही इस महान् असुर का विनाश कर सकता है। ब्रह्मा ने बताया था कि इसका केवल एक ही उपाय है कि आप लोग कोई ऐसा यत्न करें जिससे शिवजी का चित्त उमा (पार्वती) की ओर आकृष्ट हो, जिस प्रकार चुम्बक से लोहा खिंच आता है। ब्रह्मा ने इसका कारण भी बताया। शिव कोई मामूली देवता नहीं हैं। वे तम के उस पार रहनेवाले परम-ज्योतिस्वरूप हैं। ऐसा करना इसलिए आवश्यक था कि शिव के महान् तेज को ग्रहण करने की क्षमता एकमात्र पर्वतराज की महिमामयी कन्या पार्वती में ही है। यहीं कालिदास ने अपने महान् काव्य का

उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। तमोगुणी आसुरी शक्ति को परास्त करने के लिए उस देवता का तेज ही काम आ सकता है जो स्वयं 'तमःपारेव्यवस्थित' है। और इस तेज को ग्रहण करने के लिए भी वैसे ही उपयुक्त पात्र की आवश्यकता है। जो कन्या स्वयं तामसिक वृत्ति की होगी वह उस तेज को ग्रहण नहीं कर सकती। महान् उद्देश्य के लिए महान् तेज को ग्रहण करने की क्षमता कोई 'तमःपारेव्यवस्थिताः' कन्या ही रख सकती है। पार्वती वही कन्या है।

समाधिस्थ शिव के चित्त में लालसा तरंगित करने का कार्य बड़ा ही कठिन है। परन्तु, देवताओं के राजा इन्द्र ने इस महान् कार्य के लिए कामदेव को चुना। स्मरण करने पर जो कामदेव उनके सामने पहुँचे वे रति-कंगन की छाप पड़े हुए गले में सुन्दर स्त्री की भौंहों के समान कमनीय धनुष कन्धे पर लटकाये हुए और अपने साथी वसन्त के हाथ में आम्रमंजरी का वाण देकर बगल में लिये हुए सामने आ खड़े हुए :

> अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं
> रतिवलयपदाङ्के कण्ठमासज्य चापे।
> सहचरमधुहस्तन्यस्तचूतांकुरास्त्रः
> शतमुखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा॥

कितना महान् उद्देश्य, कितने बड़े तेज का सामना और कितना दुर्बल साधन? अस्तु, कामदेवता—प्रेम के इस देवता ने कैलास पर्वत पर अपने मित्र वसन्त की सहायता से अकाल में ही वसन्त का आयोजन करा दिया। जड़ और चेतन सबमें अकारण अभिलाषा की झंझा बह गयी। शिव के चित्त में भी किंचित् विक्षोभ हुआ और पूजन के लिए आयी हुई 'वसन्तपुष्पाभरणधारिणी' पार्वती के विम्बाफल के समान अधरवाले मुखमण्डल पर उनकी दृष्टि क्षणभर के लिए जम गयी। शिव ने अपने चित्त के विक्षोभ को जानने के लिए दिक्-प्रान्त में देखा और नमेरु वृक्ष की शाखा पर छिपकर बाण-सन्धान करनेवाले, शारीरिक आकर्षणजन्य प्रेम को संचरित करनेवाले इस देवता की ओर देखा, उनके तीसरे नेत्र से भयानक ज्वाला निकली और कामदेव जलकर राख का ढेर बन गया।

चौथे सर्ग में काम की पत्नी रति का बड़ा ही मर्मान्तिक विलाप है। वह सती होने को तैयार हुई, लेकिन उसी समय आकाशवाणी हुई कि तुम्हारा पति थोड़े ही दिनों में तुम्हें फिर मिल जायेगा और इस प्रकार उसने चिता पर भस्म होने का संकल्प छोड़ दिया।

'कुमारसम्भव' का पाँचवाँ सर्ग सबसे महत्त्वपूर्ण है। अपने सामने ही मनोजन्मा (कामदेव) को इस प्रकार भस्म होते देख पार्वती ने अपने बाह्य रूप की मन-ही-मन निन्दा की और उसे सफल बनाने के लिए तपस्या करने का निश्चय किया। कालिदास के मत से रूप को सफल बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक कार्य था; क्योंकि ऐसा अद्भुत प्रेम और ऐसा महान् पति बिना तपस्या के मिल भी कैसे सकता है—'अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः!'

बाह्य रूप को सफल बनाने के लिए इस तपस्या का आयोजन कालिदास ने बड़े ठाट-बाट से किया है। तीसरे सर्ग के अकाल वसन्त के प्रादुर्भाव और मनोभव (काम) देवता के उत्पात को उन्होंने क्षणभर में मटियामेट कर दिया और तपस्या की ऐसी तैयारी में लग गये मानो पहिले कुछ हुआ ही नहीं। पार्वती ने पिता की आज्ञा से गौरी शिखर नामक पर्वत पर घोर तपस्या की, मोतियों का हार उतार दिया और लाल-लाल वल्कल धारण कर लिया। संस्कार की हुई वेणियों के स्थान पर जटा आ गयी, कमनीय रशना के स्थान पर मूँज की तिहरी तगड़ी शोभित हो उठी, कोमल उँगलियों में रुद्राक्ष की माला, मुलायम शय्या के स्थान पर कठोर पत्थरों का बिछावन और बाहुओं की तकिया आ गयी। उनके कठोर तप से सारा आश्रम पवित्र और महनीय हो उठा। यद्यपि उन्होंने बड़ी कृच्छ्र साधना की, गर्मी के दिनों में पंचाग्नि तापी, सर्दी के दिनों में रात-रात-भर खड़ी रहीं और अन्य अनेक कठोर विषयों का पालन करती रहीं, परन्तु उनके हृदय की कोमलता ज्यों-की-त्यों बनी रही। मृगों पर, चक्रवाकों पर, हंसों पर, लता-पुष्पों पर उनका कोमल अनुराग बराबर बरसता रहा। इस प्रकार कठिन तपस्यानिरत पार्वती की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मचारी वेष में स्वयं शिव उपस्थित हुए। पार्वती की सखियों से यह जानकर कि वे शिव को वर-रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रही हैं, ब्रह्मचारी बने हुए शिव ने उनका उपहास किया, शिव की निन्दा की और इस व्यर्थ परिश्रम से विरत होने को कहा। पार्वती इससे रुष्ट हुईं। उन्होंने सखियों से कहा कि इस ब्रह्मचारी को रोको, नहीं तो यह फिर कुछ कह उठेगा। महत् व्यक्तियों की निन्दा ही पाप नहीं है उसे सुनना भी पाप है। ऐसा कहकर वे झटके से वहाँ से हट जाने को चलीं और ठीक इसी समय ब्रह्मचारी ने शिव-रूप में दर्शन दिये और उनका हाथ पकड़कर रोक लिया। कालिदास ने इस दृश्य को बड़ी ही जीवन्त भाषा में चित्रित किया है। शिव को देखते ही पार्वती के शरीर में कम्प उत्पन्न हुआ, वे पसीने से भीग गयीं और आगे चलने के लिए उठते हुए कदम जहाँ-के-तहाँ रह गये। यह कुछ ऐसा ही हुआ जैसे धारा के बीच में पहाड़ पड़ जाने से नदी न आगे बढ़ पाती है और न पीछे हट पाती है। शैलाधिराजतनया पार्वती की भी यही गति हुई। वे न आगे बढ़ सकीं, न पीछे हट सकीं :

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि—
> निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।

शिव ने कहा कि 'हे कोमल शरीरवाली पार्वती ! आज से मैं तुम्हारी तपस्या से खरीदा हुआ दास हुआ।' बहुत-से लोग कालिदास के महाकाल-सम्बन्धी भक्ति-पूर्ण विचारों को पढ़कर सन्देह करते हैं कि कालिदास का नाम 'कालदास' रहा होगा या कम-से-कम होना चाहिए। जो व्यक्ति महाकाल का भक्त हो उसका

नाम कालदास ही उचित है। कालिदास शब्द या तो गलत रूप से हमारे सामने आया है या समझ में आने लायक नहीं है। परवर्त्ती-काल में तो लोगों ने कालीजी से वर प्राप्त करने की कहानियाँ भी गढ़ ली हैं। परन्तु इस स्थान पर शिव ने अपने को अवनताङ्गी पार्वती का दास कहा है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास शब्द का अर्थ शिव ही होगा।

छठे सर्ग में विवाह की तैयारी है और सातवें में वास्तविक विवाह का प्रसंग आता है। कालिदासऐसे प्र संगों के वर्णन करने में बड़े ही पटु हैं। विवाह के उल्लास का दृश्य इस काव्य में भी आया है। कन्या की विदाई के समय पार्वती की माता मैना की आँखों में आँसू भर आये थे और पार्वती के हाथ में जो कंगन उन्हें बाँधना था वह कहीं अन्यत्र बाँध गयीं। यद्यपि कन्या की विदाई का वैसा मार्मिक दृश्य इस काव्य में नहीं आया है जैसा 'शकुन्तला' नाटक में आया है, तथापि माँ के हृदय का उल्लास और अवसाद निखरकर प्रकट हो ही गया है।

आठवें सर्ग में शिव और पार्वती की विलास-लीला का वर्णन है। बहुत-सी प्रतियों में सातवें सर्ग के बाद ही काव्य समाप्त हो जाता है। जगत् के माता-पिता शिव और पार्वती की विलास-लीला भक्तजनों को रुचिकर नहीं प्रतीत होती। मल्लिनाथ ने भी उस पर कोई टीका नहीं लिखी। परन्तु, यदि यह सर्ग न लिखा जाता, तो कालिदास का वह मूल उद्देश्य, जिसकी ओर शुरू में ही इंगित किया गया है, सिद्ध नहीं होता, और व्यथित मानव के चित्त में उत्पन्न होनेवाली प्रेमतरंगों को विश्वव्यापी प्रेम-लीला का ही विस्फूर्जन बताने का उनका संकल्प अधूरा रह जाता।

यद्यपि इसके बाद भी इस ग्रन्थ में नौ सर्ग और मिलते हैं, परन्तु वे निस्सन्देह प्रक्षिप्त हैं।

'कुमारसम्भव' में कवि ने अपने जीवन-दर्शन को बहुत बड़ी पट-भूमिका पर रखकर व्यक्त करने का प्रयास किया है। त्याग के साथ ऐश्वर्य का और तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही स्त्री और पुरुष का प्रेम धन्य होता है। कालिदास ने इस महाकाव्य में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि त्याग और भोग के साथ सामञ्जस्य से ही जीवन चरितार्थ होता है। एकान्त वैराग्य आसुरी शक्ति का दमन नहीं कर सकता। भोग और वैराग्य के यथोचित सामंजस्य में ही जीवन की चरितार्थता है। जो प्रेम केवल शारीरिक आकर्षण पर निर्भर होता है, वह क्षणस्थायी होता है। जब तक वह तपस्या की अग्नि में तपकर नहीं निकलता तब तक वह वन्ध्य है, निष्फल है। पार्वती का जीवन तपस्या और प्रेम का सामंजस्य है, शिव का भोग और वैराग्य का। कामदेव जड़ शारीरिक विषयों के आकर्षण का अधिदेवता है। सच्चा प्रेम और गहराई में पलता है।

रघुवंश

'रघुवंश' में रघुकुल के कई राजाओं का वृत्त है। आरम्भ में सन्तान के लिए

व्याकुल दिलीप और उनकी पत्नी सुदक्षिणा कामधेनु की कन्या नन्दिनी गौ की सेवा करते हैं और उससे वरदान प्राप्त करके रघु को पुत्र-रूप में उपलब्ध करते हैं। रघु के बड़े होने पर उन्हें राज्य-भार सौंपकर दिलीप वानप्रस्थ जीवन बिताने के लिए वन चले जाते हैं। यहाँ तक तीसरा सर्ग समाप्त हो जाता है। चौथे सर्ग में रघु के दिग्विजय का वर्णन है। वे सुह्मों के विरुद्ध अभियान करते हैं, बंगाल को पराजित करके गंगा के द्वीपों में अपने विजयस्तम्भ स्थापित करते हैं, कलिंग-राज की गजसेना उनका रास्ता नहीं रोक पाती और वे कावेरी पार करके दक्षिण पर आक्रमण करते हैं और पाण्ड्य राजाओं से मुक्ता की भेंट ग्रहण करते हैं। इसके बाद वे उत्तर की ओर मुड़ते हैं; मलय, दर्दुर और सह्य पर्वतों को पार करते हैं, केरल को दबाते हुए मुरला और त्रिकूट नदियों को अपने यश का साक्षी बनाते हुए वे स्थल-मार्ग से पारसीकों और यवनों पर चढ़ाई करते हैं, फिर उनके अश्व वंक्षु नदी की सैकत-भूमि में आगे बढ़ते हैं और हूणों और काम्बोजों को परास्त करते हैं। फिर हिमालय की पार्वत्य जातियों का दमन करते हुए वे उत्तर के हिमालय मार्ग से ही पूर्व की ओर बढ़ते हैं और लौहित्य या ब्रह्मपुत्र नदी पार करके प्राग्ज्योतिष और कामरूप में अपनी विजयध्वजा फहराते हैं। रघु की इस दिग्विजय में विद्वानों ने समुद्रगुप्त के दिग्विजय का आभास पाया है।

पाँचवें सर्ग में वे विश्वजित् यज्ञ करते हैं, फिर गुरुदक्षिणा के लिए आये हुए कौत्स मुनि को कुबेर के भण्डार से द्रव्य दिलाते हैं और उन्हीं के आशीर्वाद से अज नामक पुत्र प्राप्त करते हैं।

छठे सर्ग में अज इन्दुमती के स्वयंवर में जाते हैं और इन्दुमती उन्हें वरण करती है।

सातवें में अज और इन्दुमती का विवाह होता है। स्वयंवर में हारे हुए अपमानित राजा इन्दुमती को बलपूर्वक छीन लेने का प्रयत्न करते हैं और अज उन्हें पराजित करते हैं। इन्दुमती वस्तुतः अप्सरा थी। वायुमण्डल से गिरी हुई एक पुष्पमाला से ही उसकी मृत्यु हो गयी और वह फिर गन्धर्वलोक को चली गयी।

आठवें सर्ग में बड़ी ही करुण भाषा में अज के विलाप का वर्णन है। भग्न-हृदय अज की भी मृत्यु हो जाती है और उनके पुत्र दशरथ राजगद्दी पर बैठते हैं।

नवम सर्ग दशरथ के आखेट और वसन्तकालीन वनविहार का सर्ग है।

ग्यारहवें सर्ग से रामायण की कथा आरम्भ होती है, पन्द्रहवें सर्ग तक चलती है। इन पाँचों सर्गों की विशेषता यह है कि इनमें कवि ने एक ऐसे विषय को हाथ में लिया है, जिसे वाल्मीकि-जैसा महान् कवि अपने काव्य का विषय बना चुका था। कालिदास ने ऐसे बहुत-से सुकुमार स्थलों को नवीन रूप दिया है, जो वाल्मीकि की व्यापक दृष्टि से किसी प्रकार छूट गये थे। तेरहवाँ और चौदहवाँ सर्ग उनकी इसी अभिनव सूझ के निदर्शन हैं।

सोलहवें सर्ग से राम के पुत्र कुश की कथा आरम्भ होती है, जिन्होंने कुशावती

में अपनी राजधानी स्थापित की थी। रात के समय एक दिन अयोध्या वधूवेश में उनको दर्शन देती है और अपनी दयनीय अवस्था की सूचना देती है। कुश विध्वस्त अयोध्या का पुनः संस्कार करवाते हैं। इसके बाद 'रघुवंश' की कथा उतार पर आती है। 'रघुवंश' का अन्तिम उत्तराधिकारी बहुत ही विलासी चित्रित किया गया है। 'रघुवंश' की कथा इसी पतनोन्मुख राजा के विलास-चित्रण में समाप्त होती है।

आरम्भ में दिलीप का जो उदात्त और महान् रूप चित्रित किया गया है, उसका इस प्रकार पर्यवसान बहुत ही करुणाजनक है।

निस्सन्देह 'रघुवंश' में कालिदास की कवित्व-शक्ति बहु-विचित्र रूप में प्रकट हुई है। इसमें दिलीप, रघु और राम-जैसे महान् और आदर्श राजाओं का चित्रण है। कालिदास की लेखनी उनके दृप्त-चरित्र की प्रशंसा करने में नहीं अघाती। परन्तु उसी राजवंश का अन्तिम उत्तराधिकारी बहुत दुर्बल और विलासी चित्रित किया गया है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस काव्य के बारे में लिखा है :

" 'रघुवंश' में भारतवर्ष के प्राचीन सूर्यवंशी राजाओं का जो चरित्र-गान है उसमें भी कवि की वेदना निहित है। इस बात का प्रमाण दिया जा सकता है।

"हमारे देश के काव्य में अशुभ अन्त की प्रथा नहीं है। वास्तव में जहाँ श्री रामचन्द्र के चरित्र में रघु का वंश गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँचता है, वहीं यदि काव्य का अन्त होता तो कवि ने भूमिका में जो कहा है वह सार्थक होता।

"भूमिका के ये शब्द हैं—'जो राजा आजीवन शुद्ध रहते थे; जो फल-प्राप्ति के लिए कार्य करते थे; जिनका समुद्र-तट तक राज्य था और स्वर्ग तक रथमार्ग था; जो अग्नि में यथा-विधि आहुति दिया करते थे और प्रार्थियों की इच्छा-पूर्त्ति करते थे; जो अपराध के अनुसार दण्ड देते थे और उचित समय जाग उठते थे; जो त्याग के लिए अर्थसंचय करते थे, सत्य के लिए मितभाषी थे, यश के लिए विजयोन्मुख थे और सन्तान-प्राप्ति के लिए विवाह करते थे; जिनका बचपन विद्यार्जन में बीतता था; जो यौवन में विषय की कामना करते थे, वार्धक्य में मुनि-वृत्ति ग्रहण करते थे और योग-साधना के बाद जिनका देहान्त होता था—'रघुवंश' के उन्हीं राजाओं का मैं गुणगान करूँगा; क्योंकि यद्यपि मेरी वाक्-सम्पदा अत्यन्त अल्प है, उनके गुणों की ख्याति सुनकर मेरा चित्त विचलित हो गया है।'

"परन्तु गुण-कीर्त्तन में यह काव्य समाप्त नहीं होता। कवि किस बात से इतना विचलित हुए थे यह हम 'रघुवंश के परिणाम को देखकर समझ सकते हैं।"

" 'रघुवंश' को जिसके नाम से गौरव मिला उसकी जन्मकथा क्या है? उसका आरम्भ कहाँ है?

"तपोवन में दिलीप-दम्पती की तपस्या से ही ऐसे राजा का जन्म हुआ था। कालिदास ने विभिन्न काव्यों द्वारा अपने राजप्रभु को बड़ी कुशलता से यह दिखाया है कि बिना कठिन तपस्या के किसी महान् फल को प्राप्त करना सम्भव

नहीं है। जिस रघु ने उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम के सारे राजाओं को अपने तेज से पराजित किया, और समस्त पृथ्वी पर एकछत्र राजत्व स्थापित किया, वह अपने पिता-माता की तप-साधना का ही धन था। और जिस भरत ने अपने वीर्य-बल से चक्रवर्त्ती सम्राट् होकर भारत को अपने नाम से धन्य किया, उसके जन्म पर प्रवृत्तिसमाधान का जो कलंक पड़ा था उसे कवि ने तपस्या की अग्नि में जलाया है, दुःख के अश्रु-जल से धोया है।

" 'रघुवंश' का आरम्भ राजोचित ऐश्वर्य और गौरवमय वर्णन से नहीं होता। सुदक्षिणा को साथ लेकर राजा दिलीप तपोवन में प्रवेश करते हैं। चारों समुद्रों तक जिनके शासन का विस्तार था ऐसे राजा अविकल निष्ठा और कठिन संयम से तपोवन की धेनु की सेवा में लग जाते हैं। 'रघुवंश' का आरम्भ है संयम और तपस्या में; और उसका उपसंहार है, आमोद-प्रमोद में, सुरा-पान और इन्द्रियभोग में। इस अन्तिम सर्ग में जो चित्र है, उसमें काफी चमक-दमक है, लेकिन जो अग्नि नगर को जलाकर सर्वनाश लाती है, वह भी कम उज्ज्वल नहीं है। एक पत्नी के साथ दिलीप का तपोवन-निवास सौम्य और हल्के रंगों में चित्रित है, अनेक नायिकाओं के साथ अग्निवर्ण का आत्म-विनाश में प्रवृत्त जीवन अत्यन्त स्पष्ट रूप से, विविध रंगों से ज्वलन्त रेखाओं से अंकित किया गया है।

"प्रभात शान्तिपूर्ण होता है, पिङ्गलजटाधारी ऋषि—बालकों की तरह पवित्र होता है। मोती की तरह स्वच्छ, सौम्य आलोक लेकर वह शिशिर-स्निग्धा पृथ्वी पर धीरे-धीरे उतरता है और नवजीवन भी अभ्युदय-वार्त्ता से वसुधा को उद्बोधित करता है। उसी तरह कवि के काव्य में तपस्या द्वारा प्रस्थापित राजमाहात्म्य ने स्निग्ध तेज और संयम वाणी से महान् 'रघुवंश' के उदय की सूचना दी। विचित्र वर्णों के मेघ-ज़ाल से आविष्ट सन्ध्या अपनी अद्भुत रश्मियों से पश्चिमी आकाश को क्षण-भर के लिए ज्योतिर्मय बना देती है, लेकिन देखते-ही-देखते विनाश का दूत आकर उसकी सारी महिमा का अपहरण करता है, और अन्त में शब्दहीन, कर्महीन, अचेतन अन्धकार में सब-कुछ विलीन हो जाता है। उसी तरह काव्य के अन्तिम सर्ग में भोग-वैचित्र्य के भीषण समारोह में 'रघुवंश' का नक्षत्र ज्योतिहीन हो जाता है।

"काव्य के इस आरम्भ और अन्त में कवि के हृदय की बात प्रच्छन्न है। ऐसा लगता है कि वह नीरव, दीर्घ निःश्वास के साथ कह रहा है, 'क्या था, और क्या हो गया।' जब अभ्युदय का युग आनेवाला था, उस समय तपस्या को ही हम प्रधान ऐश्वर्य समझते थे। और आज, जबकि हमारा विनाश समीप है, भोग-विलास के उपकरणों का अन्त नहीं, भोग की अतृप्त अग्नि सहस्र-शिखाओं में भड़क रही है और आँखों को चकाचौंध कर रही है।"

कालिदास की अधिकांश कविताओं में यह द्वन्द्व स्पष्ट दिखायी पड़ता है। 'कुमारसम्भव' में यह भी दिखाया गया है कि इस द्वन्द्व का समाधान कैसे हो। इस काव्य में कवि ने कहा है कि त्याग के साथ ऐश्वर्य का, तपस्या के साथ प्रेम का

मिलन होने पर ही उस शौर्य का जन्म हो सकता है, जिसके द्वारा सब प्रकार की पराजय से मनुष्य का उद्धार हो।

अर्थात् त्याग और भोग के सामञ्जस्य में ही पूर्ण शक्ति है। त्यागी शिव जब एकाकी समाधि-मग्न बैठे थे, स्वर्गलोक असहाय था, और सती जब अपने पिता के घर ऐश्वर्य में अकेली ही आवद्ध थी, उस समय भी दैत्यों का उपद्रव प्रबल हो उठा था।

प्रवृत्ति के प्रबल हो जाने से ही त्याग और भोग का सामंजस्य टूट जाता है।

किसी एक संकीर्ण स्थान पर जब हम अपने अहंकार और वासना को केन्द्रित करते हैं, तब हम समग्र को क्षति पहुँचाते हैं और अंश को बढ़ा-चढ़ाकर देखने का प्रयत्न करते हैं। यही अमंगल की जड़ है। अंश के प्रति आसक्ति हमें समग्र के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित करती है, और यही पाप है।

"इसीलिए त्याग आवश्यक है। यह त्याग अपने को रिक्त करने के लिए नहीं, अपने को पूर्ण करने के लिए होता है। हमें समग्र के लिए अंश का त्याग करना है, नित्य के लिए क्षणिक का, प्रेम के लिए अहंकार का, आनन्द के लिए सुख का त्याग करना है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है—'तेनत्यक्तेन भुंजीथाः'— त्याग द्वारा भोग करो, आसक्ति के द्वारा नहीं।"

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'तपोवन' नामक निबन्ध)

मालविकाग्निमित्र

'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय', ये दोनों नाटक कालिदास की आरम्भिक कृति माने जाते हैं। परन्तु कालिदास की शिल्प-विषयक मान्यताओं को समझने में इन दोनों का महत्त्व निस्सन्दिग्ध है। यद्यपि इनका भाव-गाम्भीर्य 'शकुन्तला' से तुलनीय नहीं हो सकता। विदिशा का राजा अग्निमित्र 'मालविकाग्निमित्र' का नायक है और विदर्भराज की भगिनी मालविका नायिका है। इन्हीं दोनों की प्रणय-लीला नाटक का विषय है। भारतीय नाटककारों ने अन्तःपुर के प्रेम-व्यापार सम्बन्धी नाटिका लिखने में बहुत रुचि दिखायी है। अन्तःपुर की प्रणय-लीला वाली इन नाटिकाओं का मूल विषय प्रायः एक ही होता है। नायिका कहीं बाहर से आकर परिचारिका-रूप में काम करने लगती है। प्रायः यह कहा जाता है कि किसी सिद्ध या ज्योतिषी ने ऐसी भविष्यवाणी कर रखी है कि इस नायिका से विवाह करनेवाला पुरुष चक्रवर्ती राजा होगा और मन्त्री जानबूझकर इस नायिका को अन्तःपुर में स्थान दिलवाता है। राजा की दृष्टि नायिका पर पड़ती है, प्रेम-व्यापार शुरू होता है, बड़ी रानी को ईर्ष्या होती है, वह नायिका को किसी-न-किसी प्रकार राजा की दृष्टि से बचाने के लिए अलग कर देती है। फिर घटना-चक्र ऐसा घूमता है कि राजा और नायिका का विचित्र परिस्थितियों में साक्षात्कार होता है, रानी को पता चल जाता है कि वस्तुतः परिचारिका बनी हुई नायिका उसकी बहिन है और वह अपने-आप अनुकूल होकर नायिका के साथ राजा का

विवाह करवा देती है। मूल कथा का ढाँचा यही होता है। ब्यौरे में अवश्य थोड़ा-बहुत अन्तर होता है।

'मालविकाग्निमित्र' यद्यपि नाटिका नहीं है, परन्तु बहुत-कुछ ऐसा ही नाटक है। इसके सारे दृश्य अन्तःपुर तक ही सीमाबद्ध हैं। मालविका पटरानी धारणी की परिचारिका है। उसे गणदास नामक नृत्याचार्य से नृत्य-संगीत की शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था स्वयं पटरानी धारिणी ही करती है। मालविका के एक चित्र को देखकर राजा उस पर अनुरक्त होता है। रानी धारिणी उसे राजा की नजरों से बचाने का प्रयत्न करती है। राजा के प्रणयसखा विदूषक गौतम के छल-प्रपंच से दो नृत्याचार्यों का विवाद होता है। दोनों अपनी शिष्याओं को प्रतिद्वन्द्विता के लिए राजा, रानी और परिचारिका के सामने उपस्थित करते हैं। यहीं मालविका नृत्य करती है और राजा मालविका को प्रत्यक्ष देख पाता है। प्रथम दो अंकों की यही कथा है। यद्यपि चरित्र-चित्रण और नैतिक आदर्श की दृष्टि से इसमें कालिदास की महिमा के उपयुक्त कुछ भी नहीं, परन्तु भाव-लालित्य और सौन्दर्य-चित्रण की दृष्टि से ये अंक सफल कहे जा सकते हैं।

तीसरे अंक की कथावस्तु राजभवन के प्रमदवन में अशोक दोहद उत्पन्न करने की है। प्रमदवन के सभी वृक्षों में पुष्प आ गये हैं, लेकिन अशोक अभी तक नहीं फूला है। उसे किसी सुन्दरी के सुनूपुर चरणों के आघात की आवश्यकता है। मालविका को ही यह कार्य सम्पन्न करने का भार दिया गया है। यहीं राजा को मालविका के अपने प्रति प्रेम का आभास मिलता है। यहाँ राजा की एक दूसरी रानी इरावती उपस्थित होती हैं और प्रेम-व्यापार में बाधा उत्पन्न करती हैं।

चौथे अंक में मालविका और उसकी प्रिय सखी वकुलावती के भूगृह में बन्दी होने की कहानी है। उसके ऊपर कड़ा पहरा बैठा दिया गया है और माधविका नामक दासी को पहरे पर नियुक्त किया गया है। उसे कड़ा आदेश है कि जब तक महारानी की सर्पमुद्रांकित अँगूठी न दिखायी जाये तब तक उन्हें किसी प्रकार मुक्त न किया जाये। विदूषक को सब कुछ पता चल जाता है और साँप के काटने का बहाना करके वह महारानी के सामने व्याकुलता प्रकट करता है। रानी उसे ध्रुव-सिद्धि नामक वैद्य के पास भेजती हैं और वैद्य सर्पमुद्रांकित कोई वस्तु माँगता है। रानी जयसेना के हाथ अपनी अँगूठी भिजवा देती हैं और उस अँगूठी की सहायता से विदूषक मालविका और वकुलावती को बन्दीगृह से छुड़ा लाता है। राजा और मालविका मिलते हैं, लेकिन फिर एक बार झटका लगता है। रानी इरावती और उनकी सखी निपुणिका इस प्रणय-लीला को देख लेती हैं और रुष्ट हो जाती हैं। इसी समय जयसेना यह संवाद ले आती है कि कुमारी वसुलक्ष्मी जब गेंद के पीछे दौड़ रही थीं, उसी समय कोई पिंगल वानर उपस्थित हुआ और वे भय से काँप उठीं। सभी उधर ही लपकते हैं। चौथे अंक की घटना यहीं समाप्त हो जाती है।

पाँचवें अंक में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। विदर्भ का राजा यज्ञसेन अग्निमित्र की सेना द्वारा पराजित हुआ है और राजा का चचेरा भाई

माधवसेन छुड़ा लिया गया है। सेनानायक वीरसेन ने अनेक अमूल्य रत्न तथा हाथी और घोड़े उपहार में भेजे हैं। फिर अशोक के दोहद के लिए मालविका का किया गया प्रयत्न सफल हुआ है और रानी धारिणी प्रसन्न होकर मालविका का अग्निमित्र से विवाह करा देना चाहती हैं। अशोक की पूजा का आयोजन होता है, राजा भी निमन्त्रित किये जाते हैं, परिव्राजिका भगवती कौशिकी मालविका का विवाह-शृङ्गार करती हैं। वीरसेन के द्वारा भेजी गयी दो दासियाँ राजप्रासाद में आती हैं, मालविका को पहचानती हैं। यहीं पता चलता है कि परिव्राजिका माधवसेन के मन्त्री सुमति की बहिन हैं। सीमान्तवाले उपद्रवों में जब माधवसेन पकड़ लिये गये थे तो सुमति मालविका और कौशिकी को लेकर व्यापारियों के एक दल में मिल गये। मार्ग में दस्युओं का आक्रमण हुआ। सुमति मारे गये और वीरसेन ने मालविका का उद्धार करके राजप्रासाद में भेज दिया। उन्हें पता था कि किसी सिद्ध ने भविष्यवाणी कर रखी है कि मालविका का विवाह योग्य वर से हो जायेगा। कौशिकी संन्यासिनी बन गयी। चौथी सूचना यह मिलती है कि पुष्यमित्र ने राजकुमार वसुमित्र को अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए भेजा था। पुष्यमित्र का एक पत्र आया था जिसमें बताया गया था कि सिन्धु नदी के दक्षिणी किनारे पर यवनों ने घोड़ा पकड़ लिया था, परन्तु घोर युद्ध के बाद उन्हें पराजित किया गया है। इस विषय के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र एक यज्ञ कर रहे हैं और उसने आने के लिए सपत्नीक अग्निमित्र को निमन्त्रित किया है।

रानी धारिणी को जब मालविका की वास्तविक स्थिति का पता चलता है तो वे दुःखी होकर कहती हैं कि 'मैंने मालविका को राजपुत्री न समझकर उसे कष्ट दिया और अपमानित किया।' वे छोटी रानी इरावती की सहमति से विवाह-वेष में सज्जिता मालविका को राजा को सौंप देती हैं और कथा नायक-नायिका के चिर-प्रतीक्षित मिलन के रूप में समाप्त होती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस नाटक का कोई बड़ा उद्देश्य नहीं है। शुंगकालीन राजपरिवारों की अन्तःपुर की विलासिता और षड्यन्त्र-लीला इससे जरूर उद्घाटित होती है। अग्निमित्र बहुत साधारण कोटि का नायक है। उसके दो रानियाँ तो पहले से ही हैं। तीसरी के प्रति प्रणय कुछ अच्छी रुचि का परिचायक नहीं है। परन्तु कालिदास ने इस नाटक में नृत्य और संगीत आदि के विषय में अनेक इंगित दिये हैं। इन कलाओं से उनका गाढ़ परिचय भी सिद्ध होता है और इनके सम्बन्ध में उनके विचार भी प्रकट होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि चित्रकला और संगीतकला में कालिदास की केवल रुचि ही नहीं थी, वे स्वयं भी अच्छे चित्रकार और गायक रहे होंगे। उनके ललितकला-सम्बन्धी विचारों की जानकारी के लिए यह नाटक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

विक्रमोर्वशीय

'विक्रमोर्वशीय' नाटक कालिदास का दूसरा नाटक समझा जाता है। इसमें पाँच

अंक हैं। इसमें राजा पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम-कथा वर्णित है। सूर्य-पूजा के उपरान्त लौटते हुए राजा पुरूरवा को जब पता चलता है कि कुबेर-भवन से वापस लौटती हुई उर्वशी को किसी दैत्य ने पकड़ लिया है तो वह उस दैत्य से उर्वशी का उद्धार करता है। उर्वशी को देखकर राजा का मन उसकी ओर आकृष्ट होता है। राजकीय प्रमदवन में उर्वशी भूर्जपत्र पर लिखकर एक प्रेमपत्र पुरूरवा को देती है और स्वयं 'लक्ष्मी स्वयंवर' नामक नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करने के लिए इन्द्र की राजसभा को लौट जाती है। पुरूरवा के प्रति वह इतनी अनुरक्त हो गयी है कि अभिनय में 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' बोल जाती है और भरत मुनि का कोपभाजन बनती है। भरत मुनि का शाप यह है कि वह स्वर्ग से भ्रष्ट हो जायेगी। देवराज इन्द्र उर्वशी की मानसिक अवस्था के साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं और यह कहकर उसे मर्त्यलोक में भेज देते हैं कि जब तक पुरूरवा तुम्हारे पुत्र का मुँह न देखे तब तक तुम मर्त्यलोक में राजा पुरूरवा के साथ रह सकती हो। इस प्रकार राजा पुरूरवा और उर्वशी का मिलन सम्पन्न होता है।

पुत्रोत्पत्ति के बाद इस मिलन में औशीनरी नामक पुरूरवा की ज्येष्ठा रानी का औदार्य भी सहायक होता है, जो बहुत स्वाभाविक नहीं लगता। केवल अपने पति की विरह-विधुर अवस्था से कातर होकर ही उसमें त्याग-भावना और औदार्य संचरित होता है। गन्ध-मादन पर्वत पर उर्वशी अपनी गलती के कारण लता बन जाती है और उसे खोजने के लिए पुरूरवा पागलों की भाँति बेचैन हो जाता है और नदी, पर्वत, पेड़, लता सबसे अपनी प्यारी का पता पूछता फिरता है। वस्तुतः चौथे अंक का यह उन्मत्त प्रलाप ही 'विक्रमोर्वशीय' का महत्त्वपूर्ण अंश है। पर्वत की दरार में पुरूरवा को संगमनीय मणि प्राप्त होती है जो पार्वती के चरणों की लालिमा से बनी थी और जिसे धारण करने से प्रियमिलन निश्चित हो जाता है। इस मणि की महिमा से लतारूप में परिणता उर्वशी को राजा स्पर्श करता है और वह फिर उर्वशी बन जाती है।

पंचम अंक से पता चलता है कि उर्वशी के इस बीच एक पुत्र भी हुआ था, जिसका नाम था आयु। उर्वशी ने चुपचाप उसे च्यवन ऋषि के आश्रम में रख दिया था और वह भगवती सत्यवती द्वारा पालित हो रहा था। एक पक्षी संगमनीय मणि को मांस का टुकड़ा समझकर ले भागता है, परन्तु कुमार आयु उस पक्षी को मार गिराता है। कुमार के इस आचरण को आश्रम के आचार के विपरीत समझकर ऋषि उसे पुरूरवा के राजभवन में उर्वशी के पास भेज देते हैं। उर्वशी के पुत्र का मुँह राजा देख लेता है और वह स्वर्ग लौट जाने को बाध्य होती है। राजा कुमार आयु को राज्यभार सौंपकर तपोवन में जाने का निश्चय करता है। इसी समय महर्षि नारद आकर सूचना देते हैं कि आप शस्त्र त्याग न करें, क्योंकि देवों और असुरों के युद्ध में आपकी आवश्यकता होगी, इन्द्र ने आदेश दिया है कि उर्वशी जीवनभर आपकी सहधर्मिणी बनी रहेगी।

पूरा 'विक्रमोर्वशीय' नाटक राजा पुरूरवा के अत्यन्त भावप्रवण और अनुरागी

चित्त से अनुप्राणित है। राजा ही इसमें अधिक प्रेमाप्लुत चित्रित किया गया है। इस नाटक की कथा गीतकाव्यात्मक अधिक है और नाटकीय कम। सारा चौथा अंक निपुण कविनिबद्ध गीतिकाव्य के समान लगता है। उसमें भावों की गहराई और गतिशीलता बड़े ही आकर्षक रूप में प्रकट हुई है। आलोचकों ने इस अंक को 'रघुवंश' के अजविलाप और 'कुमारसम्भव' के रतिविलाप से भी अधिक भाव-विह्वल माना है। इसकी नायिका उर्वशी है जो देवयोनि की है। शापवश उसे मर्त्यलोक में आना पड़ा है। देवयोनि के व्यक्ति मनुष्य के समान भाव-दुर्बल नहीं होते। उन्हें दुःख और शोक की अनुभूति नहीं सताती। लाज और हया के भाव उनकी पलकों को झँपने नहीं देते। परन्तु कवि ने उर्वशी को मनुष्य बनाया है। फिर भी उसमें देवयोनि का स्वभाव सुरक्षित रह गया है। राजा जितना भाव-विह्वल हो गया है उतना उर्वशी नहीं हो पाती। वस्तुतः 'विक्रमोर्वशीय' नाटक अत्यन्त भावुक पुरुष प्रेमी की वृत्ति को घेरकर ही पल्लवित हुआ है, उसमें आवेग की धारा प्रबल है और लोहा जिस प्रकार चुम्बक की ओर खिचता है, उसी प्रकार राजा उर्वशी के अविकारी सौन्दर्य की ओर वेगपूर्वक खिचता है। नाटक के अन्तिम अंक में वात्सल्य भी उभरता है, लेकिन प्रेम का आवेग इतना प्रबल है कि उसके सामने वह फीका पड़ जाता है। पुरूरवा का प्रेम परवर्त्ती काल के सूफी कवियों के कथानायकों की भाँति ऐकान्तिक हो गया है और सामाजिक कर्त्तव्य उपेक्षित रह गया है। यद्यपि कालिदास का चित्रण-कौशल का बहुत कुछ इस नाटक में उपलब्ध है—परन्तु उनका जीवन-दर्शन इस नाटक में प्रबल भाव से नहीं आ पाया है। 'विक्रमोर्वशीय' निविड़ ऐकान्तिक प्रेम का काव्य अधिक है और अन्त-र्वैयक्तिक संघर्षों को जीवन्त बनानेवाला नाटक कम।

इस नाटक में कालिदास ने कुछ बँधी रूढ़ियों से अपने को मुक्त कर लिया है। राजा उन्माद की अवस्था में प्राकृत और अपभ्रंश में बोलने लगता है। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास की धारणा थी कि भाव-विह्वल अवस्था की गाढ़ अनुभूतियों को लोकभाषा में अधिक सफलतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता है। अपभ्रंश की उक्तियों को लेकर पण्डितों में तर्क-वितर्क भी हुए हैं। कुछ लोग उन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास-जैसे स्वतन्त्रचेता कवि ने राजा की उन्माद-ग्रस्त अवस्था का अवसर निकालकर लोकभाषा में कविता लिखने का बहाना ढूँढ़ा है। उन्होंने लोकभाषा की मर्मस्पर्शिनी शक्ति के सम्बन्ध में अपना पक्षपात व्यक्त कर दिया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल

'अभिज्ञानशाकुन्तल' कालिदास का सर्वश्रेष्ठ नाटक तो है ही, संसार के नाटक-साहित्य में भी इसके जोड़ का नाटक दुर्लभ है। नाटक की कथा का आरम्भ राजा दुष्यन्त के तपोवन-प्रवेश से होता है। राजा धनुष पर बाण चढ़ाये हुए रथ पर बैठा हुआ, एक मृग के पीछे भागता हुआ दिखाया गया है। यह आखेट आरम्भ में ही आगे

होनेवाले एक अन्य आश्रमवासी मृगवत् कोमल और कमनीय प्राणी के शिकार की ओर इंगित करता है। राजा मृगयाप्रेमी है। वह मृग पर बाण फेंकने के लिए प्रस्तुत है, लेकिन साथ ही वह सौन्दर्यप्रेमी भी है। भागता हुआ मृग बार-बार पीछे की ओर घूमकर रथ की ओर ताकता है। उसकी 'ग्रीवाभङ्गाभिराम' पलायन-क्रिया का राजा कुछ इस प्रकार वर्णन करता है जिससे पता चलता है कि यद्यपि उसका उद्देश्य शिकार करना है तथापि वह सौन्दर्यप्रेमी है। मृग के तेजी से भागने के कारण ऐसा लग रहा था कि उसका पिछला हिस्सा अगले हिस्से में प्रवेश-सा करता जा रहा है। आधी चरी हुई घास उसके मुँह में लगी है जो भय के कारण गिरती जा रही है और रास्ते पर बिखरती जा रही है। वह इतना तेज भागा जा रहा है कि धरती पर कम और आसमान पर अधिक चलता नजर आ रहा है। राजा का रथ भी उतनी ही तेजी से पीछे-पीछे दौड़ रहा है। इतने ही में आश्रम का तपस्वी वैखानस आ जाता है और हाथ उठाकर राजा को इस हिंसा-पूर्ण कार्य से विरत करता है। वैखानस कहता है कि, "हे राजन्! यह आश्रम-मृग है, इसे मत मारो, मत मारो! कहाँ इन हरिणों के कोमल प्राण और कहाँ तुम्हारे वज्रसमान बाण! इन बाणों को दु:खियों की रक्षा के लिए सुरक्षित रखो।" राजा वैखानस की बात विनीत भाव से स्वीकार करता है। फिर उसी के द्वारा निमन्त्रित होकर आश्रम में प्रवेश करता है। आश्रम के प्रति उसके मन में बड़ी श्रद्धा है। तपस्वियों की तपस्या में किसी प्रकार का विघ्न न हो, यह उसकी प्रधान चिन्ता है। आश्रम के बाहर ही रथ को और सारथी को छोड़कर वह भीतर प्रवेश करता है और प्रवेश करते ही तीन तपस्वी-कन्याओं को देखता है जो छोटे-छोटे घड़ों में पानी लेकर वृक्षों को सींच रही हैं। इन तीन तपस्वी-कन्याओं का रूप कुछ इतना मोहक है कि राजा मन-ही-मन सोचने लगता है कि ऐसे रूप तो अन्तः-पुर में भी दुर्लभ हैं। उसके मन में यही प्रतिक्रिया होती है कि यदि आश्रमवासियों में ऐसा रूप हो सकता है तो फिर उद्यान-लताएँ वन-लताओं के सामने बहुत फीकी पड़ जाती हैं।

ये तीन तपस्वी कन्याएँ हैं—शकुन्तला, जो कण्व मुनि की पालिता कन्या है, और उसकी दो सखियाँ—अनसूया और प्रियंवदा। आश्रमवासिनी होने पर भी वे सरस परिहास में कुशल हैं और यह भी जानती हैं कि उनका विवाह आगे चलकर किसी योग्य वर से होगा। उनकी बातचीत से ही राजा यह अनुमान करता है कि उनमें सबसे सुन्दर कन्या ही कण्वपुत्री शकुन्तला है। उस अव्याज-मनोहर रूप को देखकर जब वह सोचता है कि मुनि ने इसको तपस्याकार्य में नियुक्त कर रखा है तो उसके मन में आता है कि यह मुनि नीलकमल की पंखुड़ियों से शमी का पेड़ काटना चाहता है। तीनों सखियाँ दुष्यन्त की उपस्थिति से एकदम अपरिचित हैं और विश्रब्ध भाव से आपस में बातचीत कर रही हैं। शकुन्तला अनसूया से कहती है कि प्रियंवदा ने यह वल्कल की चोली बहुत कसकर बाँध दी है, इसे तनिक ढीली करो। प्रियंवदा परिहास करती है कि मुझे क्यों दोष दे रही हो अपने उभड़ते

हुए यौवन को दोष दो। दुष्यन्त के मन में शकुन्तला के रूप के प्रति आकर्षण का अनुभव होता है। उसे लगता है कि यह युवती वल्कल पहनकर भी मनोरम लग रही है, वैसे ही जैसे शैवाल से घिरा हुआ कमल शोभित होता है, और कलंक-लांछित चन्द्रमा भी सुन्दर दिखायी देता है। एक क्षण में उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि इस ब्राह्मण कन्या के प्रति मन में अनुराग-भाव का उत्पन्न होना अनुचित है। परन्तु तुरन्त ही वह यह कहकर समाधान कर लेता है कि मेरा मन बहुत पवित्र है, फिर भी जब इसकी ओर आकृष्ट हुआ है तो यह क्षत्रिय से विवाह-योग्य अवश्य होगी। क्योंकि जो लोग स्वभावतः सज्जन हैं उन्हें सन्देहास्पद बातों में अपनी अन्तःकरण-वृत्ति को ही प्रमाण-रूप में मानना चाहिए। इसी समय एक भौंरा आकर शकुन्तला के मुँह पर मँडराने लगता है और राजा सोचने लगता है कि यह भौंरा ही धन्य है, मैं तो जाति-पाँति के विचार में ही उलझा रह गया। शकुन्तला भौंरे से डरी हुई अपनी सखियों से कहती है कि 'सखियो, इस दुष्ट भौंरे से मुझे बचाओ।' सखियाँ परिहास-पूर्वक कहती हैं कि आश्रम का रक्षक तो राजा दुष्यन्त है, उसी को बुलाओ, वही रक्षा करेगा। राजा को बीच में कूद पड़ने का इससे अच्छा मौका और क्या मिल सकता था। अपने राजकीय प्रताप की इस प्रकार घोषणा करता हुआ कि 'दुष्टों का दमन करनेवाले पुरुवंशियों के शासन करते हुए, कौन दुष्ट है जो तपस्वी बालाओं के साथ छेड़-छाड़ करने की हिम्मत कर रहा है', उनके बीच आ पहुँचता है। तपस्वी-कन्याएँ उसका स्वागत करती हैं और बातचीत से वह शकुन्तला के विषय में जानकारी प्राप्त करता है। राजा को मालूम होता है कि शकुन्तला वस्तुतः महातपस्वी क्षत्रिय राजा विश्वामित्र की, मेनका नामक अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न, पुत्री है, और यह भी कि कण्व मुनि इस कन्या को अनुरूप वर के हाथों सौंपना चाहते हैं। दुष्यन्त के हृदय में थोड़ी आशा का संचार होता है। उन्हें यह भी पता चलता है कि कण्व मुनि कहीं बाहर गये हैं और अतिथि-सत्कार का भार अपनी कन्या पर ही छोड़ गये हैं। शकुन्तला के मन में भी राजा के प्रति आकर्षण होता है। दोनों एक-दूसरे की अभिलाषा करने लगते हैं। इसी समय आश्रम में भयंकर उत्पात की सूचना मिलती है। तपस्वी लोग कहते हैं कि मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त की सेना आश्रम की ओर बढ़ी आ रही है और उसके डर से भागा हुआ एक हाथी मूर्तिमान विघ्न के समान मृग-यूथों को छिन्न-भिन्न करता हुआ आश्रम में प्रवेश कर रहा है। यह भी एक प्रतीकात्मक संकेत है। सखियाँ वहाँ से जाने की अनुमति माँगती हैं और राजा भी आश्रम-पीड़ा दूर करने के लिए प्रयत्न करने का आश्वासन देता है। सखियाँ अपनी कुटिया की ओर आती हैं और राजा दूसरी ओर सेना को शान्त करने के लिए आगे बढ़ता है। शरीर तो उसका आगे की ओर चलता है, परन्तु मन पीछे की ओर दौड़ता है ; जैसे हवा की उल्टी दिशा में ले जाये जानेवाले झण्डे की पताका पीछे की ओर दौड़ती है। इस प्रकार प्रथम अंक समाप्त होता है।

दूसरे अंक में जंगल की भाग-दौड़ से थका हुआ विदूषक पहुँचता है और

राजा से विश्राम करने की आज्ञा माँगता है। राजा की भी यही इच्छा है और सोचता है कि अब शिकार बन्द ही कर देना चाहिए। सेनापति को बुलाकर वह आज्ञा देता है कि अब शिकार बन्द कर दो। ऐसा करो कि जंगली भैंसे आराम से तालों में तैरें, हरिणों के झुण्ड शान्ति के साथ पेड़ों के नीचे बैठकर जुगाली करें, छिछली तलैयों में वराहगण विश्रब्ध भाव से मोथे कुतरें और मेरे इस धनुष की प्रत्यंचा ढीली हो और वह भी विश्राम पाये। फिर राजा विदूषक से अपने मन की बात बताता है और अप्सरा-कन्या शकुन्तला को अनाघ्रात पुष्प, अनाविद्ध रत्न, अलून किसलय और अनास्वादित-रस मधु की भाँति बताता है, और यह चिन्ता भी व्यक्त करता है कि न जाने विधाता किसे इस लड़की का वर बनायेंगे। विदूषक से वह यह भी कहता है कि उसका दृढ़ विश्वास है कि शकुन्तला भी उसे चाहती है। इसी समय कण्व मुनि के दो शिष्य आकर उससे आश्रम को राक्षसों के उपद्रव से बचाने का अनुरोध करते हैं और कहते हैं कि जब तक कण्व मुनि बाहर गये हुए हैं तब तक आप आश्रम में रहकर उसकी रक्षा करें। राजा विदूषक से पूछता है कि शकुन्तला को देखने की उसकी इच्छा है या नहीं। विदूषक उत्तर में कहता है कि पहले तो बहुत थी परन्तु अब राक्षसवाली बात सुनकर रञ्चमात्र भी नहीं है। संयोग की बात कि इसी समय राजमाता की आज्ञा लेकर नगर से करभक नामक भृत्य आ पहुँचता है और बताता है कि राजमाता ने आज्ञा दी है कि आज उनके व्रत का चौथा दिन है। इस समय आयुष्मान् दुष्यन्त का यहाँ रहना आवश्यक है। एक ओर मुनियों का काम, दूसरी ओर माता की आज्ञा, राजा दुविधा में पड़ जाता है! फिर वह विदूषक से कहता है कि 'मित्र, माताजी तुम्हें पुत्रवत् मानती हैं, तुम ही चले जाओ।' विदूषक को वह जाने के लिए राजी कर लेता है। राजा के मन में आशंका होती है कि यह बातूनी विदूषक कहीं रानियों से यह बात न कह डाले। उसे यह समझाकर भेजता है कि शकुन्तला के बारे में जो बातचीत हुई है वह केवल 'परिहास-विजल्पित' है, उसे सच न मान लेना। यहीं दूसरा अंक समाप्त होता है। कवि ने परवर्त्ती घटना शकुन्तला-प्रत्याख्यान को अधिक दुर्भाग्यपूर्ण और वास्तव बताने के लिए कौशलपूर्वक विदूषक को यहाँ से हटा दिया है।

तीसरे अङ्क में राजा आश्रम में निवास करता है और शकुन्तला के विरह में व्याकुलता का अनुभव करता है। वह चोरी-चोरी से बेंतों से घिरे हुए उस लता-मण्डप के पास पहुँचता है जो शकुन्तला की कुटिया के निकट है, वहाँ पहुँचकर वह अनुमान से समझ लेता है कि जरूर शकुन्तला इस लतामण्डप में बैठी है, क्योंकि वहाँ पीली रेती पर जो पदचिह्न दिखायी दे रहे थे वे नवयौवना किशोरियों के ही हो सकते थे। वह छिपकर भीतर देखता है और शकुन्तला को पत्थर की पटिया पर लेटी हुई पाता है। शकुन्तला भी दुष्यन्त के प्रेम में व्याकुल है। वह अस्वस्थ हो गयी है और सखियाँ उसकी सेवा कर रही हैं। प्रियंवदा और अनसूया उसका दुःख दूर करने के उपाय पर विचार करती हैं और एक प्रेम-पत्र लिखने की सलाह देती हैं। शकुन्तला को भय है कि कहीं ऐसा करने पर राजा उसके प्रेम को

अस्वीकार न कर दे। अन्त में शकुन्तला प्राकृत कविता में एक प्रेम-पत्र लिख देती है और फिर सखियों को सुनाती है कि ठीक हुआ कि नहीं। अवसर देखकर राजा फिर आ धमकता है। सखियाँ बहाना बनाकर हट जाती हैं और दोनों अकेले रह जाते हैं, और तीसरा अंक समाप्त हो जाता है। शकुन्तला का मुग्ध-भाव इस अंक में बहुत स्पष्ट रूप में उभरता है।

चौथे अंक में अनसूया और प्रियंवदा का प्रवेश होता है। उनकी बातचीत से पता चलता है कि राजा और शकुन्तला का गन्धर्व-विवाह हो गया है। राजा नगर को जानेवाले हैं। दोनों सखियों के मन में कई चिन्ताएँ हैं, कण्व क्या इस विवाह का अनुमोदन करेंगे और राजा क्या राजधानी जाकर शकुन्तला का स्मरण करेंगे, इत्यादि। वे शकुन्तला के सौभाग्यदेवता की पूजा के लिए फूल चुनती हैं। इसी समय उन्हें नेपथ्य में दुर्वासा मुनि की क्रोध-भरी वाणी सुनायी देती है। वे अतिथि होकर आश्रम में आये हैं, किन्तु दुष्यन्त के ध्यान में लीन शकुन्तला को दुर्वासा के आने का पता नहीं चलता। दुर्वासा शाप देते हैं कि जिसकी याद में खोयी हुई तू मेरी उपेक्षा कर रही है, वह तुझे भूल जायेगा, याद दिलाने पर भी उसे तेरी याद नही आयेगी। दोनों सखियाँ दौड़कर ऋषि से अनुनय-विनय करती हैं। मुनि थोड़ा-सा पसीजते हैं और कहते हैं कि मेरी बात अन्यथा तो नहीं हो सकती, लेकिन अभिज्ञान या सहदानी के रूप में किसी आभरण को दिखाने पर उसे याद आ जायेगी। दोनों सखियाँ शकुन्तला को यह बात बताती तो नहीं, लेकिन चुपचाप यह निश्चय कर लेती हैं कि शकुन्तला को समझा देंगी कि यदि राजा न पहचाने तो उसको उसकी अँगूठी दिखा देना। प्रियंवदा और अनसूया की बातचीत से यह भी पता चलता है कि कण्व मुनि आ गये हैं और आकाशवाणी से उन्हें पता चल गया है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का गन्धर्व-विवाह हो चुका है और शकुन्तला के पेट में दुष्यन्त का तेज, पुत्र-रूप में आ गया है। कण्व मुनि ने शकुन्तला को पतिगृह भेज देने का निश्चय किया है।

इसके बाद शकुन्तला को पतिगृह जाने के लिए प्रौढ़ा तापसी गौतमी और उसकी सखियाँ अनेक प्रकार के आभरणों से सज्जित करती हैं। कण्व के प्रभाव से आश्रम के किसी वृक्ष ने शुभ्र मांगलिक वस्त्र दे दिया था और किसी ने पैर में लगाने की महावर दे दी थी और वनदेवियों ने तो वृक्षों के किसलयों से मिलते-जुलते कलाई तक अपने कोमल हाथ निकालकर अनेक मांगल्य आभरण दिये थे। शकुन्तला आभरण से युक्त होकर जाने के लिए तैयार होती है, उसी समय कण्व मुनि का प्रवेश होता है। उनका गला भर आया है, आँखों में आँसू भरे हुए हैं। वे वाष्पविगलित कण्ठ से शकुन्तला को आशीर्वाद देते हैं कि वह पति की उतनी ही प्रिय हो जितनी कि राजा ययाति की शर्मिष्ठा थी, और सम्राट् पुत्र प्राप्त करे। अग्नि की प्रदक्षिणा के बाद कण्व के दो शिष्य शारद्वत और शार्ङ्गरव तथा गौतमी शकुन्तला के साथ जाने को प्रस्तुत होते हैं। कण्व तपोवन के वृक्षों से शकुन्तला के पतिगृह जाने की अनुज्ञा माँगते हैं। स्नेह-विजड़ित कण्ठ से वे कहते हैं कि 'हे

तपोवन के वृक्षो, तुम्हें पानी पिलाये बिना जो पानी नहीं पीती थी, आभूषण पहनने का प्रेम होते हुए भी जो स्नेहवश तुम्हारा पल्लव नहीं तोड़ती थी, तुम्हारे प्रथम पुष्पोद्गम के समय जो उत्सव रचाती थी, वह शकुन्तला अब पतिगृह जा रही है। सब लोग उसे अनुज्ञा दो।' शकुन्तला स्खलित गति से आगे बढ़ती है। तपोवन के हिरण ने व्याकुलतावश आधे चबाये हुए कुश के कवल को उगल दिया, मयूरों ने नृत्य छोड़ दिया, वृक्षों ने पीले-पीले पत्रों के आँसू बहाये। चलते-चलते शकुन्तला अपनी लता-भगिनी वनज्योत्स्ना को पुकारती है और आलिंगन करती है। सारा आश्रम शकुन्तला के वियोग की आशंका से रो पड़ता है। वह मृगछौना, जिसके मुँह में कुश की नुकीली पत्तियों को चरते समय जब घाव हो गया था तो शकुन्तला ने इंगुदी का तेल लगाकर उसकी शुश्रूषा की थी और साँवा के कोमल पत्तों का ग्रास खिलाकर अपने पुत्र-जैसा बनाकर बड़ा किया था, दौड़ा हुआ आता है और पीछे से शकुन्तला की साड़ी खींचने लगता है। शकुन्तला की छाती फटने लगती है, 'हाय! बेचारे की माँ जन्मते ही मर गयी थी। कौन इसकी देखभाल करेगा?' यह भी भावी विपत्ति की सूचना-जैसा लगता है। लेकिन शकुन्तला मृगशावक को आश्वासित करती है कि पिताजी तेरी देखभाल करेंगे। ऊँची-नीची भूमि में शकुन्तला के पैर डगमगा उठते हैं। कण्व स्नेहपूर्वक उसे रोने से विरत होने को कहते हैं। अन्त में शकुन्तला को गृहिणी-धर्म का उपदेश देकर और दुष्यन्त को उसके प्रति सद्व्यवहार करने का सन्देश देकर और साथ ही पुत्र को सम्राट्पद पर अभिषिक्त करने के बाद फिर आश्रम में लौट आने का आश्वासन देकर लौटते हैं। एक बार दीर्घ निःश्वास लेकर कहते हैं कि शकुन्तला ने बलि के लिए जो धान छींटे थे उनके अंकुर कुटी के द्वार पर उगेंगे। उन्हें देखते हुए वे कैसे शोक-वेग को शान्त कर सकेंगे! सखियाँ इस बीच शकुन्तला को बता चुकी हैं कि यदि राजा न पहचाने तो उसे अँगूठी दिखा दे। चौथा अङ्क यहीं समाप्त होता है।

पाँचवें अंक में अवगुण्ठनवती और वस्त्रों के भीतर से लावण्यधारा छिटकाती हुई शकुन्तला पीले पत्तों के बीच शोभित होनेवाले किसलय के समान तपोधनों के साथ राजा के दरबार में ले जायी जाती है और राजा को बताया जाता है कि यह तुम्हारी विवाहिता वधू है, परन्तु वह पहचानता नहीं। कण्व मुनि के दोनों शिष्य उसे न पहचानने के लिए बुरा-भला कहते हैं। गौतमी तो उसका घूंघट भी हटा देती है, ताकि राजा पहचाने। शकुन्तला भी कुछ घटनाओं की याद दिलाकर उसे स्मरण करवाने की चेष्टा करती है, लेकिन सब व्यर्थ हो जाता है। अन्त में अँगूठी दिखाने के लिए अंगुली की ओर देखती है, परन्तु अँगूठी वहाँ नहीं मिलती। राजा उपहास करता है कि 'स्त्रियों में इस प्रकार का अशिक्षित-पटुत्व तो होता ही है। वे तुरन्त बहाने बना लेती हैं।' ऋषि का शिष्य शार्ङ्गरव क्रुद्ध हो उठता है, परन्तु राजा पर कोई असर नहीं पड़ता। अन्त में दोनों शिष्य यह कहकर चल देते हैं कि 'यह तुम्हारी पत्नी है। इसे घर में रखो या निकाल दो।' शकुन्तला रो उठती है, 'हाय! इस धूर्त्त ने तो मुझे धोखा दिया ही, तुम भी छोड़कर जा रहे

हो ।' गौतमी का मातृ-हृदय व्याकुल हो उठता है, 'बेटा शार्ङ्गरव ! यह रोती हुई शकुन्तला पीछे-पीछे आ रही है। क्या करे मेरी बेटी, इसे पति ने छोड़ दिया !' शार्ङ्गरव डाँटता है, 'दुष्टे ! तू मनमानी करना चाहती है। यदि यह सही है, जैसा कि राजा कहता है कि उसने तेरे साथ विवाह नहीं किया तो पितृकुल में तेरा स्थान नहीं है और यदि यह सही है, जैसा कि तू कह रही है कि यह तेरा पति है तो पतिकुल में तुझे दासी बनकर भी रहना चाहिए।' दुष्यन्त के मन में थोड़ी-सी करुणा उत्पन्न होती है। अन्त में राजा के पुरोहित यह कहकर शकुन्तला को अपने घर ले जाने को प्रस्तुत होते हैं कि यदि इसके पुत्र में चक्रवर्त्ती के लक्षण मिल जायेंगे तो इसे अन्तःपुर में ले लीजिएगा और नहीं तो इसके पिता के पास भेज दीजिएगा। विवश शकुन्तला कातर भाव से चिल्ला उठती है, 'हे धरती ! फट जा, तू मुझे गोद में ले ले।' अपने भाग्य को कोसती हुई शकुन्तला जिस समय रोने लगती है उसी समय आकाश से एक ज्योतिरूपा स्त्री उतरती है और उसे लेकर अप्सरा-तीर्थ की ओर चली जाती है। दुष्यन्त का हृदय व्याकुल हो उठता है। भीतर से कोई विचित्र-सी हूक उठकर उसे विश्वास-सा दिलाने लगती है कि कुछ बात हुई ज़रूर है, लेकिन याद नहीं आ रही। पाँचवाँ अंक समाप्त होता है।

छठे अंक में एक मछुवा को पकड़कर, जिसके पास राजा की अँगूठी पायी गयी है, राजदरबार में ले आते हैं। राजा को अँगूठी मिलती है और शकुन्तला की स्मृति भी जाग उठती है। वस्तुतः यह अँगूठी मछुवे को किसी मछली के पेट से मिली थी।

अँगूठी पाकर राजा व्याकुल हो जाता है। वह चिन्ता और अनिद्रावश क्षीण होता जाता है। वसन्तोत्सव का निषेध कर दिया जाता है। अँगूठी ने सारी पुरानी बातें सामने प्रकट कर दी हैं : 'हाय ! मृगनयनी शकुन्तला ने जब बार-बार याद दिलायी थी, तब भी यह हृदय सोया रहा। केवल पश्चात्ताप का दुःख भोगने के लिए यह भाग्यविहीन हृदय अब जाग उठा है।' दुःख, अनुताप और विरह से राजा व्याकुल हो उठता है। इसी समय शकुन्तला की एक सखी सानुमती (मिश्रकेशी) प्रच्छन्न भाव से आकर राजा की दशा देखती है और यह जानकर आह्लादित होती है कि राजा को अब शकुन्तला की याद आ गयी है और वह शकुन्तला के परित्याग के कारण बुरी तरह से दुःखित है। राजा की यह व्याकुलता सचमुच बड़ी विषम है : 'हाय ! मैंने जब उसे (शकुन्तला को) अस्वीकार कर दिया तो वह अपने स्वजनों के पीछे-पीछे चली। उसी समय गुरु के समान ही गुरु के शिष्य ने डाँटकर कहा, रुक जाओ ! वह खड़ी हो गयी। उस समय उसने आँसुओं से भरी आँखें मुझ क्रूर की ओर फेरीं। वह दृष्टि ज़हर से बुझे शल्य की तरह मेरी छाती में घुसी हुई जला रही है।' राजा व्याकुल है, उस अँगूठी का उपालम्भ कर रहा है। सानुमती (मिश्रकेशी) को भी यह पता चल जाता है कि इस अँगूठी के न मिलने से ही राजा शकुन्तला को भूल गया था। राजा शकुन्तला का चित्र लेकर मनो-विनोद करता है। उसकी कमियों को पूरा करने का प्रयत्न करता है। इसी समय

प्रतिहारी निस्सन्तान सेठ धनमित्र के डूबकर मर जाने की खबर देती है। राजा के मन में निस्सन्तान होने के कष्ट का अनुभव होता है और जब वह सुनता है कि सेठ की बेटी को सन्तान होनेवाली है, तो आदेश देता है कि सेठ की सम्पत्ति गर्भस्थ बालक को ही दी जाय। इस घटना से राजा को गर्भवती शकुन्तला और भी अधिक याद आती है। वह मूच्छित हो जाता है। इसी समय मातलि आते हैं और अदृष्ट रूप में ही विदूषक का गला दबाने लगते हैं। वह चिल्लाता है तो राजा का ध्यान भंग होता है। जब वह धनुष उठाता है तो मातलि प्रत्यक्ष होते हैं और बताते हैं कि राजा का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए ही उन्होंने विदूषक को तंग किया था। मातलि बताते हैं कि कालनेमिवेशी दानवों ने स्वर्ग में उपद्रव किया है। इसलिए उनका दमन करने के लिए इन्द्र ने राजा को बुलाया है। राजा मातलि के साथ रथ पर चढ़कर दानवों के विध्वंस के लिए इन्द्रलोक की ओर प्रस्थान करता है। छठा अंक यहीं समाप्त हो जाता है।

सातवें अंक में राजा स्वर्ग में दानवों को पराजित करके मर्त्यलोक की ओर आता है और कश्यप ऋषि के आश्रम में हेमकूट नामक किन्नर पर्वत पर पहुँचता है और वहाँ की शोभा देखकर प्रसन्न होता है। वहीं उसकी दाहिनी भुजा फड़कती है। राजा को नटखटपने की आवाज़ सुनकर आश्चर्य होता है और देखता है कि एक पराक्रमी बालक है, जिसके पीछे दो तपस्विनियाँ आ रही हैं। यह बालक सिंहिनी के स्तनों से आधा दूध पीये हुए सिंह-शिशु को बलपूर्वक खेलने के लिए घसीट रहा है। बच्चा सिंह का जबड़ा खोलकर कहता है कि मैं तेरे दाँत गिनूंगा। तपस्विनियाँ बच्चे को डाँटती हैं और कहती हैं कि तेरा नाम यहाँ के ऋषियों ने जो सर्वदमन रखा है, वह ठीक ही है। राजा के हृदय में स्नेहभाव अंकुरित होता है। वह सोचता है कि यह ज़रूर किसी तेजस्वी का पुत्र होगा। तपस्विनियाँ उसे खिलौना देने का लालच देकर सिंह-शिशु को छुड़वाती हैं। खिलौना लेने के लिए जब वह हाथ फैलाता है तो राजा यह देखकर चकित हो जाता है कि उसमें चक्रवर्त्ती के लक्षण हैं। उस नन्हे-नन्हे दाँतोंवाले, अटपटी वाणी बोलनेवाले बालक को देखकर वह सोचने लगता है कि वे लोग धन्य हैं जो ऐसे बच्चों के शरीर की धूल से मैले होते हैं। तापसी राजा से कहती है कि इस सिंह के बच्चे को आप ही ज़रा छुड़ा दीजिए। राजा बच्चे को जब 'महर्षिपुत्र' कहता है तो तापसी उसे बताती है कि यह ऋषि का पुत्र नहीं। फिर वह बच्चे को गोद में ले लेता है। तापसियाँ राजा के साथ बच्चे का आकृतिसाम्य देखकर अचरज में पड़ जाती हैं। राजा को तापसियों से ही पता चलता है कि यह बालक पुरुवंश का है और इसकी माँ किसी अप्सरा की कन्या है। राजा के मन में यह आशा उत्पन्न होती है कि यह शकुन्तला का बालक हो सकता है। दूसरी तापसी मिट्टी का मोर लेकर पहुँच जाती है और बच्चे को उस 'शकुन्त-लावण्य' (पक्षी का सौन्दर्य) की ओर आकर्षित करना चाहती है। बच्चा समझता है कि उसकी माता शकुन्तला का नाम लिया जा रहा है और तब राजा को भी पता चलता है कि यह शकुन्तला का पुत्र है।

इसी समय एक और आश्चर्यजनक घटना घटती है। तापसी चिन्तित होकर देखती है कि बच्चे की कलाई पर जो अपराजिता नामक औषधि बाँधी गयी थी वह कहीं खुलकर गिर गयी है। इसको बच्चे के पिता, माता और वह स्वयं, तीन ही स्पर्श कर सकते थे। यदि दूसरा कोई छूता था तो वह सर्प बनकर डस लेती थी। राजा को इस बात का पता नहीं था और वह औषधि उठा लेता है। इस प्रकार तापसियों को विश्वास हो जाता है कि राजा दुष्यन्त ही बालक के पिता हैं। तापसियाँ शकुन्तला को खबर देने चली जाती हैं। राजा बालक को गोद में ले लेता है। बालक अपने को छुड़ाकर माँ के पास भागना चाहता है और राजा के यह कहने पर कि 'बेटे, मेरे साथ ही माँ का अभिनन्दन करो', कहता है कि 'मेरा पिता तो दुष्यन्त है, तुम नहीं।' इसी समय एकवेणीधरा शकुन्तला प्रवेश करती है। उसके मन में अब भी अपने भाग्य पर भरोसा नहीं है। कौन जाने, राजा अब भी पहचाने या नहीं! राजा शकुन्तला को देखता है। हाय! यह वही शकुन्तला है। शरीर पर मैले कपड़ों का एक जोड़ा पड़ा हुआ है, निरन्तर व्रत-उपवास करते रहने से मुँह सूख गया है, केश उलझकर एकलट बन गये हैं, अत्यन्त निष्करुण दुष्यन्त के विरह-व्रत को वह धारण कर रही है। राजा का मुख पश्चात्ताप से पीला पड़ जाता है। इतना पीला कि शकुन्तला पहचान नहीं पाती है। सोचने लगती है, कौन है यह जो मेरे पुत्र को अपने गात्र-संसर्ग से मलिन कर रहा है! बालक दौड़कर माता के पास जाता है और कहता है कि माँ यह कोई पुरुष 'बेटा' कहकर मेरा आलिंगन कर रहा है। राजा का हृदय हाहाकार कर उठता है। उसकी निष्ठुरता का यह अनुचित दण्ड है कि शकुन्तला उसे पहचान नहीं रही। राजा की स्मृति पर पड़ा हुआ मोह का पर्दा हट गया है और उसे शकुन्तला वैसे ही मिल गयी है जैसे चन्द्रग्रहण बीतने पर चन्द्रमा को रोहिणी मिल जाती है। शकुन्तला आर्यपुत्र की जय बोलती है, लेकिन उसका कण्ठ वाष्परुद्ध हो जाता है। अब भी उसे अपने भाग्य पर विश्वास नहीं होता। बालक पूछता है, 'माँ! यह कौन है?' माँ कहती है, 'बेटा! अपने भाग्य से पूछ।' राजा शकुन्तला के पैरों पर गिर पड़ता है और प्रार्थना करता है कि उसने जो उसका निरादर किया था उसे वह अपने मन से निकाल दे; क्योंकि उस समय उसकी वैसी ही अवस्था थी, जैसे किसी दृष्टिहीन अन्धे के सिर पर कोई सुगन्धित पुष्पों की माला डाले और वह साँप की आशंका से झटककर गिरा दे। शकुन्तला राजा के हाथ में पड़ी हुई उस अँगूठी को पहचान लेती है। परन्तु राजा जब उसे उसकी अंगुलियों में पहनाने लगता है तो कहती है, 'मैं इसका विश्वास नहीं करती, आप ही इसे पहनें।' इसी समय मातलि का प्रवेश होता है, वह शकुन्तला और दुष्यन्त को लेकर कश्यप मुनि के पास पहुँचते हैं और उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। नाटक यहीं पर समाप्त होता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में अन्यतम है। कालिदास ने शकुन्तला को निसर्गकन्या के रूप में चित्रित किया है। वह तपोवन के वृक्ष, लता, पशु-पक्षियों के समान प्रकृति से उत्पन्न

सुकोमल लता की भाँति है। प्रत्येक लता उसे अपनी बहन समझती है और वह समूचे आश्रम की प्रत्येक वस्तु को अपना सगा मानती है। जिस वनज्योत्स्ना को उसने लताभगिनी के रूप में स्वीकार किया था और जिसका विवाह उसने नवीन सहकार वृक्ष (आम) से किया था, वह उसके उपकार से गद्‌गद जान पड़ती है। विद्वानों का अनुमान है कि इसी वनज्योत्स्ना ने भँवरे को छोड़कर उसके लिए अनुकूल वर ढूँढने का उपक्रम किया था। मृगशिशु उसके हृदय की बात जानता है और किसी अज्ञात सहजात वृत्ति के द्वारा भविष्य की हृदय-विदारक घटना का आभास पा जाता है। वह दुष्यन्त के हाथ का दिया जल नहीं पीता और विदाई के समय पीछे से आकर उसका कपड़ा खींचने लगता है, मानो भावी दुर्घटना को वह जान गया हो और शकुन्तला को पति-गृह जाने से रोकना चाहता हो। चक्र-वाक युवा चक्रवाकी की पुकार का उत्तर नहीं देता, मानो वह इंगित से बता देना चाहता हो कि इस यात्रा का परिणाम शकुन्तला के लिए भी ऐसा ही कुछ होनेवाला है। उसके वियोग की आशंका से सारी वनस्थली रो पड़ती है। वृक्ष आँसू की तरह पीले पत्ते गिराते हैं, मृगयूथ आधी चरी हुई घास मुँह में लिये हुए व्याकुल भाव से ठिठक जाते हैं, मयूर नाचना छोड़ देते हैं और लताएँ अपने दीर्घ निःश्वास की भाँति भ्रमरियों को उड़ा देती हैं। सारा चित्रण कुछ इस प्रकार का है कि शकुन्तला उस तपोवन में खिली हुई एक पुष्पवती लता के समान दिखायी देती है—भोली, उभरती हुई, आरूढ़यौवना! वस्तुतः 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में प्रकृति एक जीवन्त पात्र है। शकुन्तला का शृंगार वही करती है और शकुन्तला के लिए वह सबसे अधिक व्याकुल है। उसके पल्लव और पुष्प ही शकुन्तला के शृंगार हैं, वल्कल ही उसके वसन हैं, मृणालनाल ही उसके हार हैं, 'आगण्ड-विलम्बि-केसर' और शिरीषपुष्प ही उसके कर्णफूल हैं, कमलिनी के पत्र ही उसे शीतलता प्रदान करते हैं, मृगशिशु ही उसके क्रीड़ा-सहचर हैं और लता और वृक्षों की सेवा ही उसका मनोविनोद है। इस निसर्गकन्या के जीवन में राजा का प्रवेश होता है। अत्यन्त विश्वास के साथ वह आत्मसमर्पण करती है। छल-प्रपंच नाम की वस्तु से उसे परिचय ही नहीं है। वह जानती ही नहीं कि प्रेम का प्रत्याख्यान भी हो सकता है। दुष्यन्त राजा है। कूटनीति की कुशलता ही उसे सफल बना सकती है। कालिदास ने दुर्वासा ऋषि के शाप का बहाना करके उसके चरित्रगत औदात्य की लाज रख ली है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान की घटना बड़ी ही मर्मन्तुद है। अत्यन्त विश्वास के साथ आगे बढ़ी हुई मुग्धा शकुन्तला एक ओर अपने प्रेमी द्वारा लाञ्छित और परित्यक्त होती है और दूसरी ओर उसके स्वजन भी उसका त्याग करते हैं और एक विचित्र प्रकार के भाग्य-विडम्बन का दृश्य उपस्थित होता है। इस भाग्य-विडम्बन के मूल में राजा दुष्यन्त की दी हुई अँगूठी हेतु बनती है। पहली बार प्रकृति की गोद में पली हुई मुग्धा किशोरी शकुन्तला को सोने का अलंकार मिला था। कृत्रिम सभ्यता का प्रवेश इस सोने के अलंकार के रूप में प्राकृतिक वातावरण के जीवन में होता है। यह अँगूठी ही अभिज्ञान का काम करती है और प्रत्याख्यान का भी कारण बनती

है और दुष्यन्त के हृदय में पश्चात्ताप का भी हेतु बनती है। इस सोने के अलंकार का प्रवेश इतनी महत्त्वपूर्ण घटना है कि कालिदास ने अपने नाटक का नाम ही इसी के आधार पर 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' रखा है।

परन्तु इस अँगूठी का एक दूसरा रूप भी है। वह दुष्यन्त के हृदय को पवित्र करने का भी निमित्त बनती है। शकुन्तला की दयनीय स्थिति की याद आते ही और अपने पुराने प्रेम की स्मृति के जागते ही दुष्यन्त के हृदय में पश्चात्ताप और व्याकुलता की आँधी बह जाती है। शकुन्तला के त्याग, शील और कष्ट ने दुष्यन्त के हृदय को निर्मल बनाया है। उसे सच्चे उदात्त चरित्र के रूप में निखारा है। शकुन्तला का चित्र बनाने के बाद दुष्यन्त उसमें कमी देखने लगता है। वह कमी क्या है ? शकुन्तला को जब तक पूरे वातावरण में रखकर न देखा जाये तब तक उसे ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। बड़ी कठिन वेदना के झेलने के बाद राजा शकुन्तला को ठीक-ठीक समझ पाता है। शकुन्तला का चित्र कितना भी यथार्थ क्यों न बना हो तब तक वह अधूरा ही है जब तक उसे उस तपोवन में नहीं देखा जाता, जिसमें मालिनी नदी के सैकत पुलिन पर अत्यन्त विश्रब्ध भाव से बैठे हुए हंसों के जोड़े दिखायी देते हैं; जिसमें तपस्वियों के स्नानोपरान्त भीगे हुए वल्कलों से चूए हुए जल-विन्दुओं से आश्रम की पगडण्डी पर आर्द्र रेखा बन गयी है; जिसके पेड़ों पर तापस जन के वल्कल सूखने के लिए फैलाये हुए हैं और जिसके पेड़ों के नीचे आशंकाहीन मृग-दम्पति विश्राम कर रहे हैं। दुष्यन्त ने इस बात को ठीक ही समझा था। सारी घटनाएँ कुछ ऐसी हृदय-विदारक हैं जैसे विश्वासपूर्वक किसी मृगी को बुलाकर व्याध ने उसके पेट में छुरा भोंक दिया हो। राजा का हृदय हाय-हाय कर उठा था। उस दारुण वेदना का आभास उसके इस कथन से प्रकट होता है कि चित्र में वृक्ष के नीचे भारी-भरकम सींगोंवाला कृष्णसार मृग अंकित होना चाहिए और उसके बगल में बैठी हुई उसकी प्रिया इस प्रकार अंकित होनी चाहिए जो अपनी बायीं आँख का कोना विश्वासपूर्वक उसकी सींग पर खुजला रही हो। कैसा विश्वास का वातावरण था वहाँ पशु-प्रेमियों में ? शकुन्तला भी उसी आश्रम में पली थी। उसने भी मृगी की भाँति विश्वासपूर्वक अपनी आँख अपने प्यारे मृग की सींग पर खुजलाने का प्रयत्न किया था। लेकिन यह मनुष्यप्रेमी इतना विश्वासघातक निकला कि उसने उसकी आँख ही फोड़ दी—असावधानी के कारण नहीं, धर्मात्मा बनने के ढोंग से ! दुष्यन्त को कहीं शकुन्तला के मुग्ध सौन्दर्य का ठीक-ठीक परिचय पहले हुआ होता !

कवि ने शकुन्तला को जितनी ही सुकुमारपट-भूमिका पर रखा है, उतनी ही पवित्र मुग्धता उसमें उभारी है और उतना ही भयंकर पश्चात्ताप दुष्यन्त के हृदय को परितप्त कर रहा है। शकुन्तला ने आत्मसमर्पण किया था—बाह्य रूप के आकर्षण पर, परिणाम बड़ा ही भयंकर हुआ। मदन देवता के फूलों के बाण विफल हो गये, यौवन का मादक आकर्षण व्यर्थ सिद्ध हुआ। परन्तु इस क्षणिक उन्माद के प्रमाद को कालिदास चिरस्थायी बनाने के पक्ष में नहीं हैं। शकुन्तला फिर दूसरे

तपोवन में जाती है—निराश, अपमानित, लाञ्छित। अगर यहीं सब-कुछ समाप्त हो जाये, तो सृष्टि का उद्देश्य ही वन्ध्य हो जाय। दूसरे तपोवन में शकुन्तला नयी तपस्या शुरू करती है। 'नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी' वाला रूप धारण करती है। उसकी तपस्या चरितार्थ होती है। दुष्यन्त का अनुताप-दग्ध हृदय वात्सल्य रस से सिक्त होकर नया जीवन पाता है। वात्सल्य रस, जो पुष्पधन्वा के उत्पात के मालिन्य को धो देता है, प्रत्याख्यान के कलमष को बहा देता है और टूटे हृदयों को जोड़ने में वज्रलेप का काम करता है। अँगूठी एक बार फिर आ जाती है, पर शकुन्तला ने ठीक ही कहा था कि 'मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकती।' निसर्ग-सौन्दर्य और निसर्ग-प्रेम में यह कृत्रिम अलंकरण केवल उत्पात का ही कारण बन सकता है।

शकुन्तला नाटक मनुष्य के उन्मद आकर्षण से आरम्भ होता है, उद्धत प्रत्याख्यान से टूटता है और मंगलमय वात्सल्य से नया जीवन प्राप्त करता है। वह स्वर्ग और मर्त्य की कड़ी जोड़ता है, त्याग और भोग को सन्तुलित करता है, कर्त्तव्य और निर्बन्ध प्रेम का सामंजस्य उपस्थित करता है, राजभवन और तपोवन का सम्पर्क स्थापित करता है और उन्मद यौवन लालसा के ऊपर प्रशान्त गार्हस्थ्य की विजय दिखाता है। यह मनुष्य और प्रकृति के साथ एकसूत्रता स्थापित करता है और विश्वव्यापी भावचेतना के साथ व्यक्ति की भावचेतना का तादात्म्य स्थापित करता है। इस एक नाटक को ही आश्रय करके मनुष्य के अनेक सुकुमार भाव सजीव हो उठे हैं और पूर्ण सामंजस्य में शोभित हुए हैं। कालिदास ने इन सुकुमार भावनाओं को बड़े ही कौशल के साथ चित्रित किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि संसार के मनीषियों ने इसे इतना सम्मान दिया है।

कालिदास के अध्ययन के लिए कुछ आवश्यक जानकारी

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् ए. बी. कीथ ने अपने इतिहास में कालिदास की मान्यताओं पर विचार करते हुए लिखा है :

"दोनों (रघु. और कुमार.) महाकाव्य, विशेषतः 'रघुवंश,' यह प्रदर्शित करते हैं कि विश्व के स्वरूप के विषय में सांख्य और योग की दृष्टि कालिदास को मान्य थी। प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् अपने नैतिक पक्ष में

उपमाओं के लिए विषय प्रदान करते हैं। सरयू के रूप में ब्रह्म-समुद्र उस अव्यक्त की भाँति हैं, जिसमें महतत्त्व उत्पन्न होता है। योगाभ्यास को अभिस्वीकार किया गया है; आसन पर बैठकर वृद्ध राजा धारणा का अभ्यास करता है, तपस्वियों के कठिन आसन, वीरासन, की उपमा निश्चलतया स्थित वृक्षों से दी गयी है, सीता तपस्या द्वारा अगले जन्म में अपने पति से पुनर्मिलन प्राप्त करना चाहती है, योगीगण दरवाजे के भीतर प्रविष्ट हो जाने की शक्ति प्राप्त कर सकता है और उसका दाह-संस्कार नहीं होता, प्रत्युत रघु की भाँति उसे पृथ्वी माता के भीतर गाड़ दिया जाता है। परन्तु हम यह नहीं मान सकते कि कालिदास का अभिमत ईश्वर, योग-दर्शन का साधारण ईश्वर है। कालिदास के अनुसार ब्रह्म में सांख्य के प्रकृति और पुरुष दोनों संयुक्त हैं; और इससे सूचित होता है कि कठोपनिषद् के लेखक की भाँति कालिदास भी प्रकृति और पुरुष के ऊपर एक परम तत्त्व को मानते थे, जो उनके लिए विशेष करके शिवरूप है, परन्तु जो ब्रह्मा और विष्णु भी है और जो अन्धकार से परे है और कभी नष्ट नहीं होता। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् इसी परम तत्त्व में मिल जाता है, क्योंकि रघुवंश में 'ब्रह्मभूतां गतिमाजगम' का यही अभिप्राय है। यदि तत्त्वज्ञान न होकर केवल पुण्य कर्म ही हो तो मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है; क्योंकि ज्ञान से ही कर्म दग्ध होते हैं, अन्यथा वे कर्म मनुष्य को बार-बार जन्म लेने को विवश करते हैं। इस मत को स्वीकार करने में हमें विशेष संकोच न होना चाहिए, क्योंकि यह लोकप्रिय वेदान्त की भी मौलिक दृष्टि है और इससे एक विचारशील और विवेकी व्यक्ति को उक्त तीन महान् देवताओं में विश्वास का सामञ्जस्य स्थापित करने का एक सफल उपाय प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है कि आयु बढ़ने के साथ-साथ कालिदास का चित्त परमात्मा के सर्व-व्यापक स्वरूप की ओर और उससे ऐक्य प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की क्षमता की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है।

"ऐसे दर्शन में मानव-हृदय के मौलिक द्वन्द्वों का कोई समाधान चाहना अथवा मनुष्य के उद्देश्यों और उसके भाग्य की कोई स्वतन्त्र आलोचना की अपेक्षा करना निरर्थक होगा। भारत में अनेक नास्तिक हुए हैं, परन्तु उनकी सारी कृतियाँ नष्ट हो गयीं, पर सौभाग्य से हम ऐसी पूर्णता के साथ ब्राह्मण-धर्म के आदर्श की, उसके सबल-दुर्बल पक्षों के साथ, काव्यात्मक प्रतिमूर्त्ति की रक्षा कर सके हैं। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त जैसा आदर्श गम्भीर मानवीय संवेदना का निषेध नहीं करता, जैसी कि मेघदूत की उत्कण्ठा में, मृत इन्दुमती के सम्बन्ध में अज द्वारा किये गये विलाप में और निहित काम के लिए किये गये रति के विलाप में हमें दिखायी पड़ती है। परन्तु ऐसे आदर्श में अपने को ईश्वर की इच्छा को अर्पण कर देना आवश्यक है और यदि स्वरूपगत पूर्णता में कालिदास के काव्य उनको भारत का Virgil घोषित करते हैं तो हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि Aeneid के छठे खण्ड की दृष्टि और कल्पना कालिदास की शक्ति के बाहर की वस्तु थी।" (ए. बी. कीथ : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास')

जब कीथ-जैसे विद्वान् के मन में यह बात आती है तो उसे यों ही नहीं टाल दिया जा सकता। इसका कारण है। भारतीय साहित्य की कुछ मूल मान्यताओं पर आस्था या जानकारी के अभाव से ही ऐसी बातें मन में आ सकती हैं। हमने 'भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति' नामक निबन्ध में इसकी चर्चा की है। यहाँ संक्षेप में उन विचारों को फिर से कहा जा रहा है।

केवल कालिदास के ही नहीं, समूचे संस्कृत साहित्य के अध्येता को कुछ मूल-भूत भारतीय विश्वासों को जानकर ही आगे बढ़ना चाहिए। इन विश्वासों की उपेक्षा करने के कारण कभी समझदार लोग भी ऐसी बातें कह जाते हैं, जो चिन्त्य होती हैं। मैंने अन्यत्र इस विषय पर विशेष रूप से लिखा है। यहाँ उन विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ के काव्यों और नाटकों के लेखकों में से अधिकांश की प्रवृत्ति यह रही है कि उसकी कथा लोक-विश्रुत हो और उसका नायक और उसकी नायिका प्रसिद्ध वंश-जात और इतिहास-समर्थित पुरुष-स्त्री हों। विदेशी साहित्य में पाठक की कुतूहली वृत्ति को सदा जागरूक रखने की जो चेष्टा है, भारतीय साहित्य में उसका एकान्त अभाव कभी-कभी विदेशी पाठक को खटक जाता है और कभी-कभी आधुनिक-शिक्षा प्राप्त भारतीय विद्वान् को भी सदोष जान पड़ता है। इसलिए भारतीय साहित्य के अध्येता के लिए इस प्रवृत्ति का कारण जान लेना बहुत आवश्यक है। अगर वह इस प्रवृत्ति को नहीं जानता तो भारतीय साहित्य के आधे गुण-दोष को वह नहीं पहचान सकता। उसकी प्रशंसा और उसकी निन्दा दोनों ही समान भाव से उपेक्षणीय होंगी। सारे संसार की अपेक्षा भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता है और उस विशेषता का कारण एक भारतीय विश्वास है। यह है पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धान्त। प्रत्येक पुरुष को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। प्रलय भी हो जाये तो भी वह अपनी करनी के फल से मुक्त नहीं हो सकता। महाभारत में कहा गया है कि पूर्वसृष्टि में प्रत्येक प्राणी ने जो कुछ कर्म किया हो, वह कर्म पुनः-पुनः सृज्यमान होता हुआ उसे परवर्त्ती काल में भी मिलेगा ही (महाभारत, शान्ति. 231-48-49), फिर वह उसे भोगने को तैयार हो या नहीं। समस्त भारतीय साहित्य में पुनः-पुनः कर्मबन्ध से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। समस्त शास्त्र अपना अन्तिम लक्ष्य जन्म-कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने को कहते हैं। इस सिद्धान्त का जितना व्यापक और जबर्दस्त प्रभाव हिन्दू संस्कृति, हिन्दू साहित्य और हिन्दू जीवन पर पड़ा है, उतना किसी भी और दार्शनिक सिद्धान्त का किसी भी और जाति पर पड़ा है या नहीं, नहीं मालूम।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैसे तो खोजने पर अन्यान्य देशों में भी किसी-न-किसी रूप में मिल जा सकता है, परन्तु कर्मफल-प्राप्ति का सिद्धान्त कहीं भी नहीं मिलता। यह बात इतनी सच है कि पिछली शताब्दी में पण्डितों में यह साधारण विश्वास-सा हो गया था कि जहाँ कहीं पुनर्जन्म का सिद्धान्त है, वहीं वह भारतीय मनीषा की देन है। सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना

है और उसे लेकर प्राच्य विद्याविशारदों में एक समय में काफी मनोरंजक वाग्युद्ध हो गया है। विलियम जोन्स, कोलब्रुक, गार्वे, होपकिंस प्रभृति विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि उक्त सिद्धान्त को पाइथागोरस ने किसी भारतीय पण्डित से ही सीखा था।

साधारणतः समस्त भारतीय मनीषियों ने इस गुणमय जगत् पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इसके दो अत्यन्त स्पष्ट तत्त्व हैं। एक शाश्वत है, दूसरा परिवर्त्तनशील; एक सदा एक-रस है, दूसरा नाशमान; एक चेतन है, दूसरा जड़। मतभेद तब शुरू होता है, जब उनके सम्बन्धों पर विचार किया जाता है। एक तरह के पण्डित हैं; जो इन दोनों तत्त्वों को स्वतन्त्र मानते हैं, इन दोनों का सम्बन्ध केवल योग्यता का सम्बन्ध है, परन्तु दूसरे आचार्य हैं, जो मानते हैं कि वस्तुतः इन दोनों की सत्ता नहीं है, दूसरा पहले की ही शक्ति है। पहले को आत्मा कहते हैं, सांख्यवादी उसे 'पुरुष' कहते हैं और दूसरे तत्त्व को प्रकृति या माया कहते हैं। गीता में भगवान् ने प्रकृति को अपने ही अधीन बताया है और कहा है कि मेरे द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस सचराचर सृष्टि को प्रसव करती है (गीता—9, 10)। वेद-बाह्य बौद्धादि सम्प्रदाय के लोग यह मानते हैं कि यह चेतन सत्ता साधना के द्वारा जब प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होती है तो उसी प्रकार लुप्त हो जाती है, जिस प्रकार दीपक की लौ; परन्तु इस बात में वे भी विश्वास करते हैं कि शरीर और इन्द्रियादि की अपेक्षा वह वस्तु अधिक स्थायी है। वह सैकड़ों जन्म ग्रहण करने के बाद सैकड़ों शरीरों, इन्द्रियों से युक्त हो लेने के बाद निर्वाण की अवस्था को अर्थात् बुझ जाने की अवस्था को प्राप्त होती है।

सांख्यशास्त्रियों के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल में बाँधती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक वह उसके जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है।

जो हो, इस विषय में भारतीय दार्शनिकों में प्रायः कोई मतभेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है, जो बाहरी दृश्यमान जगत् के विविध परिवर्त्तनों के भीतर से गुजरता हुआ सदा एक-रस रहता है। ये पण्डित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुरुष या आत्मा उदासीन है, या दुःख-सुख से परे है और चित्स्वरूप है, तो जन्म और कर्म के बन्धन में पड़ता कैसे है और मृत्यु के बाद एक जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में ढोकर क्यों ले जाता है? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्य के फल कैसे दूसरे जन्म में पहुँच जाते हैं? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्मफल जड़ हैं, अतः उनमें इच्छा नहीं होती, इसलिए यह तो साफ प्रकट है कि इच्छापूर्वक आत्मा का पीछा नहीं कर सकते, फिर यह कैसे सम्भव है कि इस जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में मिलता ही है! सीधा जवाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्था को इस ढंग से चला

रहा है, परन्तु यह उत्तर युक्तिवादी दार्शनिकों को पसन्द नहीं है। वे उसका और कोई कारण बताते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए शास्त्रकारों ने लिंग-शरीर की बात बतायी है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीर से दूसरे में संक्रमित होता है। गीता में भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को परित्याग कर नवीन शरीर धारण करता है (गीता – 2, 22)। इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृण से दूसरे पर जाते समय पहले अपने शरीर का अगला हिस्सा रखता है और फिर बाकी हिस्से को खींच लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करता है। आत्मा को जब अपनी और प्रकृति या माया की वास्तविक सत्ता का ज्ञान हो जाता है तभी कर्म बन्ध से मुक्त हो जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि ज्ञान की अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है और ज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु पवित्र नहीं है (गीता—4, 37-38)। उपनिषदों में ब्रह्म को सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, और आनन्द-स्वरूप कहा गया है (तैत्तिरीय - 2-1, वृहदारण्यक—3,6,22)। ऐसा मानने के कारण समूचा हिन्दू साहित्य ज्ञान को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। वह यह नहीं मानता कि ज्ञान की प्राप्ति में मनुष्य नित्य अग्रसर होता जा रहा है। उसकी दृष्टि में चरम ज्ञान अपने-आपमें ही है। यद्यपि ज्ञान अनन्त है, पर उसका अपना वास्तविक रूप भी वैसा ही है, इसलिए चरम और अनन्त ज्ञान को पाना असम्भव तो है ही नहीं, उसके साध्य के भीतर ही है। हिन्दू-साहित्य में इसीलिए नित्य नवीन ज्ञान के अनुसन्धान के प्रति एक प्रकार की उदासीनता का भाव है। वह उस विद्या को विद्या ही नहीं मानता, जो मुक्ति का कारण न हो, जो मनुष्य को कर्म-बन्धन से छुटकारा न दिला दे।

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि कायिक, वाचिक और मानसिक, ये तीन प्रकार के कर्म हैं और उनकी गति भी उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार की होती है (मनु. – 123)। साधारणतः तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्य ने जो कुछ कर्म किया है, उसे संचित कर्म कहते हैं। जिस पुराने कर्म के फल को वह भोग रहा है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जो कुछ वह नये सिरे से करने जा रहा है, उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। ज्ञान होने पर संचित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, पर प्रारब्ध कर्म को भोगना ही पड़ता है। ज्ञान की अग्नि से संचित कर्म जलकर दग्धबीज की तरह निष्फल हो जाते हैं और ज्ञानी प्रारब्ध कर्मों के संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है, जैसे कुम्हार का चलाया हुआ चक्र दण्ड उठा लेने पर भी वेगवश कुछ देर चलता रहता है। इन बातों में स्वर्ग और नरक के विचार भी सम्मिलित हैं। कर्मबन्ध के दार्शनिक रूप के साथ स्वर्ग-नरक के पौराणिक विचारों का सामंजस्य भी किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि स्वर्ग-नरक विचार और मोक्ष-विचार दोनों दो जाति के

भारतीय मनीषियों की चिन्ता के परिचायक हैं। पहले विचार वैदिक ऋषियों के हैं और दूसरे वेदबाह्य आर्येतर मुनियों के। उपनिषद्काल में ये दोनों विचार मिलना शुरू हुए थे और काव्यकाल में पूर्ण रूप से मिलकर एक जटिल परलोक-व्यवस्था में परिणत हो गये।

हिन्दू विश्वास के अनुसार मनुष्य पैदा होते ही तीन प्रकार के ऋणों को अपने साथ लेकर उत्पन्न होता है (मनु.—4,257; विष्णुसंहिता—37)। ये तीन ऋण हैं—देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण। पैदा होते ही मनुष्य को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने शरीर और इन्द्रियों को पाता है, जो उसके समस्त आनन्दोपभोग के लिए आवश्यक साधन हैं। यह अपने माता-पिता से पाता है। इस ऋण को वह और किसी भी तरह नहीं चुका सकता, केवल एक उपाय है और वह यह कि इस धारा को आगे बढ़ा दिया जाय। इसी तरह वह समूचे ज्ञान-विज्ञान को, जिसे प्रत्यक्ष और सुलभ करने के लिए अनेकानेक मनीषियों ने अपने जीवन दे दिये हैं, अनायास ही पा जाता है। इस बात के लिए वह अपने पूर्वतर आचार्यों का अवश्य ऋणी है। इस ऋण को भी वह चुका नहीं सकता। चुकाने का एक उपाय यही है कि ज्ञान-विज्ञान की धारा को वह सुरक्षित रखे और यथासम्भव आगे बढ़ा जाय। अध्ययन-अध्यापन से ही यह कार्य हो सकता है। फिर एक तरह की सुविधा भी मनुष्य को जन्म के साथ ही मिल जाती है। समस्त जगत् की प्राकृतिक शक्तियाँ, जिन्हें प्राचीन आर्य 'देवता' कहते थे, न होतीं तो मनुष्य कुछ भी करने में असमर्थ था। प्राचीनों का विश्वास था कि यज्ञ के द्वारा इन शक्तियों को तृप्त किया जा सकता है। मनु ने इसलिए कहा है कि गृहस्थ को तीन प्रकार के ऋणों से मुक्त होने के बाद ही मोक्ष में मनोनिवेश करना चाहिए। विधिवत् वेदों का अध्ययन करके, पुत्रों का उत्पादन करके और यथाशक्ति यज्ञों का यजन करके ही मोक्ष की चिन्ता में मनोनिवेश करना चाहिए। इन कार्यों को किये बिना ही मोक्ष की इच्छा रखनेवाला द्विज अधःपतित होता है (मनु.—6.35-37)। महाभारत में भी इन ऋणों की चर्चा है। इन्हें चुकाये बिना मनुष्य के समस्त कार्य अधूरे हैं। इस ऋण-सम्बन्धी विश्वास का बहुत बड़ा प्रभाव समग्र भारतीय साहित्य पर पड़ा है। हिन्दू आदर्श के लिए पितृत्व या मातृत्व रुचि का प्रश्न नहीं है, बल्कि आवश्यक कर्त्तव्य है। इसका न पालन करने से पाप होता है, परन्तु पालन करने से कोई पुण्य नहीं होता। हिन्दू शास्त्रों में पुरुष के लिए तो ब्रह्मचर्य का आदर्श स्वीकृत है और मनु कहते हैं कि विधवाएँ भी पुत्र उत्पन्न किये बिना ही सद्गति पा सकती हैं, उसी प्रकार जैसे ब्रह्मचारी लोग पाते हैं (मनु.--5, 160)। परन्तु यह वचन ही इस बात का सबूत है कि पुत्रोत्पादन किये बिना सद्गति नहीं होती। जिनकी सद्गति ऐसी अवस्था में हो जाती है, वे अपवाद ही हैं। वस्तुतः हिन्दू विश्वास के अनुसार मातृत्व, स्त्री-जीवन की चरम साधना नहीं है, यद्यपि आजकल के कुछ पण्डित हिन्दू विश्वासों की ऐसी ही व्याख्या करने लगे हैं। मातृत्व और पितृत्व भी चरम साधना का अधिकारी होने की आवश्यक शर्त है। चरम लक्ष्य

मोक्ष-प्राप्ति है, या और भी सही अर्थों में आत्मज्ञान है। इसी प्रकार अब तक संसार के मनीषियों ने जो कुछ भी ज्ञान अर्जन किया है, उसका अध्ययन-अध्यापन उक्त बात का अधिकारी होने के लिए आवश्यक शर्त है। यही कारण है कि हिन्दुओं के निकट कोई भी ज्ञान उपेक्षणीय नहीं है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दुओं ने अपने साहित्य में नाना जाति के ज्ञान-विज्ञान को इस अपनेपन के साथ ग्रहण किया है कि पण्डितों को यह निर्णय करने में प्रायः ही अड़चनों का सामना करना पड़ता है कि कौन-सा ज्ञान किस देश से ग्रहण किया गया है। बाहरी विद्वानों के ज्ञान को अपना बनाकर प्रकट करने की कला में कोई भी भारतीयों का मुकाबला नहीं कर सकता। सीरियनों की राशिगणना, ग्रीकों का हीराशास्त्र, अरबों का ताजकशास्त्र, यक्षों की कविप्रसिद्धियाँ, आर्येतर जातियों की आध्यात्मिक चिन्ताएँ और देव-कल्पनाएँ इस प्रकार आर्य मनीषियों की चिन्ता-राशि में मिल गयी हैं और ऐसी प्राणशक्ति पाकर जीवन्त हो उठी हैं कि उनको अलग कर सकना आज साहस का कार्य हो गया है। बाहरी ज्ञान को हिन्दू आचार्यों ने इतने दर्द के साथ अपनाया है, ऐसा समादर दिया है, इतना मार्जित कर लिया है कि देखनेवालों को आश्चर्य होता है। इसी प्रकार देव-ऋण को चुकाने में भी हिन्दुओं ने कमाल किया है। उनके साहित्य में प्रकृति की प्रत्येक शक्ति इतनी जीवित और सम्पन्न रूप में चित्रित हुई है कि संस्कृत के किसी काव्य में से उसे अलग नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट ही है कि ऐसा करके हिन्दू कुछ धनात्मक कार्य नहीं करता, वह महज ऋणात्मक कर्त्तव्यों का पालन करता है, केवल ऋण चुकाता है।

ऊपर की बातों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

1. पुत्रोत्पादन आवश्यक कर्त्तव्य है। इसके किये बिना पुरुष या स्त्री—ब्रह्मचारी और विधवा के अपवादों को छोड़कर—आत्मज्ञान के अधिकारी नहीं हैं।

2. इसीलिए पुत्रोत्पादन अर्थात् पितृत्व या मातृत्व की प्राप्ति केवल साधन है, साध्य नहीं।

3. ज्ञान—अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए सहायक मानी जानेवाली विद्या—कहीं से भी ग्रहण करना, उसकी रक्षा करना और वृद्धि करना केवल उचित ही नहीं आवश्यक कर्त्तव्य है। यह भी मोक्ष का साधन है।

4. देवताओं या प्राकृतिक शक्तियों को सम्पन्न बनाना आवश्यक कर्त्तव्य है।

यह कहना अनावश्यक जान पड़ता है कि न तो पूर्वार्जित कर्मों के भोग में मनुष्य स्वाधीन है और न ऋण चुकाने के ऊपर कहे हुए कर्त्तव्यपालन में। एक को उसे भोगना ही पड़ेगा और दूसरे को उसे करना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यह सन्देह हो सकता है कि हिन्दू विश्वास मनुष्य को सम्पूर्ण निराशावादी और भाग्यवादी बना देता है। ऊपर से देखने पर यह बात गलत भी नहीं मालूम पड़ती और साहित्य में भी इन विश्वासों का सुदूर प्रसारी फल साफ प्रकट होता है। इसने कवियों और शास्त्राध्यापकों की मनोवृत्ति इस प्रकार मोड़ दी है, जिसकी तुलना

सारे संसार में नहीं मिलती। हजारों वर्ष के भारतीय इतिहास में जो नीच समझी जानेवाली जातियों ने कभी भी उत्कट विद्रोह नहीं किया, वह इन्हीं विश्वासों को स्वीकार करने के कारण। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उसके द्वारा सम्पादित किसी का कर्म-फल दूर नहीं हो सकता। चाण्डाल अपनी दुर्गति के लिए कर्मफल की दुहाई देता है और ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिए भी कर्म की ही दुहाई देता है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म-फल के लिए आप ही जिम्मेदार है, तो न तो कोई उसे किसी दूसरे के बदले भोग ही सकता है और न उद्योग करके उसके संचित और प्रारब्ध कर्मों को बदल ही सकता है। इस सिद्धान्त ने कर्म के सामूहिक उद्योग के क्षेत्र में हिन्दुओं को बाधा पहुँचायी है और उनकी मनोवृत्ति को विच्छेदप्रवण बनाने में सहायता दी है। इतना ही नहीं, उन्हें जागतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन भी बना दिया है। जब प्रत्येक कार्य का निश्चित और न्यायसंगत कारण है तो किसी अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने का सवाल ही नहीं उठता। और जब विद्रोह करने की भावना दब जाती है तो जाति स्थिर भाव से अधःपतन की ओर बढ़ती है। हिन्दू-साहित्य और समाज का यह पहलू सचमुच ही बहुत शोचनीय है। परन्तु इसके सिवा भी एक बात है, जो निश्चय ही महान् है।

वह बात है पुरुषार्थों की कल्पना। हिन्दू शास्त्र मनुष्य के लिए केवल कर्मफल भोग और ऋण चुकाने की ही व्यवस्था नहीं करते, वे कुछ धनात्मक कार्य करने का भी विधान करते हैं। ये धनात्मक कार्य ही पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हीं पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपाय बताने के लिए समूचा संस्कृत साहित्य लिखा गया है। जो कुछ भी इस साहित्य में पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए लिखा गया है, वह दुनिया के साहित्य में बेजोड़ है। जो कुछ कर्मफल का और ऋणों के चुकाने का निर्देश देने के लिए लिखा गया है, वह केवल समाजशास्त्री के कुतूहल का विषय है। पुरुषार्थों में सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ परम पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष के विधायक वेद, उपनिषद, आरण्यक, दर्शनशास्त्र आदि विषय केवल भारतीय साहित्य की ही नहीं, संसार के साहित्य के गर्व और गौरव की वस्तु हैं।

भारतीय नाटकों में जो कहीं भी धर्मात्मा व्यक्ति पराजित नहीं होता, कभी भी सद्विचार से अनुप्राणित होकर कठिनाइयों से जूझता हुआ हार नहीं जाता, वह इसी कर्मफल की व्यवस्था को मानने से। भारतीय काव्य में जो कवि अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा दूसरे के मनोभावों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है, वह अपने-आपकी आनन्दिनी वृत्ति को पहचानने के लिए। यहाँ कभी यूरोपियन नाटकों की भाँति पापात्मा अपनी कूटबुद्धि से धर्मात्मा को अन्त तक पछाड़ने में सफल नहीं होता। हिन्दू कवि का उद्देश्य रस को व्यक्त करना है, वक्तव्य को अभिव्यक्त करना नहीं। अत्यन्त आधुनिक दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास में कितने ऐसे गुण खोजकर नहीं निकाले जा सकते हैं, जिनके द्वारा नाटक की सफलता मानी जाती है। श्री कीथ कहते हैं कि "मानव-जीवन के गम्भीरतर प्रश्नों के लिए कालिदास ने हमारे लिए कोई भी

सन्देश नहीं दिया है, जहाँ तक हम देख सकते हैं, ऐसे गम्भीरतर प्रश्नों ने उनके भी मस्तिष्क में कोई सवाल नहीं पैदा किया। ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त सम्राटों ने जिस ब्राह्मणधर्मानुमोदित व्यवस्था की महिमा की प्रतिष्ठा की थी, उससे कालिदास पूर्णतया सन्तुष्ट थे और विश्व की समस्याओं ने उन्हें उद्विग्न नहीं किया। शकुन्तला नाटक यद्यपि मोहक और उत्कृष्ट है, तथापि यह एक ऐसी संकीर्ण दुनिया में चलता-फिरता है, जो वास्तविक जीवन की क्रूरताओं से बहुत दूर है। वह न तो जीवन की समस्याओं का उत्तर देने का ही प्रयत्न करता है और न उनका समाधान ही खोज निकालने का। यह सत्य है कि भवभूति ने दो कर्त्तव्यों के विरोध के अस्तित्व की जटिलता और कठिनता के भाव दिखाये हैं और इस विरोध से उत्पन्न दुःख को भी दिखाया है पर उनके ग्रन्थों में भी इस नियम का प्राबल्य दिखायी देता है कि सब-कुछ का अन्त सामंजस्य में ही होना चाहिए।...ब्राह्मण-धर्मानुमोदित जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों ने नाटकीय दृष्टिकोण में कितनी संकीर्णता ला दी है, इस बात को संस्कृत नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है। यही नहीं, ब्राह्मणधर्मानुमोदित परम्परा को स्वीकार करने के कारण ही 'चण्ड-कौशिक' जैसे नाटक लिखे जा सके हैं, जहाँ एक अभागे राजा की दानशीलता से उत्पन्न, ऋषि विश्वामित्र की विक्षिप्तजनोचित बदला लेने की भावना से तर्क और मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोहाचरण हुआ है।" ऐसी बातें केवल एक पण्डित ने नहीं लिखी हैं। आये-दिन यूरोपीय समालोचक बहुत-सी ऊलजलूल बातें कहते ही रहते हैं। ऊपर के उद्धरण के लेखक भारतीय साहित्य के एक माने हुए पण्डित हैं और ऊलजलूल टिप्पणी करनेवाले ईसाई लेखकों की बातों का अनेक बार सप्रमाण खण्डन भी कर चुके हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने जान-बूझकर भारतीय साहित्य को छोटा करके दिखाने का प्रयास किया है और न हम यही कहना चाहते हैं कि उनकी बातों में सचाई नहीं है। सचाई भी अगर गलत ढंग से देखी जाती है तो अवहेलनीय लगने लगती है। हमने ऊपर जिन सिद्धान्तों को देखा है, उन्हें माननेवाला मनुष्य कभी भी 'जीवन के गम्भीरतर' प्रश्नों का उत्तर देने की जरूरत नहीं समझेगा; क्योंकि उसकी दृष्टि में 'जीवन के गम्भीरतर प्रश्नों' का समाधान हो चुका रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। वस्तुतः ईमानदारी के होते हुए भी यूरोपीय पण्डित और उनके आधुनिक भारतीय शिष्य भारतीय साहित्य के प्रति न्याय नहीं कर पाते। क्योंकि, जैसा कि कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज प्रसिद्ध अंग्रेज साधक सर जॉन उडरफ ने कहा है—"साधारण यूरोपीय प्राच्य-विद्या-विशारद तथा वे लोग जो इस देश में (हिन्दुस्तान में) उनकी उँगली पकड़कर चला करते हैं, कुछ ऐसे अवहेलनामूलक विश्वासों का पोषण करते हैं कि भारतीय विचार केवल 'ऐतिहासिक' कुतूहल के विषय हैं और इस प्रकार के विचार किसी बौद्धिक प्रदर्शनी के लिए ही स्वागत-योग्य वस्तु हैं। इसके सिवा उनका और कोई मूल्य नहीं है, न कोई उनकी वास्तविक सत्ता ही है। यही कारण है कि प्राचीन पूर्वीय ज्ञान और आधुनिक आविष्कारों में जो आश्चर्यजनक साम्य

है, इस तथ्य को वे स्वीकार नहीं कर सकते।" केवल यही नहीं, यूरोपीय पण्डित यह अनुभव नहीं कर सकते कि भारतीय साहित्य एक जीवित जाति की साधना है। मनुष्य प्रायः अपने संस्कारों से ऊपर उठकर देखने में असमर्थ होता है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता तीन उत्सों से आयी है—ग्रीक विचार, बाइबिल और आधुनिक विज्ञान। इन्हीं तीनों से आधुनिक यूरोपीय पण्डित की दृष्टि प्रभावित होती है। इन तीनों के घात-प्रतिघात से उसके मानस-पट पर एक विशेष प्रकार का जीवन-सम्बन्धी सत्य अंकित होता है। उसी सत्य की माप से वह वस्तुओं को मापता है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, वह ग्रीक मनीषियों से अधिक प्रभावित होता है। उसकी एतद्विषयक चिन्ता पर बाइबिल का प्रभाव नहीं के बराबर है और आधुनिक विज्ञान ने साहित्य के बाह्य रूप को ही अधिक प्रभावित किया है। यहाँ प्रश्न है कि ग्रीक विचार, बाइबिल और आधुनिक विज्ञान के मिश्रण से जो संस्कार बने हैं, वही क्या एकमात्र सत्य सिद्धान्त हैं? यदि वे सत्य हों तो आर्य-चिन्तन, द्रविड़ विश्वास और आधुनिक विज्ञान के मिश्रण से जो भारतीय संस्कार बना है और बनने जा रहा है, वही क्यों नहीं सत्य होगा? इस दृष्टि से देखा जाये तो ग्रीक की बड़ी-से-बड़ी ट्रैजेडी के लेखक के बारे में श्री कीथ की ही शैली में कहा जा सकता है कि "ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटक-कार भी मायाजन्य भ्रममूलक बातों को ही जीवन के गम्भीरतर प्रश्न समझते रहे। इस परिवर्त्तमान जगत् के भीतर एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय पुरुष है, जो जड़ प्रकृति के कर्मप्रवाह से एकदम निर्लिप्त है, यह सहज बात उनके मस्तिष्क में कभी आयी ही नहीं। ट्रैजोन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गये हैं, वे कभी जीवन के वास्तविक गाम्भीर्य तक पहुँचे ही नहीं। वे एक उद्देश्यहीन मायाजाल में पड़े छटपटाते रहे, जहाँ पद-पद पर उन्हें परस्पर विरोधी कर्त्तव्यों की उलझन सताती रही और अन्त तक वे किसी सामंजस्य-मूलक व्यवस्था का पता न लगा सके। ग्रीक पौराणिक कल्पना ने नाटकीय दृष्टि को कितना विश्रृंखल बना दिया है, इस बात को ग्रीक नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है।" इत्यादि। कहना व्यर्थ है कि इस प्रकार भारतीय संस्कारों से देखने पर हम ग्रीक साहित्य का अधिकांश सौन्दर्य खो देंगे और फिर भी अपने विश्वासों के प्रति ईमानदार बने रहेंगे! वस्तुतः यह उचित मार्ग नहीं है। ग्रीक संस्कारों के चश्मे से भारतीय संस्कारों को देखना उतना ही अनुचित है, जितना भारतीय संस्कारों के चश्मे से ग्रीक साहित्य को देखना। दुर्भाग्यवश भारतीय साहित्य को यूरोपीय पण्डितों ने ऐसे ही देखा है और आधुनिक शिक्षाप्राप्त भारतवासी भी वैसे ही देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। आधुनिक भारतीय शिक्षा में भारतीय संस्कारों की अपेक्षा पश्चिमी संस्कार ही अधिक हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि ग्रीक काव्य और ट्रैजेडी पर उसी प्रकार ग्रीक पौराणिक कथाओं का प्रभाव है, जिस प्रकार भारतीय नाटकों और काव्यों पर भारतीय पुराणों का। ग्रीक पौराणिक कथाएँ ही 'ट्रैजेडी' जैसी चीज को जन्म दे सकती हैं, जहाँ किसी

मर्त्यलोकवासी की सुन्दरता, कर्त्तव्य-परायणता या कोई और सद्गुण अकारण ही स्वर्ग के देवता के कोप का कारण हो जाता है। भारतीय पुराणों में एक भी ऐसी कहानी नहीं मिलेगी। यहाँ प्रत्येक सुख-दु:ख का कारण अपना ही कर्म है। इस विश्वास को जो लोग संकीर्णता कहते हैं, वे उस विश्वास को मात्स्य न्याय कहना भूल जाते हैं।

वस्तुतः काव्य-जैसी सुकुमार वस्तु की आलोचना के लिए अपने संस्कारों से बहुत ऊपर उठने की ज़रूरत है, फिर वे संस्कार चाहे देशगत हों या कालगत, भारतीय साहित्यिक समाज-व्यवस्था में कोई असामंजस्य नहीं देख सकता था और न ऐसी बातों का उसके निकट कोई विशेष मूल्य ही था, जिन्हें हम आजकल जीवन के गम्भीरतर प्रश्न कहा करते हैं। वह गलती पर हो सकता है, नहीं भी हो सकता है—प्रधान प्रश्न उसके सिद्धान्तों की सचाई जाँच करने का नहीं है (क्योंकि वह अन्य क्षेत्र का प्रश्न है), प्रधान प्रश्न यह है कि अपने विश्वासों से आबद्ध रहकर उसने जो सृष्टि की है, उसका सौन्दर्य कहाँ है ? उसके सौन्दर्य का आदर्श क्या है ? और उसकी सृष्टि करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है ?

कालिदास के साहित्य के अध्येता को इन मूलभूत मान्यताओं को अवश्य समझ लेना चाहिए। अगर इनकी उपेक्षा हुई तो बहुत-सा बहुमूल्य सौन्दर्य हाथ नहीं आ सकेगा।

तत्त्वान्वेषी और कृती

कौन नहीं जानता कि कालिदास सौन्दर्य के महान् गायक कवि हैं ! रूप का, वर्ण का, प्रभा का और प्रभाव का ऐसा चितेरा दुर्लभ है; आभिजात्य और विलासिता का ऐसा उद्गाता कवि काव्य-जगत् का जाना हुआ नहीं है और राग और सौभाग्य का ऐसा उद्घोषी खोजे नहीं मिल सकता। कविता का सच्चा रसिक सिर धुनकर रह जाता है। कहा जाता है कि शारदा का ऐसा दुलारा लाल आज तक दूसरा पैदा नहीं हुआ। परन्तु जो लोग काव्य-सौन्दर्य का विश्लेषण करने में रस पाते हैं, उनके लिए कालिदास एक कठिन समस्या हैं। आप यदि जानना चाहें कि कालिदास का सौन्दर्य-बोध के सम्बन्ध में क्या मत है, क्या वे सौन्दर्य की स्थिति द्रष्टा के रागात्मक चित्त में मानते हैं या ऐसा मानते हैं कि द्रष्टा हो या न हो सुन्दर वस्तु सुन्दर ही रहेगी, या क्या वे सौन्दर्य के किसी विश्वजनीन मानदण्ड में विश्वास करते हैं कि ऐसा मानते हैं या ऐसा कोई मानदण्ड हो ही नहीं सकता, तो कठिनाई

में पड़ना पड़ेगा। फिर भी विचारशील पाठक के मन में ये और इसी प्रकार के और प्रश्न उठते ही रहते हैं। रूप और सौभाग्य का क्या सम्बन्ध है ? अलंकरण क्या सौन्दर्य के हेतुभूत हैं या सहायक हैं ? मनुष्य की शोभा और प्रकृति की शोभा में क्या और कैसा सम्बन्ध है ? क्या वे पहली को मुख्य और दूसरी को तदाश्रित मानते हैं या दोनों समान रूप से सुन्दर हैं, अन्योन्यानपेक्ष ? प्रकृति ने जिस सौन्दर्य का प्रसार किया है उससे मनुष्य के प्रयत्न-साधित लालित्य-योजना का क्या सम्बन्ध है ? उन्होंने अपने युग की ऐतिहासिक चेतना का और भौगोलिक ज्ञान का सौन्दर्यख्यापन में, कैसा उपयोग किया है, या किया भी है या नहीं ? उनके मत से छन्द क्या है और नृत्य, गीत, चित्र, मूर्त्ति, सदाचार आदि से उसका क्या सम्बन्ध है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न 'तत्त्वान्वेषी' पाठक के चित्त में उदित होते हैं और सब समय वह ठीक उत्तर नहीं खोज पाता। 'कृती' पाठक इन बेकार बातों में उलझना नहीं चाहते। वे छककर सौन्दर्य-रस पीते हैं। बेकार बातों में उलझना भी बेकार ही है ! स्वयं कालिदास ने इन शब्दों का प्रयोग किया है। लगता है वह 'कृती' को ही धन्य मानते हैं; 'तत्त्वान्वेषी' को वे हतभाग्य ही समझते हैं। दुष्यन्त जब शकुन्तला को देखकर जात-पाँत की बात सोचने लगा था, राजधर्म और आश्रमधर्म के द्वन्द्व से टकरा रहा था, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर पा रहा था, उसी समय एक कृती भौंरा पहुँच गया। उसने अपने को शकुन्तला-भय से कम्पमाना शकुन्तला के चंचल अपांगों का विषय बनाया और कानों-कान रहस्य की बात कहनेवाले ढीठ प्रेमिक की भाँति उसकी भयभ्रान्त व्याकुलता का भी रस लेता रहा। राजा दुष्यन्त ने अपने को 'तत्त्वान्वेषी' और भौंरे को 'कृती' कहा और अपनी तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि का तिरस्कार भी किया :

चलापाङ्गां दृष्टिं, स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वंत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।[1]

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में तत्त्वान्वेष की ऐसी विडम्बना देखकर किसे इस व्यापार में उलझने का साहस हो सकता है ?

लेकिन कवियों की डाँट-फटकार के बावजूद दुनिया से तत्त्वान्वेष का कारबार बन्द नहीं हो गया है। खुद कालिदास संस्कारवती वाणी की दाद देते हैं। मनीषा को वे बहुत उत्तम गुण मानते हैं। एक जगह तो उन्होंने मनीषी की संस्कारवती

1. राजा लक्ष्मणसिंहजी ने इस प्रकार अनुवाद किया है :
दृग चौंकत कोए चले चहुँधा सँग बारहिंबार लगावत तू ।
लगि कानन गूंजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू ।
कर रोकती कौ अधरामृत लै रति को सुख सार उठावत तू ।
हम खोजत जातिहि पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू ।।—'शकुन्तला' नाटक

वाणी को पार्वती से और गंगा से तुलनीय माना है :

प्रभामहत्या शिखयेव दीप—
स्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी
तया स पूतश्च विभूषितश्च ।। —कुमार. 1—28

[जिस प्रकार प्रचुर प्रभावाली शिखा से दीपक, तीन मार्गों से बहनेवाली गंगा से त्रिलोक का मार्ग और संस्कारवती वाणी से मनीषी विद्वान् शोभित होते और पवित्र बनते हैं, उसी प्रकार उस (पार्वती) के द्वारा वह (हिमालय) भी शोभित और पवित्र हुए ।]

इसलिए उनकी कविता की कुछ ऐसी वाणी में चर्चा की जाये, तो उनकी अन्तरात्मा को कष्ट नहीं पहुँचेगा । प्रयत्न करने में बुराई क्या है ?

आजकल सौन्दर्य-शास्त्री सौन्दर्य के अनेक रूपों की चर्चा करते हैं । सबकी चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है । मनुष्य-निर्मित सौन्दर्य ही, जिसे मैं 'लालित्य' कहना पसन्द करता हूँ, आज का अनुसन्धेय विषय है । कालिदास ने इस सम्बन्ध में क्या कहा है या उनके कहने से किस बात का अनुमान किया जा सकता है, यही बात आज की चर्चा का उद्देश्य है । परन्तु उसकी चर्चा करने के पहले एक सरसरी निगाह से उनके रूप-वर्णन को भी देख लेना अच्छा होगा, क्योंकि उसी के आलोक में हम उनकी समग्र दृष्टि का आभास पा सकते हैं ।

विश्वव्यापक छन्दोधारा और लालित्य

ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास इस विश्वव्यवस्था के मूल में एक व्यापक छन्द की बात स्वीकार करते हैं । यह विश्व-व्यापक छन्द समष्टिगत चित्-शक्ति की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । केवलात्मा ब्रह्म विशुद्ध चैतन्य है, केवल ज्ञान रूप । उसकी सिसृक्षा ने ही उसे स्त्री और पुरुष रूप में द्विधा-विभक्त होने को प्रवृत्त किया था । एक ही केवलात्मा का द्विधा-विभक्त होकर परस्पर आकृष्ट करने का जो सिलसिला किसी समय आरम्भ हुआ था वही विश्व ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पिण्ड में आज भी चल रहा है । ब्रह्म की इच्छा-शक्ति ही समष्टिगत छन्द है जिसने समस्त भेदोपभेद का छादन कर रखा है । छादन करता है, इसलिए यह छन्द है । छन्द अर्थात् इच्छा । ब्रह्म की इच्छा-शक्ति ही वह छन्द है जिसने सृष्टि को नाना वर्णों, गन्धों और रूपों में रूपायित किया है ।

उसकी क्रियाशक्ति से यह विश्व-ब्रह्माण्ड दृग्गोचर हो रहा है। वैदिक ऋषि ने इसीलिए उल्लास-गद्‌गद कण्ठ से कहा था—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"। छन्द इच्छा-मात्र है, गति-मात्र है, चेतन धर्म है। जहाँ कहीं यह चेतन धर्म है वहीं गति है, प्राण है, आनन्द है। नृत्य में छन्द है। कालिदास ने कहा था—"देवानामिममामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्"। नृत्य देवताओं का चाक्षुष यज्ञ है। काल में प्रवहमान छन्दोधारा ही ब्रह्म की सर्जनेच्छा है। देश की स्थिरीभूत सृष्टि ही ब्रह्म की क्रिया-शक्ति है। केवलात्मा परब्रह्म ही भेदावस्था को प्राप्त होकर इस विश्व ब्रह्माण्ड में स्त्री-पुरुष रूप दो भागों में विभक्त है :

स्त्रीपुंसौ आत्मभागौ ते भिन्नमूर्त्तेः सिसृक्षया।

['हे ब्रह्मन्, तुमने सृष्टि करने की इच्छा से अपने-आपको दो भागों में विभक्त कर लिया है। उन्हीं में से एक भाग का नाम 'स्त्री' दूसरे का 'पुरुष'।']

छन्द कोई बाह्य वस्तु नहीं है। बाह्य जगत् में दिन, रात, ऋतु-परिवर्त्तन और भूचक्र का नियतावर्त्तन चल रहा है। मानव-शरीर में नाड़ियों का स्पन्दन, श्वास-प्रश्वास की क्रिया नियत ताल पर चल रही है। इस नियतानुवर्त्तन को हम अनुक्रमता कहेंगे। इदता-प्रधान बाह्य जगत् में हरिदृश्यमान अनुक्रमता जब अहंता-प्रधान मानव के अन्तर्जगत् में प्रतिभासित अनुक्रमता के ताल से ताल मिलाकर चलती है तो लय और ताल की अनुभूति होती है। यही छन्द है। यही विश्वव्यापी छन्दोधारा के साथ अन्तर्जगत् की छन्दोधारा के आनुकूल्य की कसौटी है।

जहाँ कहीं आकर्षण है, उल्लास है, वहीं सृष्टि की इस मूल छन्दोधारा के अनुकूल जाने की प्रवृत्ति है। जहाँ नहीं है, वहाँ इस मूल छन्दोधारा का प्रातिकूल्य है। वही वस्तु असुन्दर और भद्दी है।

मूल चैतन्यधारा केवलात्मा की इच्छा-शक्ति का रूप है। वह गति-मात्र है। क्रियाशक्ति स्थिति मात्र है। गति और स्थिति के द्वन्द्व से ही रूप बनता है। गति चित्तत्व है, स्थिति अचित्तत्व है। चिद्रूपा गति बारम्बार अचिद्रूपा स्थिति से रोकी जाती है। चैतन्यधारा बारम्बार जड़ में स्थित आकर्षणशक्ति से नीचे की ओर खींची जाती है। वह वलयित होती है, रूपायित होती है। जो कुछ विश्व-ब्रह्माण्ड में घट रहा है वह पिण्ड में भी हो रहा है। अन्तर यह है कि विश्व-ब्रह्माण्ड में केवलात्मा की मूल सिसृक्षा बलवती है। पिण्ड में वह अचित् तत्त्व से—मायाजन्य कंचुकों या कोशों से—आवृत है। विश्व-ब्रह्माण्ड में इच्छाशक्ति और क्रिया-शक्ति में जितना साम्य है, उतना पिण्ड में नहीं है। भिन्न-भिन्न पदार्थों में इस वैषम्य की मात्रा भी भिन्न-भिन्न है। कहीं तो इच्छा-शक्ति अधिक जाग्रत है, कहीं अत्यधिक सुप्त। और जीवों की तुलना में वह मनुष्य में अधिक जाग्रत है, मनुष्यों में भी जो सत्वगुणी हैं उनमें अधिक तीव्र है, औरों में कम। वस्तुतः गुणीभूत ज्ञान-शक्ति का नाम ही सत्व है, इच्छा-शक्ति का नाम ही रजस् है और क्रिया-शक्ति का नाम ही तमस् है।

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुयेयुषे ।।

—कुमार.—2 । 4

['हे ब्रह्मन्, तुम त्रिमूर्त्ति हो, तुम्हें हम प्रणाम करते हैं। सृष्टि के पूर्व तुम केवल स्वयं चैतन्यमात्र रूप में विद्यमान रहते हो—केवलात्मा रूप में। फिर सृष्टि करने की इच्छा से तीन गुणों—सत्त्व, रज, तम—रूपों में बँट जाने के लिए स्वयं भेद को प्राप्त होते हो।']

इसलिए जहाँ सत्व है, वहाँ ज्ञान-शक्ति का प्राबल्य है, जहाँ रजस् है वहाँ इच्छाशक्ति काम करती रहती है और जहाँ क्रिया-शक्ति बलवती है वहाँ जड़ता है, तमस् है। जड़ता नीचे की ओर खींचती है—'ऊर्ध्वं गछन्ति सत्वस्थाः अधोगच्छन्ति तामसः।'

पश्चिम के कितने ही मनीषियों ने व्यक्ति-चित्त की इच्छा को ही सौन्दर्य का मुख्य हेतु माना है। कहते हैं कि स्पिनोजा-जैसे मनीषी ने भी कहा था कि हम किसी वस्तु को अच्छी इसलिए नहीं कहते कि वह अपने-आपमें सचमुच अच्छी है, बल्कि इसलिए कहते हैं कि हम उसे चाहते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु को हम इसलिए सुन्दर नहीं कहते कि वह अपने-आपमें सुन्दर है बल्कि इसलिए कि हम उसे चाहते हैं, वह हमारी इच्छा-शक्ति की गति के अनुकूल हुआ करती है। इस युग के अन्यतम मनीषी नीत्शे कह गये हैं कि सुन्दर और असुन्दर की धारणा प्राणतत्व की माँग के अनुसार होती है, बॉयोलाजिकल है। हम चीनी इसलिए नहीं खाते कि वह मीठी होती है बल्कि वह इसलिए मीठी लगती है कि वह हमारे प्राणतत्त्व की माँग पूरी करती है, उसमें शक्ति देने का गुण है जो हमारी जिजीविषा के लिए आवश्यक है। असुन्दर वह है जो हमारी जिजीविषा के प्रतिकूल होती है। हमें प्रसन्न और मोहित वह वस्तु करती है जो हमारी प्राण-शक्ति की पोषक है, दुर्दम जिजीविषा के अनुकूल है। इस प्रकार के विचारों से समस्या अधिक उलझती गयी है यद्यपि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत इच्छा की महिमा व्यक्त होती है। इस प्रकार की वैयक्तिक इच्छा का कोई अन्त नहीं है। इससे एक प्रकार की अनवस्था की बात उठती है, 'सुन्दर' का कोई निश्चित रूप स्थिर नहीं हो पाता। हर आदमी को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु को सुन्दर और किसी को असुन्दर कहने की छूट मिल जाती है। इस दोष से बचने के लिए दीर्घकालीन आदत, एक ही परिस्थिति में बसनेवाली मानव-मण्डली के सामान्य अनुभव आदि बातों की कल्पना करनी पड़ती है। कालिदास के विचार इससे मिलते-जुलते होने पर भी भिन्न हैं। वे व्यक्ति-इच्छा को समष्टि-व्यापिनी इच्छा का विशिष्ट रूप मानते हैं। समष्टि इच्छा विश्व-व्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि इच्छा चेतन धर्म है। जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है, वही सुन्दर है। समष्टि चेतना सर्जना-

त्मक है—वह सिसृक्षा है। व्यक्तिगत इच्छा उससे अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस इच्छा में अज्ञान है, मोह है, परोत्सादनवृत्ति है, वह पाप इच्छा है, वह चित्त में तमोगुण को उद्रिक्त करती है, जड़त्व से अभिभूत होती है, सौन्दर्य उसमें नहीं होता। रूप कभी पाप-वृत्ति को उकसावा नहीं देता। जो देता है वह रूप नहीं है। 'यदुच्यते पार्वति पाप वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः'—हे पार्वति, यह जो कहा जाता है कि रूप (सौन्दर्य) पाप-वृत्ति के लिए नहीं होता वह वचन आज सही सिद्ध हुआ है। जो रूप पाप-वृत्ति को उकसाता है वह जड़त्व की उपज है। वह तामसिक है, उसमें सत्वोद्रेक की शक्ति नहीं होती, इसलिए वह 'सुन्दर' नहीं कहा जा सकता, व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति का साधन बनने पर भी।

कभी-कभी प्रकृति के सौन्दर्य-निर्माण और मनुष्य के सौन्दर्य-निर्माण में जो विरोध दिखाने का प्रयत्न किया जाता है, वह दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानने का परिणाम है। प्रख्यात मनीषी एरिक न्यूटन ने इस विरोध को इस प्रकार प्रकट किया है—कलाकार की वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) मेरी इच्छा को सन्तुष्ट कर सकता है' और प्रकृति की वृत्ति यही होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) ठीक-ठीक उपयोगी हो सकता है' ('दि मीटिंग ऑफ ब्यूटी', पृ. 86)। कालिदास से पूछा जाता तो वे कदाचित् कलाकार की वृत्ति को इस प्रकार बताते कि 'एकमात्र यही आकार विश्वात्मा की मूल सर्जनेच्छा (जिसे आजकल प्रकृति कहा जाता है) के अनुकूल है, दूसरा नहीं।' जो व्यक्ति ऐसा मानता है उसके लिए सौन्दर्यशास्त्र में नित्य आलोचित होते रहनेवाली अनेक समस्याओं का समाधान अनायास हो जाता है। यदि कुछ आयास रह जाता है तो वह सौन्दर्य-बोध की समस्याओं के सुलझने का उतना नहीं, जितना इस विश्वास को पुष्ट करने का कि सचमुच ही कोई विश्वात्मा है और सचमुच ही उसकी कोई सर्जनेच्छा है। परन्तु यह ज्ञान के अन्य प्रकार के अनुशासन के क्षेत्र में आता है। कालिदास उस बात में कभी उलझे नहीं, इसलिए हमें फिलहाल उसमें उलझने की जरूरत नहीं है।

कालिदास ने प्रकृति की रमणीयता का मोहक वर्णन किया है, पर उनका मुख्य वर्ण्य-विषय मानव-सौन्दर्य है। उनके बारे में यह कहा जाता है कि "उनका काव्य न कभी अवरुद्ध गति से चलता है और न अतित्वरान्वित होकर; उसमें उत्थान और पतन की अनवच्छेद्य श्रृंखला नहीं होती, उनके सर्वोत्तम और निम्नतम में कोई विशेष व्यवधान नहीं है। उनका काव्य श्रेष्ठता के एक निश्चित धरातल और महनीयता की एक नियत छाप की आद्योपान्त रक्षा करता है। सब प्रकार का नुकीलापन और खुरदरापन अत्यन्त सुकुमारता के साथ चिक्वन और मसृण बना दिया जाता है और इस प्रकार उनकी पूर्ण विकसित कविता का सुडौलपन प्रशान्त सौन्दर्य के अनुरणन-शील ध्वनन द्वारा पाठक को आकृष्ट करता है, जो चाक्षुष और श्रुतिगोचर प्रभाव में, विचार तथा भावना के अन्तर्विलयन का परिणाम है।" (सुशील कुमार दे, 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर', पृ. 152)। यह

बात ठीक जान पड़ती है। परन्तु ऐसा क्यों हुआ है, यह प्रश्न विचारणीय है। इसका कारण उनके मन में सदा क्रियाशील बना रहनेवाला तत्त्ववाद है जो उनके स्वभाव का अविच्छेद्य जीवन्त अंग बन गया है। वे नख से शिख तक सुलझे हुए मार्जित रुचि के कलाकार हैं। संसार में अच्छा भी है, बुरा भी है, सुन्दर भी है, असुन्दर भी; परन्तु उनकी दृष्टि कुत्सित और बीभत्स की ओर कभी नहीं जाती। मनुष्य जिन ललित रूपों की रचना करने का प्रयास करता है वे सब अच्छे ही नहीं होते; क्योंकि सब समय वह पूर्णतः समाहित चित्त से उनका निर्माण नहीं करता। पूर्ण समाधि के बिना सुन्दर की रचना नहीं हो सकती। पूर्ण समाधि की अवस्था में ही चित्त सत्वस्थ रहता है। सत्वस्थ चित्त ही अनिद्य सुन्दर रूप की रचना कर सकता है। रचयिता में पूर्ण समाहित होने की क्षमता के अभाव में रचना कमजोर हो जाती है। जो ऐसा मानता है वह स्वयं रचयिता की स्थिति में आने पर कुत्सित और बीभत्स की रचना कैसे कर सकता है? राजा अग्निमित्र ने पहले मालविका का चित्र देखा था और चित्र-दर्शन से ही मोहित हो गया था। उस समय उसके मन में आशंका थी कि कहीं चित्रकार ने अधिक कान्ति चित्रित न कर दी हो। पर जब उसने साक्षात् मालविका को देखा तो वह चित्र की तुलना में अधिक कान्तिमती दीखी। तब राजा ने यह समझा कि जिस चित्रकार ने यह चित्र बनाया था उसकी समाधि शिथिल हो गयी थी। किसी कारणवश वह सत्वस्थ नहीं रह सका। कदाचित् रजोगुण के धुएँ से उसकी दृष्टि धूमिल हो गयी थी, कदाचित् तमोगुण के झोंके से उसे स्पष्ट दिखायी ही न दिया हो, कहीं-न-कहीं उसकी समाधि जरूर टूट गयी थी :

> चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम् ।
> सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ।।—माल. 2। 2

[जब मैंने इस चित्र में अंकित देखा था, तो मेरे मन में यह शंका थी कि वास्तविक मालविका सचमुच ही ऐसी सुन्दर है या नहीं, पर अब (जब वास्तविक मालविका को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ) तो ऐसा लगता है कि चित्रकार ने इसका चित्र बनाया था, उसकी समाधि शिथिल हो गयी थी। वह ठीक-ठीक नहीं बना सका।]

यह प्रसंग विद्धचित्र का है। विद्धचित्रों में ज्यों-का-ज्यों या हू-ब-हू चित्रण आवश्यक होता था। कालिदास के युग में विद्धचित्रों का खूब प्रचलन था। 'रघुवंश' में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है कि जब कुश विध्वस्त अयोध्या देखने गये तो उन्होंने देखा कि नगरी की दीवारों पर कुशल चित्रकारों ने हाथियों के विद्धचित्र बनाये थे। इन चित्रों में करेणु-वालाएँ कमल वन में उतरे हुए अपने प्रेमी हाथी को अपनी सूड़ों में मृणालकमल देती हुई चित्रित की गयी थीं। जब नगरी उजाड़ हो गयी और उसमें जंगली जानवरों का संचार होने लगा तो सिंहों ने उन चित्र-हस्तियों को वास्तविक हाथी समझकर अपने नाखूनों से उनके कुम्भस्थलों को जर्जर कर दिया था :

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालकल्पाः ।

इस प्रकार के विद्धचित्रों का वर्णन उन्होंने कई स्थानों पर किया है। वे स्वयं विद्धचित्रों को श्रेष्ठ कला नहीं मानते जान पड़ते। इस विषय की चर्चा हम आगे करने का अवसर पायेंगे। यहाँ प्रसंग विद्धचित्रों का है। उन दिनों राजपरिवारों में 'पोर्ट्रेट' बनते थे, वे हू-ब-हू बनाये जाते थे। मालविका का चित्र भी ऐसा ही रहा होगा। परन्तु राजा ने जब अनुकार्य को देखा तो अनुकरण की गलती उसकी समझ में आयी। यहाँ केवल इतना ही ध्यान देने की बात है कि विद्धचित्र भी ठीक-ठीक इसलिए नहीं उतरा कि चित्रकार 'शिथिल-समाधि' हो गया था। जहाँ कहीं कलाकार की समाधि शिथिल होती है, वहीं वह लक्ष्यभ्रष्ट होता है। कालिदास स्वयं 'शिथिल-समाधि' होना पसन्द नहीं करते यह तो कहना ही बेकार है। ऐसे कवि से यह आशा करना कि वह उत्कृष्टतम और निंद्यतम के भारी व्यवधान का चित्रण करता फिरेगा, दुराशा मात्र है।

कालिदास विधाता को भी एक कलाकार ही मानते हैं। जब वह सचमुच कोई सुन्दर रचना करता है तो समाधिस्थ होता है। दिलीप की रचना करते समय निश्चय ही उसने महाभूत-समाधि धारण की होगी—'तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।' यह और बात है कि मनुष्य की तुलना में विधाता अधिक विभु है, अधिक समर्थ है, पर सब समय वह भी समाधिस्थ नहीं होता। कहीं-कहीं और कभी-कभी उसके भी 'शिथिल-समाधि' हो जाने की आशंका रहती है। वस्तुतः कालिदास बहुत कम अवसरों पर विधाता के पूर्ण समाधिस्थ होकर रचना करने का उल्लेख करते हैं। उसका मतलब यह हुआ कि विधाता की सृष्टि में भी सब वस्तुएँ समान रूप से सुन्दर नहीं बनीं। कालिदास बड़े ही संस्कृत चित्त के कवि हैं। परवर्ती संस्कृत कवियों ने जिस प्रकार ब्रह्मा की गलतियों का हिसाब बताया है ऐसा वे नहीं करते। हिन्दी के कवियों ने भी विधाता की बेवकूफियों का खुलके वर्णन किया है—'नाम चतुरानन पै चूकते चले गये।' ऐसी उक्तियों की संख्या काफी मात्रा में खोजी जा सकती है। अपभ्रंश के मोहक कवि अद्दहमाण ने तो यहाँ तक आशंका प्रकट की है कि प्रजापति क्या अन्धा है या नपुंसक है जो ऐसी सुन्दरी का निर्माण करके अपने ही पास नहीं रख लिया ?

किंनु पिजावइ अन्धलउ अह नु वियड्ढलु आहि।
जं एरिसि तिय णिम्मविय ठविय न अप्पह पाहि ॥—'सन्देशरासक'

परन्तु कालिदास ने भी विधाता की सौन्दर्य-निर्माण-बुद्धि पर आशंका प्रकट कर ही दी है। उर्वशी के रूप को देखकर पुरूरवा ने कहा था कि 'इस सुन्दरी की रचना के लिए या तो अमित-कान्तिवाला चन्द्रमा या एकमात्र शृंगाररस में रमनेवाला स्वयं कामदेव, या फूलों का आकर वसन्त-मास-रचयिता बना होगा, नहीं तो भला निरन्तर वेदाभ्यास से जड़ीभूत, विषयोपभोग के कुतूहल से एकान्त पराङ्मुख, बूढ़ा मुनि (अर्थात् ब्रह्मा) ऐसे मनोहर रूप की रचना में कैसे समर्थ हो सकता है !'

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयाव्यवृत्तकौतूहलः
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ —विक्र. 1 । 10

परन्तु 'विक्रमोर्वशीय' कदाचित् कालिदास की किशोरावस्था की कृति है । उसमें थोड़ी युवजनोचित चुहल रह गयी है । 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में उन्होंने अपने मत में थोड़ा संशोधन किया है । प्रसंग है शकुन्तला की रचना का । यहाँ राजा दुष्यन्त ने कहा था—'ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला के रूप की मानस कल्पना की होगी । उस समय उसके चित्त में सौन्दर्य का उफान रहा होगा । उसने चित्त को पूर्ण सत्वस्थ या समाहित किया होगा । फिर उसने पुराने चौदह रत्नों से भिन्न इस नये स्त्रीरत्न की सृष्टि की होगी, ऐसा मुझे प्रतिभात हो रहा है । यह बात मेरे मन में इसलिए आती है कि एक ओर उसके (शकुन्तला के) मनोहर रूप को देखता हूँ और दूसरी ओर विधाता का अपार सामर्थ्य (उसकी विभुता) ।'

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगाद्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥

यही कालिदास का कलाकृति के विषय में निश्चित मत है । वे विधाता को भी मनुष्य की तरह एक कलाकार मानते हैं । मनुष्य जिस प्रकार मानस परिकल्पना करता है, उसी प्रकार विधाता भी करता है । वस्तुतः कल्प पहले होता है, सृष्टि बाद में । पर सब सृष्टि समान सुन्दर नहीं होती, न विधाता सब समय परिकल्पित सत्वयोगी होता है । न तो उसके मन में सब समय रूप का उफान उठा करता है और न सब समय उसकी विभुता के करिश्मे देखने को मिलते हैं । वस्तुतः विधाता मनुष्य की भाँति 'शिथिल-समाधि' भी हो जाता है । सब समय उसकी विभुता उसी प्रकार काम नहीं करती, जिस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण अभ्यास और नैपुण्य, रहते हुए भी, कभी-कभी काम नहीं कर पाते । ऐसा क्यों होता है ? विधाता को कहाँ से बाधा मिलती है ? कालिदास ने इस प्रश्न की ओर भी इंगित किया है । विधाता के बहाने कालिदास ने यहाँ मानव-कलाकार की रचना-प्रक्रिया की ओर इंगित किया है । विधाता क्या है और कैसे सृष्टि की रचना करता है, यह जानने का कोई उपाय नहीं है । मनुष्य अपने रूप में ही विधाता को देखता है । कालिदास ने स्वयं रचयिता का जो रूप सोचा होगा या स्वयं रचना-प्रक्रिया का जैसा अनुभव किया होगा उसी को विधाता में घटित कराया होगा, यह अनुमान असंगत नहीं है । कालिदास उत्तम रचना के लिए समाधिस्थ चित्त को बहुमान देते हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है । 'मेघदूत' के एक ही प्रसंग में चित्रकला के सात्विक और राजसिक भाव का बड़ा ही कमनीय चित्र प्रस्तुत किया है । यक्ष विरहावस्था में अपनी प्रणय-कुपिता प्रिया का चित्र बनाता है । चित्र बनाने की स्थिति में

उसका चित्त पूर्ण सत्वस्थ रहता है, परन्तु चित्र देखकर वह राजस भाव का शिकार हो जाता है। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है :

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातु रागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ विधाता॥

[प्रिये, कभी-कभी मैं धातुराग (गेरू) से तुम्हारे उस रूप का चित्र इस शिला पर बनाता हूँ, जब तुम प्रेम-कलह में मान किया करती थीं और प्रयत्न करता हूँ कि तुम्हारे चरणों पर मनाने के लिए गिरा हुआ अपना चित्र भी बना दूँ, लेकिन ऐसा हो नहीं पाता। आँसू बार-बार उमड़कर आँखों की दृष्टि-शक्ति ही लोप कर देते हैं। हाय, क्रूर विधाता इस प्रकार चित्र में भी हमारा मिलन नहीं बर्दाश्त कर पाता !]

कलाकार के रूप में यक्ष सत्वस्थ रहता है। द्रष्टा के रूप में राजस भाव में ! अस्तु। रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत चित्त से प्राणवन्त सुकुमार सौन्दर्य नहीं निकल सकता, यह कालिदास का निश्चित मत है—"न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्" —धरती से प्रभा-चंचल ज्योति का उदय नहीं हो सकता !

सहज रूप ही श्रेष्ठ है

कालिदास पुरुष और स्त्री के सहज गुणों को ही आदर देते हैं। जो बात अनायास[1] ही वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्य को निखार देने में समर्थ हो, उसे ही वे सहज गुण मानते हैं। भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में सुन्दरियों के जिन रसाश्रय अलंकारों की चर्चा की है, उनमें तीन शारीरिक या अंगज हैं—भाव, हाव, हेला। सात अयत्नज हैं—विना किसी यत्न के विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य। दस स्वाभाविक हैं, विशेष-विशेष स्वभाव के व्यक्तियों में मिलते हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित्,

1. रूपं वर्णं प्रभा रागं आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः॥—सहृदय-हृदय-लीला

ललित् और विहृत। पुरुषों में भी शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज आदि अयत्न-सिद्ध अलंकरण हैं। कालिदास की दृष्टि मुख्यतः इन्हीं सहज गुणों की ओर गयी है। इन गुणों के होने पर बाहरी आभरण हों तो भले न हों तो भले। शास्त्रों में भी बताया गया है कि समस्त अवस्थाओं में चेष्टाओं की रमणीयता ही माधुर्य है। जिस रूप में यह गुण होता है उसे 'मधुर' कहा जाता है। शकुन्तला की आकृति ऐसी ही थी। कालिदास ने कहा है कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मधुर आकृतियों का मण्डन न बन जाय। कमल का पुष्प शैवाल-जाल में अनुविद्ध होकर भी रमणीक बना रहता है, चन्द्रमा का काला धब्बा मलिन होकर भी शोभा विस्तार करता रहता है, और शकुन्तला वल्कल-वेष्टिता होकर तो और भी मनोज्ञा बन गयी थी :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ॥— शकु. 2।29

इसी प्रकार पुरुष में यदि तेज हो तो राज-चिह्नों और महार्ह आभरणों के बिना भी वह दूर से ही पहचान लिया जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार अन्तर्मदा-वस्था में उस गजराज को पहचान लिया जाता है, जिसकी मदधारा अभी प्रकट नहीं हुई है। दिलीप ने राज-चिह्न छोड़ दिये थे, पर तेजोविशेष की दीप्ति से उन्हें पहचान लेना फिर भी आसान था :

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥— रघु. 1।7

[यद्यपि उसने राज-चिह्न छोड़ दिये थे, तो भी उसके विशेष प्रकार के तेज से अनुमान कर लिया जा सकता था कि राज-लक्ष्मी को धारण कर रखा है। उसी प्रकार जिस प्रकार भीतर-ही-भीतर मदावस्था को प्राप्त, किन्तु बाहर से मदधारा के प्रकट न होने के समय गजराज की मदमत्त अवस्था का पता चल जाता है।]

कालिदास ने नारी-सौन्दर्य को महिमा-मण्डित देखा है। इसका मुख्य कारण उनकी यही निसर्ग-सौन्दर्यदर्शिनी दृष्टि है। भारतीय धर्म-साधना में देवी-देवताओं के किशोर रूप का ही ध्यान किया जाता है— 'वयः कैशोरकं ध्यायेत्।' क्योंकि इसी अवस्था में शरीर और मन में आद्याशक्ति, विधाता की आदि सिसृक्षा का श्रेष्ठ विलास, अपनी चरम-सीमा पर आता है। शोभा का अनुप्राणक धर्म यौवन माना गया है।

राजानक रुय्यक ने अपनी 'सहृदय-हृदय-लीला' नामक पुस्तक में बताया है कि इसी अवस्था में अंगों में सौष्ठव और विपुलीभाव आता है और उनका पार-स्परिक विभेद स्पष्ट होता है। उसमें असमानता प्रादुर्भूत होती है। कालिदास ने इस अवस्था को अंग-यष्टि का असम्भृत मण्डन (अर्थात् अयत्न-सिद्ध सहज

अलंकरण), मद का अनावस साधन (बिना मदिरा के ही मदमत्त बना देनेवाला सहज मादकगुण) और प्रेम के देवता का बिना फूल का बाण (सहज सिद्ध अभिलाष-हेतु) कहा है :

असंभृत मंडनमंगयष्टे—
रनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं
बाल्यात्परं साथ वयः प्रप ॥—कु. 1 । 31

[उसकी (पार्वती की) वह अवस्था आयी जो बाल्य वयस के बाद आती है। यह अवस्था (यौवन) अंगयष्टि का वह अलंकरण है, जो बिना साज-सिंगार के ही बन जाता है, जो मद का साधन है पर नाम उसका मदिरा नहीं है। और जो कामदेवता का फूलों के अलावा एक और ही अस्त्र है।]

सत्कुल में जन्म, सुन्दर शरीर, अनायास प्राप्त ऐश्वर्य तथा नवयौवन इनसे बढ़कर तपस्या के फल की कल्पना नहीं की जा सकती :

कुलेप्रसूतिः प्रथमस्य वेधसः
त्रिलोकसौंदर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यं सुखं नवं वयः
तपः फलं स्यात् किमतः परं वद ॥—कु. 5 । 41

[आदिविधाता के कुल में जन्म, त्रिलोक-सौन्दर्य के समान उदय हुआ शरीर, अनखोजी मिली समृद्धि का सुख, और नवीन वय (चढ़ती जवानी)—इनसे बढ़कर तुम्हीं बताओ, तपस्या का फल और क्या हो सकता है ?]

शोभा और सौन्दर्य के वर्णन में नवयौवन के इस धर्म को कालिदास ने विशेष रूप से मान दिया है। इस विभेद या उभार को कालिदास ने जमकर अलंकार-लक्षित करके सहृदय-हृदयगोचर बनाया है। इसीलिए वे उभरे हुए वक्षस्थल पर झूमते हुए हार, चाहे वे शरत्कालीन चन्द्रमा की मरीचियों के समान कोमल-मृणाल-नाल के बने हों, या मुक्ता-जाल ग्रथित हेम-सूत्र से गढ़े हुए हों; श्रोणि-बिम्ब को मण्डित करनेवाली कांची या हेम-मेखला, हंससुतानुकारी नूपुर, स्तनांशुक, अपांग-विलास, मदिरालस-नयनापांग, आदि का जमकर वर्णन करते हैं। कंकणवलय और मृणाल-वलय उन्हें पसन्द हैं, क्योंकि वे सुवृत्त कलाइयों की शोभा को निखार देते हैं, लाक्षारस और लहरदार किनारी उन्हें रुचिकर हैं, ताम्बूल राग, सिन्दूर राग, धम्मिल्ल भार (जूड़ा) आदि इसलिए वर्णनीय हैं कि वे चतुरस्र शरीर के उभार को अधिक खिला देते हैं। प्रेम का देवता बहुत प्रकार से नवयौवनशाली शरीर में निवास करके इस विभेद या उभार को आकर्षक बना देता है :

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गंडेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनंगो बहुधा स्थितोऽद्य ॥

[मदिरालस नयनों में वह (काम) चंचल, गण्डस्थल में पाण्डुवर्ण, वक्षःस्थल में कठिन, कटि देश में क्षीण, जघनस्थल में स्थूल बनकर स्त्रियों के शरीर में

नानाभाव से स्थित है।]

पहले ही बताया गया है कि कालिदास के ऐसा कहने के पीछे एक भारी तत्त्व-वाद है। 'कुमारसम्भव' समष्टि-व्याप्त प्रेम का काव्य है। विधाता ने स्वयं अपने-आपको द्विधा-विभक्त करके शिव और शक्ति के रूप में इस विभेद की लीला शुरू की थी। समष्टि में जो शिव और शक्ति है, वही व्यष्टि में पुरुष और स्त्री है।

जब तुम सृष्टि करने की इच्छा करते हो, तो अपने-आपको दो भागों में—स्त्री और पुरुष रूप में—विभक्त करते हो। यही तुम्हारे आत्म-भाग (अपने-आपको स्त्री और पुरुष में विभक्त करने से बने हुए भाग) संसार के माता-पिता बनते हैं :

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥7॥

व्यष्टि में यह भेद यौवनकाल में अपनी चरम विकासावस्था को प्राप्त होता है। उसके बाद वह क्रमशः फल और बीज के रूप में परिपक्व होता है। कालिदास, इसीलिए, नवयौवन को महत्त्व देते हैं कि इस अवस्था में चिन्मयी धारा विकास की ओर बढ़ती रहती है। वृक्षों और लताओं में जैसे फूल होते हैं, वैसे ही पुरुष और स्त्री के शरीर में यौवन आता है। शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त के मुख से कवि ने यौवन को पुष्प के समान कहा था :

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ॥—110, 1, 20

[किसलय के समान लाल-लाल इसके अधर हैं, कोमल शाखाओं के समान भुजाएँ हैं, और कुसुम के समान लोभनीय यौवन है जो इसके अंग में खिला हुआ है।]

रूप, वर्ण, कान्ति के सम्पूर्ण उद्भेद पुष्प में होते हैं।

अंगराग, उपलेपन और आभरण इस विभेद की शोभा को प्रतिभिन्न करते हैं और निखार देते हैं।[1] किन्तु केवल रूप और यौवन अपने-आपमें पर्याप्त नहीं हैं।

प्रेम होना चाहिए। कालिदास ने युवावस्था के मनोहर रूप के दो पक्षों पर अधिक बल दिया है। (1) उसके समय में यह प्रवाद प्रचलित था कि विधाता जिसे रूप देता है उसके चित्त में महनीय गुण भी देता है। उसका चित्त पाप-वृत्ति की ओर नहीं जाता। यह प्रवाद कालिदास की दृष्टि में सत्य है—'यदुच्यते पार्वति पाप-वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः' (कुमार. 5)। इसका मतलब यह हुआ कि पाप-वृत्ति की ओर उन्मुख होनेवाला रूप वस्तुतः रूप है ही नहीं। कालिदास इस सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। (2) प्रिय के प्रति सौभाग्य उद्रिक्त करना ही रूप-सौन्दर्य का वास्तविक फल है—'प्रियेषु सौभाग्यफला

1. सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम्।
निर्नाभिकौशेयमुपात्तवर्णमभ्यंगनेपथ्यमलंचकार ॥ (कुमार. 7। 7)

हि चारुता' (कुमार. 5-1)। राजानक रुय्यक ने दस शोभा-विधायक धर्मों में प्रथम को रूप कहा है और अन्तिम को 'सौभाग्य'। 'सुभग' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसके अन्दर प्रकृत्या वह रंजक गुण होता है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर। ऐसे 'सुभग' व्यक्ति के आन्तरिक वशीकरण धर्म को 'सौभाग्य' कहते हैं। कालिदास ने 'मेघदूत' (1-31) में 'सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यंजयती' में इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में किया है। यह लक्ष्य करने की बात है कि सौभाग्य की व्यंजना विरहावस्था में होती है। रूप बाह्य आकर्षण है और सौभाग्य की कामना आन्तरिक— 'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'। सो, कालिदास के अनुसार यह आन्तरिक वशीकरण धर्म ही रूप का फल है। इसलिए उनके रूप-वर्णन का एक ही लक्ष्य है—प्रेमी में उस शक्ति की प्रतिष्ठा, जो प्रिय को सहज ही आकृष्ट कर सके। अत्यन्त उच्छल-शृङ्गारिक वर्णन के प्रसंगों में भी कालिदास उस बात को नहीं भूले हैं। उनके मत से मदन या मन्मथ द्विधाभूत शक्तियों का आश्रय है। एक ओर तो वह अग-जग में व्याप्त मंगल-निरपेक्ष यौन-आकर्षण है। रूप उसका सहायक बनकर निन्दनीय होता है।

कालिदास ने बड़ी ही सुन्दर ललित भाषा में इस यौन-आकर्षण के मंगल-निरपेक्ष मोहमय रूप का वर्णन किया है। तपोनिष्ठ शंकर की नयनाग्नि में भस्म होने के पूर्व इस मदोद्धत काम ने इन्द्र से कहा था कि 'बताइए क्या करतब दिखाऊँ? किस तपस्वी को अपने वाणों का शिकार बनाऊँ, मोक्ष के लिए प्रयत्न करनेवाला वह कौन व्रती है जिसे मैं सुन्दरियों के चंचल कटाक्ष से आहत करके उन्हीं की डोरों से बाँध डालूँ? शुक्र से भी नीति पढ़कर पण्डित बने हुए किस चतुर ऐश्वर्यशाली को क्षण-भर में अर्थ और धर्म दोनों से वंचित कर दूँ?'—

> केनाभ्यसूया पदकांक्षिणां ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः।
> यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती॥
> असंमतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः।
> बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रू चतुरैः कटाक्षैः॥
> अध्यापितस्योशनसापि नीतिर्प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते।
> कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिंधोस्तटावौघ इव प्रवृद्धः॥
>
> —कुमार. 3।4।5।6

अर्थात् वह धर्म, अर्थ और मोक्ष तीनों को नष्ट कर देने की शक्ति रखता है। "कुमारसम्भव' का मदन-दहन और शकुन्तला के प्रथम-प्रेम का प्रत्याख्यान इसी मंगलनिरपेक्ष यौन-आकर्षण का प्रतिवाद है। पार्वती का सारा रूप, मदन का सारा पराक्रम और वसन्त का समूचा आयोजन तपस्वी के एक भ्रूक्षेप में छह गया, देवता चिल्लाते रह गये कि 'हे प्रभो, क्रोध को रोको', उनकी वाणी अभी आसमान में ही थी कि शिव के नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने प्रेम के इस अपदेवता को भस्मावशेष बना दिया:

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिर: खे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्निर्भवनेत्र-जन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ।।

—कुमार. 3 । 72

['हे प्रभो, अपना क्रोध संवरण कीजिए, रोकिए, रोकिए'— इस प्रकार देवता-गण की वाणी जब तक आकाश में ही चल रही थी, तब तक शिव की आँखों से उत्पन्न उस आग ने कामदेव को भस्म ही कर डाला !]

पार्वती ने अपने शरीर के लालित्य को व्यर्थ समझा (व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च) और तपस्या के द्वारा रूप को अव्यर्थ करना चाहा । बिना तप के ऐसा सौभाग्य, ऐसा प्रेम, ऐसा पति कैसे मिल सकता था ।

इयेष सा कर्त्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन: ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं,
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृश: ।।

—कुमार. 5 । 2

[अपने रूप की ऐसी विफलता देखकर पार्वती ने ठान लिया कि समाधि के द्वारा तपस्या करके अपने सौन्दर्य को सफल बनायेंगी । नहीं तो भला ऐसा प्रेम और ऐसा पति अन्य किसी उपाय से कैसे मिल सकता है ?]

शकुन्तला की भी यही कहानी है । रूप के उन्मद आकर्षण को तपस्वी के एक वाक्य से भहराकर गिर जाना पड़ा । और 'मेघदूत' के प्रमाद-जनक उतावले प्रेम की यही गति है । सबको कठिन तपस्या से गुजरना पड़ा है—'सौभाग्य ते सुभग विरहावस्थया व्यंजयन्तीम्' । तपस्या के बाद उत्पन्न काम अतनु होता है । वह भावैक-रस होता है । ब्रह्मचारी वेश-धारी शिव ने, पार्वती को, शिव के रूप की निन्दा द्वारा जब तपस्या से विचलित करना चाहा तो उन्होंने कहा कि 'झगड़े से क्या लाभ ? तुमने शिव को जैसा रूप-गुणहीन सुना है वे वैसे ही हों तो भी क्या ? मेरा मन तो भावैकरस हो गया है, हृदय में भाव-रूप में विराजमान प्रिय के साहचर्य से रस का अनुभव करने लगा है ।'

अलं विवादेन यथा श्रुतं त्वया, तथाविधस्तावदशेषमस्तु स: ।
ममात्र भावैकरसं मन: स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।।

—कुमार. 5 । 82

[विवाद से क्या लाभ ? आपने उन्हें जैसा सुना है वे वैसे ही सही, पर मेरा मन तो उन्हीं में रम गया है । जब मन किसी पर आ जाता है तो आ ही जाता है, वह किसी के कहने-सुनने की अपेक्षा थोड़े ही रखता है !]

तपस्या से तपकर विशुद्ध प्रेम द्वारा व्यंजित यही सौभाग्य-धर्म कालिदास के सौन्दर्य-वर्णन का लक्ष्य है ।

ब्रह्मचारी वेशधारी शिव को यह देखकर कष्ट हुआ कि सौन्दर्य की अद्भुत प्रतिमा पार्वती तपस्विजनोचित वेश धारण किये हुई थीं । कालिदास ही उस दुःख

को और उसके आवरण में छिपे हुए आह्लाद को व्यक्त कर सकते थे। दुःख साधारण जन की दृष्टि की उपज था। जो जहाँ होना चाहिए वह वहाँ न हो तो कष्ट होता ही है। कौन ऐसा सहृदय होगा जो मणि-रत्न के आभूषणों के योग्य शरीर को सूर्य की किरणों में झुलसा देखकर दुःखी न हो जाये, जो चाँद के समान दमकनेवाली कान्ति को दिन के चन्द्रमा की भाँति क्षीण-कान्ति बनी देखकर पिघल न जाये! हाय,

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्।
शशांकलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते॥

—कुमार. 5। 48

[ऐसा कौन सहृदय होगा जिसका मन तपस्या से इस प्रकार तुम्हारे कृशित शरीर को, जो आभूषण न पहनने के कारण झुलस गया है और दिन में उदित चन्द्रलेखा की भाँति फीका पड़ गया है, देखकर हाय-हाय न कर उठे!]

सामान्य रूप में सचेता या सहृदय के मन में यही बात उठती है, परन्तु जो सूक्ष्मदर्शी होता है उसे तपस्या के मानसिक उदात्त भाव में जो सौन्दर्य दिखता है, वह इससे कहीं अधिक आह्लाद-जनक होता है। पार्वती शिव की निन्दा—वेश पर आधृत निन्दावाद—नहीं सुन सकती थीं। वे गहराई में स्थित शिव के विशाल मंगलरूप को देखती थीं। अंगराग, आभरण, मण्डन-द्रव्य जैसे मांगल्य वेश क्यों धारण किये जाते हैं? अपनी सीमाओं के प्रति सचेत रहने के कारण। कुछ लोग अशुभ से रक्षा के लिए इन्हें धारण करते हैं, वहाँ भय मुख्य कारण होता है। दूसरे समृद्धि के प्रदर्शन के लिए या उनकी आशा से उनका उपयोग करते हैं। वहाँ काम और लोभ हेतु होते हैं। दोनों सीमा-बुद्धि के परिचायक हैं। जिसे भय भी नहीं, लोभ भी नहीं, वह मांगल्य आभरण पहने तो अच्छा, न पहने तो अच्छा। शिव और पार्वती को इनकी आवश्यकता नहीं—

विपत्प्रतीकारपरेण मंगलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः॥

—कुमार. 5। 76

[मांगल्य आभरण या तो वे लोग धारण करते हैं जो किसी विपत्ति को दूर करना चाहते हैं या फिर जो लोग अपनी समृद्धि दिखाना चाहते हैं। परन्तु शिव तो संसार के शरणदाता हैं, उनमें कोई इच्छा है ही नहीं। वे भला इन वस्तुओं को क्यों चाहेंगे?]

और फिर शिव? वे तो विश्वरूप हैं। वे चाहे विभूषणों से उद्भासित हों, साँप लपेटे हों, हाथी की खाल ओढ़े हों या दुकूलधारी हों, कपाली हों या चन्द्रशेखर हों, उन्हें सब फबता है; क्योंकि वे विश्वमूर्त्ति हैं:

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपु॥

—कुमार. 5। 78

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर कहा है कि " 'कुमारसम्भव' के तृतीय सर्ग में कामदेव के आकस्मिक आविर्भाव से चंचल यौवन का उद्दीप्त वर्णन हुआ है। यहाँ कालिदास ने उन्मत्तता को संकीर्ण सीमा के बीच नहीं देखा और न यह दिखाने का प्रयास किया है कि उन्मत्तता ही सब-कुछ है। एक विशेष तरह का शीशा होता है जिसमें से यदि सूर्य-किरणें किसी बिन्दु पर पड़ें तो वहाँ आग जल उठती है। लेकिन वही सूर्य-किरणें जब आकाश में सर्वत्र स्वाभाविक रूप से प्रसारित होती हैं तो ताप देती हैं, जलाती नहीं। वसन्त-प्रकृति की सर्वव्यापी यौवन-लीला के बीच हर-पार्वती के मिलन-चांचल्य को विन्यस्त करके कालिदास ने उसकी मर्यादा सुरक्षित रखी है। उन्होंने पुष्पधनु की प्रत्यंचा-ध्वनि को चिरसंगीत के स्वर से विच्छिन्न नहीं होने दिया। जिस पृष्ठभूमि पर उन्होंने अपना चित्र खींचा है वह तरु-लताओं और पशु-पक्षियों को साथ लेकर समस्त आकाश में विचित्र रंगों में फैला है। केवल तृतीय सर्ग ही नहीं, पूरा 'कुमारसम्भव' काव्य एक विश्वव्यापी पटभूमि पर अंकित है। इस काव्य का जो मूल विचार है वह गम्भीर और चिरन्तन है। पापदैत्य प्रबल स्वर्गलोक को छिन्न-विच्छिन्न कर देता है। समस्या यह है कि उस दैत्य को पराजित करने के लिए जिस वीरता की आवश्यकता है, वह कैसे पैदा हो ? इसी समस्या का समाधान 'कुमारसम्भव' है। अर्थात् त्याग और भोग के सामंजस्य में ही पूर्ण शक्ति है। त्यागी शिव जब एकाकी समाधिमग्न बैठे थे, स्वर्गलोक असहाय था, और सती जब अपने पिता के घर ऐश्वर्य में अकेली ही आवद्ध थीं, उसी समय दैत्यों का उपद्रव प्रबल हो उठा था। प्रवृत्ति के प्रबल हो जाने से ही त्याग और भोग का सामंजस्य टूट जाता है। इस काव्य में कवि ने दिखाया है कि त्याग के साथ ऐश्वर्य का, तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही उस शौर्य का जन्म हो सकता है जिसके द्वारा मनुष्य का सर्व-प्रकार की पराजय से उद्धार हो सकता है।"

त्रिनिवेशन, अन्यथाकरण और अन्वयन

कलाकार किसी चित्र या मूर्त्ति के निर्माण के लिए कुछ सामग्रियों का उपयोग करते हैं। इन्हें 'उपदान' कहते हैं। फिर वे तूलिका, छेनी आदि का सहारा भी लेते हैं जो कला-वस्तु के निर्माण में सहायक होते हैं। इन्हें 'करण' कह सकते हैं। परन्तु कालिदास ने 'करण' शब्द का दो प्रकार से प्रयोग किया है। कभी-कभी वे इन्द्रियों के अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं और अन्तःकरण (मन, बुद्धि आदि) और बहिः-

करण (आँख, कान, हाथ आदि) में से किसी एक या दोनों की बात करते हैं और कभी उन औजारों का भी इस शब्द से ही उल्लेख करते जान पड़ते हैं जो कलाकार के सहायक होते हैं (जैसे तूलिका, लेखनी, छैनी आदि)। दोनों में स्पष्ट भेद बताने के उद्देश्य से मैंने अपनी ओर से दूसरी श्रेणी के करणों के लिए 'उपकरण' शब्द का प्रयोग करने का निश्चय किया है। 'करण' कलाकार के अनुशासित और शिक्षित इन्द्रिय हैं और 'उपकरण' उसकी इन्द्रिय-शक्ति के सहायक औजार आदि। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री उपादान और उपकरण, इन दोनों के लिए 'माध्यम' (अंग्रेजी 'मीडियम') शब्द का प्रयोग करते हैं और बताते हैं कि कलाकृति के उपयोग में माध्यम की प्रकृति की जानकारी और आनुकूल्य-विधान बहुत आवश्यक तत्त्व हैं। यह विचारणीय है कि इस सम्बन्ध में कालिदास का क्या मत है।

कालिदास ने श्रेष्ठ कलाकार के रूप में विश्वसृज् (विश्व का स्रष्टा, विधाता) को ही देखा है। परन्तु 'विश्वसृज्' की कला-रचना की प्रक्रिया के बहाने उन्होंने श्रेष्ठ मानव-कलाकार के गुणों का उल्लेख किया है। वस्तुतः वे विधाता की सृष्टि-रचना को एक उत्तम कलाकार की कलाकृति ही मानते हैं। यद्यपि विधाता 'विभु' या परम समर्थ है और मनुष्य उसकी तुलना में बहुत कम समर्थ प्राणी है, पर विधाता को भी मनुष्य की तरह श्रेष्ठ रचना के लिए 'प्रयत्न' करना पड़ता है। 'समाधि' की अवस्था में पहुँचना पड़ता है, चित्त को 'सत्वस्थ' करना पड़ता है। तभी वह सुन्दर सृष्टि कर सकता है। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्री प्रकृति के सौन्दर्य और मानव कलाकृति सौन्दर्य में जितना अन्तर करते रहते हैं, कालिदास को उतना मान्य नहीं है। वे अनायास मानव-कलाकार के उपकरणों को विधाता के उपकरणों के साथ-साथ एक ही साँस में समान गौरव के साथ रख दे सकते हैं। पार्वती के बाल्यकाल के चतुरस्र या सपाट शरीर को नवयौवन ने ऊँचा-नीचा करके विभक्त बना दिया---उभार ला दिया—किस प्रकार? कालिदास दो उपमानों का प्रयोग करते हैं—एक तो विधाता की सृष्टि (प्रकृति) से लिया गया है, दूसरा मानव-कलाकार की सृष्टि (संस्कृति) से। विधाता जब कमल के मुँदे पुष्प में विभेद या उभार ले आना चाहते हैं तो सूर्य-किरणों की सहायता से ऐसा करते हैं और मानव-कलाकार जब चित्र में विभेद या उभार पैदा करना चाहता है तो तूलिका की मदद से ऐसा कर पाता है। दोनों उपमानों को समान मर्यादा देने में कालिदास को रंच-मात्र भी हिचक नहीं है। वे इस चिन्ता में भी नहीं पड़ते कि विधाता का नाम पहले लेना चाहिए, मनुष्य-कलाकार का बाद में। उनकी दृष्टि से दोनों समान मर्यादा के अधिकारी हैं। वे मनुष्य-कलाकार का नाम पहले ले लेने में कोई हर्ज नहीं मानते :

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कु. 1। 32

[जैसे तूलिका या कूची से रंग भरने पर चित्र निखर आता है और जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल का फूल रूप-वर्ण और गन्ध से फट पड़ता है, वैसे

ही नवयौवन के द्वारा उस (पार्वती) का चौरस शरीर निखर उठा। उसमें ऊँचाई-नीचाई के भाव प्रकट हो गये !]

इस श्लोक में आये हुए 'चतुरस्र' शब्द पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। यह चित्र-सूत्र में बताये गये 'वैणिक' चित्र की याद दिलाता है। रेखाओं से बने हुए ये चित्र केवल खाका मात्र होते थे—'चतुरस्र सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणकृति', अर्थात् न ही उनमें दीर्घता का भान होता है, न ऊँचाई-नीचाई का। ऐसे खाकेवाले चित्रों में उन्मीलन या उभार लाना चतुर कलाकार की शिक्षित तूलिका का ही काम है।

वस्तुतः जहाँ-कहीं कालिदास ने विधाता की सृष्टि-प्रक्रिया की बात कही है, वहाँ मानव-कलाकार उनके मन में अवश्य विद्यमान रहता है। इसलिए उनकी विधाता की सर्जन-प्रक्रिया सम्बन्धी उक्तियों से हम मानव-कलाकार की सर्जन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उनका क्या मत था, इसका अनुमान अवश्य कर सकते हैं।

विधाता ने पार्वती का सुन्दर रूप कैसे बनाया ? निपुण मानव-कलाकार की भाँति उसे सामग्री संग्रह करनी पड़ी, उनकी प्रकृति का अध्ययन करना पड़ा, कहाँ किसे रखना ठीक होगा, इसका विचार करना पड़ा, अभ्यास-निपुण चित्त से प्रयत्न करना पड़ा और तब जाकर वह सुन्दर रूप बन सका :

> सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
> सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौंदर्य दिदृक्षयेव ।।--कु. 1। 49

[ऐसा जान पड़ता है कि विश्व-स्रष्टा (विधाता) सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक स्थान पर देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने उपमा-योग्य सभी वस्तुओं को एकत्र किया, उन्हें यथास्थान सजाया और उनकी सहायता से प्रयत्नपूर्वक पार्वती के रूप का निर्माण किया।]

विधाता ने क्या किया था, यह जानने का उपाय हमारे पास नहीं है। पर कालिदास ने निस्सन्देह ऐसा ही कुछ किया था। तब कहीं जाकर वे पार्वती के 'कांचन-पद्म-धर्मि' रूप को निखार सके।

इस कथन से कालिदास के कई विचार स्पष्ट हो जाते हैं। सामग्री या उपादान का संचयन तो कलाकार के लिए आवश्यक है ही, उसके बिना तो वह आगे बढ़ ही नहीं सकता, परन्तु कालिदास ने यहाँ उससे बड़ी बात कहनी चाही है। उपादान का ठीक-ठीक सन्निवेश आवश्यक तत्त्व है। वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकार वह होता है जो अपनी इच्छा और उपादान की प्रकृति का ठीक-ठीक सामंजस्य कर सकता है। जिस या जिन उपादानों के सहारे कला-कृति का निर्माण होता है वे भी अपना व्यक्तित्व रखते हैं। उनका निर्देश मानना पड़ता है, उनकी प्रकृति के विरुद्ध यदि बलात् उनका उपयोग किया जाये तो कलाकृति की चारुता को नष्ट कर देते हैं। उनका यथाप्रदेश विनिवेश कलाकार की निरीक्षण शक्ति की सच्चाई या कच्चाई की गवाही देते हैं। केवल श्रेष्ठ कलाकार ही—जो 'एकत्र सौन्दर्य दिदृक्षा' का धनी होता है—उपादान को अनुकूल बना सकता है। उसका आनुकूल्य प्रयत्न से सिद्ध

होता है। उपादान सहानुभूति चाहता है, सहलावा चाहता है, मनुहार चाहता है। एरिक न्यूटन ने लिखा है कि यदि कलाकार माध्यम (उपादान और उपकरण) के स्वाभाविक आचरण की उपेक्षा करता है और जबर्दस्ती अपनी इच्छा उस पर लादने का प्रयास करता है, तो वह अपने को ही जोखिम में डाल देता है और यदि उसके सामने वह आसानी से घुटने टेक देता है, तो भी वह अपने को जोखिम में ही डाला करता है। कुशल शिल्पी की सफलता का रहस्य यह है कि वह माध्यम का ठीक-ठीक उपयोग करता है, उसके स्वाभाविक आचरण को इस प्रकार अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है कि वह ज़ोर-ज़बरदस्ती के बिना अपनी मर्ज़ी से उसकी सहायता करने लगता है। जापानी कुश्तीबाज़ की तरह वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रयत्नों को अपने अनुकूल बनाता है और उसे चित करने में उसी के प्रयत्नों का उपयोग करता है। सच्चा कलाकार अपनी मर्ज़ी के साथ माध्यम की मर्ज़ी को एकमेक कर देता है। ('दि मीनिंग ऑफ़ ब्यूटी', पृ. 89-90) असल में उपादान और उपकरण का निर्देश मानना और उसे अपनी इच्छा के अनुकूल बना लेना अच्छे कलाकार का सहज गुण है। कलाकार केवल ऐसा स्वप्नद्रष्टा नहीं होता जो मानवी मूर्त्तियों का निर्माण कर चुप बैठ जाता है। उसे अपने स्वप्न को उपादान और उपकरण की सहायता से चरितार्थ करना पड़ता है। यदि वह उनकी उपेक्षा करता है तो अनर्थ हो सकता है। मनुहार न करने का ही वह फल है जो संस्कृत की इस अनिप्रसिद्ध उक्ति में संक्षेप में बता दिया गया है—'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' (गणेशजी की मूर्त्ति बनाने चला, बना दिया वानर)। कुछ बहुत अच्छे शिल्पी उपादान की प्रकृति के अच्छे ज्ञाता होते हैं, वे उसके निर्देश को समझते हैं, फिर भी अच्छे कलाकार नहीं बन पाते, क्योंकि उनकी इच्छा-शक्ति कमज़ोर होती है। ऐसे शिल्पी 'कारीगर' की मर्यादा से ऊपर नहीं उठ पाते। वे बड़ी चीज़ नहीं दे पाते। अंग्रेजी में ऐसे प्रयत्नों के लिए 'स्किल' शब्द का व्यवहार किया जाता है—बहुत-कुछ यह संस्कृत के 'गुणीभूत' शब्द का समानधर्मा है पर ठीक-ठीक वही नहीं है। जहाँ कलाकार की सर्वोत्तम सर्जनेच्छा के साथ माध्यम का प्रयत्नसाध्य निर्देश एक-दूसरे को समृद्ध करते हैं, वहीं कलाकृति श्रेष्ठ होती है। कलाकार में यह इच्छा-शक्ति सहज होती है, वैसी ही जैसी विधाता की सृष्टि है—चन्द्रमा में आह्लादक धर्म सहज होता है; क्योंकि चन्द्रमा, विधाता की मानसी सृष्टि है – 'चन्द्रमा मनसो जातः'। माध्यम में वह यत्नसाध्य होती है, जैसे विधाता की सृष्टि में कमल पुष्प में 'सूर्य किरणों से प्रोद्भिन्नता' द्वारा वह प्रयत्न पुरस्सर आनीत होती है। कलाकृति में वह रचना-शक्ति सहज और यत्नसाध्य प्रचेष्टाओं की 'द्विसंश्रया प्रीति' प्राप्त करती है। पार्वती के मुख का जब विधाता ने निर्माण किया था तो सौन्दर्य-लक्ष्मी ने द्विसंश्रया प्रीति एकत्र प्राप्त की थी :

> चंद्र गता पद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चांद्रमसीमभिख्याम्।
> उमा-मुखं तं प्रविविश्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥

[सौन्दर्य लक्ष्मी जब चन्द्रमा में होती है तो पद्म के गुणों का उपयोग नहीं

कर पाती, उधर वह जब पद्म में होती है तो चन्द्रमा की शोभा से वंचित हो जाती है। किन्तु यह चंचला, उमा के मुख को आश्रय करके द्विसंश्रया या उभयनिष्ठा प्रीति का भाजन बनी।]

सो, कलाकृति द्विसंश्रया प्रीति चाहती है। कालिदास जब 'यथाप्रदेशं विनिवेशितं' की बात कहते हैं तो उपादान के आनुकूल्य-साधन की ओर इंगित करते हैं।

परन्तु जो बात कालिदास ने बहुत स्पष्ट शब्दों में नहीं कही, उसे वे करके दिखा गये हैं। वे जिस सामग्री का उपयोग करते हैं, उसकी प्रकृति के अनुसार ही उसे रूप दे देते हैं। परवर्ती संस्कृत कवियों में यह बात सदा नहीं पायी जाती। वक्तव्य वस्तु स्वयं अपना रूप निश्चय करता है। या और भी स्पष्ट शब्दों में कहें तो, कवि को वक्तव्य वस्तु की प्रकृति को देखकर, कलात्मक कृति की रचना करनी होती है और उसका रूप, उसका छन्द, उसका 'यथाप्रदेश विनिवेश' सोचना पड़ता है। इस बात में कालिदास की तुलना बहुत कम कवियों के साथ की जा सकती है।

कालिदास भारतवर्ष के समृद्ध इतिहास की देन हैं। स्वभावतः उन्हें विरासत में अनेक रूढ़ियों की प्राप्ति हुई थी। धर्म, दर्शन, कला, शिल्प आदि के क्षेत्र में अनेक रूढ़ प्रतीक साधारण जनता में बद्धमूल हो चुके थे, इसलिए उन्होंने भी बहुत-सी रूढ़ियों का पालन किया है। जब तक प्रतीकों का अर्थ मालूम रहता है तब तक वे 'रूढ़' की कोटि में नहीं आते, क्योंकि वे तब तक प्रयोक्ता के अनुध्यात अर्थ का प्रक्षेपण ग्रहीता के चित्त में करते रहते हैं। दीर्घकालीन प्रयोग के बाद उनका मूल प्रयोजन भुला दिया जाता है और बाद में उन घिसे-पिटे प्रतीकों का प्रयोग रूढ़ अर्थ में होने लगता है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में काव्यगत और नाट्यगत रूढ़ियों का जमकर प्रयोग किया है। उनसे छनकर ही उनकी स्वकीयता (ओरिजिनैलिटी) आती है। और यदि हमें कालिदास के उपादान-प्रयोग की कुशलता की परीक्षा करनी हो तो इन रूढ़ियों की जानकारी आवश्यक हो जायेगी। यहाँ उस प्रकार के प्रयास में पड़ने की इच्छा नहीं है। वह एक जटिल अध्ययन-प्रक्रिया की अपेक्षा रखती है। यहाँ प्रसंग यह है कि कालिदास उपादान की प्रकृति के निपुण पारखी हैं। रूढ़ियों का मान उनके मन में है अवश्य, पर उपादान के उपयोग में उनकी स्वकीयता प्रशंसनीय है।

चित्र के विषय में उन्होंने बहुत-कुछ शब्दों में कहा है। उन्होंने यह भी इंगित किया है कि चित्रकार को ठीक-ठीक चित्र बनाने के लिए बाह्य जगत् से गृहीत सामग्री का अन्यथाकरण करना पड़ता है। कई जगह चित्रकार को—और अन्य कलाकारों को भी ज्यों-का-त्यों चित्रण करने के लिए कुछ छोड़ना पड़ता है, कुछ जोड़ना पड़ता है, कुछ बदलना पड़ता है। उसे कई बार रूढ़ियों का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसा करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। वह इस विवशता से छुटकारा नहीं पा सकता।

इस कौशल को 'अन्यथाकरण' कह सकते हैं। अंग्रेजी में इसे 'डिस्टॉरशन' कहते हैं। मनुष्य जो भी कुछ रचता है उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता

से ही मसाला संग्रह करता है। पर इसे ज्यों-का-त्यों वह ले ही नहीं सकता। उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक में बदलना पड़ता है। वह कुछ-न-कुछ छोड़ने को बाध्य है। वह तथ्यात्मक बाह्य सत्ता को बदलता है, 'अन्यथा' बनाता है। इसीलिए उसके इस प्रयत्न को 'अन्यथाकरण' कहते हैं। अन्यथाकरण अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। फिर भी वह वस्तु को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास करता है। रेखा से, रंग से वह कमियों को पूरा करता है। इस कौशल में ही कलाकार का वैशिष्ट्य है। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में एक स्थान पर यह बात बड़े आकर्षक ढंग से कही है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाया था। उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता अर्थात् जैसा है वैसा नहीं बन पाता उसे अन्यथा कर दिया जाता है। फिर भी उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओं से कुछ निखर ही गया है, उसमें लगातार प्रभावित करते रहने की क्षमता जुड़ ही गयीं है :

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तपस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥

यहाँ इस श्लोक को उद्धृत करने का उद्देश्य सिर्फ यही नहीं है कि अन्यथाकरण शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया जाये, बल्कि यह भी है कि इस बात को विशेष रूप से दृष्टिगोचर किया जाये कि कालिदास ऐसा मानते थे कि यद्यपि अन्यथाकरण के द्वारा बाह्य जगत् ज्यों-का-त्यों नहीं आ जाता, फिर भी उत्तम कोटि का चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता है—किंचित् अन्वितम्। ऊपर से यह बात ऐसी अटपटी मालूम होती है कि बहुत-से पण्डित इस श्लोक का अर्थ ही बदलने पर उतारू हो गये हैं। उनका कहना है कि इसका अर्थ है कि "फिर भी इसमें इसका लावण्य कुछ-कुछ उतर ही गया है।" हर पण्डित से लोहा लेते फिरने की स्पर्धा तो मुझमें नहीं है, पर मुझे लगता है कि कालिदास का तात्पर्य वही है जो पहले कहा गया है। इसका प्रमाण उन्हीं के ग्रन्थों से दिया जा सकता है; पर बात बढ़ाने से कोई लाभ नहीं है। मैं जिस बात को स्पष्ट करने जा रहा हूँ, उसी से इसका समर्थन हो जायेगा।

जिसे हम परिदृश्यमान बाह्य जगत् कहते हैं, उसकी सच्चाई क्या है? एक व्यक्ति इसे जैसा देखता है, उसे ही ठीक देखना परिदृश्यमान जगत् की सच्चाई नहीं है। सारा मनुष्य-समाज जैसा देखता है, वैसी ही उसकी सच्चाई है। एक व्यक्ति किसी चीज को पीला देखे और बाकी लोग सफेद देखें तो सफेद ही सच्चाई है, पीला अवनर्मिल दृष्टि का प्रसाद है। इस प्रकार परिदृश्यमान जगत् की सच्चाई व्यक्ति-दृष्ट नहीं, बल्कि समष्टि-दृष्ट सच्चाई है। परिदृश्यमान बाह्य जगत् स्थूल होता है, उसकी सच्चाई का मापदण्ड बनाना आसान होता है। समष्टि-दृष्ट बाह्य जगत् के कारण-कार्यों का विश्लेषण करके और नये तथ्यों की जानकारी प्राप्त करके, नये सिरे से नयी वस्तुओं का निर्माण मनुष्य करता ही रहता है। इस विश्लेषण और अन्यथाकरण की गठनात्मक नवव्यवस्थापन की प्रक्रिया विज्ञान का

कार्यक्षेत्र है। इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति या व्यक्ति-समूह निरन्तर परिवर्त्तन करते रहते हैं। परन्तु अन्तर्जगत् इतना स्थूल नहीं है। कलाकार भी विज्ञानी की भाँति नित्य परिवर्त्तन करता रहता है। किन्तु इन सूक्ष्म अनुभूतियों के विश्लेषण और अन्यथाकरण की प्रक्रिया कुछ और तरह की होती है। यही कलाकार का कार्यक्षेत्र है। अन्तर्जगत् की अनुभूतियों की सच्चाई भी समाज-चित्त की सच्चाई है। एक प्रकार के रूप से यदि एक आदमी अत्यधिक प्रीतिभाव अनुभव करता है और बाकी लोग वैसा भाव अनुभव नहीं करते तो प्रीतिभाव अनुभव करनेवाला ही अवर्नमिल माना जाता है। वैसा न अनुभव करना ही अन्तर्जगत् की सच्चाई मानी जाती है। भाषा अवर्नमिल भाव के लिए नहीं बनती, वह समाज-चित्त की अनुयायिनी होती है। बाह्य जगत् के विषयपरक होने से व्यक्तिदृष्टि कम बाधक सिद्ध होती है, लेकिन अन्तर्जगत् के विषयपरक होने के कारण अधिक बाधा उत्पन्न करती है। मैं यह तो मान लेने को तैयार हो सकता हूँ कि जो चीज मुझे पीली दिखायी दे रही है, वह वास्तव में सफेद है और मुझे अपनी आँखों की दवा करनी चाहिए, पर यह मानने में बड़ी कठिनाई है कि सेंहुड़ का काँटा जो मुझे अच्छा नहीं लगता वह वास्तव में अच्छा ही लगने योग्य है। अन्तर्जगत् की अनुभूतियों के लिए जो भाषा बनी है, उससे व्यक्तिचित्त पूरा-पूरा कभी सन्तुष्ट नहीं होता और अधिकांश व्यक्तियों में अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है। समाज-चित्त को परिवर्त्तित करना इस क्षेत्र में कठिन कार्य है। कलाकार को यही करना पड़ता है। बाह्य तथ्यात्मक जगत् सदा अन्तर्जगत् के व्यक्ति-चित्त को वैसा ही नहीं देखता जैसा समाज-चित्त से देखा जाता है। अन्यथाकरण की निर्माणोन्मुखी प्रक्रिया बाह्य जगत् के समाजस्वीकृत रूपों को जोड़कर सही अर्थों में उपलब्ध कराती है। द्रष्टा सिर्फ यह नहीं समझता कि वह जान रहा है बल्कि यह अनुभव करता है कि वह देख रहा है, पा रहा है। ज्ञातवस्तु दृष्ट होती है; दृष्ट, उपलब्ध। स्पष्ट ही कलाकार अन्यथाकृत बाह्य जगत् के अवयवों से उतना ही नहीं देता जितना बाह्य जगत् में मिलता है, बल्कि उसमें कुछ और जोड़ता है। 'रेखया किंचिदन्वितम्'— यही उसकी रचनात्मक शक्ति का वैशिष्ट्य है। चित्रसूत्र और मानसोल्लास आदि प्राचीन ग्रन्थों में कई प्रकार के चित्रों की चर्चा है। एक तो सत्यचित्र या विद्धचित्र ही है, फिर भावचित्र है, रस-चित्र है। इनमें कलाकार हू-ब-हू की अपेक्षा कुछ अधिक देता है। कालिदास इन अधिकदायी चित्रों को बहुमान देते हैं। उन्हीं के शब्दों का व्यवहार किया जाये तो इस बात को 'अन्वयन-कौशल' कहा जा सकता है।

'अन्वय' शब्द का चुनाव बड़ी सावधानी से किया गया जान पड़ता है। कालिदास ने अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग 'सन्तान-परम्परा' के अर्थ में किया है—'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' (मैं रघु की वंशपरम्परा का वर्णन करूँगा)। चित्र अपने-आप में एक स्थिर पदार्थ है। पर जब वह रसयुक्त बनता है तो भाव-परम्परा को दीर्घ-काल तक उत्पन्न करता रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वीणा के तार को हल्का-सा आघात कर देने से देर तक 'अनुरणन' होता रहता है। परन्तु वीणा का

अनुरणन श्रव्य ध्वनि-परम्परा है और चित्र या मूर्त्ति का अनुरणन मानसिक भाव-परम्परा है। इसी भाव-परम्परा के उत्पन्न करने की क्षमता को अन्वय कहा जाता है और उस प्रक्रिया को 'अन्वयन'।

चित्रसूत्र से पता चलता है कि भारतीय कला के आचार्य रेखा को बहुत महत्त्व देते हैं। सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ श्री न. च. मेहता (एन. सी. मेहता) लिखते हैं कि "रेखा-सौन्दर्य पर भारत एशिया-भर की चित्रकला का दारोमदार हैं। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि पौरस्त्य चित्र केवल रंगीन रेखाचित्र हैं। आलेख्य वस्तु को रेखाबद्ध करके ही रंग-विधान किया जाता है। पहले चित्र का खाका खींचते हैं, फिर उसमें रंग भरा जाता है—यहाँ तक कि अकबर के जमाने के महाभारत के फारसी अनुवाद 'रज़्मनामा' के अतीव सुन्दर चित्र दो-दो तीन-तीन चित्रकारों के हाथ के बने हैं। एक ने रेखा खींची है जिसे चित्रों की भाषा में 'तरह' करना कहते हैं। दूसरे ने रंग भरा है जिसे 'रंगरेज़' अथवा 'रंगामेज़' कहते हैं। एक चित्र में कभी-कभी 'तरह' के, रंग के, हाशिए के बिल्कुल अलग-अलग कारीगर हुआ करते थे। 18वीं और 19वीं शताब्दी में कई चित्र बिना रंग के 'स्याह कलम' भी मिलते हैं।" ('चित्रमीमांसा', पृ. 6-7)। वस्तुतः चित्रकार रेखा के माध्यम से ही चित्र को जीवन्त और रस-युक्त बनाता है। चित्र के बीचो-बीच 'भूलम्भ रेखा' या 'ब्रह्मरेखा' होती है। विभिन्न भावों और रसों के चित्रण में इस भूलम्भरेखा से इधर-उधर के झुकाव से भाव या रस को अनुभव योग्य बनाया जाता है। पर चित्र में सिर्फ रेखा द्वारा नतोन्नत भाव नहीं आता। आज-कल आलोक-छाया की पद्धति से इस बात को स्पष्ट किया जाता है। पुराने चित्र-कार रेखा के माध्यम से ही यह कार्य करते थे। इसे 'वर्त्तना' कहा जाता था। यह नतोन्नत या उच्चावच भाव दिखाने के लिए चित्रकार को बड़ी सावधानी से रेखा में लघुता या पृथुलता की योजना करनी पडती है। 'रेखा' और 'वर्त्तना' पुराने चित्रकारों के कौशल की कसौटी हैं। चित्रसूत्र (41. 11) में कहा गया है कि 'रेखां प्रसंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः' इसलिए अन्वयन कार्य में रेखा का इतना महत्त्व कालिदास ने स्वीकार किया है। अपने ग्रन्थों में उन्होंने वातावरण और अलंकार के महत्त्व का भी निर्देश किया है। वातावरण के बिना भावचित्र और रसचित्र अधूरे रह जाते हैं। मुक्तक रचनाओं की व्याख्या के लिए एक प्रकार के वातावरण की योजना करनी पड़ती है। कौन कह रहा है, किससे कह रहा है, किस परिस्थिति में कह रहा है, इन बातों की योजना न की जाये तो बिहारी और अमरुक की श्रेष्ठ रचनाएँ भी समझ में नहीं आयेंगी।

विद्ध चित्र और रस-चित्र

विद्ध-चित्र हू-ब-हू चित्रण है। उसमें चित्रकार यथासम्भव असम्पृक्त रहकर सफलता पाता है। कलाकार की अन्तर्वेदना विषय-वस्तु के माध्यम से प्रकट नहीं होती। दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाया था। उसका वर्णन स्वयं कालिदास

ने इस प्रकार किया है--चित्र में आँकी गयी शकुन्तला के दोनों नेत्र, कटाक्ष-निरीक्षण के फलस्वरूप फैले हुए थे, उनके ऊपर की भ्रूलताएँ लीलायित थीं, उनमें चुहल का भाव था, हँसने के कारण स्वच्छ दाँतों से चाँदनी की तरह छिटकने-वाली स्वच्छ-शीतल प्रभा से उसके अधर उद्भासित हो रहे थे, कर्कन्धू फल की लाल-लाल प्रभा उसके होंठों से निकलकर मुखमण्डल को बड़ी ही रुचिर शोभा से विभूषित कर रही थी। यद्यपि वह चित्र था, तो भी ऐसा जीवन्त था कि लगता था वास्तविक शकुन्तला ही दिख रही है—अब बोली, अब बोली ! विभ्रम-विलास की तरल कान्तिधारा के समान वह दिख रही थी :

दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्ना विलिप्ताधरं ।
कर्कन्ध्वद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेन्मुखं
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकांतिद्रवम् ॥

कालिदास ने यहाँ केवल मुखमण्डल का—तत्रापि, आँखें, भवें, अधर और हँसी का—उल्लेख किया है। उन्होंने शकुन्तला के पूरे शरीर और अन्यान्य अवयवों के संस्थान की बिल्कुल चर्चा नहीं की। परन्तु वर्णविन्यास की बारीकी और चित्र की तरल गतिशीलता की ओर उनकी दृष्टि गयी थी—ऐसा जान पड़ता है, किसी अत्यन्त भावमनोहर रसात्मक भंगिमा का किसी ने एक क्षण का छायाचित्र ले लिया हो, क्षण-भर के लिए किसी गतिशील मूर्त्ति को देखा और रंगों में बाँध लिया हो ! चित्रसूत्र में चित्र को जो श्रेष्ठ नृत्य कहा गया है वह इसी गतिशील तत्त्व को दृष्टि में रखकर ही।

सानुमती ने देखकर आश्चर्य के साथ कहा था कि 'ऐसा जान पड़ता है कि सखी (शकुन्तला) मेरे सामने ही खड़ी है।' यह शकुन्तला का वास्तविक चित्रण है। शकुन्तला बिल्कुल प्रत्यक्ष-सी हो गयी। पर वह सामान्य शकुन्तला है। वह सानुमती और दुष्यन्त के लिए समान भाव से बनी है। इससे राजर्षि दुष्यन्त की निपुणता प्रकट होती है। सानुमती ने कहा भी था—'अहो राजर्षेः निपुणता । जाने सखी अग्रतो मे वर्तत इति' (आश्चर्यजनक है इस राजर्षि की निपुणता ! लगता है मेरी सखी शकुन्तला मेरे आगे ही खड़ी है !)। विदूषक ने इससे भी अधिक देखा था। कहा था—'धन्य हो मित्र, जहाँ-जहाँ आना आवश्यक था वहाँ-वहाँ इसके मन के भाव भी इसमें आ गये हैं, निम्नोन्नत प्रदेशों में तो मेरी दृष्टि फिसल-सी रही है !' (साधु वयस्य मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।) अर्थात् शकुन्तला का शारीरिक और मानसिक चित्रण बहुत सुन्दर हो गया था। पर दुष्यन्त का मन उससे सन्तुष्ट नहीं था। उसने विदूषक की बात सुनकर ही ऊपर उद्धृत श्लोक कहा था कि, क्योंकि शकुन्तला बन गयी थी, अच्छी बन गयी थी, पर दुष्यन्त उस चित्र में नहीं आ पाया था। उत्तम चित्र बनाकर वह भी निपुण कारीगर की मर्यादा पा सका था, पर सहृदय कलाकार नहीं उभर पाया था। उसने रेखाओं से अपना भी कुछ जोड़ना चाहा था,

पर जुड़ नहीं पाया था। उसने जोड़ने का प्रयास भी कुछ किया था, पर कहीं कोई त्रुटि रह गयी थी। वह सिर खुजलाके रह गया। कहीं कोई कमी रह गयी है। दुष्यन्त की अपनी मनोदशा उसमें नहीं उभर पायी थी। आलम्बन उभर आया था, आश्रय अस्पष्ट रह गया था। द्विसंश्रया प्रीति चाहनेवाली सौन्दर्य-लक्ष्मी फिर भी ठिठककर खड़ी रह गयी थी। राजा ने सुधारा। मालिनी नदी का वह शान्त मनोरम तट जिसके सैकत पुलिनों में हंस के जोड़े विस्रब्ध भाव से विश्राम कर रहे थे, उसे बनाना जरूरी था, नहीं तो दुष्यन्त के हृदय की वह कचोट स्पष्ट नहीं हो पाती जो उसे मथे डालती थी—कैसी जगह जाकर उसने प्रेम किया और कैसा विश्वासघात किया! वह आश्रम था, निश्छल तपोवनों की निश्छल वासभूमि। उसे भी चित्रित करना आवश्यक था।

यह स्थान पार्वती के पिता नगाधिराज की उस तलहटी में था जहाँ सहज-भीरु, निसर्ग-सुन्दर हरिण निरन्तर विहार करते रहते थे। मुनि-कन्याओं में कुछ इसी प्रकार का निश्छल, निसर्ग-सुकुमार, सहज भाव था। इसे चित्रित किये बिना सब बेकार था। पर सबसे अधिक आवश्यकता थी उस कृष्णमृग की, जिसकी सींगें नुकीली शाखाओं के जंगल के समान सिर पर खड़ी थीं और बगल में बैठी हुई मृगी अपनी बायीं आँख उसकी सींग की किसी नुकीली शाखा से खुजला रही थी, अत्यन्त विश्वास के साथ। विश्वास इतना गाढ़ था कि वह निश्चित जानती थी कि कृष्ण-मृग महाराज यदि गलती से भी ज़रा-सा हिले तो उन मनोहर आँखों की खैर नहीं और फिर भी खुजला रही थी, अशंक चित्त से। हाय-हाय, वह आश्रम ही ऐसे विश्वासपरायण प्रेमियों का निवास था! शकुन्तला ने भी तो इतने ही विश्वास के साथ आत्मसमर्पण किया था, पर दुष्यन्त ने कैसा व्यवहार किया! यही कला-कार की वेदना तो दुष्यन्त का अपना-कुछ थी। रेखाओं से उसने जोड़ा, पर जुड़ नहीं सका। बहुत माथापच्ची के बाद उसे ठीक-ठीक बात सूझी—

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
> शाखालंबितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः।
> शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।

अब जाकर चित्र में रस आया। जो सवीह था वह रस-चित्र बन गया। कालिदास के समूचे काव्य में इस 'किञ्चिदन्वयन' का कौशल मुखर है।

कालिदास ने सम्पूर्ण अंग के सौन्दर्य का शब्दचित्र भी दिया है। यद्यपि वह चित्रगत आकृति का वर्णन नहीं है पर ऐसा जान पड़ता है कि हम वास्तविक चित्र ही देख रहे हैं। यह विचित्र संयोग है कि नृत्य-परायणा मालविका का चित्र होने के कारण वह मानो चित्रसूत्र की उस उक्ति की ही सरल व्याख्या है। यह चित्र इतना भावव्यंजक और सरस है कि उस पर विशेष टीका करना अनुचित जान पड़ता है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में दो नृत्याचार्यों में अपनी कलाचातुरी के सम्बन्ध में तनातनी होती है। यह तय पाया है कि अपनी-अपनी शिष्याओं का

अभिनय दोनों दिखायें और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी, दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इस बात का निर्णय करें। दोनों आचार्य राजी हो गये। मृदंग बज उठा। प्रेक्षागार में दर्शकगण यथास्थान बैठ गये। भिक्षुणी की अनुमति से रानी की परिचारिका मालविका के शिक्षक आचार्य गणदास यवनिका के अन्तराल से सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमि में ले आये। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि चलित (छलित ?) नृत्य--जिसमें अभिनेता दूसरे की भूमिका में उतरकर ही अपने मनोभाव व्यक्त करता है—के साथ होनेवाले अभिनय को दिखाया जायेगा। मालविका ने गान शुरू किया। मर्म यह था कि दुर्लभ जन के प्रति प्रेमपरवशा प्रेमिका का चित्त एक बार पीड़ा से भर उठता है, और फिर आशा से उल्लसित हो उठता है, बहुत दिनों के बाद फिर उसी प्रियतम को देखकर उसी की ओर वह आँखें बिछाये है। भाव मालविका के हृदय से सीधे निकले थे, कण्ठ उसका करुण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनयव्यंजित अंगसौष्ठव, नृत्य की अभिराम भंगिमा और कण्ठ के मधुर संगीत से राजा और प्रेक्षकगण मन्त्र-मुग्ध-से हो रहे। अभिनय के बाद ही मालविका परदे की ओर जाने लगी, तो विदूषक ने किसी बहाने उसे रोका। वह ठिठककर खड़ी हो गयी - उसका बायाँ हाथ कटिदेश पर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल-श्यामा लता के समान सीधा झूल पड़ा था, झुकी हुई दृष्टि पैरों पर अड़ी हुई थी, जहाँ पैर के अँगूठे फर्श पर बिछे पुष्पों को धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देहलता नृत्य-भंगी से ईषदुन्नीत थी। मालविका ठीक उसी प्रकार खड़ी हुई थी, जिस सौष्ठव के साथ देहविन्यास करके अभिनेत्री को रंगभूमि में खड़ा होना उचित था :

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्तहस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपिसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम्।

परिव्राजिका कौशिकी ने दाद दी—अभिनय बिल्कुल निर्दोष है। बिना बोले भी अभिनय का भाव स्पष्ट ही प्रकाशित हुआ है, अंगविक्षेप बहुत सुन्दर और चातुरीपूर्ण हुआ है। जिस-जिस रस का अभिनय हुआ है, उस-उस रस में तन्मयता स्पष्ट लक्षित हुई है। भावचेष्टा सजीव होकर स्पष्ट हुई है, मालविका ने बलपूर्वक अन्य विषयों से हमारे चित्त को अभिनय की ओर खींच लिया है—

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ,
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबंधः स एव।

इस श्लोक में कालिदास ने उस युग के अभिनय का सजीव आदर्श तो उपस्थित कर ही दिया है, नृत्य और चित्र की अभिन्नता भी कौशलपूर्वक सिद्ध कर दी है। अस्तु।

वाक् और अर्थ का 'साहित्य'

कालिदास ने रघुवंश के आरम्भ में शिव और पार्वती के सम्पृक्त या मिलित रूप को वाक् और अर्थ के साथ-साथ रहने के भाव (साहित्य) के साथ तुलनीय माना है। उन्होंने स्वयं 'साहित्य' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया पर 'सम्पृक्त' या सम्पर्कयुक्त कहकर उसी भाव की ओर संकेत किया है, जिसे बाद में 'साहित्य' कहा जाने लगा। कब से इस शब्द का प्रयोग चला, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि ने इस शब्द का प्रयोग अवश्य किया था। बाद में तो व्यापक रूप से इसका प्रयोग उन रचनात्मक कृतियों के अर्थ में होने लगा है, जिनमें शब्द के माध्यम से कवि अन्तर्जगत् की उस भावराशि को प्रकाशित करना चाहता है जो किसी एक व्यक्ति के दुःख-सुख से सम्बद्ध होकर भी मनुष्य के समष्टि-चित्त को आन्दोलित, मथित और चालित करती है। कदाचित् आज से एक सहस्राब्दी या उससे भी अधिक पुराने आचार्य कुन्तल (या कुन्तक) ने इस शब्द को एक निश्चित अर्थ में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया था। प्रयास इसलिए कह रहा हूँ कि उन्होंने इस शब्द का काव्य को समझाने के लिए गौण रूप में ही व्यवहार किया था। वे कहना चाहते थे कि शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्द्धी चारुता का साथ-साथ रहने का जो भाव है—साहित्य है—वही काव्य है। शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्द्धी चारुता या एक-दूसरे से होड़ लगाकर चलने और फिर भी साथ-साथ रहने की प्रवृत्ति को काव्य कहना उचित ही था, क्योंकि केवल शब्द काव्य नहीं हो सकता, वह कितना भी सुन्दर क्यों न हो। वीणा या वंशी की ध्वनि को हम काव्य नहीं कहते। इसी प्रकार केवल अर्थ, वह चाहे कितना भी सुन्दर क्यों न हो, काव्य नहीं कहा जा सकता। शृंगार रस का मनोहर-से-मनोहर मूक अभिनय काव्य नहीं कहा जाता। अतएव शब्द और अर्थ दोनों का साहित्य आवश्यक है और उनका सुन्दर होना भी जरूरी है। 'घड़ा' शब्द बोलते ही मिट्टी की एक विशेष आकृतिवाला अर्थ—पदार्थ—उपस्थित हो जाता है। यहाँ शब्द और अर्थ का साहित्य तो है, पर इसमें परस्परस्पर्द्धी चारुता नहीं है। इसलिए शब्दार्थ-साहित्य होते हुए भी यह काव्य नहीं कहा जा सकता। जहाँ शब्द और अर्थ में, पद और पदार्थ में होड़ लग जाती हो कि कौन कितना सुन्दर है—शब्द सुन्दरता में अर्थ को मात दे रहा हो और अर्थ शब्द को मात दे रहा हो, ऐसे ही परस्परस्पर्द्धी चारुता के साहित्य को कुन्तल काव्य कहना चाहते थे। बाद में 'साहित्य' शब्द रचनात्मक शब्दकृतियों का नाम हो गया और आगे चलकर तो वह काव्य से अधिक व्यापक अर्थों का सूचक हो गया।

'अर्थ' बहुत छोटा-सा शब्द है। परन्तु है तेजस्वी! 'तेजवन्त लघु गनिय न रानी।' इसे छोटा नहीं समझना चाहिए। इसके पेट में सारा जगत् आ जाता है। जो कुछ है, वह पदार्थ ही तो है। वस्तु, विचार, भाव, रस, रसाभास—सभी अर्थ

हैं। कुछ वाच्यार्थ हैं। कुछ लक्ष्यार्थ हैं। कुछ व्यंग्यार्थ हैं। अर्थ की सीमा में सब आ जाता है, पुराना भी, नया भी, अनागत भी। जिसे हम 'साहित्य' कहते हैं, उसमें शब्द और अर्थ—पद और पदार्थ की परस्परस्पर्द्धी चारुता का रहना आवश्यक है। यह आदिसत्य है। पहले भी माना गया है, आगे भी माना जाता रहेगा। चाहे तो कोई इसे एक शाश्वत आधार मान ले सकते हैं। मैं आग्रह नहीं करूँगा। वाग्देवता के अपूर्व इंगितविलास से शब्द और अर्थ के सम्बन्धों में परिवर्त्तन होता रहता है। सीमाएँ टूटती रहती हैं, मिटती रहती हैं, बनती रहती हैं। शाश्वत है वाग्देवता की अन्तर्निहित विलास-लीला। पर हमें अनादि-अनन्त काल-प्रवाह का हिसाब लगाने के मोह में नहीं पड़ना चाहिए। मैं हजार-डेढ़ हजार वर्ष पहले से शुरू कर रहा हूँ। आशा करता हूँ, हजार-डेढ़ हजार वर्ष तक मनुष्य का मस्तिष्क ऐसा ही रहेगा। बाद में क्या होगा, कौन जानता है?

लेकिन यह चारुता या सौन्दर्य क्या है? कुछ लोग कहते हैं कि सौन्दर्य विषय-निष्ठ धारणा है। हम किसी विषय को इसलिए सुन्दर समझते हैं कि उससे हमारा कुछ मतलब है। हम उसमें अपनी तृप्ति के लिए आवश्यक तत्त्व पाने के कारण उसमें रुचि लेने लगते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। सुन्दर माना जानेवाला पदार्थ हमें इसलिए आन्दोलित, चालित और हिल्लोलित करता है कि सुन्दर वस्तु में कुछ शक्ति या धर्म है जो ऐसा करने में स्वयं समर्थ है। सौन्दर्य विषयनिष्ट धर्म है। एक तीसरे प्रकार के विचारक इसे उभयनिष्ठ धर्म मानते हैं। द्रष्टव्य वस्तु में सौन्दर्य एक ऐसी शक्ति या ऐसा धर्म है जो द्रष्टा को आन्दोलित और हिल्लोलित कर सकता है; और द्रष्टा में भी ऐसी शक्ति है, ऐसा एक संवेदन-तत्त्व है, जो द्रष्टव्य के सौन्दर्य से चालित और हिल्लोलित होने की योग्यता देती है। तीसरी बात अधिक समझ में आने योग्य है। गृहीता और गृहीतव्य के अन्तरतर का आकर्षण ही तो वह लीला है जो अनादि शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व के शाश्वत लीला-विलास की व्यष्टिनिष्ठ अभिव्यक्ति है।

यदि यह उभयनिष्ठ आकर्षण न होता तो हर वस्तु हर व्यक्ति को समान भाव से प्रभावित करती। हमारे देश के विचारकों ने रस-वस्तु को सहृदय-संवेद्य माना है। सहृदय व्यक्ति वह है जिसका चित्त उस दिशा में उन्मुख होता है जो कलाकार या कवि के विशिष्ट अनुभूतिवाले सर्जक चित्त के साथ ताल मिलाकर चलने की स्थिति में होता है। इसे बात बदलकर सामान्य मनुष्यता या 'कॉमन ह्यूमैनिटी' की दशा कह सकते हैं। ऐसे चित्त को पुराने पण्डितों की भाषा में 'सत्वस्थ' या 'सात्विक भावनिष्ठ' चित्त कहते हैं। राजस-चित्त व्यक्ति का एकान्त चित्त होता है, और तामस-चित्त विकृत और थोथा होता है। 'सुन्दर' कही जाने-वाली वस्तु यदि किसी एक को ही सुन्दर जँचे, अन्य लोगों को न जँचे, तो वह एक व्यक्ति ही या तो एकान्त व्यक्तिनिष्ठ माना जायेगा या फिर ऐन्द्रिय या मानसिक विकार से ग्रस्त। जो वस्तु अधिकांश लोगों को सफेद दीखे और किसी एक को पीली, तो पीली देखनेवाला ही विकृत दृष्टि का माना जाता है।

वस्तु अपने-आप में पीली है, नीली है या सफ़ेद है, यह कहना कठिन है; इसमें वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के सूक्ष्म चिन्तन में अन्तर हो सकता है। सत्यों का सत्य यह है कि मनुष्य-चित्त से निरपेक्ष वस्तु-स्वरूप क्या है, या कुछ है भी या नहीं, यह जानने का कोई उपाय नहीं। हम जो कुछ देखते हैं, वह मानव-गृहीत सत्य है, मानव-निरपेक्ष सत्य हमारी पहुँच के बाहर है। ठीक यही बात सौन्दर्य के विषय में भी कही जा सकती है। कोई वस्तु अपने-आपमें कितनी सुन्दर है या उसका वस्तु-निष्ठ — वास्तव — स्वरूप क्या है, यह हमारी पहुँच के बाहर की चीज है। जो वस्तु हमें सुन्दर लगती है, वह मानव-गृहीत रूप में ही हमारे मानस को चालित और आन्दोलित करती है। वह भी एक मानव-गृहीत सौन्दर्य है। सीधी भाषा में ऐसा समझिए कि एक प्रकार का व्यापक मानव-चित्त है, जो विश्वजनीन है। जो वस्तु इस समष्टिमानव-चित्त को सुन्दर लगती है, वही सुन्दर है। कुछ थोड़े-से व्यक्तियों को अगर सुन्दर न लगे तो मानना होगा कि वे समष्टि-चित्त से विच्छिन्न होने के कारण विकृत हैं और इसीलिए चिकित्स्य हैं। और सच पूछिए तो चिकित्सा है क्या चीज ? इसी समष्टि-चित्त के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया। मलेरिया कोई रोग है ? क्या यह सत्य नहीं है कि कुछ मानवेतर जीवों के उल्लासपूर्ण नर्त्तन का नाम ही मलेरिया का बुखार है ? केवल समष्टिमानव-चित्त की संवेदनाओं के प्रतिकूल संवेदन उत्पन्न करने के कारण वह रोग समझा जाता है। फलितार्थ यह हुआ कि समष्टि-चित्त के अनुकूल भावान्दोलन पैदा करनेवाला तत्त्व ही सौन्दर्य है। व्यक्ति उसके प्रतिकूल जाने पर विकृत माना जाता है, अनुकूल जाने पर प्रकृत। वस्तुतः समष्टि-चित्त के द्वारा स्वीकृत धर्म ही अंग्रेजी में 'नार्म' कहे जाते हैं और उनके अनुकूल होने को ही 'नार्मल' कहा जाता है।

व्यक्ति-मानव का चित्त कालक्रम से और परिस्थितियों के अनुसार विस्तृत, विकसित और परिवर्त्तित होता रहता है। समष्टिमानव-चित्त भी निरन्तर विकसित और परिवर्त्तित होता रहता है। इसलिए ये अंगीकृत सामान्य धर्म या 'नार्म' भी क्रमशः विकसित और परिवर्त्तित होते रहते हैं। आज से दो सौ वर्ष पूर्व जो बात नार्मल थी, वह आज भी नार्मल ही हो, यह जरूरी नहीं है। प्रकृत प्रसंग में समष्टि-मनुष्य द्वारा गृहीत सौन्दर्य-तत्त्व भी निरन्तर विकसित होता आ रहा है। आज का सहृदय हू-ब-हू वही नहीं है जो एक या दो शताब्दी पहले था। सौन्दर्य का शाश्वत धर्म इस निरन्तर विकासमान समष्टि-चित्त की संवेदना मात्र है। न कभी वह एकदम उच्छिन हो गया और न कभी वह एकदम उच्छिन्न होगा, बशर्ते मनुष्य बचा रहे। विकासमान समाज मनुष्य के द्वारा निरन्तर गृह्यमाण धर्म ही सौन्दर्य का शाश्वत आधार है।

शब्द और अर्थ मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। इनका सम्बन्ध तभी स्थायी और ग्राह्य होता है, जब उसे समाज के समष्टि-चित्त की स्वीकृति मिल जाय। यह स्वीकृति समाज के मान्य व्यक्तियों के माध्यम से प्राप्त होती रहती है। उन्हें हम वैयाकरण, कोशकार, कवि, नेता आदि के रूप में जानते हैं।

ये लोग समाज के समष्टि-चित्त की स्वीकृति पहले से प्राप्त किये होते हैं। यह माध्यमाश्रित स्वीकृति समष्टि-चित्त के विकास की एक निश्चित प्रक्रिया है। शब्द और अर्थ की चारुता भी समष्टि-चित्त की स्वीकृति की अपेक्षा रखती है।

सौन्दर्य केवल चाक्षुष विषय नहीं है। उसकी स्वीकृति चेतना के विभिन्न स्तरों पर अपेक्षित होती है। सब बात वाणी से ही नहीं कही जाती। पर जो भी तत्त्व कुछ अर्थ प्रकट करे उसे 'वाक्' या 'वचन' कहा जा सकता है। वाक् या वचन वह है जो अर्थ सूचित करे। मालविका ने भाव-मनोहर नृत्य किया था। उसके अंगों के संचालन से गीत का अर्थ स्पष्ट हुआ था। कालिदास ने इन अंगों को 'अन्तर्निहित वचन' कहा है। जो बोलते तो नहीं, पर सारे अर्थ सूचित कर देते हैं, वचन जिनमें भीतर-ही-भीतर छिपा हुआ है। जो कुछ अभिव्यक्ति का माध्यम है वह वाक् है और जो कुछ भी इस अर्थ से प्रकाश्य है वह अर्थ है। वाक् और अर्थ अभिव्यक्ति के माध्यम और विषय हैं। संसार में जो कुछ दिख रहा है वह कुछ-न-कुछ अभिव्यक्त करता है। यह सारा संसार ही यहाँ देवता का रचित काव्य है। वैदिक ऋषि ने कहा था, 'पश्य देवस्य काव्यं न विभेति न ऋष्यति'। सो वाक् का प्रयोग बड़े विस्तृत अर्थ में किया गया है। नृत्य, नाट्यचित्र, मूर्त्ति, वस्तु, यहाँ तक कि सारा विश्व वाक् है और इसी से अभिव्यक्त अर्थ अपनी शक्ति के अनुसार हम ग्रहण कर रहे हैं। सारा विश्व वाक् और अर्थ की सम्पृक्तता की लीला है। पार्वती शिव की लीला-सखी हैं। यह लोक-रचना उनकी क्रीड़ा है, चिन्मय शिव उनके सखा है, सदानन्द उनका आहार है और वाक् और अर्थ की आश्रयभूमि सज्जन का हृदय ही उनका निवास है :

> क्रीड़ा ते लोकरचना सखा ते चिन्मयः शिवः।
> आहारस्ते सदानन्दो वासस्ते हृदयं सताम् ॥ ('ललिता स्तवराज')

भावानुप्रवेश और यथालिखितानुभाव

कालिदास ने चित्रकला के प्रसंग में भावानुप्रवेश शब्द का व्यवहार किया है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था उसमें रंगों के भरने से जो उच्चावच प्रदेशों की शोभा निखर आयी थी उसे देखकर विदूषक ने कहा था कि 'वाह सखे! तुमने यह चित्र बहुत ही सुन्दर बनाया है और प्रत्येक अंग से मन के भाव प्रकट हो रहे हैं।' चित्र के दर्शनीय स्थलों में मानसिक भावों के प्रवेश को ही विदूषक ने भावानुप्रवेश कहा था। उसने अपनी बात को और भी स्पष्ट करने के लिए बताया

कि 'मेरी आँखें इस चित्र में बने हुए ऊँचे-नीचे स्थानों में फिसल-सी रही हैं।' इसका मतलब यह हुआ कि चित्र केवल ऊपर के स्तर के यथार्थ के अनुरूप ही नहीं था, उसमें अन्तस्तल के भाव भी उभर आये थे और वह केवल चित्र-मात्र नहीं रह गया था, जीवन्त प्रतिमा बन गया था, प्रत्येक अंग में चित्रितव्य की भावधारा उच्छ्वसित हो रही थी। पास ही खड़ी अदृश्य सानुमती ने उस चित्र को देखकर कहा था, 'अद्भुत है इस राजर्षि की निपुणता, ऐसा जान पड़ता है कि मेरी सखी शकुन्तला मेरे सामने ही खड़ी है।' चित्रितव्य के भावों को रेखा और रंगों में फिर से प्रवेश करा देना ही 'भावानुप्रवेश' है। परन्तु इतना ही काफी नहीं है, चित्रकार के आत्मदान की आवश्यकता फिर भी बनी रहती है। राजा ने शकुन्तला को तो जीवन्त चित्रित कर ही दिया था, परन्तु वह चित्र अधिक-से-अधिक प्राणवन्त ही बन सका था—उसमें दुष्यन्त का अपना हृदय नहीं उतर पाया था, इसीलिए चित्र उसे अधूरा लगा था। अन्य कलाओं में भी इस प्रकार के भावानुप्रवेश से कला प्राणवन्त हो उठती है। यह कालिदास का मत है। नृत्य-कला के प्रसंग में उन्होंने इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया है। वह प्रसंग मालविका के नृत्य का है। मालविका ने बड़ा ही मोहक नृत्य किया था। उसके सम्बन्ध में परिव्राजिका निर्णायिका थीं। मालविका के नृत्य-गुरु गणदास ने जब भगवती परिव्राजिका से पूछा कि 'आपने जहाँ जैसा गुण या दोष देखा हो, सब कह डालिए', तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैंने जो कुछ देखा उसमें कहीं भी कोई दोष नहीं दिखायी देता,' क्योंकि मालविका ने अपने ऐसे अङ्गों से, जिनके भीतर वाणी छिपी हुई थी अर्थात् जो बोलते-बोलते-से थे, सारे अर्थों को प्रकट कर दिया है। उसके चरणों के विन्यास लय के साथ-साथ चल रहे थे। फिर गीत के रस में भी वह तन्मय हो गयी थी; उसके नृत्य ने देखनेवालों को मग्न कर दिया था, क्योंकि ताल के साथ होनेवाले अभिनय में नानाभाव से अङ्गों को चालित करके जो भाव प्रकट किये गये, वे ऐसे आकर्षक थे कि देखनेवालों के मन अन्य किसी ओर नहीं जा पाये। जो भाव अन्य विषयों से मन को विरत करें और जिसमें नर्त्तकी दिखाये जानेवाले भाव में स्वयं प्रवेश कर जाये, वही रागबन्ध उत्तम होता है:

> अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
> पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसस्य।
> शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद् विकल्पानुवृत्तौ
> भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव॥
>
> —माल. 2।8

कहने का मतलब यह है कि नृत्य में जिस भाव को प्रदर्शित करना है, उसी भाव में नर्त्तक का विलीन होना 'भावानुप्रवेश' है। वहाँ नर्त्तक नर्त्तितव्य विषय के साथ एकमेक हो जाता है। अभिनय तभी असफल होता है यदि वह उस भाव के साथ एकात्मता नहीं अनुभव करता जिसका अनुभव नृत्य के द्वारा आवश्यक है।

भावाभिनिवेश और भावानुप्रवेश

'विक्रमोर्वशीय' नाटक में तीसरे अंक में उर्वशी को अभिनय में जो प्रमाद हुआ था उसकी चर्चा है। भरत के दो शिष्य पेलव और गालव आपस में बातचीत करते हुए उस भूल की सूचना देते हैं। पेलव इन्द्रभवन की देव-सभा में अपने गुरु भरत के साथ गया था। लौटकर आया तो गालव ने उससे पूछा कि गुरु के प्रयोग से देवताओं की सभा प्रसन्न हुई या नहीं। उत्तर में पेलव ने कहा था कि 'यह तो मैं नहीं जानता कि देवसभा प्रसन्न हुई या नहीं, पर वहाँ जो 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाम का नाटक अभिनीत हुआ था और जिसके गीत स्वयं सरस्वतीजी ने बनाये थे, उसमें सभा भिन्न-भिन्न रसों में तन्मय हो गयी थी।' लेकिन एक गलती वहाँ हो गयी। उर्वशी ने प्रमादवश गलती कर डाली। नाटक में उर्वशी ने लक्ष्मी का अभिनय किया था और मेनका ने वारुणी का। जब वारुणी की भूमिका में उतरी हुई मेनका ने लक्ष्मी की भूमिका में उतरी हुई उर्वशी से पूछा कि 'सखि ! यहाँ तीनों लोकों से एक सुन्दर पुरुष, लोकपाल और स्वयं विष्णु भगवान् आये हुए हैं। इनमें किसी के प्रति भावाभिनिवेश है अर्थात् तुम्हारे मन की वृत्तियाँ किसमें लगी हैं ?' नाटक के अनुसार उर्वशी को उत्तर देना चाहिए था, 'पुरुषोत्तम में', परन्तु उसने कह दिया, 'पुरूरवा में'। यह प्रमाद हो गया, इस पर क्रोध में आकर भरत मुनि ने उसे शाप दे दिया कि 'तू स्वर्ग में न रहने पायेगी, क्योंकि तूने मेरे सिखाये पाठ के अनुसार काम नहीं किया।' पर ज्यों ही नाटक समाप्त हुआ, खड़ी उर्वशी से इन्द्र ने आकर कहा कि 'देखो उर्वशी, जिस राजर्षि से तुम प्रेम करती हो, वह रणक्षेत्र में सदा मेरी सहायता किया करता है। उसके मन की भी बात कुछ होनी चाहिए। इसलिए शाप तुम्हारे लिए वरदान सिद्ध होगा। जब तक राजर्षि पुरूरवा तुम्हारी सन्तान का मुँह न देखे, तुम मनचाहे समय तक पुरूरवा के साथ रह सकती हो।' इस कहानी में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। वास्तविक जीवन में उर्वशी का प्रेम राजा पुरूरवा से था। वास्तविक जीवन की यह मनोकामना 'भावाभिनिवेश' है। किन्तु जब उर्वशी ने लक्ष्मी के भाव का अनुभव किया तो उसे अपने वास्तविक जीवन की बात नहीं कहनी चाहिए थी। वह जिसका अभिनय कर रही है उस व्यक्ति (लक्ष्मी) के भावों को अपना भाव मानकर चलना चाहिए था। यदि वह ऐसा करती तो उसे 'भावानुप्रवेश' कहा जाता, क्योंकि उस अवस्था में वह लक्ष्मी के साथ अपने को एकमेक करके बोलने में समर्थ होती। परन्तु वह ऐसा न कर सकी और 'भावानुप्रवेश' की स्थिति से च्युत हो गयी।

कलाकार को वक्तव्य विषय के साथ तन्मय होना पड़ता है। जब तक वह 'तन्मय' (तत् + मय) नहीं होता, तब तक वह उत्तम कला की सृष्टि भी नहीं कर सकता। कालिदास ने चित्रकला, नृत्यकला और नाटक के अभिनय के प्रसंगों में इस बात को स्पष्ट किया है। परन्तु यह सभी कलाओं का सत्य है। दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाया था और बनाते समय शकुन्तला के भावों में वह स्वयं

प्रविष्ट हो गया था, इसीलिए वह जीवन्त चित्र बना सका था। शकुन्तला का वह चित्र इतना सुन्दर था और इतना सटीक था कि थोड़ी देर के लिए दुष्यन्त यह भूल ही गया था कि वह चित्र देख रहा है। जब तक वह चित्र बना रहा था तब तक वह शकुन्तला के भावों के साथ एकमेक हो गया था, परन्तु 'भावानुप्रवेश' की सफलता के बाद जो चित्र तैयार हुआ, उसे देखकर वह एक दूसरी ही अवस्था में पहुँच गया। इस अवस्था का नाम कालिदास ने 'यथालिखितानुभाविता' किया है। अर्थात् जैसा लिखा उसे सत्य समझकर अनुभव करने के कारण चित्तगत विकार और उससे उत्पन्न स्वेद-रोमाञ्चादि अनुभव उत्पन्न होने लगे। जहाँ-जहाँ चित्र का प्रसंग आया है, वहाँ-वहाँ कालिदास ने 'लिखितानुभाविता' का उल्लेख किया है।

यथालिखितानुभाव

यथालिखितानुभाव स्वयं बनाये हुए चित्र से जिस प्रकार अनुभाव उत्पन्न होते हैं वैसे ही अन्य कलाकार द्वारा बनाये गये चित्र से भी हो सकते हैं। मालविका ने जो अपने प्यारे महाराजा का चित्र देखा तो उसे ईर्ष्या होने लगी, क्योंकि चित्र में महाराज किसी और रानी की ओर एकटक देख रहे थे। चित्र में और हो भी क्या सकता था! चित्रकार ने जो टकटकी बँधायी सो बँधायी। वह स्थिर होकर रह जाती है, पर मालविका को उससे ईर्ष्या हुई थी। उसकी सखी वकुलावलिका ने कहा था कि 'यह भोली चित्रगत महाराज को सचमुच का महाराज समझकर रूठी जा रही है।' पर उसकी ईर्ष्या के अनुभवों को स्वयं उसके प्रेमी राजा ने ही छिपकर देख लिया था। उसने अपने विदूषक मित्र से कहा था, 'देखो मित्र, ईर्ष्या से इसने अपना मुँह फिरा लिया है, भ्रूभङ्ग के कारण इसके माथे की बिन्दी टूट गयी है, अधरोष्ठ फड़क रहे हैं, मुख ईर्ष्या से झुक गया है। अपने नृत्यगुरु से पति के अपराध से कुपिता नायिका के अनुभवों के अभिनय की जो शिक्षा उसे मिली है उसे मानो प्रत्यक्ष दिखा रही है':

> भ्रूभङ्गभिन्नतिलकं स्फुटिताधरोष्ठं
> सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या।
> कांतापराधकुपितेष्वनया विनेतुः
> सन्दर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा॥—माल., 4। 9

इस प्रकार 'यथालिखितानुभाव' का यहाँ भी उल्लेख है। विद्ध, किन्तु सरस चित्र की सफलता की कसौटी कलाकार की ओर से तो 'भावानुप्रवेश' है और सहृदय की ओर से 'यथालिखितानुभाव'। कालिदास ने कई प्रसंगों में इसकी चर्चा की है।

दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था, उसमें उसके भाव-चिह्न भी दिखायी दे रहे थे। राजा ने शकुन्तला और उसकी दोनों सखियों का चित्र बनाया था। विदूषक को समझ में नहीं आ रहा था कि शकुन्तला कौन है। फिर राजा के पूछने पर कि 'तुम अनुमान से बताओ कि इसमें शकुन्तला कौन है', विदूषक ने

प्रयत्न करके समझ लिया। उसने दिखाया कि चित्र में पानी की सिंचाई के कारण स्निग्ध और नवीन पल्लवोंवाले आम के पेड़ से सटकर कुछ थकी हुई-सी खड़ी शकुन्तला चित्रित की गयी थी। उसके शिथिल जूड़े से फूल गिर रहे थे और मुँह पर पसीने की बूँदें झलक आयी थीं और वे दोनों कन्धे झुक आये थे। विदूषक ने शकुन्तला को ठीक ही पहचाना। राजा ने विदूषक की प्रशंसा करते हुए कहा कि 'मित्र, तुम बहुत चतुर हो, तुमने ठीक ही पहचाना है। इस चित्र में मेरे 'भाव-चिह्न' भी हैं। यह जो चित्र के कोरों पर मलिन धब्बा दिखायी दे रहा है वह मेरी पसीजी अंगुलियों के स्पर्श से ऐसा हो गया है। फिर मेरी आँखों से जो आँसू टपका था वह शकुन्तला के कपोलों पर गिर गया है, जिससे तूलिका से भरे हुए रंग कुछ फूटे हुए से दिखायी दे रहे हैं' :

> अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्—
> स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
> अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्॥ —6-15

यही राजा के 'भाव-चिह्न' हैं अर्थात् शकुन्तला का चित्र बनाते-बनाते उसके अपने चित्त में जो प्रेमभाव उमड़े, उनके कारण जो आँसू और पसीना गिरा उनसे चित्र मलिन हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि पहले तो राजा ने चित्रितव्य शकुन्तला के भावों के साथ अपने को एकाकार बनाया और इस भावानुप्रवेश की प्रक्रिया से अंग-अंग को सरस और प्राणवन्त बनाया, परन्तु ज्यों ही चित्र पूरा होने को आया त्यों ही उसके अपने भाव उमड़ पड़े और चित्र के ऊपर अपना चिह्न छोड़ गये। इसी को कालिदास ने 'भावचिह्न' कहा है। इसके बाद चित्र को वास्तविक शकुन्तला समझकर राजा भावविह्वल हो गया। उसने चित्रलिखित भौंरे को देखकर कहा, 'ओ फूल और लताओं के प्यारे अतिथि ! तुम इसके मुँह पर मँडराने का कष्ट क्यों कर रहे हो ? तुम्हारे प्रेम की प्यासी भौंरी फूल पर बैठी हुई तुम्हारा इन्तज़ार कर रही है। वह बेचारी तुम्हारे बिना पुष्प-रस का पान भी नहीं कर रही।' इसके बाद भी जब भौंरा वहाँ से नहीं हटा तो राजा ने उसे दण्ड देने की घोषणा की। विदूषक ने तो उसे उन्मत्त ही मान लिया और मन-ही-मन कहने लगा कि 'यह तो पागल हो ही गया है, इसके साथ रहकर मैं भी पागल हुआ चाहता हूँ'। अदृश्य सानुमती ने भी यह अनुभव किया कि वह साक्षात् शकुन्तला को देख रही है। उसी ने राजा को 'यथालिखितानुभावी' अर्थात् जैसा लिखा है वैसा ही अनुभव करनेवाला कहा।

इस प्रकार प्रेमी चित्रकार की दो अवस्थाओं को कालिदास ने बताया है। प्रथम अवस्था में वह अपने को भूल जाता है और प्रेमिका के भावों में अनुप्रवेश करता है। दूसरी अवस्था में वह चित्र को वास्तविक समझता है और उसे देखकर उसके चित्त में वैसे ही सात्विक अनुभाव उत्पन्न होते हैं जैसे कि वास्तविक प्रेमिका को देखने से होते। इन दोनों अवस्थाओं के लिए कालिदास ने दो पारिभाषिक-जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथम अवस्था का नाम 'भावानुप्रवेश' है और दूसरी

अवस्था का 'यथालिखितानुभाविता'। संक्षेप में हम इसे लिखितानुभाव कहेंगे।

जहाँ तक उत्तम कलाकार का प्रश्न है, उसमें अनासंग भाव ही श्रेष्ठ है; क्योंकि चित्त जब सत्वगुण में स्थित होता है तो उसमें आसक्ति नहीं रहती। उत्तम कृति के लिए कलाकार का निःसंग या आसक्तिरहित होना बहुत आवश्यक है, परन्तु कालिदास ने दुष्यन्त को अनासक्त नहीं रहने दिया; क्योंकि उनका उद्देश्य दुष्यन्त को उत्तम कलाकार दिखाना नहीं था बल्कि उत्तम प्रेमी दिखाना था। केवल कलाकार का आदर्श निस्संग भाव है। वह समाधिस्थ होता है। उसकी चित्तवृत्ति बाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है। दिलीप की रचना करते समय कलाकार ब्रह्मा की क्या स्थिति रही होगी? इसके बारे में कालिदास कहते हैं कि निस्सन्देह ब्रह्मा ने 'महाभूतसमाधि' धारण करने के बाद ऐसे सुन्दर पुरुष का निर्माण किया होगा —'तं वेधा विदधेनूनं महाभूतसमाधिना।' अगर दुष्यन्त विशुद्ध कलाकार होता, तो उसे भी उत्तम वस्तु के निर्माण के लिए इसी प्रकार समाधि धारण करनी पड़ती। परन्तु वह मूलतः प्रेमी है। कलाकार उसका गौण रूप है। चित्र-निर्माण करने के समय वह थोड़ी देर के लिए समाधिस्थ अवश्य होता है, किन्तु शीघ्र ही वह प्रेमासक्ति की दुनिया में आ जाता है। अपने ही बनाये हुए शकुन्तला के चित्र को देखकर उसकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। वह कहता है कि 'नींद न लगने के कारण मैं उससे स्वप्न में भी नहीं मिल पाता और सदा बहते रहनेवाले यह आँसू उसे चित्र में भी नहीं देखने देते':

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ —6-22

कुछ इसी प्रकार की बात 'मेघदूत' में भी कही गयी है। यक्ष ने अपनी प्रिया के पास जो सन्देश भेजा था उसमें एक स्थान पर उसने कहा है कि 'हे प्रिय! जब मैं शिलापट्ट पर गेरू से तुम्हारी रूठी हुई मूर्ति का चित्र खींचकर अपने-आपको तुम्हारे चरणों पर गिरा चित्रित करना चाहता हूँ तब-तब उमड़ते हुए आँसुओं की धारा मेरी दृष्टि को आच्छादित कर लेती है। क्रूर विधाता उस चित्र में भी हमारा मिलन नहीं देख पाता':

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

जान पड़ता है कि विरह में चित्र बनाना, उसके द्वारा नायक या नायिका का मन-बहलाव करना कालिदास के युग में काव्यगत अभिप्राय के रूप में प्रचलित था। उमड़ते हुए आँसुओं के कारण यह काव्यगत रूढ़ि ही जान पड़ता है। 'रूढ़ि' और 'अभिप्राय' में कुछ अन्तर है जिसे आगे स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ प्रकृत प्रसंग में केवल यही कहना है कि 'रूढ़ि' या 'अभिप्राय' के रूप में चित्रलेखन की चर्चा करते हुए भी कालिदास ने कलासौन्दर्य-विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण इंगित दिये हैं। परवर्ती

कवियों में ऐसे इंगित या तो मिलते ही नहीं या मिलते हैं तो अस्पष्ट रूप में। कालिदास ने इतने स्पष्ट रूप में कला के विषय में जो इंगित दिये हैं वे सिद्ध करते हैं कि वे सफल चित्रकार भी थे। जो व्यक्ति स्वयं चित्रांकन का कार्य नहीं करता, वह ऐसे इंगित भी नहीं दे सकता।

करण-विगम और रसास्वाद की प्रक्रिया

कालिदास ने 'मेघदूत' में एक स्थान पर 'करण-विगम' शब्द का प्रयोग किया है। वह श्लोक इस प्रकार है :

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले:
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥

इसका अर्थ मल्लिनाथ के अनुसार इस प्रकार होता है, "वहाँ (हिमालय में) शिला पर स्पष्ट दिखायी देनेवाले शिव के पद-चिह्न को भक्ति से नम्र होकर प्रदक्षिणा करना। इस चरण-चिह्न पर सिद्ध लोग सदा पूजा की सामग्री चढ़ाते हैं। इसके दर्शन से पाप नष्ट होते हैं और श्रद्धावान लोग शरीर त्यागने के बाद सदा के लिए शिव के गुणों का स्थिर पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।" इसमें मल्लिनाथ ने 'करणविगमादूर्ध्वम्' का अर्थ किया है—शरीर त्यागने के बाद। करण शब्द इन्द्रियवाचक है। इसका अर्थ मल्लिनाथ ने शरीर कर लिया है, परन्तु स्वयं वे स्वीकार करते हैं कि करण का अर्थ इन्द्रिय है। इसका शरीर अर्थ करने के लिए उन्हें कुछ आयास करना पड़ा है। वे कहते हैं : 'करणानि इन्द्रियाणि विद्यन्ते यत्र तत् करणं वपुः अर्श आदिभ्योऽच्' अर्थात् करण शब्द का अर्थ इन्द्रिय है, इन्द्रिय जिसमें रहें, करण अर्थात् शरीर। परन्तु इतना खींचतान करने की कोई जरूरत नहीं थी। 'करण-विगम' का सीधा-सादा अर्थ है—इन्द्रियों को उल्टी दशा में मोड़ना। परवर्त्ती सन्त-साहित्य में जिसे 'धारा को उलटना' कहते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को बाहरी विषयों की ओर से मोड़कर अन्तर्मुखी करना। चित्त-वृत्तियों को बाहर की ओर से प्रयत्नपूर्वक निवृत्त करके चिदानन्द ज्योति की ओर उन्मुख करना आगम-शास्त्र का पुराना सिद्धान्त है। यद्यपि कालिदास के सभी टीकाकार, जिनमें मल्लि-नाथ भी शामिल हैं, यह मानते हैं कि उनका परिचय आगमग्रन्थों से था और कई जगह तो उनकी बात को स्पष्ट करने के लिए आगमशास्त्रियों का हवाला भी देते

हैं। फिर भी इस प्रसंग में वैसा नहीं किया गया। इसीलिए इस शब्द की जैसी व्याख्या होनी चाहिए थी वह नहीं हो पायी। यहाँ कालिदास का आशय यह जान पड़ता है कि शिव के चरणान्यास का दर्शन करने से श्रद्धावान् मनुष्य को इन्द्रियों को बहिर्व्यापार से मोड़कर अन्तर्मुखी करने की शक्ति प्राप्त होती है और शाश्वत गणपद प्राप्त करने में सिद्धि प्राप्त होती है। इस शब्द का मिलता-जुलता प्रयोग शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक के मंगलाचरणवालेश्लोक में हुआ है। वहाँ 'व्यपगतकरणम्' शब्द क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु अर्थ इससे मिलता-जुलता ही है। वहाँ कहा गया है कि शिव जिस ब्रह्मसमाधि में लगे हुए हैं उसमें व्यपगतकरण होकर स्वयं को देख रहे हैं, अर्थात् उनके इन्द्रियव्यापार बाह्य विषयों से विरत होकर अन्तर्मुखी हो गये हैं और स्वयं में स्वयं को देखने की दृष्टि प्राप्त हो गयी है। 'मृच्छकटिक' का श्लोक इस प्रकार है :

पर्यङ्कग्रंथिबंधद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो---
रन्तःप्राणावरोध व्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य।
आत्मन्यात्मनमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्वदृष्ट्या
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः॥

'करण-विगम' शब्द का प्रयोग कालिदास ने निश्चित रूप से इसी अर्थ में किया होगा। आगमशास्त्रियों ने समाधि के लिए इस प्रकार के अन्तर्मुखीकरण पर बड़ा बल दिया है। 'अमरौघशासन' में बताया हुआ है कि सहज समाधि इसको कहते हैं---'यत्र मनसा मनःसमीक्ष्यते'। अर्थात् जहाँ मन से ही मन को देखा जाता है। 'मृच्छकटिक' के 'आत्मन्यात्मानमेव पश्यतः' का भी यही भाव है। कालिदास के ग्रन्थों से स्पष्ट है कि सुन्दर वस्तु के दर्शन से मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ बाह्य विषयों से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। जिस चित्र, मूर्त्ति या सुन्दर पदार्थ में अन्तर्विलीन करने की जितनी ही अधिक शक्ति होगी, वह उतना ही अधिक उत्तम होगा। यह पहले ही बताया गया है कि कालिदास कलाकार को रचना के साथ समाधिस्थ मानते हैं। यदि चित्र में कोई दोष रह जाता है तो उसका कारण रचयिता की समाधि का शिथिल हो जाना है, क्योंकि चित्र या मूर्त्ति केवल बाहरी अवयवों का संघटनमात्र नहीं है। जब तक रचयिता के चित्त में स्वयं रस की अनुभूति नहीं होती तब तक उसका चित्र दर्शक के हृदय में भी रस का उद्रेक नहीं कर सकता। 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट रूप से रस को ही समस्त भावों का मूल बताया गया है। भाव अर्थ है। यदि केवल भावचालित होकर चित्र या मूर्त्ति बनायी जाये तो वह दर्शक को भी भावदशा तक ले जाने में सफल होगी। यदि शारीरिक दृष्टि से चित्र बनाया जाये तो सहृदय दर्शक की दृष्टि भी बाह्य रूप और आकार तक ही आकर रुक जायेगी। इसीलिए सहृदय को भी रसानुभूति होनी चाहिए। केवल रसानुभूति की अवस्था में ही कलाकार का चित्त और अन्य इन्द्रिय बाह्य नियमों से विरत होकर अन्तर्मुखी होते हैं और समाधि की अवस्था में पहुँचते हैं।

सहृदय कौन है? सहृदय शब्द का अर्थ है---समान हृदयवाला। कवि, चित्र-

कार, मूर्त्तिकार या शिल्पी के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहते हैं उसको वही अनुभव कर सकता है, जो उसी प्रकार का अनुभूति-सम्पन्न हृदय रखता हो। कलाकार के चित्त में जो व्याकुलता होती है, उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है। उसके लिए उसे साधना की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार की व्याकुलता उसके चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है, उससे ज्यादा नहीं। इसीलिए यदि कलाकार समाधिनिष्ठ हो सका है तो बदले में सहृदय को भी समाधिनिष्ठ कर सकता है। यदि वह शिथिल-समाधि है, तो सहृदय की भी समाधि शिथिल होगी।

समाधि का अर्थ ही है—इन्द्रियों का बाहरी विषयों से निवृत्त होकर अन्त-र्मुखी होना। भारतीय आचार्यों के अनुसार जब तक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रस-बोध नहीं करवा सकता। कलाकार अन्तरतर की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का बाह्य प्रत्यक्ष करके अन्तर्मुखी होता है। सहृदय के रस-बोध की प्रक्रिया कलाकार से ठीक उल्टी दिशा की ओर होती है। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास यह मानते हैं कि सहृदय पहले बाह्य रूप को प्रत्यक्ष करता है और धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है। इस प्रक्रिया को कालिदास के शब्दों में 'करण-विगम' कह सकते हैं। यद्यपि कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग भक्ति के प्रसंग में किया है, परन्तु इसे कलाकृति के प्रसंग में भी प्रयोग किया जा सकता है। किसी सुन्दर वस्तु के रस की अनुभूति 'करण-विगम' से ही होती है, फिर यदि वह सचमुच सुन्दर हुई तो उसकी छाप मन पर पड़ती है। इस मानसिक छाप का नाम ही 'भाव' है। यदि चित्रकार ने केवल अर्थमात्र की अभिव्यक्ति करना चाहा है तो सहृदय का भीतर की ओर जानेवाला व्यापार यहीं समाप्त हो जाता है। परन्तु यदि कलाकृति और भी अधिक गहराई से निकली है तो अन्तर्मुखी व्यापार या भावन-व्यापार और भी अधिक गहराई की ओर बढ़ता है और 'करण-विगम' की प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। साधारण आचार्यों ने काव्य और नाटक के प्रसंग में ही रसास्वाद की प्रक्रिया को समझाया है। वह कुछ इस प्रकार है।

रस लोकोत्तर अनुभूति है, ऐसा सभी आचार्यों का कहना है। इसका अर्थ यह है कि लोक में जो लौकिक अनुभूति होती है, उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। प्रत्यक्ष जीवन में जो शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम है वह लौकिक है। परन्तु नाटक या काव्यास्वादन से जो दुष्यन्त और शकुन्तला हमारे चित्त में बनते हैं, वे उनसे भिन्न हैं। लोक में 'घट' शब्द का अर्थ है मिट्टी का बना हुआ पात्र-विशेष। किन्तु यह घड़ा स्थूल होता है। यदि हम इस शब्द का उच्चारण मन-ही-मन करें तो 'घड़ा' पद और 'घड़ा' पदार्थ सूक्ष्म रूप में चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार जो मानस-मूर्त्ति तैयार होगी, वह सूक्ष्म घड़ा कही जायेगी। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानस-मूर्त्ति रचने की समार्थ्य मनुष्य-मात्र में है। इसे ही भाव-जगत् कहते हैं। लोक में जो घड़ा है वह स्थूल जगत् का अर्थ (पदार्थ=

पद का अर्थ) है और मानस अर्थ भाव-जगत् का अर्थ है। 'घट' नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म है। लोक में प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है। इसलिए लौकिक न होकर अलौकिक, लोकोत्तर या भावगम्य है।

ध्वनिवादी आलंकारिक रस को व्यंग्यार्थ मानते हैं। रस, विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा व्यंजित होता है। न तो विभाव (शकुन्तला, दुष्यन्त), न अनुभाव (स्वेद, कम्प आदि ही) और न व्यभिचारी या संचारी भाव ही अपने-आपमें रस हैं। मीमांसकों ने अभिधा और लक्षणा, इन दो वृत्तियों के अतिरिक्त इस तीसरी वृत्ति (व्यंजना) को स्वीकार नहीं किया। वे मानते हैं कि वाक्य में तात्पर्य नामक वृत्ति होती है, जो कहनेवाले के मन में जो अर्थ होता है उसे समाप्त करके ही विरत होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ रस-बोध तक जाकर विश्रान्त होता है। व्यंजनावृत्ति को अलग से मानने की वे आवश्यकता नहीं समझते। मीमांसकों के इस मत का मूल है यह सूत्र —'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होता है, वह शब्दार्थ होता है।)। इसका एक मतलब यह हो सकता है कि जिस अर्थ को बोध कराने के लिए शब्द प्रयुक्त होता है वही उसका अर्थ होता है (तदर्थत्व), दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि शब्द सम्बन्ध-मर्यादा से सीमित रहकर जिस अर्थ की सूचना देता है वही उसका अर्थ होता है (तत्परत्व)। पहले अर्थ की व्यापकता स्पष्ट है। परन्तु मीमांसक सम्बन्ध-मर्यादा को भी मानते हैं। इसलिए जिसे वे 'तात्पर्य' कहते हैं वह सीमित हो जाता है। उससे व्यंजनावृत्ति का काम नहीं चल सकता, क्योंकि व्यंजनावृत्ति संसर्ग-मर्यादा से बँधी नहीं होती। दशरूपक-कार तात्पर्यवृत्ति को पहले अर्थ में लेते हैं। उनकी दृष्टि में तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। वे तात्पर्य और तादर्थ्य में भेद नहीं करते। ऐसा मान लेने पर भी व्यंजनावृत्ति से जो विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है उसको एक विशेष नाम देना आवश्यक हो जाता है। इसलिए इस वृत्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी रस को व्यंग्यार्थमात्र मानने में कठिनाई होगी। रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। भाव तो विभाव के चित्त में ही उठते हैं। दर्शक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है जिससे वह अपनी ही अनुभूतियों का आनन्द लेने में समर्थ होता है। सभी आलंकारिक आचार्य मानते हैं कि रस न तो 'कार्य' होता है और न 'ज्ञाप्य'। वह पहले से उपस्थित भी नहीं रहता। जो वस्तु पहले से उपस्थित नहीं रहती, वह व्यंजनावृत्ति का विषय भी नहीं हो सकती। रस सहृदय श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होता है, पात्र के चित्त में नहीं। अतः व्यंजना-वृत्ति केवल श्रोता या दर्शक के चित्त में सूक्ष्म विभाव, अनुभाव और संचारी भाव को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ कहा जा रहा है उससे भिन्न, जो नहीं कहा जा रहा है, या नहीं कहा जा सका है, उस अर्थ की उपस्थिति करा सकती है। भरत मुनि के सूत्र का तात्पर्य यही हो सकता है कि सहृदयों के चित्त में वासनारूप से स्थित, किन्तु प्रसुप्त स्थायी भाव ही विभावादि से व्यंजित होकर रसरूप ग्रहण करते हैं। नाटक में व्यंजना के साधन केवल शब्द ही नहीं बल्कि अभिनेता की

चेष्टाएँ भी हैं। इस प्रकार नाटक एकओर तो कवि-निबद्ध शब्दों से रस की व्यंजना करता है, दूसरी ओर अभिनेता के अभिनय द्वारा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यंजना यदि शब्द-शक्ति और अभिनय-शक्ति मात्र है तो श्रोता के प्रस्तुत भावों को व्यंजित-भर कर सकती है, उस अनुभूति को नहीं व्यंग्य कर सकती जो शब्द और अभिनय के बाहर है और श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है। और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यंजित किया जा सके।" इस कठनाई से बचने के लिए आलंकारिकों ने पुराने आचार्य भट्टनायक के सुझाये दो व्यापारों—भावकत्व और भोजकत्व— को किसी-न-किसी रूप में मान लिया है। मतलब यह है कि कवि के निबद्ध शब्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टाओं में यह सामर्थ्य भी है कि श्रोता या दर्शक के पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य स्थापित करा दे। ऐसी स्थिति में उनके भीतर पात्रों का विशेष रूप न रहकर साधारणीकृत रूप (पुरुष, स्त्री) रह जाता है, फिर उसमें एक भोजकत्व-व्यापार का आविर्भाव होता है और वह साधारणीकृत विभावादि और उनकी भावनाओं के आस्वादन में समर्थ हो जाता है।

कवि या नाटककार का कौशल पात्रों के विशेषीकरण में प्रकट होता है। हम उस कवि को ही सफल कवि मानते हैं जो पात्रों का विशेष व्यक्तित्व निखार सकता है। परन्तु ये विशेषीकृत पात्र लौकिक होते हैं। सहृदय के चित्त में जो पात्र बनते हैं वे उसकी अपनी अनुभूतियों से बनने के कारण लोकोत्तर या अलौकिक होते हैं। वह अपने सात्विक अभिनय द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावन कराते हुए होने के कारण यह भाव कहा जाता है। नाना अभिनय सम्बन्ध वाले रसों को भावित कराने के कारण ये भाव कहे जाते हैं। ('नाट्यशास्त्र,' 7-1-3)। इससे जान पड़ता है कि विभाव द्वारा आहृत अर्थ को अनुभावादि द्वारा प्रतीति योग्य करने के कारण, कवि के अन्तर्गत भाव को अभिनयादि द्वारा भावना का विषय बनाने के कारण, विविध अभिनयों से सम्बन्ध रखनेवाले रसों को सुवासित या रंजित करने के कारण इनका नाम भाव है। तीन स्थितियाँ हुईं: (1) कवि के अन्तर्गत भाव, (2) विभाव द्वारा आहृत अर्थ, और (3) अभिनयों से दर्शकों के चित्त में अनुभूत होनेवाला रस। एक को प्रतीति-योग्य कराने का काम भाव का है (कवि के अन्तर्गत भाव को), दूसरे को भावना का विषय बनाने का काम भाव का है (विभावाहृत अर्थ को), तीसरे को रंजित या वासित करने का काम भाव का है (अनुभूति को)। इस प्रकार भाव कवि के चित्त में स्थित भावों को प्रतीति-योग्य बनाता है, विभाव द्वारा आहृत अर्थ को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव को भावित, वासित या रंजित करता है। ये केवल पात्र की मानसिक अवस्थाएँ नहीं हैं, कवि के भावों की प्रतीति के साधन, अनुकार्य पात्र की मन:स्थिति के साथ सहृदय के मनोभावों का सामंजस्य-

स्थापन और उसके अन्तःकरण में प्रसुप्त स्थायी भाव को बहुविचित्र रंगों और वर्णों से रंजित-वासित करके अधिक उपभोग्य बनाने के साधन हैं। भरत मुनि ने 'भाव' शब्द का प्रयोग अभिनेता को दृष्टि में रखकर किया है। उन्होंने परिभाषा देते समय अवश्य ही मानसिक आवेग-संवेगों के अर्थ में इसका प्रयोग किया है। इनमें आठ स्थायी हैं, आठ सत्त्वज हैं और 33 व्यभिचारी हैं। वैसे तो सभी व्यभिचारी हैं, पर आठ अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होने के कारण स्थायी कहे गये हैं।

कई बार इन्हें मनोभाव-मात्र समझने का प्रयत्न किया जाता है। व्यभिचारी या संचारी कहे गये भावों में कुछ तो ऐसे हैं, जिनसे मानव अपने ही चित्त में अपनी ही अनुभूतियों के ताने-बाने से भाव-जगत् के दुष्यन्त और शकुन्तला का निर्माण करता है। उन्हीं के सूक्ष्म भावों के मिश्रण से हम रस का अनुभव करते हैं। इसलिए कवि द्वारा विशेषीकृत पात्र सामान्य मानव-अनुभूतियों से पुनर्निर्मित होकर साधारण कर दिय जाते हैं। सहृदय अपनी ही मानस-भूमि के ईंट-चूने से इस प्रासाद का निर्माण करता है। इसलिए जब अर्थ अलौकिक स्तर पर आता है तो उसमें सामान्य मानव-अनुभूतियों से निर्मित होने के कारण लौकिक विशेषताओं का एक ऐसा रूप बनता है जिसे साधारणीकृत रूप कहते हैं।

भावकत्व-व्यापार के द्वारा पात्रों की भावनाओं के साथ सहृदय की भावनाओं का तादात्म्य होता है, ऐसा ऊपर कहा गया है; पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र पात्र के साथ तादात्म्य नहीं होता। कुछ रसों में श्रोता का आलम्बन वही होता है, जो आश्रय का। इस प्रकार आश्रय के साथ तादात्म्य सम्भव होता है, पर कभी-कभी आश्रय ही श्रोता का आलम्बन हो जाता है। जहाँ आश्रय के साथ श्रोता या दर्शक का तादात्म्य हो जाता है, वहीं रस पूर्णांग होता है। दूसरे प्रकार से रस में अपूर्णता रहती है। पहली स्थिति केवल शृंगार और वीर, इन दो रसों में ही सम्भव है। ये ज्यादा भावात्मक होते हैं, जबकि अन्य रस अधिकतर कल्पनात्मक होते हैं। यही कारण है कि पूर्णांग रूपकों में केवल दो ही रस होते हैं — वीर और शृंगार।

इस बात का चित्र और मूर्त्ति के प्रसंग में भी इसी प्रकार विनियोग किया जा सकता है। चित्र या मूर्त्ति भी मन में एक मानसमूर्त्ति की रचना करने में समर्थ होते हैं। वहाँ भी सहृदय दर्शक अपनी ही मानस-भूमि के ताने-बाने से अपने ही चित्त की अनुभूतियों का आस्वादन करता है। यह बात 'करण-विगम' की प्रक्रिया से ही सिद्ध हो सकती है।

यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मनुष्य जिन कलाकृतियों का निर्माण करता है, वे एक प्रकार की माया ही हैं। उदाहरण के लिए चित्रलिखित शकुन्तला वस्तुतः शकुन्तला नहीं है, कागज है, रंग है, और रेखा है। उससे लौकिक शकुन्तला का काम नहीं चल सकता। दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था उसे देखकर वह स्वयं ऐसा व्यवहार करने लगा था, मानो वह सचमुच हाड़-मांस की शकुन्तला हो। विदूषक ने मन-ही-मन कहा था कि अब यह पागल हो गया है।

इसी पागलपन से राजा की निवृत्ति करने के लिए उसने राजा को बताया कि यह चित्र है। इस पर राजा ने कहा कि 'हाय मित्र ! तुमने यह क्या अनर्थ कर डाला ! मेरा हृदय तो शकुन्तलामय हो गया था और मैं उसका साक्षात् दर्शन अनुभव कर रहा था। तुमने याद दिलाकर मेरी प्रिया को फिर से चित्र बना डाला' :

दर्शनसुखमनुभवतः
साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे—
पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ।।

यहाँ इंगित से 'करण-विगम' की प्रभविष्णुता दिखायी गयी है। चित्र के बाहरी रूप ने दर्शक के हृदय में शकुन्तला की मानसी-मूर्त्ति का निर्माण किया और राजा यह भूल ही गया कि वह कागज, रंग और रेखा देख रहा था। इसके पूर्व ही दुष्यन्त ने एक मनोरंजक बात कही थी। इस समय वह चित्रफलक हाथ में ले ही रहा था। अभी भी चित्र-दर्शन से उत्पन्न 'करण-विगम' की प्रक्रिया शुरू नहीं हुई थी। उस समय वह चित्रफलक को सचमुच ही चित्रफलक समझ रहा था। उस समय उसके मन की प्रतिक्रिया यह थी कि 'मेरी प्रिया जब साक्षात् उपस्थित हुई थी तब तो मैंने उसे त्याग दिया, पर अब चित्र में आँकी हुई उसकी तस्वीर ही मुझे बहुत जान पड़ती है। यह बहुत-कुछ वैसा ही है जैसे कोई आदमी भरी हुई नदी को छोड़कर मृगतृष्णा के पीछे दौड़ पड़े' :

साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ।।

यहाँ जो चित्र को 'मृगतृष्णा' कहा गया है उसमें उसकी मायाविनी शक्ति की ओर ही इशारा किया गया है। मृगतृष्णा का पानी लौकिक पानी नहीं है बल्कि मानस-जगत् का कल्पित है। उसी प्रकार चित्र या मूर्त्ति मानस-जगत् में भावमूर्त्ति का निर्माण करते हैं। यह कलाकार की मायाविनी शक्ति नहीं तो और क्याहै ?

अबोधपूर्वा स्मृति और वासना

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में एक जगह ऐसा कहा गया है कि रमणीय वस्तुओं को देख-कर और मधुर शब्दों को सुनकर सुखी जन्तु में भी एक प्रकार की व्याकुलता

(पर्यत्सुकीभाव) आ जाती है, उससे लगता है कि द्रष्टा या श्रोता जन्मजन्मान्तर के उन सौहार्दों को, जो भावरूप में मन में स्थिर हो गये हैं, बिना समझे-बूझे ही स्मरण किया करता है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

कालिदास के युग में यह बात सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत थी कि मनुष्य अनेक योनियों में घूमता हुआ दुर्लभ मानव-जन्म पाता है। उसकी आत्मा पर अनेक भाव जमे रहते हैं। सभी हर समय स्मरण नहीं आते, परन्तु सौन्दर्याधायक वस्तु के साक्षात्कार से वे किसी पुरानी स्मृति को उभार देते हैं। इस उभरी हुई स्मृति को कालिदास 'अबोधपूर्वा' कहते हैं, अर्थात् उसकी याद में विशेष तत्त्वों का स्मरण नहीं रहता, केवल निर्विशेष स्मृति-मात्र रहती है। नैयायिकों की भाषा में इसे प्रमृष्टतत्ताक स्मृति कहा जायेगा। प्रमृष्टतत्ताक, अर्थात् जिसमें से तत्तत् वस्तुओं की विशिष्ट चेतना पुँछ गयी होती है। चित्त के उपरले स्तर पर सद्योगृहीत स्मृतियाँ रहती हैं, जैसा कि राजा पुरूरवा की उपरली मानसभूमि में उर्वशी की स्मृति थी। परन्तु, कवि या पाठक के चित्त में उर्वशी का वह तथ्य नहीं है। न जाने किस जन्म में कब किसी उर्वशी को पाठक ने देखा था। उर्वशी का अर्थ भी वहाँ स्वर्ग की अप्सरा नहीं है, वरन् पुरूरवा के चित्त के उद्वेलित भाव के समानधर्मा भावों को उद्वेलित कर सकनेवाली कोई सुन्दरी है।

आज का शिक्षित भारतीय कालिदासकालीन जन्मान्तरवाद को उतना मान नहीं देता। वह इसे और रूप में स्वीकार करता है। मनुष्य, मनुष्य-रूप में आने के पूर्व न जाने कितनी योनियों से विकसित होता आया है। सबके कुछ-न-कुछ भावात्मक भग्नावशेष उसकी चित्तभूमि में सुरक्षित हैं। इन अबोधपूर्व स्मृतियों ने उसमें अनेक प्रकार के संस्कार पैदा किये हैं। सुन्दर को देख सकना, देखकर अनुभव कर सकना, अनुभूत को अभिव्यक्त कर सकना एक दिन में नहीं हुआ। न जाने कितने युग-युगान्तर के संस्कारों का समुच्चय है यह मानव-चित्त। कालिदास की बात इस अधुना-गृहीत थीसिस के आलोक में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। कहा नहीं जा सकता कि जनि-तत्त्व के संस्कारों का यह लेखा-जोखा कब हाइपोथीसिस का रूप ले लेगा, पर नये थीसिस में भी मूल बात बनी रहेगी।

पुराने लोग प्रमृष्टतत्ताक स्मृति के नीचे मानव-चित्त के अतल गाम्भीर्य में वासना की स्थिति मानते हैं। मानव-चित्त के आवेगों, संवेगों, उद्वेगों के उत्स के रूप में यह आज भी नाम बदलकर स्वीकृत होता आ रहा है। आलंकारिकों ने इसी वासना-रूप में स्थित स्थायी भावों को रसास्वाद का मुख्य हेतु माना है। आज की भाषा में इसे अवचेतन मन कहा जाने लगा है।

कालिदास की इस बात का विश्लेषण किया जाय, तो यह निम्नांकित रूप में

स्पष्ट होती है :

1. बहिर्जगत् में कुछ बातें रम्य और मधुर होती हैं,
2. उन्हें देख-सुनकर स्मृतियाँ जगती हैं, जो द्रष्टा को पर्युत्सुक बनाती हैं,
3. वे स्मृतियाँ अबोधपूर्वा होती हैं, अर्थात् पहले से यह बताना सम्भव नहीं है कि वे किस विशेष परिस्थिति के भाव-रूप में अवस्थान करती हैं, तथा
4. वे चित्त को चालित करती हैं।

प्रत्येक मनुष्य सौन्दर्य का अनुभव करता है; परन्तु सौन्दर्य क्या वस्तु है, इस विषय में बता सकना किसी भी व्यक्ति के लिए कठिन है। साधारण अर्थ में सौन्दर्य दृष्टि का विषय है। हम किसी फूल को, लता को, वृक्ष को, मूर्त्ति को, जब सुन्दर कहते हैं, तब हमारे मन में उस वस्तु की समग्रता से उत्पन्न एक आनन्दोद्रेचक भावना काम करती रहती है। किसी फूल को सुन्दर कहने का यह मतलब नहीं है कि उसकी पंखुड़ियाँ सुन्दर हैं, उसका आकार सुन्दर है, या उसके विभिन्न अवयव सुन्दर हैं, बल्कि उसका अर्थ यह होता है कि वह सब मिलाकर हमारे चित्त में एक प्रकार का आनन्दोद्रेक करता है। उस आनन्द को प्रकट करने के लिए ही हम उसे सुन्दर कहते हैं। साधारणतः किसी वस्तु को सुन्दर कहते समय हमारी दृष्टि के सामने उसका सन्तुलन, आकार, रूप, विकासावस्था, विभिन्न अवयवों के बीच में छूटी हुई जगह, प्रकाश, रंग, गति, खिंचाव और अभिव्यक्ति जैसी चीजें आती हैं। इन्हीं के समञ्जस-सन्तुलन से दर्शक के चित्त में आह्लाद उत्पन्न होता है। हर समय यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन-सी बात दर्शक को विशेष रूप से आकृष्ट कर रही है। यह एक प्रकार का चाक्षुष निर्णय है। कभी-कभी सुन्दर वस्तु के अनेक गुणों में से कोई एक या दो अधिक आकर्षक जान पड़ते हैं; परन्तु थोड़ा विचार किया जाये, तो यह बात बहुत ऊपरी सिद्ध होगी। जैसे, किसी फूल का लाल रंग आकर्षक हो, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु सिर्फ उस रंग केकारण सुन्दर दिखायी पड़ती है; क्योंकि उस प्रकार का रंग और जगह भी देखा जा सकता है। वस्तुतः, किसी सुन्दर वस्तु का लाल रंग अनेक परिप्रेक्ष्यों के भीतर होने से ही आकर्षक बनता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षण करके देखा है कि किसी वस्तु की समग्रता का बोध उसके समस्त अवयवों के बोध का योग नहीं है। वह उनसे भिन्न और विशिष्ट वस्तु है। Von Ernfeil ने यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि वस्तु की समग्रता का बोध अवयव-बोध का समुच्चय नहीं है। मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त का नाम गेस्टाल्ट-सिद्धान्त है। किसी विविधवाद्य समन्वित संगीत की ध्वनि को सुनकर चित्त में जो भाव पैदा होता है, वह उस संगीत में सम्मिलित वाद्यों के अलग-अलग सुनने से उत्पन्न भावों का योग या समुच्चय नहीं है। इसी प्रकार, किसी मूर्त्ति को देखकर मन में जो भाव उत्पन्न होता है, वह उसके अवयवों को अलग-अलग देखने से उत्पन्न हुए भावों के समुच्चय से भिन प्रकार का अनुभव है। वस्तुतः कोई चीज जैसी होती है, वैसी ही हमें नहीं दीखती। हमारी दृष्टि-शक्ति के अपने नियम हैं, अपनी कार्यप्रणाली है। कोई

वस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से सन्तुलित हो सकती है; किन्तु दृष्टि को वह सन्तुलित नहीं भी दीख सकती। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि दृष्टि-शक्ति निर्जीव कैमरे के लेंस की तरह क्रियाहीन, निरीह संग्राहिका-मात्र नहीं है, बल्कि स्वयं भी कुछ करती रहती है। मनुष्य की दृष्टि-शक्ति और कैमरे में यह बड़ा भारी अन्तर है—पहला इच्छा-शक्ति-सम्पन्न सर्जक है, दूसरा इच्छा-शक्ति-विहीन संग्राहक। यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि मनुष्य की दृष्टि-शक्ति केवल उतना ही नहीं ग्रहण करती, जितना उसके सामने होता है; बल्कि अपनी कल्पना-शक्ति से वह उससे बहुत अधिक देखती है। केवल मुख की कुछ रेखाओं को उसके सम्मुख उपस्थित किया जाये, तो वह पूरे की कल्पना कर लेती है। मनुष्य की दृष्टि-शक्ति का यह सर्जकत्व धर्म उसे यान्त्रिक प्रक्रिया से बड़ी सिद्ध करता है।

ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि मनुष्य की दृष्टि-शक्ति में कैमरे की भाँति केवल यन्त्रमात्र नहीं हैं, बल्कि किसी अदृश्य चेतन-शक्ति से वह चालित होती है। इस चेतन-शक्ति में तीन बातें स्पष्ट हैं: 1. वह ज्ञाता है, 2. वह इच्छा-शक्ति-सम्पन्न है, 3. वह स्रष्टा है। वह द्रष्टव्य वस्तु को जानता है। अपनी मर्जी के मुताबिक उसमें से कुछ का ग्रहण करता है, कुछ को छोड़ देता है और गृहीत वस्तु को नवीन रूप में सजाता है, उसे रूप देता है।

जिसे हम सुन्दर कहते हैं, वह वस्तुतः हमारे भीतर की चित्-शक्ति के ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय है; परन्तु केवल ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति से समन्वित होने से कोई वस्तु सुन्दर नहीं कही जा सकती। सुन्दर होने के लिए कुछ और गुण भी आवश्यक हैं। प्रत्येक द्रष्टव्य वस्तु स्रष्टा के ज्ञान, क्रिया और इच्छा-शक्ति का समवेत रूप है; परन्तु प्रत्येक वस्तु सुन्दर नहीं कही जाती। विचारणीय यह है कि वह कौन-सी वस्तु है, जो ज्ञेय वस्तु के इच्छित और श्रेष्ठ रूप में दूसरे प्रकार की महिमा भरती है।

मोटे तौर पर दो प्रकार की वस्तुओं को हम सुन्दर कहते हैं; एक तो वह, जो प्रकृति-प्रदत्त है। दूसरी वह, जो मनुष्य द्वारा निर्मित है और हमें आनन्द देती है। प्रथम कोटि में नदी, पहाड़, जंगल, फल, फूल, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि आते हैं; और दूसरी कोटि की सुन्दर वस्तुओं में मूर्त्ति, चित्र, संगीत, काव्य आदि आते हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है, यह भी विचारणीय है। दोनों में अन्तर अवश्य है; पर दोनों एक ही जाति की चीजें हैं। इनमें से किसी प्रकार के द्रष्टव्य को देखकर हमारे अवचेतन के सुप्त संस्कार जाग्रत होते हैं और देश, काल, पात्र, परिस्थिति आदि से सम्बद्ध होकर नवीन रूप में उपभोग्य बनते हैं। किसी-किसी तत्त्वज्ञानी ने बताया है कि इस प्रकार की उत्तेजक सामग्री के कारण होनेवाले अवचेतन की आत्मोपलब्धि का नाम ही सौन्दर्य है। इसमें उद्दीपक सामग्री और उद्दीप्त संस्कार दोनों का योग होता है। द्रष्टा दोनों की सत्ता का अनुभव करता है। यही कारण है कि एक ओर द्रष्टा जहाँ सौन्दर्य-बोध से उत्पन्न आनन्द का अनुभव करता है, वहीं वह उस वस्तु को सुन्दर भी कहता है। अर्थात्, ज्ञान के साथ-ही-साथ ज्ञेय

की सत्ता को भी अनुभव करता रहता है। यह एक ही प्रक्रिया प्रकृति-प्रदत्त सुन्दर वस्तु के साथ भी चलती है और मानव-निर्मित कलाकृति के साथ भी। मनुष्य-निर्मित चित्र, मूर्त्ति, काव्य, संगीत आदि से भी द्रष्टा के अवचेतन में विद्यमान संस्कार उद्बुद्ध होते हैं, और प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं, जैसे तारा-खचित आकाश, निर्झर-निनादित सानुभूमि, उद्धूम गिरि-गह्वर, तृणशाद्वल-शोभित वनस्थली आदि से भी उनके अवचेतन में अवस्थित संस्कार ही जाग्रत होते हैं। ज्ञान और ज्ञेय, दोनों की प्रतीति अन्यत्र विद्यमान रहती है। वैदिक ऋषियों ने सृष्टि को 'देवता का काव्य' (पश्य देवस्य काव्यं न विभेति न रिष्यति) कहकर इसी समानधर्मा अनुभूति की ओर संकेत किया था। मनुष्य-निर्मित काव्य की भाँति ही विधाता-निर्मित काव्य भी हमें आनन्द देता है। इस दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में ज्ञान और ज्ञेय—सौन्दय-बोध और सुन्दर पदार्थ की प्रतीति विद्यमान रहती है, दोनों ज्ञाता (द्रष्टा) के चित्त के अन्तर्निहित सुप्त संस्कारों के उद्बोधन के साथ ज्ञेय (द्रष्टव्य) की सत्ता के प्रति सचेत करते हैं, दोनों उसे नवीन रूप में आत्मोपलब्धि और तज्जन्य आनन्द का आस्वादन कराते हैं। इस प्रकार, दोनों एक हैं।

कैरिट ने एक स्थान पर कहा है कि कलागत एवं वास्तविक सौन्दर्य दोनों पूर्णतः समानजातीय हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है। वह न केवल अपने भावों को भाषा के माध्यम से दूसरे तक पहुँचाता ही है, अपितु वह प्रकृति तथा कलाकृति दोनों को सौन्दर्य की दृष्टि से देखता और समझता भी है।

परन्तु, दोनों में अन्तर भी हैं। यह जो प्रकृति-प्रदत्त विराट् सृष्टि है, वह मनुष्य की अपनी आँखों से देखा हुआ मानव-सत्य है। मनुष्य को निखिल सृष्टि-विधात्री शक्ति—प्रकृति ने जैसा कुछ बनाया है, वह उसी प्रक्रिया की उपज है, जिससे आकाश, पर्वत, वनभूमि, धरित्री, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी आदि बने हैं। कहते हैं, पुराकाल में यह विपुल ब्रह्माण्ड, जिसे देखने का सामर्थ्य मनुष्य पा सका है, केवल जड़-तत्त्वों से परिपूर्ण था। मनुष्य अपने सामर्थ्य के अनुसार जो कुछ जान सका है, वह यह है कि किसी समय तप्त गैसों से बने नीहारिकाखण्डों में क्षोभ या गति उत्पन्न हुई थी और विपुल ब्रह्माण्ड कुछ तारिका-पिण्डों में सिमटने लगा था। एक छोटी तारिका सूर्य थी। उसमें भी यह क्षोभ-प्रक्रिया काम करती गयी। उसके कितने ही खण्ड टूटकर उसके चारों ओर चक्कर काटने लगे। उन्हीं खण्डों में से एक का नाम पृथ्वी है। दीर्घकाल तक धरती केवल निर्जीव जड़-तत्त्वों का संघात-मात्र थी। दीर्घकाल तक उसमें तप्त धातुओं की क्षुभित लीला चलती रही, धीरे-धीरे उसकी ऊष्मा कम होती गयी और उसमें चित्-तत्त्व के आविर्भाव की सूचना मिली। कोई नहीं जानता कि इस सारी क्षोभ-लीला के भीतर यह चित्-तत्त्व कहाँ बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा में पड़ा रहा है। एक दिन अत्यन्त दुर्बल तृणांकुर के रूप में प्रकट हुआ। यहीं से जड़ और चित् का द्वन्द्व शुरू हुआ। जहाँ पहले केवल सत्ता थी, वहाँ अब चित्-तत्त्व का आविर्भाव हुआ। उस दिन

सृष्टि में एक अघटित घटना घटी। जड़-तत्त्व में छोटे पिण्डों को अपनी ओर खींच लेने की अद्‌भुत शक्ति है। वह शक्ति तब भी थी, अब भी है। क्यों है ? कोई नहीं बता सकता; पर यह महाकर्ष की शक्ति उसमें है। वैज्ञानिक उसे 'ग्रैविटेशन पावर' कहता है। अघटित घटना यह हुई कि जब छोटा-सा तृणांकुर सिर उठाकर खड़ा हो गया, तब निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकर्ष की प्रचण्ड शक्ति उसे नीचे नहीं खींच सकी। उसका सिर तभी झुका, जब उसकी प्राणशक्ति समाप्त हुई। पर, प्राणशक्ति क्या समाप्त हो गयी ? जो बात कभी नहीं हुई थी, वह यह हुई कि प्राणशक्ति ने अपने को नये-नये प्रतिरूपों में प्रकट किया। एक व्यक्ति की प्राण-शक्ति की समाप्ति स्वयं प्राणधारा की समाप्ति नहीं थी। अपने ही ढंग के अनेकानेक प्रतिरूपों को जगाकर व्यक्ति की प्राणशक्ति समाप्त हो गयी; लेकिन प्राणधारा का प्रवाह चलता रहा। न जाने कितने रूपों में उसने आत्माभिव्यक्ति की, और अन्त में वह मानव के रूप में प्रकट हुई। यहाँ आकर एक दूसरी अघटित घटना घटी। मानव-पूर्व सृष्टि में जीवतत्त्व केवल प्राणधारा की भीतरी शक्ति के बल पर आगे बढ़ता रहा; परन्तु मनुष्य में इच्छा-शक्ति पूर्णरूप से विकसित हुई। जो जैसा है, वैसा मानने को मनुष्य तैयार नहीं हुआ, उसने 'जो जैसा होना चाहिए वैसा' बनाने का संकल्प किया। इस रचना का सर्वाधिक विकसित रूप केवल आनन्द के लिए रचना था। इस प्रकार, सत्ता और चैतन्य के अनन्तर आनन्द-तत्त्व का उन्मेष हुआ। इस प्रकार, मानव-सृष्टि पूर्वतर प्राकृतिक सृष्टि से भिन्न हो गयी। प्रकृतिदत्त सौन्दर्य 'जैसा है वैसा' के अनुभव का आस्वाद है; मनुष्यकृत सौन्दर्य इस अनुभव और 'जैसा होना चाहिए वैसा'—इन दोनों से उद्‌भूत विशिष्ट आनन्द है।

कालिदास के कथन का अर्थ है कि सौन्दर्य से एक ओर संस्कारों का उद्‌बोध-ज्ञान होता है, दूसरी ओर उद्‌बोधक सामग्री की प्रतीति भी रहती है। अतएव, जिस प्रकार साधारण ज्ञान के समय हमें ज्ञान के साथ ही उसकी उद्‌बोधक सामग्री की भी जानकारी रहती है, वैसे ही सौन्दर्य-बोध के समय भी हम जानते हैं कि हमने सुन्दर वस्तु को जान लिया है।

सौन्दर्य, वस्तु की समग्रता का तत्त्व है। इसके दो मोटे रूप हम आसानी से देख सकते हैं। एक तो वह, जो हमें अभिभूत करता है, प्रभावित करता है, चालित करता है; पर इसलिए नहीं कि वह ऐसा चाहता है, हम यह भी ठीक नहीं जानते कि किसी अन्य अदृश्य शक्ति की इच्छा से वह ऐसा करता है। कोई अदृश्य शक्ति उसके द्वारा हमें चालित, प्रेरित या अभिभूत करना चाहती है, यह बात किसी भी मनुष्य की कल्पना या तर्क का विषय है। गुलाब का फूल है। वह वर्ण से, गन्ध से, रूप से हमें मोहित करता है। हम उससे अभिभूत, मोहित, चालित होते हैं, यह सत्य है। पर, कोई और उसके द्वारा या वह स्वयं अपने-आपके सौन्दर्य से ऐसा करना चाहता है, यह सन्दिग्ध है। हमें वह लाल दिखता है। 'लाल' शब्द हमारी रचना है। वह स्वयं अपने को लाल समझता है या नहीं, यह भी हमें नहीं मालूम।

मनुष्य उसे लाल देखता है। 'लाल' शब्द मनुष्य की अनुभूति और रचना-प्रक्रिया का संकेत-मात्र है। 'लाल' कहने से हम एक चाक्षुष सत्य का परिचयमात्र देते हैं। भाषा की यह सीमा है। लाल सैकड़ों चीजें होती हैं। सबको एक ही लाठी से हाँकना सम्भव भी नहीं है, उचित भी नहीं है। मनुष्य की यह महिमा है कि उसने अनुभूति को अभिव्यक्ति दी है 'लाल' शब्द के द्वारा। मनुष्य की यह सीमा है कि वह संसार के सैकड़ों 'लाल' को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। 'लाल' भी एक जाति है। यह एक सीमा है—पर मनुष्य के अद्भुत वैशिष्ट्य को व्यंजित करनेवाली सीमा। मम्मट ने जब 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' का उपसंहार करते हुए कहा था—'जात्यादिर्जातिरेव वा', तब उनका उद्देश्य सिर्फ पूर्वाचार्यों की संगति बैठाना मात्र नहीं था। वे इस सीमा की ओर भी संकेत कर रहे थे। पद-पद पर मानव-चित्त के अपार औत्सुक्य को प्रकट करनेवाली इच्छा भाषा की सीमा से टकराती है। फिर, वह उपमा का सहारा लेती है। कैसा लाल ? जैसा कि अमुक वस्तु में होता है, वैसा। उससे भी काम नहीं चलता, तो उत्प्रेक्षा का सहारा लेती है—यदि अमुक वस्तु अमुक वस्तु से युक्त होती, तो जैसा होता, वैसा। पर, काम क्या निकलता है ? मनुष्य छन्द से, वर्ण-विन्यास से, काकु से, वचनवक्रता से इस अपार इच्छा-शक्ति का समाधान करना चाहता है। इच्छा अनन्त है, क्रिया सान्त है। इच्छा नाद—'कण्टिनुअम' है; क्रिया विन्दु—'क्वैण्टम' है। इच्छा गति है, क्रिया स्थिति है; इच्छा काल है, क्रिया देश है। गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चल रहा है, इसी से रूप बनता है, इसी से छन्द बनता है, इसी से नृत्य बनता है, इसी से धर्माचरण बनता है, इसी से नैतिकता बनती है—इन सबको छापकर, सबको अभिभूत करके, सबको अन्तर्ग्रथित करके जो सामग्र्यभाव है, वह सौन्दर्य का दूसरा रूप है। एक प्राकृतिक सौन्दर्य है, दूसरा मानवीय इच्छाशक्ति का विलास है। दूसरा सौन्दर्य प्रथम द्वारा चालित होता है; पर है मनुष्य के अन्तरतर की अपार इच्छा को रूप देने का प्रयास। एक केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, दूसरा अनुभूति द्वारा अभिव्यक्त होकर अनुभूति-परम्परा का निर्माण करता है। भाषा में, धर्माचरण में, काव्य में, मूर्त्ति में, चित्र में अभिव्यक्त मानवीय शक्ति का अनुपम विलास ही वह सौन्दर्य है, जिसकी हम मीमांसा करने का संकल्प लेकर चले हैं। अन्य किसी उचित शब्द के अभाव में हम उसे लालित्य कहेंगे। लालित्य, अर्थात् प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न, किन्तु उसके समानान्तर चलनेवाला मानवरचित सौन्दर्य।

मूल बात यह है कि बाह्य जगत् की सत्ता अवश्य है और वह एक क्षण में तथ्य के द्रष्टा के चित्त में भावमूर्त्ति की रचना करती है और उसके अन्तरतर की वासना को उद्बुद्ध करती है, उसकी किसी अबोधपूर्वा स्मृति को क्रियाशील बनाती है। रवीन्द्रनाथ ने कहा था कि 'हे नारी, तुम केवल विधाता की सृष्टि नहीं हो, पुरुष ने अपने अन्तर के सौन्दर्य को संचित करके तुम्हें गढ़ा है। वहीं से सोने के उपमा-सूत्र लेकर कवियों ने तुम्हारे लिए वस्त्र बुना है। शिल्पी ने तुम्हें नयी महिमा देकर तुम्हारी प्रतिमा को अमर बनाया है। तुम्हारे ऊपर प्रदीप्त वासना (की दृष्टि)

पड़ी है। तुम आधी मानवी हो, आधी कल्पना हो'—

केवल विधाता की बनायी सृष्टि तुम हो नहीं नारी !
पुरुष ने तुमको गढ़ा है गहन अन्तरतर जनित सौन्दर्य के संचार से निज,
हृदय-गह्वर बीच बैठ अनेक कवियों ने सुनहले सूत्र उपमा-रूपकों के गढ़
सँवारे हैं मनोरम वसन इस मनमोहिनी छवि के लिए,
दे-दे नवीन, अपार महिमा शिल्पियों ने रची है प्रतिमा तुम्हारी,
अमर कर दी है इसे···
तुम पर न जाने पड़े हैं कितने मधुर दृक्पात कोमल वासना के;
तुम कि आधी मानवी हो और आधी कल्पना की सृष्टि।[1]

इस कविता में स्वीकार किया गया है कि काव्यार्थ बहिर्जगत् से एकदम असम्पृक्त नहीं है, यद्यपि वह हू-ब-हू वही नहीं है जो मनुष्य कवि के रूप में, शिल्पी के रूप में, नवीन रूप में, नवीन वेश में गढ़ता है। कवि द्वारा निर्मित यही नयी मूर्त्ति नये सिरे से सहृदय पाठक या द्रष्टा के चित्त की वासनाओं के मिश्रण से नया रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार, तथ्य की प्राकृतिक या निसर्ग-सिद्ध सत्ता की जो तरंग कवि-चित्त में वासना उत्पन्न करती है, वह दूसरी बार नवीन रूप ग्रहण करके पाठक के चित्त को हिल्लोलित करती है। रवीन्द्रनाथ यह भी बताते हैं कि उपमा, रूपक आदि अलंकार कवि के अन्तरतर से ही उत्थित होते हैं। ये भी वासना की ही देन हैं। कुछ भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने जो अलंकारों को कटक, कुण्डल आदि के समान बाहर से आरोपित बताया है, यह मानो उनका प्रतिवाद है। अलंकार वस्तुतः बहिर्निवेश्य नहीं हैं, कवि के अन्तरतर से ही उत्थित होते हैं। कालिदास की उपमाएँ इसकी साक्षी हैं।

भाषा सब समय इस भावमूर्त्ति को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होती। इसी सामर्थ्य के अन्तराल को कवि उपमा, रूपक आदि अलंकारों से भरता है। सब समय ये भी काम नहीं करते। कवि 'मानो ऐसा, मानो वैसा' कहकर चित्रों-पर-चित्र बनाता जाता है। जो सामने उपस्थित है, प्रस्तुत है, उसे उन स्मृति-चित्रों से, जो प्रस्तुत नहीं हैं, भरता रहता है। इस अप्रस्तुत-योजना को वह मिथक-तत्त्व से पूरित करता है; 'जो नहीं है', उसके द्वारा 'जो है', उसे बताने का प्रयत्न करता है। भाषा की यह चित्र-निर्माण-शक्ति वस्तुतः मिथक-कल्पनाओं से बनती

1. शुधु विधातार सृष्टि नहे तुमि नारी,
पुरुष गड़ेछे तोरे सौन्दर्य संचारि
आपन अन्तर हते। बसि कवि गण
सँपिया तोमार 'परे नूतन महिमा
अमर करेछे शिल्पी तोमार प्रतिमा
पड़े छे तोमार 'परे प्रदीप्त वासना
अर्धेक मानवी तुमि अर्धेक कल्पना।

है। लेकिन, उपमा और रूपक क्षण-चित्रों के सहारे उन सारी बातों को कहने में असमर्थ होते हैं। भाषा का चित्र-धर्म अलंकारों में व्यक्त होता है—अर्थालंकारों में। परन्तु, उसमें गति ले आने का कार्य संगीत करता है, जो छंद से, पद-गुम्फन से, यमक से, अनुप्रास से चित्र को गतिमय बनाता है। ये दोनों तत्त्व अर्थ में गरिमा भरते हैं, गति देते हैं, उपभोग्यता और अर्थ में यथार्थता लाते हैं। इन्हीं के द्वारा साधारण प्रत्यय यथार्थ' बनता है। अर्थ-तत्त्व और संगीत-तत्त्व का पूर्ण सामञ्जस्य ही यथार्थ है।

योगी कहता है कि यह समूचा चराचर जगत् अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल में शब्द है। ठीक है। पर, अर्थ क्या केवल अर्थ है ? वह अपने-आपमें क्या कोई भाषा नहीं है ? यह जो प्रातःकाल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती हैं, चन्द्रकिरणें शाम को रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती हैं, ये क्या केवल अर्थ हैं ? ये क्या कुछ कह नहीं जातीं ? किसके लिए यह आयोजन है ? इतना रंग, इतना राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता जो जगत् में प्रतिक्षण उद्भासित हो रही है, वह क्या निरर्थक अर्थमात्र है ? बीज जब अंकुर-रूप में फटता है, तब क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलता रहता ? रात को आसमान में जो इतनी लालटेनें निकल पड़ती हैं, वे क्या निरर्थक हैं ? किसी को खोजने की व्याकुल वेदना क्या उनमें नहीं सुनायी पड़ती ? कवि जो भाषा सुना करता है, वह क्या केवल पागलपन का विकल्पमात्र है ? जो लोग अपने को विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान के अधिकारी घोषित करते हैं, वे क्या सबका ठीक-ठीक मतलब समझा सकते हैं ? कौन बतायेगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से, चित्त में पर्यत्सुकीभाव क्यों आ जाता है ? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा हैं, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत् जो इतना रागमय है, छन्दोमय है, वर्णमय है, वह 'व्यर्थ', अर्थात् अर्थशून्य, निरर्थक नहीं। इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है।

योगी नहीं बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति इतना व्याकुल कम्पन उठा करता है, वह पराशक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। गहराई में कहीं कुछ छूट गया है, हठयोग और नादयोग उसे नहीं बता पाते। कहीं-न-कहीं अनुराग-योग का भी व्याकुल कम्पन और आत्म-निवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विकसित हो रहा है। उसी छूटे हुए तत्त्व का सन्धान शिल्पी करता है। वह अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति ही यथार्थ है और अनुभूति ही सत्य है। कालिदास ने उसी छूटे हुए तत्व को खोजने का प्रयास किया है—'तच्चेतसा स्मरति नूनमभूतपूर्वम्' !

संस्कृतिमुखी प्रकृति

कालिदास ने प्रकृति को तटस्थ की भाँति नहीं देखा। वह अलंकरण का या मनुष्य को भाव-विह्वल करनेवाले आलम्बन का ही काम नहीं करती। वह एक जीवन्त संगिनी है। उसे हटा दिया जाये तो मनुष्य का भाव-जगत् मरुकान्तार के समान सूना और नीरस हो उठेगा। 'शाकुन्तल' में तो वह शकुन्तला की भाँति ही एक जीवन्त पात्र है। वह पात्रों के सुख-दुःख में हाथ बँटाती है, उसके सीमित प्रयत्नों को सीमाहीन उद्देश्य देती है।

"कहा जाता है कि 'ऋतुसंहार' कालिदास की आरम्भिक रचना है। उसमें जो तरुण-तरुणियों का मिलन-संगीत है वह वासना के निम्न सप्तक से शुरू होता है, लेकिन 'शाकुन्तल' और 'कुमारसम्भव' के समान तपस्या के तारसप्तक तक नहीं पहुँचता। फिर भी कवि ने नवयौवन की लालसा को प्रकृति के विचित्र और विराट् संगीत के साथ मिलाकर उसे उपयुक्त आकाश में झंकृत किया है। ग्रीष्म की धारायन्त्र-मुखरित सन्ध्या में चन्द्रकिरण अपना स्वर मिलाती है। वर्षाऋतु में, नव जल-सिंचित वन न्त में, हवा में झूमती हुई कदम्बशाखाएँ भी इसी छन्द से आन्दोलित हैं। इसी ताल पर शरद्-लक्ष्मी अपने हंस-रुत-नूपुर की ध्वनि को मन्द्रित करती है, वसन्त के दक्षिण समीरण से चंचल कुसुमों से लदी हुई आम्रशाखाओं का कल मर्मर इसी की तान-तान में प्रसारित होता है।" (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

हमने ऊपर दिखाया है कि किस प्रकार कालिदास तपस्या और प्रेम के सामंजस्य में विश्वास करते हैं। वस्तुतः 'शाकुन्तल' और 'कुमारसम्भव' दोनों में ही मूल वक्तव्य एक है--प्रेम और तपस्या का सामंजस्य। कालिदास ने दोनों ही स्थलों पर दिखाया है कि शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न प्रेम स्थिर नहीं होता, वह एक ही झटके में समाप्त हो जाता है। तपस्या की अग्नि में तपकर ही रूप का सोना निखरता है। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में अकाल वसन्त के आविर्भाव का बड़ा ही मनोरम चित्र खींचा है। मोहजन्य प्रेम के अधिदेवता कामदेव के इशारे पर उसका सखा वसन्त आविर्भूत हुआ और सारी वनस्थली में प्रेम का उन्माद छा गया। अशोक कन्धे पर से फूट पड़ा, आम का वृक्ष अकारण ही किसलय और मंजरियों से भर गया। कर्णिकार अपने पीले फूलों की समृद्धि से जगमगा उठा। लाल फूलों से पलास की शाखाएँ झूम उठीं। तिलक-फूलों पर भ्रमरावली गुन्जार करने लगी। प्रियाल के फूलों से पराग उड़-उड़कर हरिणों की मनोहर आँखों में गिरने लगे और उन्मत्त मृग वनभूमि के पत्तों पर मर्मर ध्वनि करते हुए इधर से उधर भागने लगे। आम की मंजरियों के आस्वादन से पुरुष-कोकिल का कण्ठ निखर गया और वह उन्मत्त भाव से कूजने लगा। अचानक सर्दी के खत्म होने से और गर्मी के आ जाने से किन्नर वधुओं के मुख पर शोभित होनेवाले पत्र-विशेष—पत्रच्छेद्य --पसीना आ जाने से छूटने लगे। तपस्वियों के मन में भी विकार

पैदा होने लगे और बड़ी कठिनाई से वे रोकने में समर्थ हुए। ज्यों ही फूलों का धनुष ताने मदन देवता रति को साथ लेकर वनस्थली में पधारे, त्यों ही वहाँ के सभी जन्तुओं में रमणेच्छा की प्रबल प्रेरणा दिखायी पड़ी। भ्रमर अपनी प्यारी भ्रमरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा, कृष्णसार मृग अपनी सींगों के स्पर्शजन्य आनन्द से मीलितनयना मृगी को खुजलाने लगा, करेणुबाला अपने प्रियतम गजराज को बड़े प्रेम से कमल की सुगन्धि से भीना गण्डूष जल पिलाने लगी, आधे खाये हुए मृणालनाल को चक्रवाल ने भी प्रिया चक्रवाकी को समर्पित किया, गान गाते-गाते बीच ही में किन्नर युवा ने पुष्पासव से घूर्णित नेत्रोंवाली प्रिया का मुँह चूम लिया, और, और तो और, वृक्षों ने भी अपनी लतावधुओं को आलिङ्गनपाश में बाँध लिया। समूची वनस्थली अनुराग चंचल हो उठी, शिव के गुणों के चित्त में भी विक्षोभ हुआ, परन्तु गुहाद्वार पर बैठे हुए नन्दी ने मुँह पर अंगुली रखकर इशारे से उन्हें शान्त रहने का आदेश दिया। नन्दी के इशारे से वनस्थली एकाएक ठिठक गयी, वृक्षों ने हिलना बन्द कर दिया, भँवरों ने गूँजना छोड़ दिया, पक्षियों का यह चहकना रुक गया, जंगली जीवों की धमाचौकड़ी शान्त हो गयी, नन्दी के इशारे से सारा वन ऐसा लगने लगा जैसे किसी काम के शुरू करने के समय एकाएक चित्र बना दिया गया हो। धीरे-धीरे काम-देवता ने शिव की नज़र बचाकर आश्रम के कोने में लगे हुए नमेरु वृक्ष की पत्रकाच्छादित शाखा पर अपना आसन जमाया। उसने देवदारुद्रुम की वेदी पर, जो व्याघ्रचर्म से आच्छादित थी, समाधिनिष्ठ शिव को देखा! कैसा देखा—

बैठे संयमी त्रिलोचन शिव,
पर्यङ्कबन्ध-स्थिर पूर्वकाय, ऋजु आयत झुके विशालकन्ध,
उत्फुल्ल कमल-से लाल-लाल
उत्तत करतल रख अंक मध्य,
उद्धत भुजंगवृत्त—जटाजूट,
कर्णावसक्त रुद्राक्ष सूत्र, द्विगुणित अटूट,
कण्ठद्युति से नीलातिनील
मृगचर्म वर्म-सा कस अढोल,
लोचन उनके भ्रू भंग-विरत,
किञ्चित् प्रकाश से स्तिमित-उग्रतारक, अडोल,
अस्पन्दित पक्ष्म-अराल-जाल,
नतनिम्न-प्रान्त नासाग्रबद्ध,
अन्तश्चारी चंचल प्राणानिल के
निरोध से स्थिर नितान्त
घनघुम्मर वृष्टि-पूर्व अम्बुद
या निस्तरंग निस्पन्द जलाशय
या कि निवात-निकम्पित दीपशिखा-से अचल-शान्त।

इस समूचे चित्र में असंयत कामचेतना की पृष्ठभूमि में निवात-निष्कम्प दीप-शिखा के समान स्थिर संयमी शिव का प्रशान्त रूप चित्रित किया गया है। असंयत प्रकृति का नाम ही विकृति है और संयत प्रकृति का नाम संस्कृति। विकृत काम-चेतना के कारण पूरी वनस्थली मोह से उद्भ्रान्त हो उठी थी। लेकिन संयत संस्कृति के द्वारपाल नन्दी के एक इंगित से वह ठिठककर खड़ी हो गयी। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा था, "कालिदास ने पुष्प-धनु की प्रत्यंचा ध्वनि को विश्वसंगीत के स्वर से विच्छिन्न नहीं होने दिया।"

शिव के शान्त-निस्पन्द रूप को देखकर काम-देवता धीरज खो बैठा। उसके हाथ से फूलों का धनुष गिरने को आया। इसी समय उद्दाम प्रकृति की असंयत पृष्ठभूमि में पार्वती का आविर्भाव हुआ। कैसी थीं पार्वती—

वन देवियों के साथ,
स्थावर-राज-कन्या-पार्वती दिख गयीं
अपनी मोहिनी तनु-लता के सौन्दर्य-गुण से
पुष्पधन्वा के बुझे बल को जगातीं-सी;
सजीं मणि-पद्मराग-जयी विशोक अशोक कुसुमों से,
सुवर्णद्युतिहरणकारी मनोहर कर्णिकार प्रसून-दल से,
सित-धवल मुक्ता-कलाप-समान सुन्दर सिन्दुवारों से,
वसन्त-विकासि-पुष्पाभरण से जगमग।
नवल प्रत्यूष के रवि की अरुणिमा से रँगी-सी चूनरी धारे,
अवनमित तनिक वक्षोभार से; ऐसी लगीं
मानो चली हो आ रही संचारिणी-सी एक पल्लविनी लता,
पर्याप्त पुण्यस्तवक-भार-विनम्र।
कटि-देश में विस्रस्त मौलसिरी सुमन की करधनी
सुकुमार भंगी में बँधी ऐसी दिखी
मानो कि उचित स्थान के मर्मज्ञ
मदन महीप ने
अपने कुसुम के धनुष की यह दूसरी मौर्वी
वहाँ विन्यस्त कर दी हो,
—कि यह सुकुमार केसरदाम-काञ्ची
बार-बार सरक रही थी,
और थीं उसको सम्हाले जा रहीं गिरिराजकन्या
किसलयों से भी मृदुल कर से।
सरस-निश्वास-सुरभित गन्ध से आकृष्ट
लोभी भ्रमर
उनके बिम्ब फल-से लाल अधरों के निकट मँडरा रहा था,
और भय से
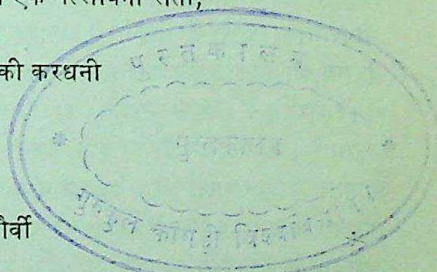
भ्रमित-चंचल हो उठी थी चकित चितवन लोल;
वारण कर रही थीं उसे
कर-पल्लव-लसित
सुकुमार लीला-कमल से
अनवरत बारम्बार।

पार्वती का यह निसर्ग-ललित रूप है। कालिदास ने यहाँ पर उदात्त की पृष्ठ-भूमि में ललित का मोहन रूप उपस्थित किया है। पार्वती की यह शोभा नैसर्गिक थी। हारते हुए कामदेव को एक और सहारा मिला। पार्वती के रूप का सहारा लेकर कामदेवता ने अपना फूलों का बाण सम्हाला, ध्यानावस्थित धूर्जटि के हृदय को लक्ष्य करके वह दुरन्त सम्मोहन-शायक फूलों के धनुष से छूटा, क्षण-भर के लिए शिव का हृदय चंचल हो उठा। कभी मर्यादा से विचलित न होनेवाला समुद्र जिस प्रकार चन्द्रोदय के समय चंचल हो उठता है, उसी प्रकार महादेव का अक्षोभ्य हृदय पार्वती के चन्द्रमुख को देखकर क्षण-भर के लिए उच्छ्वसित हो उठा। लेकिन यह स्थिति देर तक नहीं रही। देवता लोग आसमान से शिव के क्रोध-संवरण के लिए कातर प्रार्थना करने लगे, परन्तु जब तक उनकी वाणी वायुमण्डल भेद करने में समर्थ हुई, उसके पूर्व ही समाधिनिष्ठ महादेव की नयनाग्नि से काम-देवता कबूतर के समान कर्बुर रंग के भस्म में परिणत हो गया। पार्वती ने अपने शरीर के निसर्ग-ललित रूप को व्यर्थ समझा और तपस्या की तैयारी में लग गयी। अकाल वसन्त के समूचे आडम्बर को क्षण-भर में भस्म करके कालिदास पार्वती की तपस्या का वर्णन करने में जुट गये। तपस्या प्रकृति का संस्कार है। विकृति को बरबाद करके कालिदास ने संस्कृति का प्रासाद खड़ा किया है। दुरन्त भोगलालसा जीवन की विकृति है, तपःपूत प्रेमयाचना जीवन की संस्कृति है। एकान्त वैराग्य भी एकान्त प्रेम के समान निष्फल है। फल देनेवाला प्रेम केवल तपोवन में ही सम्भव है। 'कुमारसम्भव' का पाँचवाँ सर्ग उसी तपोवन की झाँकी उपस्थित करता है। वह जितना ही शान्त है, उतना ही मनोरम। तपोवन कालिदास की कविता का प्रेरणास्रोत है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' तपोवन से आरम्भ होता है और तपोवन में समाप्त होता है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के तपोवनों के विषय में कहा है :

" 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में जो दो तपोवन हैं उन्होंने शकुन्तला के सुख-दुःख को विशालता और सम्पूर्णता दी है। उनमें से एक तपोवन पृथ्वी पर है, और दूसरा स्वर्ग-लोक की सीमा पर। एक तपोवन में नवयौवना ऋषिकन्याएँ सहकार-वृक्ष और नवमल्लिका लता के मिलनोत्सव से पुलकित होती हैं, मातृहीन मृग-शिशुओं को मूठ-मूठ धान खिलाकर उनका पालन करती हैं, और काँटों से उनका मुँह कट जाने पर इंगुदी का तेल लगाकर शुश्रूषा करती हैं। इस तपोवन में दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम को सरलता, सौन्दर्य और स्वाभाविकता प्रदान करके कवि ने उस प्रेम का स्वर विश्व-संगीत के साथ मिला दिया है।

और अब दूसरा तपोवन देखिए, सन्ध्या के मेघ की तरह किंपुरुष पर्वत पर हेमकूट है, जहाँ देवता-दानवों के गुरु मरीचि, अपनी पत्नी के साथ तपस्या कर रहे हैं। लता-जाल-जड़ित वह पक्षी-नीड़ों से शोभित अरण्य जटाओं को वहन करता है, योगासन में अचल शिव जैसे पूर्व की ओर देखते हुए ध्यान-मग्न हैं। उपद्रवी तपस्वी बालक सिंह-शिशु के बाल खींचता है और उसे माता के स्तन से अलग करता है। पशु का यह दुःख ऋषि-पत्नी के लिए असह्य हो जाता है। इस तपोवन में शकुन्तला के अपमान और विरह-दुःख को कवि ने एक महान् शान्ति और पवित्रता प्रदान की है।

यह मानना होगा कि पहला तपोवन मर्त्यलोक का है और दूसरा अमृतलोक का। अर्थात्, पहला वह है जैसा 'होता है'। दूसरा वह है जैसा 'होना चाहिए'। इसी 'होना चाहिए' का अनुसरण 'होता है' करता रहता है। इसी दिशा में चलकर वह अपने-आपको संशोधित करता है, पूर्ण करता है। 'होता है' ही सती है, अर्थात् सत्य है, और 'होना चाहिए' शिव है अर्थात् मंगल है। कामना का क्षय करके तपस्या के बीच सती और शिव का मिलन होता है। शकुन्तला के जीवन में भी 'होता है' तपस्या द्वारा 'होना चाहिए' तक पहुँचता है। दुःख के भीतर होकर मर्त्य अन्त में स्वर्ग की सीमा तक पहुँचता है।

यह जो दूसरा काल्पनिक तपोवन है वह भी मनुष्य की प्रकृति का त्याग करके स्वतन्त्र नहीं हुआ है। स्वर्ग जाते समय युधिष्ठिर अपने श्वान को साथ ले गये थे। प्राचीन भारतीय काव्य में मनुष्य प्रकृति को साथ लेकर स्वर्ग पहुँचता है, प्रकृति से विच्छिन्न होकर अपने-आप बड़ा नहीं बन जाता। मरीचि के तपोवन में मनुष्य की तरह हेमकूट भी तपस्वी है, वहाँ सिंह भी हिंसा त्याग करता है, पेड़-पौधे भी इच्छापूर्वक प्रार्थियों की कमी पूरा करते हैं। मनुष्य अकेला नहीं है, निखिल चराचर को साथ लेकर ही सम्पूर्ण है। इसीलिए कल्याण का आविर्भाव तभी होता है जब सबका परस्पर सहयोग हो।

कालिदास ने मनुष्य की परिपूर्णता प्रकृति के साहचर्य में ही देखी है। जहाँ मनुष्य सहजात वृत्तियों के इशारे पर आँख मूँदकर आगे बढ़ने लगता है, वहाँ विनाश को निमन्त्रण देता है; परन्तु जहाँ वह तपस्या से अपने को ऐसा बना लेता है कि विश्व-चराचर की प्रकृति उसके इशारे पर चलने लगती है तब वह अमृतत्व को निमन्त्रण देता है। कालिदास ने तपोवनों में प्रकृति के इंगितानुयायी रूप का साक्षात्कार किया है। यहाँ प्रकृति तपस्या द्वारा संस्कृत चित्त की अनुवर्त्तिनी है। कालिदास ने बार-बार प्रकृति के इस रूप को चित्रित किया है। उनके सभी ग्रन्थों में प्रकृति का यह संयत-मोहन रूप अवश्य मिल जाता है।

अलकरण

कालिदास ने अपने ग्रन्थ में भूषण, आभरण, मण्डन आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः समानार्थक रूप में किया है। जब शकुन्तला पतिगृह को जाने लगी तो कण्व ने आश्रम के वृक्षों और लताओं को सम्बोधन करते हुए कहा था कि, "शकुन्तला पतिगृह को जा रही है, आप सब लोग उसे अनुज्ञा दें। यह वही शकुन्तला है जो आपको जल पिलाये बिना कभी स्वयं जल नहीं पीती थी और आपके प्रथम पुष्पोद्गम के समय उत्सव रचाया करती थी। यद्यपि वह प्रिय-मण्डना है अर्थात् उसे मण्डन या अलंकार बहुत पसन्द हैं, तो भी तुम्हारे ऊपर उसका ऐसा स्नेह था कि अपने शरीर को सजाने के लिए उसने कभी तुम्हारा पल्लव नहीं तोड़ा!"
('शाकुन्तल', 4-9)

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमंडनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ — 'शाकुन्तल', 4-9

यहाँ वृक्षों के पल्लवों को मण्डन द्रव्य समझा गया है। इसी प्रकार वल्कल को भी मण्डन कहा गया है। शकुन्तला ने वल्कल धारण किया था, फिर भी वह बहुत कमनीय दिखायी दे रही थी। दुष्यन्त ने कहा था कि मधुर आकृतियों के लिए कौन-सी वस्तु मण्डन नहीं हो जाती :

इयमधिकमनोज्ञावल्कलेनापि तन्वी।
किमिवहि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्॥—'शाकुन्तल', 1-19

यहाँ वल्कल ही मण्डन है। 'कुमारसम्भव' में अप्सराओं के विभ्रमविलास के सहायक रूप में उन द्रव्यों को भी मण्डन कहा गया है जो अङ्गराग और उपलेपन आदि के उपकरण हैं। हिमालय को इन मण्डनद्रव्यों का भाण्डार बताया गया है।
(कुमार., 1-4)

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्विभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम्॥—कुमार., 1-4

ये सभी प्राकृतिक द्रव्य हैं; पल्लव भी, वल्कल भी और हिंगुल, हिंताल, लाक्षारस, गेरू आदि अङ्गराग के उपकरण भी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य-प्रसाधनों को मण्डन कहा गया है। परन्तु कालिदास ने प्राकृतिक द्रव्यों को 'आभरण' भी कहा है। चित्रविचित्र वस्त्रों, नयनों में विभ्रम-विलास उत्पन्न करनेवाली मदिरा के साथ पुष्प और किसलय को भी आभरण बताया गया है और उस लाक्षारस और महावर को भी, जो लाल-लाल चरणों को और भी अधिक लाल बना देता था। जब शकुन्तला पतिगृह जाने लगी, तो किसी-किसी वृक्ष ने मंगलजनक क्षौम रेशमी वस्त्र दिया था, किसी ने लाक्षारस दिया था और

कुछ देवियों ने दूसरे आभरण दिये थे ('शाकुन्तल', 4-5)। यही जान पड़ता है कि आभरण मांगल्य वस्त्र और लाक्षारस से कुछ भिन्न वस्तु है। 'कुमारसम्भव' में बताया गया है कि पार्वती ने वसन्त-पुष्पों का आभरण धारण किया था। इस वसन्त-पुष्प के आभरण में पद्मरागमणियों को लज्जित करनेवाले अशोकपुष्प, सोने की द्युति को हरण करनेवाले कर्णिकार पुष्प और स्वच्छ मोतियों की माला-से लगनेवाले सिन्दुवार पुष्पों की चर्चा है। इस प्रकार प्राकृतिक मण्डन द्रव्य भी आभरण कहे गये हैं :

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥ —कुमार., 3-53

'ऋतुसंहार' में एक स्थान पर 'माल्य' और 'अनुलेपन' शब्द के साथ 'आभरण' शब्द का भी प्रयोग है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि 'आभरण' माल्य और अनुलेपन से भिन्न वस्तु है। वर्षाकाल के वर्णन में कवि ने कहा है कि परदेसी लोगों की स्त्रियाँ अपने बिम्बाफल-जैसे लाल और नवीन पल्लवों के समान मनोहर अधरों को नीलकमल-जैसी आँखों से सींचती हुई माल्य, आभरण और अनुलेपन को छोड़ बैठीं :

विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः।
निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदाः प्रवासिनाम्॥
—ऋतु., 2-12

ऐसा लगता है कि यहाँ 'आभरण' विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु, साधारणतः 'आभरण' और 'मण्डन' शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के अर्थ में किया गया जान पड़ता है। 'मण्डन' का प्रयोग प्राकृतिक उपादान, जैसे पुष्प, पल्लव, वल्कल, मृणालवलय; और अंगराग, जैसे चन्दन, कुंकुम, गोरोचना, कस्तूरी, अलक्तक आदि के लिए किया गया है; तथा आभरण का प्रयोग दोनों के लिए किया गया है। 'कुमारसम्भव' में एक स्थान पर कहा गया है कि विवाह के समय पार्वती को जब 'आभरण' पहनाया गया तो वह उसी प्रकार खिल उठीं जैसे फूलों के आने पर लताएँ, तारों के निकलने पर रात्रि और रंगबिरंगे पक्षियों के आने से नदी खिल उठती है :

सा संभवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे॥ —कुमार., 7-21

यहाँ पार्वती के जिन आभरणों की चर्चा की गयी है, उसमें दूर्वाप्रवाल, कौशेयवस्त्र, लोध्ररेणु, दूब में पिरोये हुए महुए के फूलों की माला, अगुरु का अंगराग, लाल गोरोचना, कानों पर झूलनेवाले यवांकुर, काजल आदि वस्तुओं की चर्चा है। कालिदास के ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि उन दिनों अनेक प्रकार के मण्डन-द्रव्यों से शरीर की शोभा को निखार देनेवाली प्रसाधिकाएँ हुआ करती थीं, जो कदाचित् पेशेवर होती थीं। पार्वतीजी की आँखें पहले से ही नील-कमल के समान काली-काली थीं, उनमें कालाञ्जन या काजल लगाना जरूरी

नहीं था, फिर भी प्रसाधिकाओं ने यह समझकर काजल लगा ही दिया कि वैसा करना मंगलजनक है :

तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य ।
न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्धया कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ।।
—कुमार. 7-20

अज की बारात देखने के लिए विदर्भ की सुन्दरियों में जो हड़बड़ी मची, तो एक स्त्री अपनी प्रसाधिका से पैरों में महावर लगवा रही थी । जल्दी-जल्दी में उसने पैर खींच लिया और झरोखे की ओर दौड़ पड़ी। नतीजा यह हुआ कि झरोखे तक लाल पैरों की पंक्ति-सी बन गयी :

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ।।—रघु., 7-7

यहाँ भी प्रसाधिका की चर्चा है। 'रघुवंश' के सत्रहवें सर्ग (17-22) में पुरुष-प्रसाधकों की भी चर्चा आयी है। अन्यत्र भी कालिदास ने प्रसाधन-कला की चर्चा की है।

लेकिन भूषण, आभूषण और अलंकार आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः सुवर्ण, रत्न या मणि आदि से बने हुए अलंकारों के लिए किया गया है। कालिदास ने इन अलंकारों का वर्णन बड़े प्रेम से किया है।

सहज शोभा को निखारनेवाले अलंकरण और प्रसाधन ही कालिदास को प्रिय हैं। प्राचीन भारत में (1) रत्न, (2) हेम, (3) वस्त्र, (4) माल्य, (5) मण्डन, (6) द्रव्ययोजन, और (7) इनके मिलित रूप—इन सात श्रेणियों के अलंकारों की चर्चा की गयी है ('सहृदय-हृदय लीला')। कालिदास मूल्यवान मणियों और सोने के अलंकारों की उपेक्षा तो नहीं करते, किन्तु मोटे, भद्दे और केवल तड़क-भड़क के लिए पहने जानेवाले अलंकारों को निश्चित रूप से पसन्द नहीं करते। पुष्प, किसलय, मृणालसूत्र, लाक्षारस, परागचूर्ण, यवांकुर आदि को उन्होंने बहुमान दिया है। प्रकृति से गृहीत विभिन्न रंगों के पुष्प-पल्लव आदि आभरणों का प्रयोग रूप निखारने में उन्हें अधिक सहायक जान पड़ा है। जहाँ अलंकार ही प्रधान हो जाय और अलंकार्य उसके बोझ से दब जाय, वहाँ उनका मन नहीं रमता। अलंकार शोभा को निखारने के साधन हैं। वे स्वयं अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं होते। जो बात सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि शरीर की शोभा को निखारनेवाले आभूषणों के प्रसंग में उनकी दृष्टि सदा रंगों के सामञ्जस्य-विधान पर रही है। काले केशों की जूड़ा या धम्मिल को बाँधने के लिए सफेद मालतीपुष्पों की माला का व्यवहार उन्हें रुचिकर जान पड़ता है। पर यही काले केश जब गोरे-गोरे कपोलों के पास झूलते हों तो फिर लाल-लाल अशोक फूलों की योजना उन्हें अधिक भाती है ('चलेषुनीलेष्वलकेषु अशोकः')। यहाँ गोरे कपोलों के ऊपर चंचल काले केश में लटकते हुए अशोक के फूल की योजना है, जो नील अलकों की गति और गोरे कपोलों की स्थिति के

भीतर सेतु-निर्माण का काम करता है। अगर केश बँधे हों, तो आगण्डविलम्बि-केशर, शिरीषपुष्प अपनी हरी और सुनहरी आभा के कारण अधिक रुचिकर दीखते हैं। कभी-कभी कानों में नवीन कर्णिकार के सुनहरे फूलों की योजना की गयी है। केवल रंग ही नहीं, आकृति, स्पर्श, गन्ध और स्थापन-भंगिमा भी एक-दूसरे के साथ सामंजस्य-विधान में रखे गये हैं। परन्तु यह समझना बड़ी भारी भूल होगी कि केवल बाह्य पदार्थ को ही चित्रित करने में कालिदास श्रम करते हैं। उनके काव्य के प्रसाधन-विधान को केवल अर्थ की दृष्टि से देखने से उसकी शोभा बहुत कम हो जाती है। वस्तुतः शब्दावली और छन्दोविधान से वे अर्थगत शोभा को अत्यधिक शक्तिशाली और आकर्षक बना देते हैं। शकुन्तला के वक्षस्थल पर शोभनेवाले मृणालसूत्रों का सौन्दर्य आधे से कम हो जायेगा यदि उसे कालिदास के शब्दों में उसी छन्दोभंगिमा के साथ न कहा जाये। इन मृणालसूत्रों को उन्होंने 'शरत्चन्द्रमरीचिकोमलम्' कहा है, अर्थात् ये मृणालसूत्र शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान कोमल थे। थे कि नहीं, यह तो कहना बड़ा कठिन है, किन्तु कालिदास की शब्दावली ने ऐसा मोहक वातावरण उत्पन्न किया है कि आगण्ड-विलम्बिकेशर, शिरीषपुष्प और शरत्चन्द्रमरीचिकोमल मृणालसूत्र अपने अर्थ से कहीं अधिक की सूचना दे जाते हैं।

आभूषणों में सोने का प्रयोग सबसे अधिक होता है। मणि-मुक्ता आदि सोने का आश्रय लेकर ही अलंकरण बन सकते हैं। सबसे मुख्य रत्न हीरा है। कालिदास इसकी महिमा जानते हैं, परन्तु उसका वर्णन कम ही करते हैं। राजाओं के किरीट में या अंगद आदि आभूषणों में वह जगमगाता जरूर बताया गया है। वस्तुतः यह समृद्धि और प्रभुता का ही सूचक है। परन्तु कालिदास का अधिक प्रिय रत्न है मुक्ता या मोती। सुन्दरियों के उभरे हुए वक्षस्थलों पर कम्पमान मुक्तादाम उन्हें बहुत प्रिय जान पड़ता है। सौन्दर्य के मोहक लोक के निर्माण में हेमसूत्रों में ग्रथित मोतियों की माला उन्हें बहुत उपयोगी जान पड़ी है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को देखने से पता चलता है कि मोतियों के अनेक प्रकार के आभरण बनते थे। इन्द्रच्छद में 1008, विजयच्छद में 504, देवच्छद में 100, अर्धार में 64, रश्मिकलाप में 54, गुच्छक में 32, नक्षत्रमाल में 27, अर्धगुच्छक में 24, माणवक में 20 और अर्ध-माणवक में 10 मोती हुआ करते थे। जो केवल समृद्धि के विज्ञापनमात्र हों, उन पर उनकी सुरुचिपूर्ण दृष्टि टिक भी कैसे सकती थी? वे सूत्र में पिरोये हुए हारों की चर्चा करते हैं या फिर मणिमुक्ता की हारयष्टि या चित्रकारों की शोभा पर प्रसन्न होते हैं या फिर मणिमुक्ता की माला रत्नावली पर मुग्ध होते हैं। कालिदास को पतली या हिलती रहनेवाली यष्टि (लड़ी) अधिक पसन्द है; इतनी चंचल कि वक्षस्थल के चन्दन को पोंछ डालती हो—'विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्' (कुमार., 5-8)। अनुमान किया जा सकता है कि कलाप, नक्षत्रमालिका, और गुच्छक जैसे हारों में उनकी अधिक रुचि होगी। 'कुमारसम्भव' में सिन्दुवार पुष्पों की माला को मुक्ताकलाप के समान बताया भी गया है। यह अपने हल्केपन के

कारण सदा हिलते रहते होंगे और कालिदास की अलंकार-योजना में चंचलता का गुण अवश्य होना चाहिए।

मणियों में लाल-लाल पद्मराग मणि उन्हें बहुत प्रिय जान पड़ती है। फिर तृणांकुर के समान वैदूर्य, नीले रंग का इन्द्रनील, हरे रंग की मरकत मणि, सुन्दरियों के अधरों से स्पर्धा करनेवाले विद्रुम, सूर्य की किरणों से समृद्ध पुष्पराग मणि, लाल मूँगे या प्रवाल, स्वच्छ स्फटिक, सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त मणियों की चर्चा वे प्राय: करते हैं। कालिदास इन मणियों की तुलना प्राकृतिक पदार्थों से और प्राकृतिक पदार्थों की तुलना इन मणियों से प्रायः किया करते हैं। वैसे तो शास्त्र-कार प्रशस्त मणियों के अनेक गुण बताते हैं, उदाहरणार्थ उनका सुवृत्त या गोल होना, तीव्र रंग का होना, निर्मल, स्निग्ध और भारी होना यथा अर्चिष्मान् (किरण युक्त), अन्तर्गत-प्रभ (भीतर प्रभावाली), और प्रभानुलेपी (दूसरे को चमकाने-वाली) होना अच्छा माना जाता था; पर कालिदास अन्तिम तीन गुणों की ही चर्चा अधिक करते हैं।

कालिदास का प्रिय धातु हेम या सोना है। इसके कई नाम उनके ग्रन्थों में आये हैं। हेम, सुवर्ण, कनक, शातकुम्भ, जातरूप, स्वर्ण, हिरण्य, काञ्चन आदि। शास्त्रकारों ने इनमें से कई के भिन्न-भिन्न पारिभाषिक अर्थ बताये हैं। परन्तु अमरकोष-काल में ये सभी समानार्थक मान लिये गये थे। कौटिल्य ने जाम्बूनद (जम्बू नामक नदी से उत्पन्न), शातकुम्भ (शतकुम्भ पर्वत से प्राप्त), हाटक (खान से प्राप्त), वैणव (वेणु पर्वत से प्राप्त), शृङ्गशुक्तिज (सींग या शुक्ति से प्राप्त), जातरूप (जातरूप पर्वत से उत्पन्न शुद्ध सोना), रसविद्ध—विभिन्न रसों (पारद आदि) और उपरसों (माक्षिक आदि) से मिले हुओं और आकरोद्गत (खान से प्राप्त) सोनों की चर्चा की है। सभी की शुद्धता समान नहीं होती। अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं से इन्हें शुद्ध किया जाता है। सबसे उत्तम सोने को षोडश वर्णक (सोलहवानी) कहते हैं। खाद की मात्रा इसमें प्रायः नहीं होती। खाद की अधिकता के अनुसार एक बान, दो बान, तीन बान···सोलह बान तक का सोना कौटिल्य के समय में शुद्ध किया जाता था। ईरान में दस बान में शुद्ध सोना बनाया जाता था, उसे 'दहदही' कहते थे। इसी से हिन्दी का 'डहडही' शब्द बना है। बाद में पठानकाल में बारह बान की शुद्धि होने लगी थी। जायसी ने इसी को 'कनक दुवादस बारह बानी' कहा है। जायसी पुरानी परम्परा के सोलह बानी सोने की भी चर्चा करते हैं। मध्यकाल के सोने के इन दो परिनिष्ठित रूपों के सम्बन्ध में डा. वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने 'जर्नल ऑफ न्यूमेस्मेटिक सोसायटी' (16 वीं जिल्द, भाग-2) में विस्तारपूर्वक लिखा है। लेकिन सोलह बान की परम्परा बहुत पुरानी है। कम-से-कम वह कौटिल्यकाल की तो है ही। परन्तु जब कालिदास सुवर्ण के अनेक नामों का प्रयोग करते हैं, तो प्रायः सामान्य सोने के अर्थ में करते हैं। परन्तु गहना बनाने के लिए, चमक लाने और स्थिरता के लिए अनेक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता था। चाँदी भी मिलायी जाती थी और ताँबा भी। कौटिल्य

ने सोना चुरानेवालों की अनेक धूर्त्तताओं के प्रसंग में एक 'हेमापसारण' विधि की भी चर्चा की है (2. 14-14)। उससे पता चलता है कि सोने में कुछ ताँबा मिलाने से जो चमकदार सोना बनता था, उसे 'हेमन्' कहा जाता था। कालिदास जब 'हेमन्' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो इस खादवाले सोने की ही शायद चर्चा करते हैं। उन्होंने 'रघुवंश' में कहा है कि आग में तपाने के बाद ही पता चलता है कि हेम में कितनी विशुद्धि है और कितनी श्यामिका (खाद) है। कालिदास 'स्वर्ण' या 'जातरूप' की अपेक्षा 'हेम' के अलंकारों की अधिक चर्चा करते हैं। 'कांचन' भी अनिश्चित मात्रा में खाद मिलाये हुए सोने को कहा जाता होगा; दीप्ति के कारण ही इसे काञ्चन कहते थे। इसकी व्युत्पत्ति 'काचि दीप्तौ' धातु से बतायी जाती है।

अक्षशालाओं में सोने के तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख मिलता है—क्षोपण अर्थात् मणियों या काँच आदि के जड़ने का काम, गुण-कर्म अर्थात् स्वर्ण की कड़ियों को जोड़कर या पीटकर सूत्र बनाना, और क्षुद्रक अर्थात् घन (ठोस) या छिद्र-युक्त (सुषिर) गुरियों का गढ़ना (कौटिल्य 2-14)। गुण-कर्म से ही सोने का गुण या सूत्र बनता है, जिसका कालिदास ने बहुशः वर्णन किया है। गुण शब्द का अर्थ योजना या जोड़ना है। एक-में-एक कड़ियों को जोड़कर जो लर बनती होगी, वही प्रारम्भ में गुण कहलाती होगी, जो बाद में सूत्र के अर्थ में सामान्य रूप से रूढ़ हो गयी।

क्षेपण, गुण और क्षुद्रक विधियों के द्वारा हेम और रत्न के सैकड़ों आभूषण बनने लगे। राजानक रुय्यक के अनुसार (1) आवेध्य, (2) निबन्धनीय, (3) प्रक्षेप्य, और (4) आरोप्य—इन गहनों की चार मोटी जातियाँ हैं। ताटंक, कुण्डल आदि अलंकार शरीर के अंगों को बेधकर या छेदकर पहने जाते हैं, इसीलिए ये आवेध्य कहे जाते हैं। कालिदास ने कर्णभूषण[1], कर्णपूर[2], कुण्डल, मणिकुण्डल[3] आदि आवेध्य अलंकारों का वर्णन किया है। जब कानों में प्राकृतिक प्रसाधन का प्रसंग आता है तो कालिदास उसका उल्लेख प्रायः निबन्धनीय के रूप में करते हैं। शकुन्तला के चित्र में कुछ कमी महसूस करने के बाद दुष्यन्त ने आगण्डविलम्बित केसर के शिरीषपुष्प को 'कर्णार्पितबन्धन' बताया था, अर्थात् उसे कान में बाँधा हुआ कहा था, छेदकर पहना हुआ नहीं। 'ऋतुसंहार' में जहाँ कानों में पहने हुए पुष्पों की चर्चा आयी है, वहाँ 'दत्तम्' (दिया हुआ) कहा है (कर्णेषु

1-2. कश्चिद्यभागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥
(रघु., 6-19)

3. ताडिल्लता शक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः ।
स्त्रियश्च कांचीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् ॥
(ऋतु., 2-20)

दत्तं नव कर्णिकारम्), जिससे अनुमान किया जा सकता है कि ये सूते में गूँथकर ऊपर से डाल दिये जाते थे। तपोनिरता पार्वती के कपोल-स्थल पर कान पर लटकनेवाले उत्पलपत्र चिरकाल से नहीं दिखायी दे रहे थे और धान की पकी बालों के समान पिंगल वर्ण की जटाएँ झूल रही थीं, यह देखकर ब्रह्मचारी वेशधारी शिव को बड़ा कष्ट हुआ था। हाय, वह हृदयहीन प्रेमी कौन होगा जो मोहन रूप की इस दुर्गति को बर्दाश्त करके स्थिर बैठा हुआ है :

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते।
उपेक्षते यः श्लथलंबिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिंगलाः ॥

—कुमार., 5-47

अंगद (बाहुमूल में पहना जानेवाला अलंकार), श्रोणी-सूत्र (करधनी), मणि-मेखला, चूड़ामणि, शिखा-दृढ़िका आदि अलंकार बाँधकर पहने जाते हैं, इसलिए निबन्धनीय कहलाते हैं। कालिदास ने अंगद की चर्चा प्रायः वलय के साथ की है—'प्रयान्ति अङ्गं वलयाङ्गदानि' (ऋतु. 4-3) या 'भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि' (ऋतु. 6-7)। इससे जान पड़ता है कि अंगद बाहुमूल में उसी प्रकार पहना जाता था जिस प्रकार कलाई में कंकण-वलय। यदि यह अनुमान ठीक हो तो अंगद निबन्धनीय न होकर प्रक्षेप्य अलंकार माना जायेगा। अंगद कुछ इस प्रकार के पेंच से कसा जाता था कि वह भुजमूल को कसके जकड़ लेता था। यह पुरुष और स्त्री दोनों का परिधेय था। कलिंगनाथ को 'अंगदाश्लिष्टभुज' कहा गया है। एक विलासी राजा का हार कन्धे से जो सरका तो कसे हुए अंगद के किनारे अटक गया—'रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम्' (रघु., 6-14)। इसमें मणि जड़ी होती थी। साधारणतः केयूर और अंगद एक ही गहने माने जाते हैं। 'अमरकोष' में ऐसा ही बताया गया है। पर कालिदास ने केयूर को स्पष्ट रूप से निबन्धनीय अलंकार माना है—'केयूर बन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद' (रघु., 6-68)। 'अंगद' शब्द में ही अंग के अवपीड़न या कसकर पकड़ने की ध्वनि है।

श्रोणी-सूत्र, श्रोणी-दाम या जघन-काञ्ची अर्थात् कटि में पहने जानेवाली और पीछे की ओर झूलती हुई करधनी कालिदास का बहुत ही प्रिय अलंकार है। 'ऋतुसंहार' में इसे 'हेममेखला' (1-6), 'मेखला' (1-4), 'कांची' (2-20), 'रसना' (3-20), 'कनककांची' (3-26), 'कांची-गुण' (4-4), 'जघन-कांची' (6-7), 'हेमरसना' (6-24) आदि कहकर बार-बार स्मरण किया गया है। इसमें मणि भी जड़ी जाती थी जिसके कारण 'मणिमेखला' (6-24) और 'कांचन-रत्न-चित्रा' (4-4) भी कहा गया है। उस काल के शिल्प में इस अलंकार का भूरिशः प्रयोग मिलता है।

'विक्रमोर्वशीय' में चूड़ामणि अर्थात् चूड़ा में धारण किये जानेवाले मणिमय अलंकार की चर्चा है। 'मेघदूत' में सिर में पहने जानेवाले रत्न-जाल (मेघ., 66) और मुक्ता-जाल (मेघ., 9) का उल्लेख है जो निबन्धनीय अलंकार है। 'रघुवंश' में तिलक की मंजरी पर भौंरों के बैठने और ओस की बूँद के पड़ने से जो शोभा

उत्पन्न होती है उसे सुन्दरियों के केश-पाश में बँधे हुए मौक्तिकजाल से तुलनीय बताया गया है[1]। पर कालिदास केश-रचना में पुष्प-पल्लवों को अधिक महत्त्व देते हैं। नील अलकों में शोभमान अशोकपुष्प[2], धम्मिल्ल या जूड़े को घेरकर शोभित होनेवाली मालती-माला, चम्पककुसुम, कदम्बपुष्प आदि[3] को अधिक रुचि से चित्रित करते हैं।

उर्मिका, कटक, मंजीर (नूपुर) आदि अलंकार अंग में प्रक्षिप्त होते हैं, इसलिए प्रक्षेप्य कहलाते हैं। इनमें मंजीर या नूपुर कालिदास का प्रिय गहना है। कालिदास ने प्रायः पैर में रुन-झुन करनेवाले नूपुरों को 'हंस-रुतानुकारी' अर्थात् हंस की ध्वनि का अनुकरण करनेवाला कहा है[1]। इसी मधुर ध्वनि के कारण इसे कलनूपुर (रघु., 16-12; ऋतु., 3-20) आदि कहा गया है। हाथ या पैर के कटक (कड़े) कालिदास को कम आकृष्ट कर सके हैं, पर वलय (कंकण) उन्हें अधिक प्रिय हैं। पुरुषों के कनक-वलय की चर्चा उन्होंने की है[5]। अंगुलीय, अंगुलीयक (अंगूठी) की भी बहुत चर्चा है। अंगूठी में पहननेवाले के नामाक्षर भी अंकित रहते थे। दुष्यन्त की अंगूठी में उसका नाम खुदा हुआ था।

झूमती हुई हेम-माला, हेम-हार, रत्न-हार, नक्षत्र-मालिका आदि अलंकार आरोपित किये जाने के कारण 'आरोप्य' कहलाते हैं। हार कालिदास का सर्वप्रिय अलंकार है। भारी हारों को वे बहुत पसन्द नहीं करते। हल्के, कान्तिमान और स्निग्ध हार उन्हें प्रिय हैं। हेम और मुक्ता हार के सर्वोत्तम उपादान हैं। स्त्री-सौन्दर्य को सर्वाधिक आकर्षक बनानेवाले अंग का अलंकार होने के कारण यह कालिदास को इतना प्रिय है कि हार की चर्चा आते ही कालिदास उभरे हुए वक्षस्थलों की

1. उपचितावयवा शुचिभिः कणैः अलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
   सदृशकान्तिरलक्ष्यत मंजरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥
   (रघु., 9-44)

2. कर्णेषु योग्यं नव-कर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
   पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्ति प्रमदाजनानाम् ॥
   (ऋतु., 6-6)

3. मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य ।
   कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममंजरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च ॥
   (ऋतु., 2-21)

4. निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
   नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥
   (रघु., 16-12)

   हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
   पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रहृष्टमनसोऽद्यविभूषयन्ति ॥
   (ऋतु., 3-20)

5. विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
   प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥
   (रघु., 6-14)

चर्चा करते है[1]। हार-यष्टि और श्रोणी-सूत्र नव-यौवन के सर्वाधिक आकर्षक धर्म 'वपुर्विभिन्नं' को अलंकारक, उद्दीपक और मोहक बनाने के कारण कालिदास को बहुत प्रिय हैं।

'अंशुक' शब्द का प्रयोग वस्त्र के सामान्य अर्थ में होता है। कभी-कभी कालिदास आँचल के अर्थ में भी इसका प्रयोग करते हैं। राजानक रुय्यक वस्त्रों के चार भेद बताते हैं : (1) कुछ छाल से बनते हैं, (2) कुछ कपास की रुई से, (3) कुछ कीड़ों से, (4) कुछ जीव-जन्तु के रोओं या ऊन से। इन्हें क्रमशः क्षौम, कार्पास, कौशेय और रांकव कहते हैं। 'क्षौम' क्षुमा या तीसी के छाल से बनता था और चन्द्रमा के समान पाण्डुर वर्ण का होता था।[2] अन्य वृक्षों की छाल से भी सुन्दर महीन वस्त्र बनते थे। नागवृक्ष (नागफली), वकुच (बड़हर), बकुल (मौलिसिरी), और वट (बरगद) की बनी हुई क्रमशः पीले, गेंहुए,, सफेद और नवनीत (मक्खन) के रंग की पत्रोर्णाओं की चर्चा कौटिल्य ने की है। पत्रोर्ण (पत्ते का ऊन) निश्चय ही बहुमूल्य वस्त्र था। मालविका पटरानी होने योग्य थी, पर उससे दासी का काम लिया जाता था। राजा ने दुःख के साथ कहा था कि यह ऐसा ही है जैसे कोई पत्रोर्ण से देह पोंछने के गमछे का काम ले।[3] कौशेय रेशम बनानेवाले कीड़ों के कोष (कोए) से बनता है। कालिदास को कौशेय वस्त्र भी प्रिय है। हेमन्त-काल में रंगीन कौशेय वस्त्र स्त्रियों की साड़ी के काम आते थे (सरागकौशेयविभूषितो यः)। रांकव या ऊन के वस्त्र कालिदास की दृष्टि आकृष्ट कर सके हैं। कार्पास या रुई के कपड़े भी तो प्रसिद्ध ही हैं। कौटिल्य के समय में वंग देश में वांगक दुकूल श्वेत स्निग्ध होते थे, पौण्ड्र (उत्तरी बंगाल) के श्याम और मणि-पृष्ठ के समान चिकने होते थे, सौवर्ण कुड्यक नाम के दुकूल लाल बनते थे। ये सभी ऊन के या रेशम के हुआ करते थे। काशिक या बनारसी रेशमी दुकूल भी बहुत प्रसिद्ध थे। काशिक और पौण्ड्रक क्षौम वस्त्र भी बहुत सुन्दर माने जाते थे। कालिदास चीन के

1. आलम्बिहेमरसनास्तनसक्तहाराः
कन्दर्प-दर्पशिथिलीकृतगात्र-यष्ट्यः।
मासे मधौ मधुरकोकिलभृङ्गनादै–
र्नार्यो हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम् ॥ (ऋतु., 6-26)

दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिविम्बैः।
नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजिं ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः ॥ (ऋतु., 6-26)

2. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्।
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुभगो लाक्षारसः केनचित्,
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वंदिभिः ॥ (शाकु., 4-5)

3. प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णंवोपभुज्यते ॥ (माल., 5-12)

बने रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) की भी चर्चा करते हैं।[1]

इन सभी वस्त्रों से परिधेय वस्त्र तीन प्रकार के बनते हैं, हेमालंकारों में कुछ अलंकार जैसे आवेध्य या अंग छेदकर पहनने योग्य होते हैं, वैसे वस्त्रों में नहीं होते। बाकी तीन प्रकार अर्थात् निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य जाति के पहनावे वस्त्रों के भी होते हैं।

पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय हैं। ये बाँधकर पहने जाते हैं। कालिदास में पुरुषों के वेश में वेष्टन या उष्णीष (पगड़ी) और दुकूल-युग्म (दो दुकूलों) का उल्लेख मिलता है। दिलीप जब वन को जा रहे थे तो उन्होंने सिर पर वेष्टन या पगड़ी बाँध ली थी।[2] और उनके पुत्र रघु जब अपने पुत्र को राज्य देकर जाने लगे तो वेष्टन-शोभी सिर से पुत्र (अज) ने झुककर प्रणाम किया था।[3] दो दुकूल पुरुष के पहनावे में होते थे।[4] इनमें से एक तो उत्तरीय या चादर था जो कभी-कभी रत्न-ग्रथित भी होता था।[5] और दूसरा अधोवस्त्र या धौत-वस्त्र (धोती)। परन्तु कालिदास ने स्पष्ट रूप से इसका कोई नाम नहीं लिया है। उस काल के चित्रों में राजा के अंग पर केवल ये ही दो वस्त्र दिखायी देते हैं। स्त्रियों के पहनावे में दुकूल की बहुत भाँतियाँ कालिदास ने बतायी हैं। कालिदास को झीने-महीन दुकूल अधिक रुचिकर लगते हैं। उभरे पीन वक्षःस्थल, सलीके के साथ सुकुमार भाव से ओढ़े हुए तन्वंशुक अर्थात् महीन वस्त्र के आँचल[6], श्रोणीबिम्ब पर अलस-विलसित दुकूल प्रान्त[7] उनकी दृष्टि अधिक आकर्षित कर सके हैं। ये सित या श्वेत भी हो सकते हैं, कुंकुम के समान पीली गोराई लिये भी हो सकते हैं (तन्वंशुकैः कुंकुम-

1. गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥ (शाकु., 1-32)

2. पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पष्टालकवेष्टनौ॥ (रघु., 1-42)

3. तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः॥ (रघु., 6-12)

4. नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत् सर्वममंत्रवर्जम्॥ (कुमार., 7-72)

5. अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेशमिवोपदेष्टुम्॥ (रघु., 16-43)

6. समुद्गतस्वेदसिताङ्गसंधयो विमुच्य वासांसि गुरूणि साम्प्रतम्।
स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदा सयौवनाः॥ (ऋतु., 1-7)

7. दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैःश्रोणिबिम्बैः।
नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजिं ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः॥ (ऋतु., 2-26)

न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं वलयाङ्गदानि।
नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु॥ (ऋतु., 4-3)

रागगौरैः, ऋतु., 6-5), कुसुम्भी रंग के भी हो सकते हैं,[1] लाख के रंग के रँगे हुए लाल-लाल,[2] और चित्र-विचित्र भी हो सकते हैं।[3] पर कालिदास उनका बहुत भारी-भरकम होना पसन्द नहीं करते। जाड़े के दिनों में 'गुरूणि-वासांसि' आवश्यक थे, पर कालिदास प्रायः उनकी चर्चा तभी करते हैं जब वे शरीर पर से उतारकर फेंक दिये जाते हैं।[4] हेमन्तवर्णन के प्रसंग में एक बार उन्होंने खिड़की-दरवाजा बन्द करके मोटे-मोटे कपड़े पहननेवालों की चर्चा कर अवश्य दी है, पर ये पुरुष हैं। उनके शरीर पर मोटा कपड़ा कालिदास बर्दाश्त कर सकते हैं। सुकुमार शरीर पर तो वे कालिदास के बर्दाश्त के बाहर हैं। यहाँ भी उन्होंने स्त्रियों को मोटे लबादे में नहीं देखा। उनका सयौवना होना ही पर्याप्त है। इससे अधिक गरम वस्त्र और कौन-सा हो सकता है :

निरुद्धवातायनमंदिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः।
गुरूणिवासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥

आवश्यकताओं की मार से अभिभूत कर देनेवाला काव्य कल्प-लोक नहीं बना सकता। अधोंशुक या परिधान साड़ी का पूर्वरूप है। यह निबन्धनीय वस्त्र नीचे की ओर पहना जाता था। उत्तरीय या ऊपर के दुकूल की अपेक्षा यह कदाचित् छोटा होता था। इसलिए इसे उपसंव्यान (अमर., 6-117) और उत्तरीय दुकूल को संव्यान कहते थे। 'संव्यान' अर्थात् आवरण और उपसंव्यान अर्थात् छोटा आवरण। उत्तरीय दुकूल को 'बृहतिका' (बड़ा आवरण) कहना भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है (अमर., 6-117)। इस अधोवस्त्र या परिधान को सूत्र से बाँधते थे। शिवजी जब वर-वेश में नगर में पहुँचे तो स्त्रियों में देखने की उत्सुकता बढ़ गयी थी। उतावली में एक के परिधान का सूत्र टूट गया, पर वह नीवी बाँधे बिना ही दौड़ पड़ी (प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीं)। ठीक यही बात इसी प्रकार के प्रसंग में 'रघुवंश' में भी आयी है।[5] नीवीबन्ध की चर्चा कालिदास ने कई स्थलों पर की है।[6] इससे स्पष्ट है कि अधोंशुक या परिधान बाँधकर पहना जाता था।

1. कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम्।
तन्वंशुकैः कुंकुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ (ऋतु., 6-5)
2. ऋतु., 6-5; ऋतु, 1-7
3. वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं, पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्यामेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ (उत्तर मेघ., 12)
4. गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः ॥ (ऋतु., 6-15)
5. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥—रघु., 7-9
6. नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्यरत्नप्रदीपा-
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥—उत्तर मेघ. 7

एक और वस्त्र बाँधकर पहना जाता था। कालिदास ने इसे कूर्पासक (चोली) कहा है।[1] 'हारावली कोष' में कूर्पासक को अर्द्धचोली कहा है; पर 'अमरकोष' में यह चोली का ही पर्याय बन गया है। वधू के लिए अवगुण्ठन या घूँघट का होना आवश्यक है। ऐसे समय में एक प्रकार का प्रावरण (बड़ी चादर) का व्यवहार होता था जिससे सारा शरीर ढक जाय। शकुन्तला में इसी प्रकार की ढकी वधू शकुन्तला का वर्णन है।[2] राजानक रुय्यक चोली को प्रक्षेप्य कहते हैं।

उत्तरीय दुकूल आरोप्य वस्त्र है। ऊपर इसकी चर्चा हो चुकी है।

जिस प्रकार हेमरत्नालंकारों के चार भेद हैं, उसी प्रकार माल्यों के भी चार ही भेद हैं। पर माल्य ग्रथित और अग्रथित भेद से दो प्रकार के होते हैं; इसलिए ये वस्तुत: आठ प्रकार के हो जाते हैं। राजानक रुय्यक ने पुष्पप्रसाधन के विविध रूपों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं: (1) वेष्टित, जो अंग-विशेष को घेर ले; (2) वितत, जो एक पार्श्व में ही विस्तारित हो; (3) संघाट्य, जो अनेक पुष्पों के समूह से खचित हो; (4) ग्रन्थिमत्, जो बीच-बीच में गाँठवाला हो, (5) अवलम्बित, जो विशेष भाव से स्पष्ट रूप में उम्भित अर्थात् एक साथ जुड़ा हुआ हो; (6) मुक्तक, जो केवल एक पुष्प से बना हो; (7) मंजरी, अर्थात् अनेक छोटे पुष्पों की लता, (8) स्तबक (पुष्पगुच्छ)। कालिदास पुष्पमाल्य के आभरणों का जमकर वर्णन करते हैं। पार्वती पर्याप्त पुष्प-स्तबक के भार से झुकी हुई संचारिणी लता के समान शिव के पास गयी थीं। कवि ने वसन्त-पुष्पों के आभरण—जिसके पद्मराग को निर्मद करनेवाला लाल-लाल अशोक-पुष्प, हेम की द्युति को आहरण करनेवाला पीला-पीला कर्णिकार, और मोतियों की शोभा को उत्पन्न करनेवाला सिन्दुवार पुष्प भी था—की पृष्ठभूमि के लिए उदन्त सूर्य की आभावाले लाल-लाल अंशुक का सन्निवेश किया है:

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्त पुष्पाभरणं वहन्तीम्॥
आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव॥—कुमार०, 3-53, 54

उन्होंने सुन्दरियों के सिर पर पहनी जानेवाली कदम्ब, नवकेसर (मोलसिरी),

1. अन्या प्रियेण परियुक्तमवेक्ष्य गात्रम् हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा।
कूर्पासकं परिदधाति नखक्षताङ्गी व्यालम्बिनीलललितालककुञ्चिताक्षी॥
(ऋतु., 4-17)

मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूषितोरवः।
निवेशितान्तः कुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः॥
(ऋतु., 5-9)

2. कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥
(शाकुन्तल. 5-13)

केतकी की माला[1] तथा मालती पुष्पसहित मौलसिरी या खिले हुए अन्य नवीन पुष्पों के साथ जुही की कलियों की माला का मनोहर अलंकरण पसन्द किया था।[2] केवल बेला के प्रफुल्लित पुष्पों के गजरे को देखकर भी आह्लाद अनुभव किया था।[3] यद्यपि मृणालसूत्रों की माला कालिदास को बहुत प्रिय है; शकुन्तला का चित्र राजा दुष्यन्त को तब तक अपूर्ण लगा था जब तक उन्होंने उसके कानों में गण्डस्थल तक झूलने योग्य केसरवाले शिरीष को नहीं पहनाया और वक्षःस्थल के ऊपर झूलनेवाले मृणालसूत्रों का हार नहीं रच दिया :

> कृतं न कर्णार्पितमण्डनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
> न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ।।

तथापि राजानक रुय्यक इस मृणालसूत्र की गणना माल्य में नहीं करते। माला में फूल अवश्य चाहिए।

कस्तूरी, कुंकुम, चन्दन, कर्पूर, अगुरु, कुलक, दन्तसम, सहकार, तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अंजन, गोरोचना, कुशीर, हरिताल, प्रभृति उपकरण मण्डन हैं। ये कालिदास को प्रिय हैं। इनमें कुछ की प्रकृति शीत है, कुछ की उष्ण, कुछ की सम। कुछ गर्मियों में काम आते हैं, कुछ सर्दियों में और कुछ सब ऋतुओं में। कालिदास अवसर देखकर सबका उपयोग करते हैं।

स्नान करने बाद ही मण्डन-द्रव्यों का उपयोग होता है। स्नान के पूर्व अभ्यङ्ग अर्थात् औषधि मिला तैल या आँवलों का कल्क आदि से शरीर में मालिश की जाती थी। कालिदास ने अभ्यङ्ग-क्रिया का उल्लेख 'शाकुन्तल' में किया है। पार्वती के विवाह में पहले लोध्र कल्क से उत्सादन या उद्वर्तन (उबटन) किया गया था। पुराने ग्रन्थों में तैलाभ्यंग और उत्सादन के लिए अनेक स्वास्थ्यकर औषधियों की चर्चा आती है। 'चरक', 'सुश्रुत', 'बृहत्संहिता' आदि ग्रन्थों में स्वास्थ्य और सौन्दर्य बढ़ानेवाली औषधियों का भूरिशः उल्लेख है, किन्तु कालिदास ने केवल इंगितमात्र कर दिया है। स्नान के जल को प्रस्तुत करने की विधियाँ भी शास्त्र में दी हुई हैं। कालिदास को उसकी जानकारी अवश्य थी, पर बहुत विस्तार से उन्होंने उसका उल्लेख नहीं किया है। नदी या सरोवर में स्नान उन्हें अधिक प्रिय जान पड़ता है। 'कृताभिषेक' पार्वती की कठिन समस्या का हृदयग्राही चित्रण करते समय ब्रह्मचारी वेश में शिव आकर जो आवश्यक बातों की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, उनमें एक यह भी है कि 'तुम्हारे स्नान के लिये पर्याप्त जल मिल जाता

1. मालाःकदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि विभ्रति योषितोऽद्य ।
कर्णान्तरेषुकुकुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च । (ऋतु., 2-9)
2. शिरसि वकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च ।
विकचनवकदम्बैःकर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ।। (ऋतु., 2-25)
3. कर्णेषु योग्यं कवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
पुष्पं च फुल्लं नव-मल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ।। (ऋतु., 6-6)

है कि नहीं—'जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।' विवाह के अवसर पर सोने के घड़े से मंगल-स्थान की चर्चा है।[1] परन्तु 'ऋतुसंहार' में विलासियों के स्नान-कषाय शिरोरुहों की चर्चा से अनुमान किया जा सकता है कि स्नान के जल में किसी प्रकार सुगन्धित-कषाय का प्रयोग होता था।[2] एक और स्थान पर पाटलामोद-रम्य-सुख-सलिल-निषेक कहकर उन्होंने सुगन्धित जल से स्नान का उल्लेख किया है।[3] जान पड़ता है कि माघ की भाँति 'स्वच्छाम्भःस्वपनविधौतमङ्गयष्टिः' होना, श्रीहर्षदेव की भाँति 'प्रत्यग्रमज्जनविशेष विविक्तकान्ति' का भाव ही कालिदास को भी रुचिकर था। स्नान के उपरान्त अंगराग (अरगजा) जिसमें कस्तूरी, चन्दन आदि सुगन्धियों का समावेश है। कालिदास को ये अधिक आकर्षक जान पड़ते हैं। मतलब से मतलब ! कालिदास ग्रीष्मऋतु में चन्दन[4] की खूब चर्चा करते हैं। घिसे हुए 'चन्दनपंक' की शीतलता भारतवर्ष में दीर्घकाल से समादृत है, उसे पयोधर-देश पर चर्चित करने की चर्चा भी बराबर मिलती है। कालिदास इसका कई प्रकार से उल्लेख करते हैं। 'पयोधराश्चन्दनपंकचर्चिताः' में ग्रीष्मऋतु का विलास है। चन्दन के पानी से भिगोये हुए ताल-व्यजन के वायु में भी ग्रीष्म-ताप-निवारण की विधि है।[5] किन्तु विरह की उष्णता के शामक रूप में भी उन्होंने इसका स्मरण किया है। वर्षाऋतु में कालागुरु अधिक मात्रा में मिलाकर चन्दन के साथ लेप करने की बात कही गयी है।[6]

जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती जाती है और गर्मी कम होती जाती है, वैसे-वैसे कालागुरु और कस्तूरी का प्रयोग भी बढ़ता जाता है। हेमन्त में शरीर कालीयक से अधिक चर्चित किया जाता है।[7] कालागुरु धूप-धूम का मान बढ़ जाता है।[8] काली-

1. विनस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
   आवर्जिताष्टापदकुंभतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयांबभूवुः ॥ (कुमार., 7-10)
2. नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
   शिरोरुहैःस्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥ (ऋतु., 1-4)
3. ऋतु., 1-28
4. निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयंत्रमन्दिरम् ।
   मणिप्रकाराः सरसं सन्चदनं शुचौ प्रिये यांति जनस्य सेव्यताम् ॥
   (ऋतु., 1-2)
5. सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः ।
   सवल्लकीकाकलिगीननिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः ॥
   (ऋतु., 1-8)
6. कालागुरुप्रचुरचन्दतचर्चिताङ्गयः पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः ।
   श्रुत्वा ध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः ॥
   (ऋतु., 2-22)
7. गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
   शिरांशि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥ (ऋतु., 4-5)
8. देखिए. टिप्पणी 3

यक के अनुलेपन की धूम मच जाती है। पयोधर कुंकुम-राग-पिंजर होने लगते हैं, अगुरु-सुरभि-धूम से केस-पास आमोदित करने की प्रक्रिया बढ़ जाती है।[1] और फिर जब वसन्तकाल में सर्दी और गर्मी का धूप-छाँही मौसम आ जाता है, तो प्रियंगु कालीयक कुंकुम के पत्र-लेखों के साथ मृगनाभि या कस्तूरी मिले हुए चन्दन और फिर केवल सित चन्दन से आर्द्र हार वक्षदेश को मण्डित करने लगते हैं।[2] इस प्रकार स्नानोपरान्त विविध सौगन्धिक मण्डनों का विधान कालिदास ने किया है। अंगराग और अनुलेपन का शब्दशः उल्लेख कई बार आया है। भारतवर्ष का सहृदय न जाने कब से गन्धमाल्य का महत्त्व स्वीकार करता आया है। चरक ने कहा है (सूत्र० अ०, 5-96) कि गन्धमाल्य का सेवन बलवर्द्धक है, आयु बढ़ानेवाला है, पुष्टि-बलप्रद है, चित्त-प्रसन्न रखनेवाला है, दारिद्र्य को नष्ट करनेवाला है और काम्य तो है ही।

गृहस्थ को और चाहिए क्या ?

भ्रूघटना, केशरचना, जूड़ा बाँधना, सीमन्तरचना इत्यादि योजनामय अलंकार हैं। कालिदास के युग में पुरुषों के भी लम्बे-लम्बे केश रखे जाते थे। दिलीप जब वन गये थे तो उनके केश लताओं की छोटी-छोटी टहनियों से गुँथे थे।[3] लोग—विशेषकर बच्चों के बड़े-बड़े केशों का ऐसा संस्कार करते थे जो कौए की पाँख की तरह मुड़े दिखते थे, जिसे काक-पक्ष कहते थे।[4] पुरुषों में श्मश्रु (दाढ़ी) रखने की प्रथा केवल तपस्वियों में थी, जो बिना संस्कार के कभी-कभी झाड़ू की तरह बड़ी और अस्त-व्यस्त हो जाती थी। परन्तु कालिदास ने अधिक रुचि के साथ सीमन्तिनियों के केशों की चर्चा की है। ये लम्बे केश धूप-धूम से सुगन्धित किये जाते थे। उज्जयिनी की सुन्दरियों के केशों को सुगन्धित करने में इतना धुआँ होता था कि विरही यक्ष ने मेघ को इस धुएँ से मोटे हो जाने का प्रलोभन दिया था।[5] कपड़े

1. अगरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं गलितकुसुममालं कुञ्चिताग्रं वहन्ती।
त्यजति गुरुनितम्बा निम्नमध्यावसाना उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा।
(ऋतु., 5-12)
2. प्रियङ्गुकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः।
आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभियुक्तम्॥ (ऋतु., 6-14)
स्तनेषुहाराः सितचन्दनार्द्रा भुजेषु संगं वलयाङ्गदानि।
प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्च्यः॥ (ऋतु., 6-7)
3. लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्वान्॥ (रघु., 2-8)
4. सवृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ (रघु., 3.28)
पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम्॥ (रघु., 18-43)
5. जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः। (मेघ., 35)

भी सुगन्धि के लिए कालागुरु के धुएँ से धूपित किये जाते थे।[1] केशों का घन-विकुञ्चित होना सौभाग्य का लक्षण माना जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में केशों को कुञ्चित करने की विधियाँ भी बतायी गयी हैं। कालिदास नितान्त घुँघराली लटों में मालतीमाला की शोभा से नितान्त उल्लसित होते हैं। शिशिर और हेमन्त में स्त्रियाँ कालागुरु के धूम से विशेष रूप से केशों को धूपित करती थीं। शीतकाल में फूलों की माला केशपाश से हट जाती थी, और उन्हें सुगन्धित और कुञ्चित करने की प्रक्रिया चल पड़ती थी[2]—'शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय' (ऋतु., 4-5)। सुगन्धित केशों को सलीके से दो हिस्सों में विभक्त करके सीमन्तरचना की जाती थी। कालिदास तो सुन्दरियों को 'सीमन्तिनी' कहना अधिक पसन्द करते हैं। सीमन्त में कुसुम्भ-स्वच्छ सिन्दूर धारण करना तो सौभाग्य का लक्षण ही था,[3] किन्तु सीमन्त पर कदम्ब-पुष्प को धारण करना सुरुचि का चिह्न समझा जाता था। सजाने के लिए अन्य पुष्प और आभरण भी काम में लाये जाते थे।

सुसंस्कृत केशों को अनेक प्रकार से बाँधकर धम्मिल्ल या जूड़ा बाँधा जाता था। कालिदास ने इसकी बहुत अधिक चर्चा नहीं की है। उन्हें लहराते हुए केश या गुँथी हुई चोटी अधिक आकर्षक लगे हैं। अलक-राजि को गूँथकर पीठ पर लहराना 'प्रसिद्धि' कहलाता है। पार्वती 'मंगल-स्नान-विशुद्धगात्री' हुईं तो स्त्रियों ने पहले-पहल धूप-धूम से उनके केशों को सुखाया; फिर लहराते हुए केशों की फुनगी में पुष्पों का ग्रथन किया; फिर पीले-पीले महुए की माला उसमें बाँध दी। इस प्रकार प्रसिद्ध अलकों की शोभा न तो लग्न-द्विरेफ पत्र-पुष्प में मिलती है न समेघलेखा चन्द्रकला में।[4] विरहावस्था में सस्कारों की उपेक्षा से केश एकवेणी हो जाते थे। यक्ष-प्रिया के इन उपेक्षित केशों को कालिदास ने बड़ी ही करुण भाषा में चित्रित किया है।

'भ्रू घटना' की प्रथा केवल नगर की विलासिनियों में प्रचलित थी। जानपद वधुएँ 'भ्रू विलासानभिज्ञ' हुआ करती थीं। कालिदास सुभ्रुओं से बहुत अधिक परिचित जान पड़ते हैं। भ्रू भंग का उन्होंने जमके वर्णन किया है, सुन्दर बने हुए भ्रुवों के क्षेप में ही अपांग-वीक्षण की कुटिलता आती है—'भ्रूक्षेपजिह्मानि च

1. गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि।
   सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्ग ॥ (ऋतु., 6-15)
2. अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं गलितकुसुममालं कुञ्चिताग्रम् वहन्ती।
   त्यजति गुरुनितम्बा निम्नाभि सुमध्या उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा ॥
   (ऋतु., 5-12)
3. विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्।
   तटविटपलताग्रालिंगनव्याकुलेन दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन ॥ (ऋतु., 1-24)
4. लग्नद्विरेफं परिभूय पद्मं समेघलेखं शशिनश्च बिम्बम्।
   तदाननश्रीरलकैः प्रसिद्धैश्चिच्छेद सादृश्यकथाप्रसङ्गम् ॥ (कुमार., 7-16)

वीक्षितानि' (6-13)। 'मेघदूत'[1] में कहा है कि गंगाजी पार्वती की भृकुटि-रचना की, फेनरूपी हास से, उपेक्षा करती थी।

प्रकीर्ण अलंकार दो प्रकार होते हैं: (1) जन्य, (2) निवेश्य। श्रम-जल, मदिरा-मद आदि जन्य हैं। दोनों का कालिदास ने जमकर प्रयोग किया है। ग्रीष्म-काल में भी 'प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पित मधु' को नहीं भूलते। वर्षा में भी 'ससीधु' वदनों का स्मरण करते हैं।[2] सर्दियों में भी उसके आनन्द से अभिभूत होते हैं[3], और वसन्त का तो कहना ही क्या? इसमें मदिरालस नेत्र (ऋ., 6-12), मदिरालस वाक्य (ऋ., 6-13), मधुसुरभि (ऋ., 36), निशिसिधुपानं (ऋतु. 6-35) इनके सधे हुए प्रयोग हैं। जिन चरित्रों को उन्होंने आदर्श रूप में चित्रित किया है, वहाँ इसे घुसने की आज्ञा नहीं है। वहाँ यौवन ही 'अनासवाख्यं करणं मदस्य' है और कम-से-कम एक जगह उन्हें स्पष्ट रूप से पण्यस्त्रियों और उद्दामयौवन नागरों का सेव्य कहकर इसके प्रति अनास्था भी प्रकट की है।[4]

निवेश्य अलंकार तो दूर्वा, अशोकपल्लव, यवांकुर, तमाल-दल-मृणालवलय, करक्रीडनक आदि हैं। कालिदास के ग्रन्थों में इनका बहुत हृदयग्राही वर्णन है। सच पूछा जाय तो कालिदास को ये प्राकृतिक सुकुमार प्रसाधन जितने रुचिकर हैं उतने हेमालंकार, रत्नाभरण भी नहीं। अलका में कल्पवृक्ष जिन समस्त अवला-मण्डनों को अकेले ही उत्पन्न करता रहता है उनमें ये वस्तुएँ हैं---अनेक रंगों के वस्त्र (चित्र-वस्त्र), मधु या मदिरा, पुष्प, किसलय, अनेक प्रकार के आभूषण, लाक्षारस या महावर। अलका की विलासिनियाँ हाथ में लीलाकमल, केश में नये कुन्द के फूल, चूड़ा-पाश में ताजे कुरबक के पुष्प, कपोलदेश पर लोध्र फूलों का पराग (पाउडर के स्थान पर), कानों में शिरीष पुष्प और सीमन्त में कदम्ब पुष्पों को धारण करती थीं।[5] सब प्रकार से सुन्दरियों का प्रेम जब अपनी चरम-सीमा

1. अङ्गानि निद्रालसविभ्रमाणि वाक्यानि किंचिन्मदिरालसानि।
भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि चकार कामः प्रमदाजनानाम्॥ (ऋतु., 6-13)
2. गौरी भृकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः। (मेघ., 6-19)
3. शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः।
स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः स्त्रियो रति-संजनयन्ति कामिनाम्॥ (ऋतु., 2-18)
4. नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो—
स्त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदंबैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागरणा—
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभियौवनानि॥ (पूर्वमेघ., 2-6)
5. वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरण-कमलन्यासयोग्यं च यस्या
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥ (मेघ., 2-12)

पर होता था, उस अभिसार-रात्रि में भी अलकों में मन्दार पुष्पों को पहनना नहीं भूलती थीं,[1] कान में कनक-कमलों का पत्रच्छेद्य अवश्य धारण करती थीं। विदिशा की फूल चुननेवाली 'पुष्प-लावियाँ' भी कान में कमल का कर्णफूल धारण करती थीं।[2] भवानी कानों में कुवलय-दल धारण करने की ही अभ्यस्ता हैं, पर पुत्रप्रेम से वे कभी-कभी मयूर-पुच्छ भी धारण करती हैं।[3] शकुन्तला के कानों में आगण्ड-विलम्बि शिरीष-पुष्प लटक रहा था, और सदा वक्षःस्थल पर मृणालवलय झूलता रहता था।[4] पार्वती के जूड़े में जो मधूक की माला पहनायी गयी थी उनमें दूर्वा भी थी[5], उनके कपोल लोध्रकाषाय या लोध्र के पराग से रूक्ष बने हुए थे, जिस पर कानों में पहना हुआ यवप्ररोह (यवांकुर) शोभित हो रहा था।[6] स्वयं रति देवी के कानों में नीलकमल के गहने शोभा देते थे।[7] कुकुभद्रुम की मंजरियाँ वर्षाकाल में वर्णावतंस का काम करती थीं।[8] या फिर कदम्ब का पुष्प कर्णफूल के लिए उपयुक्त माना जाता था।[9] केश-पाश में पुष्पों के अवतंस मनोहरता को चार-चाँद लगाया करते थे।[10] शरत्काल में नितान्त घननील विकुंचिताग्र केशों में नवमालती की

1. हस्ते लीला कमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
   नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानेन श्रीः।
   चूडापाशे नवकुरबकं चारुकर्णे शिरीषं
   सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥ (मेघ., 2-2)
2. विश्रान्तः सन् व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्च-
   न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
   गण्डस्वेदापनयनरुज जलक्लांतकर्णोत्पलानां।
   छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् (मेघ., 1-28)
3. मेघ., (1।48)
4. शकु., (6।18)
5. धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशांतमंतः कुसुमं तदीयम्।
   पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डु मधूकदाम्ना॥ (कुमार., 7-14)
6. कर्णार्पितो लोध्रकषायरुक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे।
   तस्याः कपोलापरभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः॥ (कुमार., 7-17)
7. कु., (4-8)
8. माला कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजितः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।
   कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममंजरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च॥
   (ऋतु., 2-21)
9. शिरसि बकुलमालामालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च।
   विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां स्मरयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः॥
   (ऋतु., 2-25)
10. कालागुरुप्रचुरचंदनचर्चिताङ्ग्यः पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः।
    श्रुत्वाध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः॥
    (ऋतु., 2-22)

माला धारण की जाती थी और कानों में नीलोत्पल।[1] वसन्तकाल में मनोहर कुसुम वक्षःस्थल में हार की जगह विराजमान होते थे।[2] कानों में नवीन कर्णिकार का पुष्प और चंचल नील अलकों में अशोक पुष्प लटका करते थे।[3] अशोक के नवीन पुष्प ही उन्हें प्रेमोद्दीपक नहीं जान पड़ते थे, प्रिया के कानों में अर्पित होने पर उसके किसलय भी मादक सिद्ध होते थे :

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितम्॥
(रघु. 9-28)

और प्रभात-कालीन धूप के रंग को मात करनेवाली महीन साड़ी के साथ युवांकुर कानों में आभूषण का आसन ग्रहण करता था, और फिर कजरारे कोकिल भी कूक उठते थे। फिर तो संसार का निःशेष रस एकमात्र सुन्दरियों पर ही केन्द्रित हो उठता था :

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः।
परभृतां विरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः॥
(रघु., 9-43)

सही तो, कालिदास के मत से, यह है कि दहकते हुए अंगार के समान वासन्तिक पुष्पों को कनकाभरण का प्रतिनिधि समझना चाहिए। अगर युवतियाँ कनकाभरण को छोड़कर इन पुष्पों का प्रसाधनरूप में उपयोग करती हैं तो यह उचित ही है।[4] कालिदास ने इन प्रसाधनों को पवित्र और मंगलकारक माना है। 'विक्रमोर्वशीय' (3-12) में व्रत करनेवाली रानी के केशों में पवित्र दूर्वांकुर शोभित हो रहा था। सफेद साड़ी और मंगलमात्र भूषण की पृष्ठभूमि में दूर्वांकुर की महनीयता कालिदास ही बता सकते हैं :

सिताशुंका मंगलमात्राभूषणा पवित्रदूर्वांकुरलक्षितालका।

कहाँ तक कहा जाय कालिदास प्राकृतिक प्रसाधनों के बहुत बड़े धनी हैं। शकुन्तला प्रिय-मण्डना थी, परन्तु आश्रमवृक्षों के प्रति स्नेहाधिक्य के कारण उनके पल्लवों को तोड़ने में संकोच अनुभव करती थी। मण्डन-द्रव्यों से अनेक प्रकार के पत्रलेख बनाने की बात कालिदास में मिलती है। कोश में कई प्रकार के पत्रलेखों

1. केशा नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति॥ (ऋतु, 3-19)
2. कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः (ऋतु., 6-3)
3. कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्ति प्रमदाजनम्॥ (ऋतु., 6-6)
4. पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवन्त्युत्सव.
सेयं याति शकुन्तला पति-गृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ (शाकु. 4-9)

की चर्चा है --पत्रलेख, पत्रांगुली, तमालपत्र, तिलक, चित्रक, वैशिपिका तथा अन्यत्र मकरिका और नवमंजरी आदि की चर्चा मिलती है। जान पड़ता है शुरू-शुरू में पत्रों को काटकर अनेक प्रकार से चित्र-विचित्र आकृति बनती थी, जिससे बाद में उन्हें मण्डन-द्रव्यों में लिखा जाने लगा। कुरबक के पीले-पीले पुष्पों पर काली भ्रमर-राजि को देखकर कालिदास को पत्र-विशेषकों का स्मरण हो आता है।[1] जब पार्वतीजी के गोरे शरीर पर शुक्ल अगुरु का विलेपन करके गोरोचना से पत्र-लेख लिखा गया, तो शोभा गंगा के सैकत पुलिन पर चक्रवाकों के बैठने से बनी कान्ति को भी मात दे गयी।[2]

इन रूप और अलंकारों के समवाय का नाम वेश है। स्त्रियों के समूचे वेश की सफलता इस बात में है कि प्रिय उसे देखे और देखकर प्रसन्न हो जाये। इसीलिए कालिदास ने कहा—'स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः'।

कालिदास ने इन सुगन्धित द्रव्यों के उद्गम और आयात का स्थान भी कभी-कभी इशारे से बता दिया है। कस्तूरी या मृगनाभि हिमालय से[3], कुंकुम केसर वाह्लीक (बलख) से, कालागुरु प्राग्ज्योतिष (असम) से[4], लोध्र हिमालय से[5], चन्दन मलयगिरि से,[6] तम्बाकू-दल कलिंग से, सालद्रुम और देवदारद्रुम हिमालय से,[7] एला कावेरीतट से,[8] पुन्नाग केरल से प्राप्त होता था।[9]

1. विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
   मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः ॥—रघुवंश, 9-29
2. विन्यस्तशुक्लागुरु चकुरंगं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
   सा चक्रवाकाङ्कितसैकताया।स्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥—कु. 77-15
3. आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां,
   तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
   वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः,
   शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपंकोपमेयम् ॥—पू. मेघ. 56
   विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
   दृषदो वासितोत्संगा निषण्णमृगनाभिभिः ॥—रघु. 4-74
4. चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
   तद्गजालानतां प्राप्तः सह कालागुरुद्रुमैः ॥—रघु. 4-81
5. स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
   अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥—रघु. 2-29
6. भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
   नास्रसत्कारिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ॥—रघु. 4-48
7. कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणां ।
   यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥—कुमार. 1-9
   भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
   यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥—कुमार. 1-15
8. ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
   तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥—रघु. 4-47
9. खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
   कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः ।—रघु. 4-57

कालिदास ने ताम्बूल, विलेपन और माला धारण करने की बात लिखी अवश्य है;[1] पर ताम्बूल पर उनका अधिक ध्यान नहीं है। लाक्षारस या अलक्तक को वे अधिक उत्तम अलंकरण के रूप में चित्रित करते हैं। सच पूछिए तो कालिदास ने लाक्षारस को प्रमुख प्रसाधन द्रव्य के रूप में इतनी प्रकार से और इतनी बार चित्रित किया है कि सन्देह होता है कि कहीं अधर की रँगाई के लिए भी ये इसी का उपयोग तो नहीं बताते। वस्त्रों को तो वे लाक्षा-रस-रंजित कह ही चुके हैं (ऋतु. 6)। वात्स्यायन में अधरों को रँगने के लिए अलक्तक और मोम (सिक्थ) का जो प्रयोग है, वह शायद उन्हें भी रुचता था।

गन्ध-युक्ति की विद्या इस देश में बहुत पुरानी है। कालिदास के पूर्व से ही इसका प्रयोग चला आता है। उत्सादन, अनुलेपन, अंगराग, केश और वस्त्रों का सुगन्धीकरण और ताम्बूल में अनेक प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं के योग से निःश्वास को सुगन्धित बनाना, कलाओं में गिना जाता था। 'ललित-विस्तर' में जिन कलाओं की चर्चा है उनमें भी इनकी गणना है। भगवान् बुद्ध के युग में यह बात इतनी प्रचलित थी कि भिक्षु और भिक्षुणियों तक में इनका बहुत प्रवेश था। कालिदास ने थोड़े-से द्रव्यों का नाम लिया है, परन्तु वह सिर्फ यह बताता है कि उन्हें इस कलासमूह का पूरा ज्ञान था।

ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि अलंकारों की योजना में कालिदास रंगों के सामंजस्य का बड़ा ध्यान रखते हैं। रूप अलंकारों और वर्ण-समवाय के समंजस-विधान से ही निखरता है। लेकिन अलंकार-योजना का उद्देश्य आभिजात्य, विला-सिता और परिपाटी-विहित साजसज्जा को अधिक आकर्षक करना भी है। इस दृष्टि से कालिदास की अलंकार-योजना सफल और आकर्षक है।

मांगल्य

नाट्यशास्त्र में एक कहानी दी हुई है कि भरत मुनि से मुनियों ने प्रश्न किया कि यह जो नृत्य (ताण्डव) है यह रसभावविवर्जित है। इसका प्रवर्त्तन शिवजी ने क्यों किया? इस पर भरत मुनि ने उत्तर दिया कि नृत्य किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता। यह शोभा के लिए प्रयुक्त होता है। लोग स्वभावतः ही इसे पसन्द करते हैं

1. गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवा मोदितवक्त्रपंकजाः।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाःस्त्रियः ॥ – ऋतु. 5-5

और यह मंगलजनक है। इसीलिए शिवजी ने इसे प्रवर्तित किया। विवाह, जन्म, प्रबोध; अभ्युदय आदि के उत्सवों पर यह विनोदजनक है, इसलिए भी इसका प्रवर्त्तन हुआ। यह एक विचित्र उत्तर है। हिन्दू-शास्त्रों में जिन बातों के लिए कोई तर्कसम्मत उत्तर नहीं मिलता और फिर भी उनका होना आवश्यक माना जाता है तो उसके लिए एक उत्तर दिया जाता है कि यह मंगलजनक है। ऊपर-ऊपर से यह उत्तर अन्ध-विश्वास के समान प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः यह अन्धविश्वास नहीं है।

चित्रकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ बतायी गयी है। परन्तु घर में चित्र क्यों होने चाहिए ? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह मंगलजनक है—'मांगल्यं प्रथमं चैतत्तद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्'। इसी प्रकार कल्पवल्ली भारतीय चित्रों की एक अपनी विशेषता है। उसका कोई अर्थ नहीं होता, परन्तु फिर भी चित्रकला में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कारण क्या है ? यही कि वह मंगलजनक है। सन् ईसवी से पहले की ही प्राप्त होनेवाली कलाकृतियों में नानाभाँति की कल्पवल्लियों का सन्धान पाया जाता है। भरहुत की कई कल्पवल्लियाँ इतनी अभिराम हैं कि किसी-किसी ने यह अनुमान लगाया है कि यह मामूली कारीगरों की कल्पना नहीं हो सकती। निश्चय ही किसी महान् कवि की कल्पनाओं से उन्हें प्रेरणा मिली होगी। यह भी सुझाया गया है कि यह महान् कवि और कोई नहीं कालिदास ही थे। यह बात तो विवादास्पद है, परन्तु भरहुत की कल्पवल्लियों में अनेक ऐसी हैं जिन्हें देखकर बरबस कालिदास की कविता याद आ जाती है। शकुन्तला के लिए कण्व को बनदेवताओं ने बिन माँगे जो उपहार दिये थे, उनका वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा कि किसी वृक्ष ने शुभ मांगलिक वस्त्र दे दिया, किसी ने पैरों में लगाने की महावर दे दी और वनदेवियों ने तो अपने कोमल हाथों से अनेक आभरण दिये। वनदेवियों के ये कोमल करतल ऐसे थे जो कलाई से ऊपर ही वृक्ष की शाखाओं से सटे हुए निकले थे और ऐसा लगता था कि वे उन वृक्षों के किसलयों से प्रतिद्विन्द्विता कर रहे हैं। भरहुत की एक कल्पवल्ली में सचमुच ही एक वनदेवी का किसलय-प्रतिद्वन्द्वी हाथ अंकित किया गया है। उसे देखकर ऐसा ही लगता है कि कालिदास की कविता से शिल्पी ने अवश्य प्रेरणा ली होगी; क्योंकि कालिदास की यह उपमा अपनी जान पड़ती है और शिल्पी को प्रेरणा देने योग्य भी है। श्लोक इस प्रकार है :

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै—
दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।

बोधगया से भी एक कल्पवृक्ष का अंकन प्राप्त हुआ है जो 'मेघदूत' के एक श्लोक के भाव से बहुत साम्य रखता है। इन कल्पवल्लियों की क्या आवश्यकता थी ? क्यों ये सुन्दर मनोहर चित्र बनाये जाते थे ? आधुनिक चित्रकार उसे 'मोटिफ' (motif) या अभिप्राय कहकर सन्तोष कर लेता है, परन्तु पुराना भारतीय मनीषी उसे देखकर सीधा-सा उत्तर देता है-—यह मांगल्य है। अनेक

प्रकार के भूषण मांगलिक माने जाते हैं। कालिदास ने तो कभी-कभी साधारण गहने के अर्थ में 'मंगल' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु उनकी कविता से स्पष्ट है कि वे 'मंगल' शब्द का अर्थ प्रयोजनातीत ही मानते हैं। अर्थ प्रयोजन हुआ करता है, मंगल प्रयोजनातीत। पार्वती की आँखें स्वभावतः ही काली थीं। उनमें काजल देने की कोई भी ज़रूरत नहीं थी, परन्तु विवाह के अवसर पर काजल दिया अवश्य गया। क्या प्रयोजन था? कालिदास उत्तर में कहते हैं कि उसके देने से आँखों की कान्ति में कुछ वृद्धि होगी, ऐसी बात तो नहीं थी, सिर्फ यह समझकर सखियों ने काजल लगा दिया कि ऐसा करना मंगल है— 'न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्धयाकालाञ्जनममंगलमित्युपात्तम्'। यह बात हमारे प्राचीनों ने इतने प्रकार से कही है कि इसका अर्थ समझने का कुछ प्रयत्न होना चाहिए। जिसका कुछ प्रयोजन नहीं, अर्थ नहीं, भाव नहीं, उसे मंगल क्यों कहा गया है? अर्थ प्रयोजन या प्रभाव से बड़ी भी कोई चीज़ होती है क्या?

जिसे 'प्रयोजन' कहा जाता है, वह मनुष्य की सीमा का परिचायक है। मनुष्य को अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए, जीविका चाहिए, यह केवल प्रयोजन है, स्थूल प्रयोजन! परन्तु कभी वह उल्लास-मुखर होकर गा उठता है, कभी नाच उठता है। इसका क्या प्रयोजन हो सकता है? इसका प्रयोजन केवल यह है कि यह अपने-आपको पा जाता है। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर, किसी मोहन सगीत को सुनकर, उसमें एक प्रकार का ऐसा आनन्द आता है जो जड़सीमाओं से घिरे हुए शारीरिक बन्धनों से जड़ीभूत चिदात्मा को क्षण-भर के लिए चालित और आन्दोलित कर देता है। यदि यह आनन्द क्षणिक हुआ तो वह फड़क उठता है, यदि कुछ अधिक स्थायी हुआ तो वह आन्दोलित होता है, जिसे अंग्रेजी में 'मूव' (move) होना कहते हैं। नृत्य चिदात्मा का उल्लास है, जो वह पृथ्वी के जड़ आकर्षण और मिट्टी की बनी हुई जड़ काया के बन्धन को अस्वीकार करके ऊपर की ओर उठने का प्रयास करता है। तपस्या इसी प्रकार के उल्लास का ही रूप है। जो तपस्या जड़-प्रयोजनों की सिद्धि के लिए की जाती है उसे शास्त्रकार तामसिक कहते हैं। परन्तु जहाँ विशुद्ध आनन्द है, जहाँ अन्तरतर के चैतन्य को उपलब्ध करने का आनन्द है वहाँ वह सात्विक होती है। किसी उत्तम कविता को पढ़कर, किसी मनोहर संगीत को सुनकर या किसी सुन्दर कलाकृति को देखकर मनुष्य जब रसास्वाद की स्थिति को पहुँचता है तो शास्त्रकार उसे सत्वोद्रेक की दशा कहते हैं। जड़ में नीचे की ओर खींचने की अपार शक्ति होती है। वस्तुतः समूचे ब्रह्माण्ड में जड़-पिण्ड एक-दूसरे को खींचकर ही अपनी-अपनी स्थिति में बने हुए हैं। चैतन्य जड़त्व के बन्धन को अस्वीकार कर ऊपर जाने की चेष्टा निरन्तर करता रहता है। पृथ्वी की दुर्वार आकर्षण-शक्ति छोटे-से तृणांकुर में निहित प्राण-शक्ति को नीचे नहीं खींच पाती। जहाँ कहीं भी विशुद्ध आनन्द है वहाँ चित्त सत्वस्थ होता है, यानी सात्विक भाव में स्थित होता है। जड़ता के आकर्षण को

छिन्न करके ही मनुष्य सत्वस्थ हो सकता है। गीता में कहा है :

ऊर्ध्वं गच्छन्तिसत्वस्थामध्येतिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

अर्थात् जो सात्विक भाव में स्थित होते हैं वे ऊपर की ओर जाते हैं, राजसिक भाव-वाले बीच में टिके रहते हैं और जो जघन्य गुणवृत्तिवाले तामस लोग हैं वे नीचे की ओर जाते हैं।

जिसे साधारण बोलचाल की भाषा में प्रयोजन कहते हैं, वे वस्तुतः हमारे स्थूल प्रयोजन होते हैं। उनका उद्देश्य चिदात्मा के चारों ओर लिपटे हुए जड़तत्त्वों को तृप्त करना होता है। इस चिदात्मा के ऊपर कई परत हैं। सबसे ऊपरवाला हिस्सा दस इन्द्रियोंवाला शरीर है, उसके भीतर प्राण है, फिर मन है, फिर बुद्धि है और इन सब परतों के भीतर चिदात्मा विराजमान है। जिसे हम साधारण बोल-चाल की भाषा में प्रयोजन या अर्थ कहते हैं, वे या तो बाह्य इन्द्रियों की तृप्ति के लिए होते हैं या फिर प्राण, मन और बुद्धि को तृप्त करते हैं। जो सच्चा आनन्द है वह प्रयोजनों की सीमा में नहीं बँधता। गीता को फिर से उद्धृत किया जाये तो कहा जा सकता है कि शरीर की अपेक्षा इन्द्रिय सूक्ष्म हैं, इन्द्रियों से भी अधिक सूक्ष्म मन है, मन से भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि है, लेकिन जो चिदात्मा है वह बुद्धि से भी परे है :

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः॥

वस्तुतः यह शरीर, मन, प्राण, बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। चैतन्य आत्मा इनसे भिन्न है। जिस वस्तु से यह चैतन्य उद्बुद्ध और उल्लसित होता है, वही सुन्दर और वास्तविक कल्याणप्रद होता है। जो वस्तु वास्तविक कल्याणप्रद है, वही मंगल है।

ताण्डव, कल्पवल्ली आदि को जब मांगल्य कहा जाता है तब उसका मतलब यह होता है कि इनके द्वारा शरीर या बुद्धि का परितोष करनेवाला प्रयोजन नहीं सिद्ध होता बल्कि इनमें ऐसा सौन्दर्य होता है जो हमारे अन्तरतर के चैतन्य को उल्लसित और आनन्दित करता है। वस्तुतः जब कहा जाता है कि ताण्डव में कोई रस और भाव नहीं होता तो उसका मतलब सिर्फ यह होता है कि ये शरीर और मन के स्थूल-प्रयोजनों को सिद्ध नहीं करते। ये विशुद्ध आनन्दजनक हैं, इसीलिए प्रयोजनातीत हैं। मेघ जब आसमान में घुमड़ता है तो धरती के नीचे छिपे हुए बीज में निहित प्राणशक्ति भीतर-ही-भीतर व्याकुल हो उठती है और जड़ आव-रणों को छिन्न करके बाहर फूट आना चाहती है। कौन बता सकता है कि उसका क्या उद्देश्य होता है ? स्थूल प्रयोजन की दृष्टि से इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। कालिदास जैसा अन्तर का मर्मज्ञ कवि ही उस आनन्द को समझ सकता है। मेघ के श्रवण-सुभग गर्जन को सुनकर चैतन्य का जो व्याकुल स्फोट होता है, कुकुरमुत्ते-जैसे नगण्य पौधे के बीज में भी जो हलचल पैदा होती है और धरती

देखते-ही-देखते जो अवन्ध्या हो उठती है, उस आनन्द का उल्लासनर्तन कालिदास ही समझ सकते हैं :

> कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवध्याम् ।
> तच्छ्रुत्वा ते श्रवण-सुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।।

मेघ के गर्जन को कालिदास ने 'श्रवण-सुभग' कहा है । 'सुभग' उसको कहते हैं जिसकी ओर अकारण प्रियजन उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जैसे भँवरे फूल की ओर । सुभग में जो गुण होता है उसी का नाम सौभाग्य है ('सहृदय हृदयलीला')। इसी प्रयोजनातीत जड़ आवरण को छिन्न करने के व्याकुल आनन्द को रस कहा जाता है । परन्तु यह भी प्राणत्व का उल्लास है । आध्यात्मिक आनन्द और भी सूक्ष्म होता है । जिन नृत्यों और चित्रों को रसभावविवर्जित कहा जाता है वे वस्तुत: इससे भी सूक्ष्म और परे हैं, वे विशुद्ध आनन्द हैं । इसी को भरत मुनि ने 'मांगल्य' कहा था । यह विश्वव्यापी छन्दोधारा के अनुकूल चलता है । यह निष्प्रयोजन नहीं है, प्रयोजनातीत है । कालिदास मंगल के इस रूप को बराबर ध्यान में रखते हैं ।

यह प्रश्न हो सकता है कि इस बात की क्या पहचान है कि जिस वस्तु का कोई स्थूल प्रयोजन नहीं है वह मांगल्य ही है । क्या सभी स्थूल प्रयोजन से रहित वस्तुएँ मांगल्य कही जा सकती हैं ? परन्तु ऐसी बात नहीं । केवल स्थूल प्रयोजन का न होना ही मांगल्य का निर्देशक नहीं । वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सृष्टि-व्यापी छन्दोधारा के अनुकूल हो, अर्थात् जिस मूल इच्छा से सृष्टि की यह अभि-व्यक्ति हुई है उसके अनुकूल होनेवाली वस्तुएँ ही मंगलमय हैं । इस मूल सृष्टिधारा को ही हिन्दू शास्त्रों में 'ईश्वरेच्छा' कहा गया है । इसी को 'नादरूपा' या 'शब्दमयी इच्छा' कहा गया है । यह सृष्टि ज्ञान, इच्छा और क्रिया रूप में अभिव्यक्त हो रही है । जिस प्रकार समष्टिरूप ज्ञान, इच्छा और क्रिया के द्वारा विराट् सृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है उसी प्रकार व्यष्टिचित्त में भी नित्य नयी सृष्टि होती रहती है । ज्ञान से उसका उद्भव होता है, इच्छारूप में वह गतिशील होती है और क्रियारूप में रूप ग्रहण करती है । जिसे हम सुन्दर कहते हैं वह इच्छारूपा सृष्टि है, किन्तु क्रियारूप में भी यदि वह मूल ज्ञान के अनुकूल हो तभी मंगल का रूप धारण करती है । जिन वस्तुओं को हम असुन्दर कहते हैं, वे व्यक्ति-चित्त में स्फुरित होनेवाली समष्टि-व्याप्त इच्छा के विरुद्ध जाती हैं, परन्तु जिनको हम अमंगल कहते हैं वे समष्टिव्यापिनी इच्छाशक्ति के विरुद्ध होते हैं और इसीलिए परमार्थतः असुन्दर होते हैं । दीर्घकालीन अनुभवों के बाद मनुष्य ने परमार्थतः सुन्दर वस्तुओं को पहचाना है । इन्हीं का नाम 'मांगल्य' है । कई बार वे रूढ़िरूप में स्वीकृत होते हैं, अर्थात् उनके पीछे जो तत्त्ववाद काम करता है वह भुला दिया गया होता है । उस अवस्था में वे ज्ञानशक्ति से वंचित होकर धीरे-धीरे यान्त्रिक मात्र रह जाते हैं और अपना सौन्दर्य खो देते हैं । यह तो नहीं कहा जा सकता कि कालिदास इन रूढ़ियों का प्रयोग करते ही नहीं । सही बात तो यह है कि कालिदास के युग तक भारतीय मनीषा ने इतिहास के बड़े लम्बे रास्ते को पार कर लिया

था, और बहुत-से विश्वास रूढ़ बन चुके थे। अनेक मांगल्य-द्रव्यों के सम्बन्ध में भी यह बात थी। परन्तु कालिदास का कौशल इन रूढ़ियों के सामंजस्य-विधान में प्रकट हुआ है। वे रूढ़ियों को स्वीकार करते हुए भी उनको ज्ञान-विच्युत रूप में मान नहीं देते। उदाहरण के लिए मणियों का धारण करना मांगल्य है, परन्तु शिव के लिए ऐसे मांगल्य अनावश्यक हैं, क्योंकि वे विश्वमूर्त्ति हैं। 'कुमारसम्भव' में पार्वती ने कहा था कि "शिव विश्वमूर्त्ति हैं। इसलिए उनका शरीर विभूषणों से उद्भासित हो या साँपों से लिपटा हुआ हो, वे हाथी का चमड़ा लपेटे हों या दुकूल धारण किये हों, कपालधारी हों या शिर में चन्द्रकला द्वारा विभूषित हों, उनके लिए मंगल-अमंगल का विचार नहीं है। चिता का भस्म अशुभ है, परन्तु शिव के शरीर को पा करके वह पवित्र हो जाता है। इसलिए जब वे ताण्डव करते हैं तो उनके अंग से झड़ी हुई भस्म को देवता लोग शिरसा धारण करते हैं।" इत्यादि—

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः।
तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्म रजोविशुद्धये
तत्थाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसात्॥

यहाँ शुभ या अशुभ का विचार उन लोगों के लिए है जो मूल तत्त्व-ज्ञान से अपरिचित हैं अर्थात् उनके लिए शुभ या अशुभ का विचार रूढ़िमात्र है। शिव चूँकि विश्वमूर्त्ति हैं, इसलिए वे मूल सृष्टिधारा के प्रतीक हैं। वे जो कुछ भी धारण करेंगे वह मूल सृष्टिधारा के अनुकूल होगा —और इसलिए मंगलमय होगा। कालिदास ने इंगित से यहाँ बताया है कि मंगल विश्वमूर्त्ति का आनुकूल्य है और अमंगल उसका प्रतिकूल्य। ताण्डव और कल्पवल्ली में विश्वमूर्त्ति छन्दोधारा का आनुकूल्य होता है। इसलिए उन्हें 'मांगल्य' कहा जाता है।

श्रेष्ठ अलंकरण

कालिदास ने विलासिनियों के सुकुमार वर्णन में अद्भुत कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने अनेक प्रकार के रत्न, माल्य, आभरण, मणि, मुक्ता, सुवर्ण आदि का बड़ा ही वैभवपूर्ण उज्ज्वल चित्र अंकित किया है। मदिरापान तक को उन्होंने इस प्रकार दिखाया कि मानो वह भी एक विशिष्ट मण्डन हो। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में तो रानी इरावती अपनी चेटी से पूछती है कि 'ऐसा सुना जाता है कि मदिरा स्त्रियों का विशेष मण्डन है, यह लोकवाद क्या सत्य है?' निपुणिका उत्तर

में कहती है कि 'पहले तो यह लोकवाद ही था, अब तुम्हें देखकर सत्य सिद्ध हुआ है।' वस्तुतः कालिदास ऐसे सौन्दर्यग्राही कवि हैं कि वे हर जगह कुछ-न-कुछ सौन्दर्य खोज ही लेते हैं। इसलिए यह कह सकना कठिन हो जाता है कि अपने बताये हुए विविध अलंकरण द्रव्यों में वे किसे श्रेष्ठ समझते हैं।

इसकी एक कसौटी बनायी जा सकती है। उनके काव्यों और नाटकों में जो अविस्मरणीय नायिकाएँ हैं, उनका वेश कैसा है ? वे कैसा अलंकार धारण करती हैं ? उनकी कौन-सी चेष्टाएँ कालिदास को कहने योग्य जान पड़ी हैं ? इस दृष्टि से देखा जाय तो कालिदास की प्रमुख नायिकाओं में जो नाम सबसे पहले स्मृतिपथ पर आयेंगे, वे हैं—पार्वती, सुदक्षिणा, सीता और शकुन्तला। यह विचित्र बात है कि ये सारी आदर्श सुन्दरियाँ तपोवनों में ही खिली हैं। इनमें एक भी ऐसी नहीं है जिसने प्रेम, शील, सेवा, संयम, तप आदि की तुलना में सुवर्ण, मणि-रत्न आदि से अपने को सजाया हो। जहाँ कहीं भी अवसर आया है, कालिदास ने उनके श्रृंगार के लिए पुष्पों, पल्लवों, किसलयों, दूर्वांकुरों आदि की ही योजना की है। उनका वास्तविक सौन्दर्य अन्तस्तल का है। उनका वास्तविक तेज विपत्ति या कष्ट में प्रत्यक्ष होता है। 'ऋतुसंहार' और 'रघुवंश' के अन्तिम सर्ग में जिन विलासवती सुन्दरियों की चर्चा है, वे मादक अवश्य हैं, परन्तु कालिदास के मन में उनके लिए विशेष गौरवपूर्ण स्थान नहीं है। गौरव का स्थान उनके लिए है जो तपोवनों में पली हैं, नियम और संयम में बढ़ी हैं, जिनका हृदय पति के प्रेम के लिए व्याकुल है और जिनका चरित्रबल अग्नि में तपे हुए सोने की भाँति दमका है।

दूसरी कोटि में भी जो नायिकाएँ आती हैं—जैसे मालविका, उर्वशी, यक्ष-प्रिया, रति, इन्दुमती—वे भी विलास में नहीं, कष्ट में ही निखरी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कालिदास सब स्थानों से सौन्दर्य का चयन कर लेते हैं, तथापि जब सौन्दर्य का निर्माण करने बैठते हैं तो शील, संयम, तपस्या, सदाचार और दुःख के द्वारा वासित प्रेम के ऊपर ही अपना चित्र उरेहते हैं।

कालिदास का एक अत्यन्त प्रिय विषय है—विवाह के मांगल्य आभरणों से वधू को सजाना। प्रायः हर काव्य और नाटक में इस प्रकार के प्रसंग वे अवश्य उत्थापित करते हैं और प्राण ढालकर इस मांगल्य-योजना का अनुष्ठान करते हैं। कालिदास की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि हर प्रेम-व्यापार को वे विवाह की ओर ले जाते हैं और वधू के मातृत्व पर ही उसका अवसान करते हैं। ऐसा लगता है जैसे कि वे प्रेम का रूप तब तक वन्ध्य ही मानते हैं जब तक पुत्रप्राप्ति के रूप में उसका पर्यवसान न हो। वात्सल्य भाव, कालिदास द्वारा वर्णित प्रत्येक प्रेम-व्यापार के आदि और अन्त में अवश्य आता है। नायिका पहले पिता-माता के उमड़ते हुए वात्सल्य का विषय बनती है और बाद में मातृत्व का वरदान पाकर धन्य हो जाती है। उनके प्रत्येक प्रेम-व्यापार की योजना में वात्सल्य स्नेह के कुछ-न-कुछ छींटे अवश्य आ जाते हैं।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि कालिदास प्रेम के पूर्ण रूप में विश्वास

करते हैं। वह वात्सल्य से शुरू होकर वात्सल्य में ही पर्यवसित होता है। वह कभी भी लक्ष्यहीन विलासमात्र नहीं है। वह अंकुर से बढ़ता हुआ सफल वृक्ष के रूप में पूर्ण होता है। उसमें एक प्रकार की शृंखला बँधी रहती है, जो अपने-आपके समान ही नये, जीवन्त तेजः-पदार्थ को उत्पन्न करके ही विरत होता है। वह गतिशील जीवन-प्रभाव को आगे बढ़ाकर ही चरितार्थ होता है। इसलिए वह 'मंगल' कहा जाता है। जो प्रेम प्रजातन्तु का व्यवच्छेद करता है वह वन्ध्य है, निष्फल है और इसीलिए अमंगलजनक है। कालिदास को वह प्रिय नहीं। इस विषय में वे पूर्णतः भारतीय परम्परा के श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "तपोवन में सिंह-शिशु के साथ नर-शिशु का जैसे क्रीड़ा-कौतुक है, वैसे ही उनके काव्य-तपोवन में योगी और गृही के भाव समन्वित हैं। काम की कारसाजी ने उस सम्बन्ध को विच्छिन्न करने की चेष्टा की थी। इसी से कवि ने उस पर वज्र-निपात करके तपस्या द्वारा कल्याणमय गृह के साथ अनासक्त तपोवन का पवित्र सम्बन्ध फिर से स्थापित किया है। कवि ने आश्रम की नींव पर गृहस्थधर्म का मन्दिर प्रस्तुत किया है और कामदेव के हठात् आक्रमण से नर-नारी के पवित्र सम्बन्ध का उद्धार करके उसे तपःपूत और निर्मल योगासन के ऊपर प्रतिष्ठित किया है। भारतीय शास्त्रों में स्त्री-पुरुष का संयत सम्बन्ध कठिन अनुशासन के रूप में आदिष्ट है और वही कालिदास के काव्यों में सौन्दर्य के उपादानों से सुसंगठित हुआ है। यह सौन्दर्य श्री, ह्री और कल्याण से उद्भासित है, गम्भीरता की ओर से नितान्त एकाकी और व्याप्ति की ओर से विश्व का आश्रयस्थल। वह त्याग से परिपूर्ण, दुःख से चरितार्थ और धर्म से ध्रुव निश्चित है। इसी सौन्दर्य से स्त्री-पुरुष के दुर्निवार और दुर्गम प्रेम के प्रलयकारी वेग ने अपने को संयत करके मंगलरूपी महासमुद्र में परमस्थिरता प्राप्त की है। इसी से यह संयत प्रेम, बन्धनहीन दुर्धर्ष प्रेम की अपेक्षा महान् और आश्चर्यजनक है।"

निस्सन्देह कालिदास को नारी के सौन्दर्य-चित्रण में विशेष रुचि है, लेकिन यह सौन्दर्य मंगल आभरण में ही अधिक निखरता है। अलकों से सज्जित उमा की मुखःश्री के सामने भ्रमरों से घिरा हुआ कमल और मेघखण्डों से घिरा हुआ चन्द्र-बिम्ब, दोनों ही हतप्रभ हो जाते हैं। विवाह के आभरणों से सज्जित उमा की सहज शोभा वैसे ही निखर उठती है जैसे तारों के निकलने पर रात जगमगा उठती है और विविध वर्ण के पक्षियों के आ जाने से नदी जगमगा उठती है। यह मांगल्य वेश कुछ इतना मनोहर है कि पार्वती स्वयं अपने को आईने में देखकर अभिभूत हो जाती हैं, क्योंकि स्त्रियों का शृङ्गार तभी सफल होता है जब वह प्रिय के आलोकन का विषय बन सके।

> आत्मानमालोकि च शोभमानम् आदर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
> हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः॥

कहने का मतलब यह है कि कालिदास सबसे बड़ा अलंकरण उस मांगल्य

आभरण को मानते हैं जो अन्तःस्थित प्रेम-भावना को व्यञ्जित करता है। वह प्रेम-भावना से ही उद्भूत होता है और उसका फल भी प्रिय की तृप्ति होता है।

प्रेम-व्यापार को उजागर करने में कालिदास सिद्धहस्त हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ निश्चित अभिप्राय उन्होंने स्वीकार किये हैं जो प्रेम की सूचना देने के लिए प्रयुक्त होते हैं। आरम्भ में नायिका का नायक को साभिलाष दृष्टि से देखने का एक बहुप्रयुक्त बहाना यह है कि विदा होते समय उसका वस्त्र या हार या और कुछ काँटे में उलझता है या काँटा चुभ जाता है और वह पीछे मुड़कर देखने का अवसर पाती है। शकुन्तला भी ऐसा ही करती है और उर्वशी भी। इसमें नायिका की शिष्टता, सलज्जता, प्रेमाभिलाष सभी एक साथ मुखर हो उठते हैं। शकुन्तला जब जाने लगी तो दो-चार पग चलकर सहसा यह कहकर रुक गयी कि मेरे पैर में कुश का काँटा चुभ गया है और यद्यपि उसका वल्कल कहीं उलझा नहीं था फिर भी घूँघट सरकाकर धीरे-धीरे पेड़ की शाखा से अपना वल्कल सुलझाने का बहाना बनाकर दुष्यन्त की ओर एक नज़र डालने का अवसर निकाल लिया :

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।

उर्वशी की वैजयन्तीमाला लता की शाखा में उलझ गयी थी। ऐसे अवसरों पर कालिदास प्रेमोत्फुल्ल नयनों की शोभा और कटाक्ष-निक्षेप का बड़ा ही हृदय-ग्राही वर्णन करते हैं। विरहावस्था में नामाक्षरों के गिनने की बात भी अभिप्राय रूप में आयी है। कालिदास अनेक कवि-प्रसिद्धियों का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन करते हैं। अशोक में दोहद उत्पन्न करना तो उनकी अतिप्रिय प्रसिद्धि है, पर ऐसे स्थलों पर वे प्रसिद्धि या रूढ़ि के रूप में उनकी चर्चा नहीं करते। रूढ़ि में सब समय 'अभिप्राय' नहीं होता। जब निश्चित उद्देश्य से किसी बात का वर्णन किया जाता है तो 'अभिप्राय' कहा जाता है। ऐसे बहुचर्चित प्रसंगों में कवि का उद्देश्य प्रेम का गाम्भीर्य, नायिका की शिष्टता और अभिलाषा की प्रखर गति को चित्रित करना होता है। यह अभिलाष भाव नायिका को सर्वाधिक मण्डित करता है। इस प्रगाढ़ प्रेम के द्वारा हर वस्तु को अलंकरणरूप में उपस्थित करने में कालिदास को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

कालिदास : स्फुट रचनाएँ

रूप और सौन्दर्य के मर्मज्ञ गायक कालिदास

कालिदास रूप-सौन्दर्य के कवि हैं। परन्तु रूप क्या है और उसका फल क्या है ? आभूषण और अंगराग क्या रूप के सहायक हैं ? कैसे सहायक हैं ?

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में 'भूषण' (रघु. 18 । 45; 19 । 45; मेघ. 2 । 12), 'आभरण' (माल. 5 । 7, रघु. 14 । 54, कुमार. 3 । 53, 7 । 21 इत्यादि), 'अलंकार' (माल.), 'मण्डन' (कुमार. 1 । 4; 2 । 11) आदि शब्दों का प्रयोग किया है। शास्त्रीय ग्रन्थों में इनके अलग-अलग अर्थ बताये गये हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास एक के अर्थ में दूसरे का प्रायः प्रयोग करते हैं। उन्होंने वल्कल को भी 'मण्डन' कहा है (शाकु. 1 । 9); और चित्र-विचित्र वस्त्रों, नयनों में विभ्रम-विलास उत्पन्न करनेवाली मदिरा को; पुष्पों और किसलयों को; तरह-तरह के आभूषणों को और चरण-कमलों को और भी मोहक बना देनेवाले लाक्षारस या महावर को भी (मेघ. 2 । 12)। शकुन्तला को कण्व ने 'प्रियमण्डना' कहा था और फिर आश्रम-वृक्षों के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण वह उनके पल्लवों को मण्डन-कार्य के लिए नहीं तोड़ती थी। यहाँ तरुपल्लव भी 'मण्डन' द्रव्य माने गये हैं। (शाकु. 4 । 3)। इसी प्रकार उन्होंने वसन्त-पुष्पों (अशोक, कर्णिकार, सिन्दुवार) को भी 'आभरण' कहा है (कुमार. 3 । 53) और अन्य आभूषणों को भी (कुमार. 7 । 21)। 'ऋतुसंहार' में एक जगह (2 । 12) माल्य, आभरण और अनुलेपन शब्दों का एक-साथ प्रयोग हुआ है, जिससे जान पड़ता है कि इनके विशिष्ट अर्थों की ओर उनका ध्यान था अवश्य। साधारणतः उन्होंने अलंकार और भूषण शब्दों का प्रयोग स्वर्ण, मणि आदि से बने अलंकारों के लिए किया है। 'मण्डन' शब्द का प्रयोग प्राकृतिक उपादान, जैसे पुष्प, पल्लव, मृणालवलय तथा अंगराग जैसे चन्दन, कुंकुम, गोरोचन, कस्तूरी, अलक्तक आदि के प्रसंग में किया है और 'आभरण' शब्द का प्रयोग दोनों के अर्थ में। उनके ग्रन्थों में अनेक प्रकार से मण्डन-द्रव्य से रूप को निखार देनेवाली स्त्री-प्रसाधिकाओं की भी चर्चा आती है (कुमार. 7 । 20, रघु. 7 । 7) और मालिक को सजानेवाले पुरुष-प्रसाधकों की भी चर्चा पायी जाती

है (रघु. 17 । 22)। इतना निश्चित जान पड़ता है कि कालिदास के युग में प्रसाधन-कला अपने शिखर पर थी और कदाचित् वर्ग-विशेष का पेशा भी बन चुकी थी।

परन्तु कालिदास पुरुष और स्त्री के सहज गुणों को ही आदर देते हैं। रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्य को निखार देने में जो समर्थ हो वही असल में अलंकार है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में सुन्दरियों के भाव-रसाश्रय अलकरणों की चर्चा की है। इनमें तीन शारीरिक या अंगज हैं--भाव, हाव, हेला; सात अयत्नज हैं, बिना किसी यत्न के विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य; दस स्वाभाविक हैं, विशेष-विशेष स्वभाव के व्यक्तियों में मिलते हैं--- लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किल-किंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, ललित और विहृत। पुरुषों में भी शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य, तेज आदि गुण अमल-सिद्ध अलंकरण हैं। कालिदास की दृष्टि मुख्यतः इन्हीं सहज गुणों की ओर गयी है। इन गुणों के होने पर बाहरी आभरण हों तो भले, न हों तो भले। शास्त्रों में बताया गया है कि समस्त अवस्थाओं में चेष्टाओं की रमणीयता ही माधुर्य है। जिस रूप में यह गुण होता है वह 'मधुर' कहा जाता है। शकुन्तला की आकृति ऐसी ही थी। कालिदास ने कहा है कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मधुर आकृतियों का मण्डन न बन जाये ? कमल का पुष्प शैवाल-जाल से अनुविद्ध होकर भी रमणीय बना रहता है, चन्द्रमा का काला धब्बा मलिन होकर भी शोभा-विस्तार करता रहता है और तन्वी शकुन्तला वल्कल-वेष्टिता होकर और भी मनोज्ञ बन गयी थी :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।।

—शाकुं., 1 । 19

इसी प्रकार पुरुष में यदि तेज हो तो राजचिह्न और महार्घ आभरणों के बिना भी वह दूर से ही पहचान लिया जा सकता है—उसी प्रकार जिस प्रकार अन्तर्मदावस्थ उस गजराज को पहचान लिया जाता है, जिसकी मदधारा अभी प्रकट नहीं हुई है। दिलीप ने राजचिन्ह छोड़ दिये थे, लताप्रतानों में फँसकर उनके लम्बे-लम्बे केश बुरी तरह उलझ गये थे, पर तेजोविशेष की दीप्ति से उन्हें पहचान लेना फिर भी आसान था :

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं
तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजि-
रन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ।।

- रघू., 2 । 7

कालिदास ने नारी-सौन्दर्य को बहुत महिमा-मण्डित देखा है। इसका मुख्य कारण उनकी यही निसर्ग-सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि है। भारतीय धर्म-साधना में देवी-देवताओं में शरीर और मन में आद्या शक्ति—विधाता की आद्या सृष्टि (मेघ., 2) —का विलास अपनी चरम परिणति पर आता है। शोभा का अनुप्राणक धर्म यौवन माना गया है —तत्रापि, नव-यौवन। राजानक रुय्यक ने अपनी 'सहृदय-हृदय-लीला' नामक पुस्तक में बताया है कि इसी अवस्था में अंगों में सौष्ठव और विपुलीभाव आता है और उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट होता है। कालिदास के शब्दों में कहें तो 'वपु विभक्त हो जाता है, उसमें असमानता प्रादुर्भूत होती है'— 'बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन' (कुमार., 2 । 31)। कालिदास ने इस अवस्था को अंग-यष्टि का असम्भृत मण्डन (अर्थात् अयत्न-सिद्ध सहज अलंकरण), मद का अनासव साधन (बिना मदिरा के ही मत्त बनानेवाला सहज मादक गुण), और प्रेम के देवता का बिना फल का बाण (सहजसिद्ध अभिलाषहेतु) कहा है :

असंभृतं मण्डनमंगयष्टे-
रनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्प-व्यतिरिक्तमस्त्रं
—बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥

—कुमार. 2 । 31

सत्कुल में जन्म, सुन्दर शरीर और अनायास प्राप्त ऐश्वर्य तथा नवयौवन— इनसे बढ़कर तपस्या के फल की कल्पना नहीं की जा सकती :

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसः
त्रिलोक सौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयः
तपः फलं स्यात् किमतः परं वद ॥

—कुमार., 5 । 41

शोभा और सौन्दर्य के वर्णन में नवयौवन के इस विभेदक धर्म को कालिदास ने विशेष रूप से मान दिया है। इस 'विभेद' या उभार को कालिदास ने जमकर अलंकार-लक्षित करके सहृदय-हृदय-गोचर बनाया है। इसीलिए वह उभरे हुए वक्षःस्थल पर झूलते हुए हार (चाहे वे शरत्कालीन चन्द्रमा की मरीचियों के समान कोमल मृणाल-नाल के बने हों या मुक्ताजाल-ग्रथित हेमसूत्र से गढ़े गये हों), श्रोणीबिम्ब को मण्डित करनेवाली कनक-काञ्ची या हेम-मेखला, हंसरुतानुकारी नूपुर, स्तनांशुक, अपांग-विलास, मदिरालसनयनापांग आदि का जमकर वर्णन करते हैं। कंकणवलय या मृणालवलय उन्हें पसन्द हैं, क्योंकि वे सुवृत्त कलाइयों की शोभा को निखार देते हैं, लाक्षारस और लहरदार किनारी उन्हें रुचिकर है। ताम्बूलराग, सिन्दूरराग, गोरोचना तिलक, धम्मिल्लपाश आदि इसीलिए वर्णनीय हैं कि वे 'चतुरस्र शरीर' के उभार को अधिक खिला देते हैं। प्रेम का देवता बहुत

प्रकार से नवयौवनशाली शरीर में निवास करके इस विभेद या उभार को आकर्षक बना देता है :

अंगानि निद्रालसविभ्रमाणि
वाक्यानि किञ्चिन्मदिरालसानि ।
भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि
चकार कामः प्रमदाजनानाम् ।
—ऋतु., 6 । 12-13

किन्तु केवल रूप और यौवन अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है। प्रेम होना चाहिए। कालिदास ने युवावस्था के मनोहर रूप के दो पक्षों पर अधिक बल दिया है। (1) उनके समय में यह प्रवाद प्रचलित था कि विधाता जिसे रूप देता है, उसके चित्त में महनीय गुण भी देता है, उसका चित्त पापवृत्ति की ओर नहीं जाता। यह प्रवाद कालिदास की दृष्टि में सत्य है—'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।' इसका मतलब यह हुआ कि पापवृत्ति की ओर उन्मुख होनेवाला रूप वस्तुतः रूप है ही नहीं। कालिदास इस सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। (2) प्रिय के प्रति सौभाग्य उद्रिक्त करना ही रूप-सौन्दर्य का वास्तविक फल है —'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' (कुमार. 5। 1)। राजानक रुय्यक ने दस शोभाविधायी धर्मों में प्रथम को 'रूप' कहा है और अन्तिम को 'सौभाग्य'। 'सुभग' उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसके भीतर प्रकृत्या वह रंजक गुण होता है, जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर। ऐसे ही सुभग व्यक्ति के आन्तरिक वशीकरण धर्म को 'सौभाग्य' कहते हैं। कालिदास ने 'मेघदूत' (1। 31) में 'सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यंजयन्ति' में इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में किया है। यह लक्ष्य करने की बात है कि सौभाग्य की व्यंजना विरहावस्था में होती है। रूप बाह्य आकर्षण है, सौभाग्य अन्तरतर का। पार्वती ने रूप की निन्दा की थी और सौभाग्य की कामना—'निनिन्दरूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता'।

सो, कालिदास के अनुसार यह आन्तरिक वशीकरण धर्म ही रूप का फल है। इसीलिए उनके रूप-वर्णन का एक ही लक्ष्य है, प्रेमी में उस शक्ति की प्रतिष्ठा जो प्रिय को सहज ही आकृष्ट कर सके। अत्यन्त उच्छल श्रृंगारिक वर्णन के प्रसंग में भी कालिदास इस बात को नहीं भूलते। उनके मत से मदन या मन्मथ द्विधाभूत शक्तियों का आश्रय है। एक ओर तो वह अग-जग में व्याप्त मंगल-निरपेक्ष यौन आकर्षण है। रूप उसका सहायक बनकर निन्दनीय होता है। 'कुमारसम्भव' का मदन-दहन और शकुन्तला के प्रथम प्रेम का प्रत्याख्यान इसी मंगल-निरपेक्ष यौन आकर्षण का प्रतिवाद है। पार्वती का सारा रूप, मदन का सारा पराक्रम और वसन्त का समूचा आयोजन तपस्वी के एक भ्रूक्षेप में ढह गया। देवता चिल्लाते रह गये कि 'हे प्रभो, क्रोध को रोकिए।' उनकी वाणी अभी आसमान में ही थी कि शिव के नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने प्रेम के इस देवता को भस्मावशेष बना दिया :

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार।।

—कुमार. 3 । 72

पार्वती ने अपने शरीर के लालित्य को व्यर्थ समझा (व्यर्थ समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च) और तपस्या के द्वारा रूप को अव्यर्थ करना चाहा। बिना तप के ऐसा सौभाग्य, ऐसा प्रेम, ऐसा पति कैसे मिल सकता था ?

कालिदास की रचना-प्रक्रिया

कालिदास एक रससिद्ध कवि थे। सहज सौन्दर्य का जैसा परिपाक इनके ग्रन्थों में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। रूप, वर्ण और प्रभाव का ऐसा चितेरा मिलना सम्भव नहीं है और आभिजात्य और विलासिता का भी ऐसा गायक संसार में शायद ही पैदा हुआ हो। राग और सौभाग्य के तो वे गायक हैं ही। परन्तु उनके काव्य-सौन्दर्य के विश्लेषण की दृष्टि रचना के साथ कुछ ऐसी घुलमिल गयी है कि दोनों को अलग करना बहुत ही कठिन कार्य है। उन्होंने बीच-बीच में ऐसे संकेत अवश्य दिये हैं जिनसे उनकी लालित्य-विषयक दृष्टि स्पष्ट होती है। परन्तु कई बार अत्यन्त सावधान आलोचक भी रचना के रस-प्रवाह में इस प्रकार बह जाता है कि उसे पता ही नहीं चलता कि कहीं कोई ऐसी भी बात कही जा रही है जिससे रचना-प्रक्रिया-सम्बन्धी उनके विचार स्पष्ट हो रहे हैं या आस्वादन-प्रक्रिया पर कोई प्रकाश पड़ रहा है। वस्तुतः उनकी दृष्टि में सौन्दर्य के मर्मज्ञ दो श्रेणी के होते हैं। एक को उन्होंने तत्त्वान्वेषी कहा है और दूसरे को कृती। 'तत्त्वान्वेषी' पाठक उनके काव्य में इतिहास खोजता है, भूगोल खोजता है, अलंकार खोजता है, छन्द और पद-लालित्य खोजता है, और इसी प्रकार की न जाने कितनी सारी बातें ढूँढता फिरता है। परन्तु जो लोग कृती हैं वे सीधे रस तक पहुँचते हैं और उसमें डूब जाते हैं। वे छककर सौन्दर्य का पान करते हैं, बेकार की बातों के चक्कर में वे नहीं पड़ते। कथित दोनों में कालिदास 'कृती' को अधिक पसन्द करते जान पड़ते हैं। 'तत्त्वान्वेषी' को वे हतभाग्य ही समझते हैं, क्योंकि वह मूल तत्त्व को छोड़कर बेकार की बातों में अपना समय नष्ट करता है। दुष्यन्त जब शकुन्तला को देखकर जाति-पाँति की बात सोचने लगा था, राज-धर्म और आश्रम-धर्म के

द्वन्द्व से टकरा रहा था, यह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि उसका क्या कर्त्तव्य है और क्या नहीं है, उसी समय एक कृती भँवरा पहुँच गया। उसने भय से कम्पमाना शकुन्तला के चंचल अपांगों का लक्ष्य अपने-आपको बनाया और कानोकान रहस्य की बात कहनेवाले ढीठ प्रेमिक की भाँति रस लेता रहा। दुष्यन्त के मन में उसके प्रति एक ईर्ष्या का भाव आया। वे अपने को तत्त्वान्वेषी और भँवरे को कृती कहकर अपने-आप पर तरस खाने लगे :

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः
करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं।
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥

उन्होंने तत्त्वान्वेष से अपने को मारा गया और भँवरे को निश्चित रूप से भाग्यशाली माना। राजा लक्ष्मणसिंह ने इस पद्य का इस प्रकार अनुवाद किया है :

दृग चौंकत कोए चले चहुँधा संग बारहिबार लगावत तू।
लगि कानन गूँजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू।
कर रोकती को अधरामृत ले रति को सुखसार उठावत तू।
हम खोजत जातिहिं पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू।

मैं स्वयं भी कृती होने का ही अधिक गौरव मानता हूँ। लेकिन आज मैं तत्त्वान्वेषी होने का ही संकल्प कर रहा हूँ। मैंने आज के लिए जो विषय चुना है वह तत्त्वान्वेषी का ही सोचा हुआ विषय हो सकता है। विषय है—'कालिदास की दृष्टि में रचना-प्रक्रिया।'

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में कई जगह इस रचना-प्रक्रिया की ओर इंगित किया है। ऐसा करते समय उन्होंने स्वयं को तो नहीं, लेकिन विधाता को अवश्य आगे रख लिया है। विधाता भी एक कलाकार ही है। कालिदास विधाता की रचना-प्रक्रिया के बारे में जब कहते हैं तो वस्तुतः वे कलाकार की रचना-प्रक्रिया के बारे में कहते हैं। उनका कहना है कि जब विधाता किसी सुन्दर रूप की रचना करता है तो उसे भी समाहित और सत्वस्थ चित्त की आवश्यकता होती है। यह और बात है कि विधाता, मानव कलाकार की तुलना में, अधिक विभु और अधिक समर्थ है। शकुन्तला सृष्टि की सर्वोत्तम रूपवती थी। विधाता ने उस रूप की रचना कैसे की होगी? कालिदास नाटक के नायक के मुख से कहलवाते हैं कि ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला की मानस-कल्पना की होगी। उस समय उनके चित्त में रूप का उफान रहा होगा। उन्होंने अपने चित्त को सत्वस्थ और समाहित किया होगा। फिर उन्होंने पुराने चौदह रत्नों से भिन्न (और शायद उत्तम भी) यह स्त्री-रत्न बनाया होगा—ऐसा मुझे लग रहा है। यह बात मेरे मन में इसीलिए आती है कि एक ओर इस शकुन्तला के मनोहर रूप को देखता हूँ और दूसरी ओर विधाता का अपार सामर्थ्य (विभुता):

चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगाद्
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ।।

कलाकार की रचना-प्रक्रिया के बारे में यह कालिदास का बहुत स्पष्ट मत है। कलाकार पहले मानसी सृष्टि करता है, फिर समाहित और सत्वस्थ चित्त से उसे अभिव्यक्ति देता है।

वस्तुतः कालिदास तपस्या से प्राप्त समाधि को हर वस्तु की सफलता के लिए आवश्यक मानते हैं। पार्वती का कांचन-पद्मधर्मी रूप, जो प्रकृत्या सुकुमार था और ससार भी था, प्रेम के अपदेवता के हस्तक्षेप के कारण अपने महान् प्रेमी को आकृष्ट करने में असफल हो गया। इस अद्भुत रूप के वर्णन में कालिदास की लेखनी थकना नहीं जानती। परन्तु उस चारुता या सौन्दर्य को क्या कहा जाये जो प्रिय के सौभाग्य का फल न दे सके। कालिदास मानते हैं कि 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता', परन्तु यह सौन्दर्य ऐसा फल नहीं दे सका। नारी-सौन्दर्य की परा-काष्ठा पर पहुँचनेवाली यह चारुता अकेली नहीं थी। अकाल-वसन्त, जो काम-देवता के इशारे पर एकाएक आविर्भूत हो गया था, प्रकृति का भरपूर सहयोग पाकर और भी मादक हो उठा था। सारी प्रकृति में प्रेम के इस निचले स्तर की अभिलाष-भावना से उन्माद छा गया था। अशोक कन्धे पर से फूट पड़ा था। आम का वृक्ष अकारण ही किसलय और मंजरियों से भर गया था। कर्णिकार अपने पीले फूलों की समृद्धि से जगमगा उठा था। लाल फूलों से पलास की शाखाएँ झूम उठी थीं। तिलक फूलों पर भ्रमरावली गुंजार करने लगी थी। प्रियाल के पुष्पों से पराग उड़-उड़कर हरिणी के मनोहर आँखों में गिरने लगे थे और उन्मत्त मृग वनभूमि के पत्तों पर मर्मर ध्वनि करते हुए इधर से उधर भागने लगे थे। आम की मंजरियों के आस्वादन से पुरुष-कोकिल का कण्ठ निखर गया था। और वह उन्मत्त भाव से कूजने लगा था। अचानक सर्दी के खत्म होने से और गर्मी के आ जाने से किन्नर वधुओं के मुख पर शोभित होनेवाले पत्र-विशेष—पत्रछेद्य—पसीना आ जाने से छूटने लगे थे, तपस्वियों के मन में भी विकार पैदा होने लगे थे और बड़ी कठिनाई से वे अपने को रोकने में समर्थ हो पाये थे। ज्यों ही फूलों का धनुष ताने मदन देवता रति को साथ लिये वनस्थली में पधारे त्यों ही वहाँ के सभी जन्तुओं में रमणेच्छा की प्रबल प्रेरणा दिखायी पड़ी थी। भ्रमर अपनी प्यारी भ्रमरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा था। कृष्णसार मृग अपनी संगिनी के स्पर्शजन्य आनन्द से मुकुलितनयना मृगी को खुजलाने लगा था। करेणु-बाला अपने प्रियतम गजराज को बड़े प्रेम से कमल की सुगन्धि से भीना गण्डूष-जल पिलाने लगी थी। आधे खुले हुए मृणाल-नाल को चक्रवाल ने भी अपनी प्रिया चक्रवाकी को समर्पित किया था। गान गाते-गाते बीच ही में किन्नर युवा ने पुष्पासव से घूर्णित नेत्रोंवाली प्रिया का मुँह चूम लिया था—और, और

तो और, वृक्षों ने भी अपनी लता-वधुओं को आलिंगन-पाश में बाँध लिया था। समूची वनस्थली अनुराग चंचल हो उठी थी। शिव के गणों के चित्त में भी विक्षोभ पैदा हुआ था। गुहा-द्वार पर बैठे हुए नन्दी को मुँह पर अंगुली रखकर इशारे से उन्हें शान्त रहने का आदेश देना पड़ा था। नन्दी के इशारे से वनस्थली एकाएक ठिठक गयी थी, वृक्षों ने हिलना बन्द कर दिया था, भँवरों ने गूँजना छोड़ दिया था, पक्षियों का चहकना रुक गया था। जंगली जीवों की धमाचौकड़ी शान्त हो गयी थी। नन्दी के इशारे से सारा वन ऐसा लगने लगा था, जैसे किसी काम के शुरू करने के समय एकाएक चित्र बना दिया गया हो। धीरे-धीरे काम-देवता ने शिव की नजर बचाकर आश्रम के कोने में लगे हुए नमेरु वृक्ष की पत्राच्छादित शाखा पर अपना आसन जमाया। उसने देवदारु-द्रुम की वेदी पर, जो व्याघ्रचर्म से आच्छादित था, समाधिनिष्ठ शिव को देखा—

पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायम्
ऋज्वायतं संनमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्
प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं
कर्णावसक्त वसक द्विगुणाक्ष सूक्तम्।
कण्ठप्रभास्वंग विशेषनीला
कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम्॥
किञ्चित् प्रकाशस्तिमितोग्रतारै-
र्भ्रूविक्रियायां विरत प्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पन्दित पक्ष्ममालै
लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः॥
अवृष्टिसंदंभमिवाम्बुवाह-
मथामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां कुक्षतां निरोधा-
न्निवातनिष्कम्पमिवप्रदीपम्॥

—कु., 3। 45-48

[बैठे संयमी त्रिलोचन शिव,
पर्यंकबन्धस्थिर पूर्वकाय, ऋजु आयत झुके विशाल कन्ध,
उत्फुल्ल कमल-से लाल-लाल,
उन्नत करतल रख अंक मध्य,
उद्धत भुजंगवृत—जटाजूट,
कर्णावसक्त रुद्राक्ष सूत्र, द्विगुणित अटूट,
कण्ठद्युति से नीलातिनील,
मृगचर्म वर्म-सा कस अढील,

लोचन उनके भ्रूभंग-विरत,
किंचित् प्रकाश से स्तिमित उग्रतारक, अडोल,
अस्पन्दित पक्ष्म अराल-जाल,
नतनिम्न प्रान्त नासाग्रवद्ध,
अन्तश्चारी चंचल प्राणानिल के
निरोध से स्थिर नितान्त,
घनघुम्मर वृष्टिपूर्व अम्बुद,
या निस्तरंग निःस्पन्दजलाशय,
या कि निवात-निकम्पित दीपशिखा-से अचल शान्त ।]

समूचे चित्र में असंयत काम-चेतना की पृष्ठभूमि में निवात-निष्कम्प दीप-शिखा की भाँति स्थिर संयमी शिव का प्रशान्त रूप चित्रित किया गया है । असंयत प्रकृति का नाम ही विकृति है और संयत प्रकृति का नाम संस्कृति। विकृत काम-चेतना के कारण पूरी वनस्थली मोह से उद्भ्रान्त हो उठी थी । लेकिन संयत संस्कृति के द्वारपाल नन्दी के एक इंगित से वह ठिठककर खड़ी हो गयी । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा था, "कालिदास ने पुष्पधनु की प्रत्यंचा-ध्वनि को विश्वसंगीत के स्वर से विच्छिन्न नहीं होने दिया ।"

शिव के शान्त-निस्पन्द रूप को देखकर काम-देवता धीरज खो बैठा । उसके हाथ से फूलों का धनुष गिरने को आया । इसी समय उद्दाम प्रकृति की असंयत पृष्ठ-भूमि में पार्वती का आविर्भाव हुआ । कैसी थीं वह पार्वती !

अशोक निर्भर्त्सितपद्मराग-
माकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं-
वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ।।
आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा
संचारिणी पल्लविनी लतेव ।।
स्रस्तां नितम्बादवलंबमाना
पुनः पुनः केसरदाम काञ्चीम् ।
न्यासीकृता स्थानविदा स्मरेण
मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ।।
सुगन्धिनिःश्वास विवृद्ध तृष्णां
विंबाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टि-

लीलारविन्देन निवारयन्ती ।।

—कु. 3 । 53-56

[वनदेवियों के साथ,
स्थावर राजकन्या पार्वती दिख गयीं ।
अपनी मोहिनी तनुलता के सौन्दर्य-गुण से
पुष्पधन्वा के बुझे बल को जगातीं-सी,
सजीं मणि-पद्मरागजयी विशोक अशोक कुसुमों से,
सुवर्णद्युतिहरणकारी मनोहर कर्णिकार प्रसूनदल से,
और वसन्त-विकासि-पुष्पाभरण से जगमग ।
नवलप्रत्यूष के रवि की अरुणिमा से रँगी-सी चूनरी धारे,
अवनमित तनिक वक्षोभार से ऐसी लगीं,
मानो चली हो आ रही संचारिणी-सी एक पल्लविनी लता
पर्याप्त पुष्पस्तवकभार-विनम्र ।
कटिदेश में विस्रस्त मौलसिरी-सुमन की करधनी
सुकुमार भंगी में बँधी ऐसी दिखी
मानो कि उचित-स्थान के मर्मज्ञ
मदन महीप ने
अपने कुसुम के धनुष की यह दूसरी मौर्वी
वहाँ विन्यस्त कर दी हो,
कि यह सुकुमार केसरदाम-कांची
बार-बार सरक रही थी,
और थीं उसको सँभाल जा रहीं गिरिराज-कन्या
किसलयों से भी मृदुल कर से ।
सरस-निःश्वास-सुरभित गन्ध से आकृष्ट
लोभी भ्रमर
उनके बिम्बफल-से लाल अधरों के निकट मँडरा रहा था,
और भय से
भ्रमित-चंचल हो उठी थी चकित चितवन लोल,
वारण कर रही थीं उसे
कर-पल्लव-लसित
सुकुमार लीला कमल से
अनवरत बारम्बार ।]

पार्वती का यह निसर्ग-ललित रूप है । कालिदास ने यहाँ उदात्त की पृष्ठभूमि में ललित का मोहन रूप उपस्थित किया है । पार्वती की यह शोभा नैसर्गिक थी । हारते हुए कामदेव को और सहारा मिला । पार्वती के रूप का सहारा लेकर काम-देवता ने अपना फूलों का बाण सम्हाला, ध्यानावस्थित धूर्जटि के हृदय को

लक्ष्य करके वह दुरन्त-सम्मोहन सायक फूलों के धनुष से छूटा, क्षण-भर के लिए शिव का हृदय चंचल हो उठा। कभी मर्यादा से विचलित न होनेवाला समुद्र जिस प्रकार चन्द्रोदय के समय चंचल हो उठता है, उसी प्रकार महादेव का अक्षोभ्य हृदय पार्वती के चन्द्रमुख को देखकर क्षणभर के लिए उच्छ्वसित हो उठा। लेकिन यह स्थिति देर तक नहीं रही। देवता लोग आसमान से शिव के क्रोध-संवरण के लिए कातर प्रार्थना करने लगे, परन्तु जब तक उनकी वाणी वायु-मण्डल भेद करने में समर्थ हुई, उसके पूर्व ही समाधिनिष्ठ महादेव की नयनाग्नि से कामदेवता कबूतर के समान कर्बुर रंग के भस्म में परिणत हो गया। पार्वती का रूप और प्रकृति की सारी तैयारी व्यर्थ गयी। 'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती' (पार्वती ने अपने मन में इस रूप की निन्दा की)। इसे कैसे सफल बनाया जाये! एक ही उपाय था—तपस्या करके, समाधि प्राप्त करके, इस रूप को सफल बनाया जा सकता था। बिना समाधि के उस प्रकार का प्रेम और वैसा मनोभिलषित पति कैसे मिल सकता है?

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

सो, रूप को अवन्ध्य करने के लिए भी समाधि आवश्यक है। जिस कलाकार का चित्त समाहित नहीं होता या रचना करते समय भी जिसकी समाधि टूट जाती है, वह अपनी कला में भी चूक जाता है। 'मालविकाग्निमित्र' में एक प्रसंग आया है। राजा (नायक अग्निमित्र) ने कहीं मालविका का चित्र देखा था। चित्र देखकर ही वह उस पर मुग्ध हो गया था। प्राचीन भारतीय काव्यों में चित्र-दर्शन से प्रेम उत्पन्न होना एक मोटिव् है, कथानकरूढ़ि है। लेकिन ऐसा हुआ कि राजा ने एक अवसर पर सचमुच जीती-जागती मालविका को देख लिया। उस अवसर पर कालिदास ने राजा से कहलवाया है कि जब मैंने इसे चित्र में देखा था तो उस समय मेरे मन में आया था कि ऐसा रूप तो संसार में क्या होता होगा, जरूर चित्रकार ने कुछ बढ़ा-चढ़ाके बना दिया है। कवि और चित्रकार कुछ अतिशयोक्ति तो करते ही हैं। लेकिन अब जब इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ तो लगता है कि चित्रकार ने इस रूप का सही-सही चित्रण नहीं किया। किसी कारण से उसकी समाधि शिथिल हो गयी थी। कहाँ बना पाया वह कान्ति का ऐसा उफनता रूप?

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम्
सम्प्रति शिथिलसमाधिमन्ये येनेयमालिखिता॥

सो, समाहित सत्वस्थ चित्त उत्तम कलाकृति की पहली शर्त है। उत्तम रचना इसके बिना सम्भव नहीं है। यदि चित्र थोड़ी देर के लिए भी राजस या तामस भाव से अभिभूत हुआ तो न तो कलाकृति ठीक उतर पाती है, न उसका आस्वादन ही ठीक ढंग से हो पाता है। मनुष्य कलाकार को ध्यान में रखकर ही समूची सृष्टि

के रचयिता की कल्पना की गयी होगी। कलाकार पहले मानसी कल्पना करता है, इसके बाद वह वास्तविक कलाकृति को रूप देता है। इस अद्भुत सृष्टि के लिए भी इसी प्रकार की प्रक्रिया चली होगी। हमारे पुराणों में कल्प और सृष्टि की बात की जाती है। कल्प विधाता की मानसिक परिकल्पना है और सृष्टि उसकी वास्तविक रचना। वास्तविक रचना के समय उपादानों की आवश्यकता होती है। कलाकार को उपादानों की प्रकृति को समझना पड़ता है, उनकी अनुकूलता प्राप्त करनी होती है। जिन वस्तुओं से कलाकृति का निर्माण करना होता है, उनके आनुकूल्य प्राप्त करने के प्रयत्नों को ही आधुनिक लालित्यशास्त्री 'परसुएशन' कहते हैं। आपको पत्थर का उपयोग करना है तो पत्थर की प्रकृति जाननी होगी और अपनी मानसिक परिकल्पना को मूर्त्त रूप देने के लिए उसकी मनावन करनी होगी, उसका आनुकूल्य प्राप्त करना होगा, उसे 'परसुएड' करना होगा। नहीं तो रचना ठीक नहीं बनेगी। चित्रकार को आधार वस्तुरेखा, रंग और तूलिका की अनुकूलता प्राप्त करनी होगी। अगर जबर्दस्ती करेंगे तो वांछित रूप नहीं बन सकेगा। संस्कृत की उक्ति है : 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' (चला था गणेशजी की मूर्त्ति बनाने, बन गया बन्दर), इसलिए सारे उपादानों की प्रकृति समझनी चाहिए और उनका आनुकूल्य प्राप्त करना चाहिए। तपस्या यही प्रयत्न है। उसके अभाव में कलाकृति बन ही नहीं सकेगी। कालिदास ने इस प्रयत्न को बहुत आवश्यक माना है। केवल मनुष्य कलाकार के लिए ही नहीं, परम विभु विधाता के लिए भी यह आवश्यक है।

शकुन्तला बहुत सुन्दर थी। विधाता ने उसकी चौदह रत्नों से भिन्न और विलक्षण पन्द्रहवें रत्न के रूप में सृष्टि की थी, पर सत्वस्थता उसे भी आवश्यक थी। और पार्वती ? कालिदास ने अपना सम्पूर्ण मानस उँड़ेलकर उस दिव्य-मनोहर रूप का वर्णन किया है। पर विधाता ने कैसे निर्माण किया था इस मनोहारी शोभा का ? कालिदास कहते हैं, प्रयत्न से। मिहनत करनी पड़ी थी। पहले उसने सारे संसार से उपमान-द्रव्यों का संग्रह किया होगा, और उनके सौन्दर्य-विधायी तत्त्वों को निपुण कलाकार की दृष्टि से देखा होगा, उन्हें यथास्थान सजाया होगा। कहीं भी कोई अच्छी-से-अच्छी चीज नहीं फिट की जा सकती; मात्रा का ध्यान रखना होता है, परिप्रेक्ष्य का ख्याल रखना होता है, औचित्यविधायी विनियोजन पर आँखें बिछानी होती हैं — यथास्थान विनिवेशन की कला अध्ययन चाहती है, अभ्यास चाहती है, निरीक्षण की सुशिक्षित दृष्टि चाहती है। निश्चय ही विधाता नामक कलाकार ने इन पर ध्यान दिया होगा। फिर प्रयत्नपूर्वक उनका उचित विनिवेश किया होगा। मगर यह सारी माथापच्ची किसलिए ? सारी दुनिया में बिखरी हुई सुन्दरता को एक ही जगह देख लेने के लिए। कलाकार यही करता है—विधाता ने यही किया होगा। शायद कालिदास स्वयं ऐसा ही किया करते थे। शायद क्यों, निश्चित रूप से :

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन
यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नाद्
एकत्र सौन्दर्य-दिदृक्षयेव ।।

विधाता ने कैसे रचना की होगी, यह जानने का साधन हमारे पास नहीं है। कालिदास के पास भी नहीं था। उन्होंने स्वयं ऐसा किया होगा, इसमें सन्देह करने का कारण नहीं है। जहाँ कहीं भी उन्होंने अद्भुत सौन्दर्य का वर्णन किया है, वहीं समस्त उपमान-वस्तुओं के शोभाविधायी धर्मों का संचयन किया है और उसे प्रयत्नपूर्वक यथास्थान विनिवेशन किया होगा। उद्देश्य उनका भी एकत्र सौन्दर्य दिदृक्षा रही होगी।

'मेघदूत' में एक जगह सौन्दर्य को सारी प्रकृति में देखकर भी उसके एक जगह न मिलने से जो व्याकुलता थी, उसे कालिदास ने बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से कहा है। 'मेघदूत' का यक्ष अपनी प्रिया के अव्याज मनोहर अंगों के उपमान-द्रव्यों को सर्वत्र बिखरा हुआ देखता है, पर उनके यथास्थान सन्निवेश को एक ही स्थान पर न देखकर उसका हृदय व्याकुल क्रन्दन कर उठता है :

श्यामास्वंगं चकित हरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकत्र क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ।।

सो, एकत्र सौन्दर्य-दिदृक्षा कालिदास की अपने हृदय की व्याकुल और कातर अभिलाषा है।

संगृहीत उपमान-द्रव्यों का यथाप्रदेश विनिवेशन सचमुच बड़ा कौशल है। जिस या जिन वस्तुओं का सन्निवेश करना है उनका गहराई से निरीक्षण आवश्यक है और उनकी प्रकृति की अच्छी जानकारी भी अपेक्षित है। एरिक न्यूटन ने लिखा है कि यदि कलाकार माध्यम (उपादान भी, उपकरण भी) के स्वभाव-सम्मत चित्रण की उपेक्षा करता है और जबर्दस्ती अपनी इच्छा उस पर लादने का प्रयास करता है तो वह अपने को ही जोखिम में डाल देता है। कुशल शिल्पी की सफलता का रहस्य यह है कि वह माध्यम का ठीक-ठीक उपयोग करता है, उसके स्वाभाविक आचरण को इस प्रकार अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है कि वह जोर-जबर्दस्ती के बिना अपनी मर्ज़ी से ही उसकी सहायता करने लगता है। जापानी कुश्तीबाज़ की तरह वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रयत्नों को अपने अनुकूल बनाता है और उसे चित करने में उसके प्रयत्नों का उपयोग करता है। सच्चा कलाकार अपनी मर्ज़ी को अपने माध्यम की मर्ज़ी के साथ एकमेक कर देता है (दि मीनिंग ऑफ ब्यूटी, पृ. 89-90)।

कालिदास सच्चे कलाकार भी थे और सच्चे कलाकार की सफलता के इस रहस्य को जानते भी थे। वे उपादानों के सहज रूप का भी रहस्य समझते थे और

उनके प्रयत्नसाध्य निखार का भी। सहज और प्रयत्नसाध्य—दोनों के प्रति उनकी निष्ठा और प्रीति थी। उन्हीं के शब्दों में, इसे 'द्विसंश्रया' प्रीति कहते हैं। पार्वती के मुख को आश्रय करके सौन्दर्यलक्ष्मी ने द्विसंश्रया प्रीति पायी थी। चन्द्रमा का आह्लादक धर्म सहज है, पद्म या कमल को इस धर्म को प्राप्त करने के लिए सूर्य की किरणों की सहायता लेनी पड़ती है—अर्थात् वह प्रयत्न-साध्य है। सौन्दर्य-लक्ष्मी ने इन दोनों आह्लादक धर्मों को एक स्थान पर प्राप्त किया था, इसीलिए वह द्विसंश्रया प्रीति थी :

चन्द्रंगतो पद्मगुणं न भुंक्ते
पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्यान् ।
उमामुखं तं प्रविविश्य लोला
द्विसंश्रया प्रीतिमवापलक्ष्मीः ।।

चित्र के बारे में कालिदास ने बहुत जगह बहुत-कुछ कहा है। लगता है वे स्वयं अच्छे चित्रकार थे। उन्होंने एक प्रसंग में दो प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है : अन्यथाकरण और अन्वयन। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त से चित्रकर्म कराया गया है। एक जगह राजा कहता है :

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात्
क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं
रेखया किंचिदन्वितम् ।।

इस श्लोक से इन दो प्रक्रियाओं का नामकरण भी किया गया है। इससे चित्र-विषयक उनके विचारों को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। चित्रकार हो, मूर्त्तिकार हो, शब्दशिल्पी हो, सबको बाह्य जगत् की वस्तुओं को कुछ बदलना पड़ता है। बाह्य जगत् चार आयामों का है। मूर्त्तिकार को तीन आयाम सुलभ हैं; काल का आयाम उसे सुलभ नहीं है। चित्रकार को दो आयाम सुलभ हैं—लम्बाई और चौड़ाई। मोटाई और गहराई उसे सुलभ नहीं है। शब्दशिल्पी को केवल एक ही आयाम सुलभ है – काल का आयाम; बाकी तीन उसे सुलभ नहीं। इसीलिए कोई भी शिल्पी बाह्य जगत् से प्राप्त सामग्री में कुछ फेर-बदल करता है। इसी को आधुनिक लालित्यशास्त्री 'डिस्टार्शन' कहते हैं। कालिदास 'अन्यथाकरण' कहते हैं। चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता, ठीक-ठीक नहीं बन पाता, उसका अन्यथाकरण करना पड़ता है—'क्रियते तत्तदन्यथा'। अन्थाकरण की निर्माणोन्मुखी प्रक्रिया बाह्य जगत् के समाजस्वीकृत रूपों को जोड़कर सही अर्थों में उपलब्ध कराती है। द्रष्टा सिर्फ यह नहीं समझता कि वह जान रहा है, बल्कि यह कि वह अनुभव कर रहा है, कि वह देख रहा है, पा रहा है। ज्ञात-वस्तु दृष्ट होती है, दृष्ट उपलब्ध। स्पष्ट ही कलाकार अन्यथाकृत बाह्य जगत् के अवयवों से उतना ही नहीं देता जितना बाह्य जगत् में मिलता है, बल्कि उसमें कुछ और जोड़ता है। 'रेखया किंचिदन्वितम्'– यही उसकी रचनात्मक शक्ति का वैशिष्ट्य है। 'चित्रसूत्र' और

'मानसोल्लास' आदि प्राचीन ग्रन्थों में कई प्रकार के चित्रों की चर्चा है। एक तो सत्यचित्र या विद्धचित्र ही है, फिर भावचित्र है, रसचित्र है। इनमें कलाकारहू-ब-हू की अपेक्षा कुछ अधिक देता है। कालिदास इन अधिकदायी चित्रों को बहुमान देते हैं। उन्हीं के शब्दों का व्यवहार किया जाये तो इस बात को 'अन्वयन कौशल' कहा जा सकता है।

'अन्वय' शब्द का चुनाव बड़ी सावधानी से किया गया जान पड़ता है। कालिदास ने अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग 'सन्तान परम्परा' के अर्थ में किया है—'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' (मैं रघु की वंश-परम्परा का वर्णन करूँगा)! चित्र अपने-आपमें एक स्थिर पदार्थ है, पर जब वह रसयुक्त बनता है तो भावपरम्परा को दीर्घकाल तक उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वीणा के तार को हल्का-सा आघात कर देने से देर तक 'अनुरणन' होता रहता है। परन्तु वीणा का अनुरणन श्रव्य ध्वनि-परम्परा है और चित्र या मूर्त्ति का अनुरणन मानसिक भाव-परम्परा है। इसी भाव-परम्परा के उत्पन्न करने की क्षमता को अन्वय कहा जाता है और उस प्रक्रिया को 'अन्वयन'।

" 'चित्रसूत्र' से पता चलता है कि भारतीय कला के आचार्य रेखा को बहुत महत्त्व देते हैं। सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ श्री न. च. मेहता (एन. सी. मेहता) लिखते हैं कि रेखा-सौन्दर्य पर भारत-एशिया-भर की चित्रकला का दारोमदार है। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि पौरस्त्य चित्र केवल रंगीन रेखाचित्र हैं। आलेख्य वस्तु को रेखाबद्ध करके ही रंग-विधान किया जाता है। पहले चित्र का खाका खींचते हैं, फिर उसमें रंग भरा जाता है—यहाँ तक कि अकबर के जमाने के महाभारत के फ़ारसी अनुवाद 'रज्बनामा' के अतीव सुन्दर चित्र दो-दो तीन-तीन चित्रकारों के हाथ के बने हैं। एक ने रेखा खींची है जिसे चित्रों की भ.षा में 'तरह' करना कहते हैं। दूसरे ने रंग भरा है जिसे 'रंगरेज' अथवा 'रंगामेज़' कहते हैं। एक चित्र में कभी-कभी 'तरह' के, रंग के, हाशिए के, बिल्कुल अलग-अलग कारीगर हुआ करते थे। 18वीं और 19वीं शताब्दी में कई चित्र बिना रंग के 'स्याह कलम' भी मिलते हैं।" (चित्रमीमांसा, पृ. 6-7) वस्तुतः चित्रकार रेखा के माध्यम से ही चित्र को जीवन्त और रसयुक्त बनाता है। चित्र के बीचोबीच 'भूलम्भ' या 'ब्रह्म-रेखा' होती है। विभिन्न भावों और रसों के चित्रण में इस भूलम्भ रेखा से इधर-उधर के झुकाव से भाव या रस को अनुभव योग्य बनाया जाता है। पर चित्र में सिर्फ रेखा द्वारा नतोन्नत भाव नहीं आता। आजकल आलोक-छाया की पद्धति से इस बात को स्पष्ट किया जाता है। पुराने चित्रकार रेखा के माध्यम से ही यह कार्य किया करते थे। इसे 'वर्त्तना' कहा जाता था। यह नतोन्नत उच्चावच भाव दिखाने के लिए चित्रकार को बड़ी सावधानी से रेखा में लघुता या पृथुलता की योजना करनी पड़ती है। 'रेखा' और 'वर्त्तना' पुराने चित्रकारों के कौशल की कसौटी हैं। 'चित्रसूत्र' (41-11) में कहा गया है कि 'रेखां प्रसंसन्त्याचाया वर्तनां च विचक्षणाः'। इसलिए अन्वयन कार्य में रेखा का इतना महत्व कालिदास ने

स्वीकार किया है। अपने ग्रन्थों में उन्होंने वातावरण और अलंकार के महत्त्व का भी निर्देश किया है। वातावरण के बिना भावचित्र और रसचित्र अधूरे रह जाते हैं। मुक्तक रचनाओं की व्याख्या के लिए एक प्रकार के वातावरण की योजना करनी पड़ती है। कौन कह रहा है, किससे कह रहा है, किस परिस्थिति में कह रहा है, इन बातों की योजना न की जाये तो बिहारी और अमरुक की श्रेष्ठ रचनाएँ भी समझ में नहीं आयेंगी।

मृत्युंजय रवीन्द्र

लेखक का वक्तव्य

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर हमारे देश के मूर्धन्य कवियों में हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। सारे संसार में उनका सम्मान है। भारतवर्ष जिन दिनों राजनीतिक पराधीनता का शिकार था, उन दिनों रवीन्द्रनाथ की रचनाओं ने संसार के मूर्धन्य विचारकों को इतना अधिक प्रभावित किया था कि उसके शक्तिशाली शासकों का यह प्रचार अपने आप खण्डित हो गया कि भारतीय जनता पिछड़ी हुई अर्द्धसभ्य अवस्था में है, इसलिए उसे किसी सभ्य जाति का सहारा अत्यन्त आवश्यक है। रवीन्द्रनाथ के सम्मान ने देशवासियों में नवीन अपराजेय आत्मबल का संचार किया था। महात्मा गाँधी के सिवा और कोई दूसरा नेता नहीं है जिसने देश में ऐसी आत्म-गरिमा का संचार किया हो; परन्तु रवीन्द्रनाथ की साहित्यिक कृतियाँ तो महत्त्वपूर्ण थीं ही, उनका व्यक्तिगत जीवन भी उसी प्रकार महान् और प्रेरक था। इन पंक्तियों के लेखक को लगभग बारह वर्ष तक उनके निकट सम्पर्क में रहने का अवसर मिला था। उनका जीवन बहुत ही संयमित और प्रेरणादायक था। उनके निकट जानेवाले को सदा यह अनुभव होता था कि वह पहले से अधिक परिष्कृत और अधिक बड़ा होकर लौट रहा है। बड़ा आदमी वह होता है जिसके सम्पर्क में आनेवाले का अपना देवत्व जाग उठता है। रवीन्द्रनाथ ऐसे ही महान् पुरुष थे। उनके पास क्षण-भर भी बैठना परम सौभाग्य का विषय था। सदा उनसे नयी प्रेरणा और नया सन्देश मिलता था। वे विधाता के भेजे हुए परिपूर्ण मनुष्य थे। वे सच्चे अर्थों में 'गुरु' थे।

इस पुस्तक में समय-समय पर कवि की रचनाओं और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखे गये मेरे लेखों का संग्रह है। आयुष्मान् विद्याधर मोदी ने इन्हें प्रकाशित करने का आग्रह किया। इस विषय में मेरे प्रिय विद्यार्थी, और अब हिन्दी की नयी पीढ़ी के श्रेष्ठ विचारक, आयुष्मान् डॉ. नामवरसिंह का सहयोग उन्हें मिला। मेरे चिरंजीव श्री मुकुन्द द्विवेदी भी इस दल में शामिल हुए। इन लोगों ने न जाने कहाँ-कहाँ से इन लेखों को खोज निकाला। यह तो मैं नहीं कहता कि रवीन्द्रनाथ के बारे में मैंने जो कुछ लिखा है वह सब इस पुस्तक में आ गया है, पर अधिकांश आ गया

है । अगर इन तीनों ने खोज-ढूँढ़कर इन लेखों को न ढूँढ़ निकाला होता, तो ये पुस्तक-रूप में कभी आ ही नहीं सकते थे, कुछ लेख आकाशवाणी से प्रसारित हुए थे, जिन्हें प्रकाशित करने की अनुमति देकर आकाशवाणी के अधिकारियों ने हमें बहुत आभारी बनाया है । कुछ तो वर्षों पहले विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे और कुछ ऐसे भी हैं जो विभिन्न साहित्यिक आयोजनों में भाषण के रूप में पढ़े गये थे । उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । मुझे आशा है कि सहृदय पाठक इन लेखों से रवीन्द्रनाथ के बहुमुखी व्यक्तित्व का कुछ आभास पा सकेंगे ।

चण्डीगढ़ — हजारीप्रसाद द्विवेदी
15-8-63

व्यक्तित्व

गुरुदेव के संस्मरण

आठ मई गुरुदेव का जन्मदिन है। मुझे बार-बार गुरुदेव के जन्मोत्सव की ही याद आ रही है। इस थोड़े समय की बातचीत में इन उत्सवों के सम्बन्ध में ही कुछ कहने की प्रबल इच्छा होती है। जब तक गुरुदेव इस संसार में रहे, इस दिन को उनके शिष्य उनको अपने बीच बिठाकर जन्मोत्सव मनाया करते थे। उनके जीवन के अन्तिम ग्यारह उत्सवों में सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त होता रहा है। शान्तिनिकेतन के आश्रमवासियों के लिए यह उत्सव विशेष उत्साह और उल्लास का कारण रहा करता था। जब मैं शान्तिनिकेतन गया था तब 8 मई को उत्सव मनाने के बाद ग्रीष्मावकाश हुआ करता था, पर इसमें कई कठिनाइयाँ आने लगीं। शान्तिनिकेतन में पानी का कष्ट बराबर बना रहता था। ग्रीष्मावकाश बहुत-कुछ कुओं के पानी पर निर्भर करता था। यदि कुओं का पानी समाप्त हो गया तो छुट्टी अपने-आप हो जाया करती थी। लेकिन शान्तिनिकेतन का प्रत्येक बच्चा गुरुदेव का जन्मोत्सव अवश्य मनाना चाहता था। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिसमें अप्रैल महीने में ही गुरुदेव का जन्मोत्सव मना लिया जाये। बँगला पंचांग सौर वर्ष के हिसाब से बनता है। संक्रान्ति के दूसरे दिन से वहाँ महीना आरम्भ होता है। इस प्रकार बंगाल का प्रथम मास वैशाख होता है जो मेष संक्रान्ति के दूसरे दिन से शुरू होता है। आजकल प्राय: 14 अप्रैल को वैशाख की पहली तारीख पड़ती है। गुरुदेव की जन्मतिथि वैशाख मास की 25वीं तारीख थी। सो, आश्रम में गुरुदेव का जन्मोत्सव वैशाख की पहली तारीख को मनाने का निश्चय किया गया। वही तिथि बंगाल के नव वर्ष की प्रथम तिथि भी होती है। यों भी उस दिन हम लोग गुरुदेव को प्रणाम करने जाया करते थे और वे भी उस दिन कुछ-न-कुछ उपदेश अवश्य देते थे। अब दोनों उत्सव एक ही दिन मनाये जाने लगे। आश्रम में वही परम्परा आज तक चली आ रही है। वस्तुतः यह जन्मदिन का उत्सव न होकर जन्ममास का उत्सव है। 14 अप्रैल को गुरुदेव का उत्सव मनाना अब शान्तिनिकेतन में रूढ़ हो गया है। परन्तु यह नहीं समझना

चाहिए कि आश्रमवासियों ने 8 मई या 25 वैशाख को एकदम भुला दिया है। ग्रीष्मावकाश के बाद भी जो लोग आश्रम में रह जाया करते हैं, वे उस दिन भी उत्सव मना लेते हैं। मैं प्रायः सभी ऐसे उत्सवों में उपस्थित रहता आया हूँ। कभी-कभी तो इस दूसरे उत्सव का पौरोहित्य भी मुझे ही करना पड़ता था। आज सोचता हूँ तो आँखों में बरबस आँसू आ जाते हैं। कितना बड़ा सौभाग्य था! रवीन्द्रनाथ के जन्मोत्सव का पौरोहित्य! उस दिन गुरुदेव शुभ्र कौशेय वस्त्र की धोती पहनते थे। कौशेय वस्त्र का लम्बा कुर्ता और उसी की सुन्दर चादर। उस देव-मनोहर शरीर पर यह वस्त्र इतने सुन्दर लगते थे कि क्या बताऊँ! उन बड़ी-बड़ी प्रेमपूर्ण आँखों की जब याद आती है तो हूक-सी उठती है। आज हम उनका चित्र रखकर उनका जन्मोत्सव मनाते हैं, उनके विषय में व्याख्यान सुना करते हैं। कितना बड़ा भाग्य-विपर्यय है :

"आँखिन में जो सदा रहते तिनकी यह कान कहानी सुन्यो करें।"

मुझे यह छवि बिल्कुल प्रत्यक्ष-सी दिखायी देती है। गुरुदेव उत्सव-स्थल पर पधारते थे। शंखध्वनि से वायुमण्डल मुखरित हो उठता था। मैं वेदमन्त्रों से गुरुदेव का स्वागत करता था, आचार्य नन्दलाल बोस और उनके शिष्यों द्वारा रचित मनोहर आलिम्पन से सजा हुआ सभास्थल मांगल्यगान से गूँज उठता था और गुरुदेव स्मित हास्य के साथ आसन ग्रहण करते। उनकी उपस्थिति में अपूर्व परिपूर्णता थी। जहाँ वे उपस्थित होते वहाँ सब कुछ भरा-भरा लगता। जब 'शतकाण्डोदुरुच्यवनो' मन्त्र के पाठ के बाद उनके दूर्वादल बाँधता तो वे बड़े स्नेह से हाथ बढ़ा देते—मेरा यह परम सौभाग्य आज विलुप्त हो गया है। जैसे एक मधुर स्वप्न हो। जन्मोत्सवों में अब भी उपस्थित होता हूँ, पर अब वे हाथ नहीं मिलते जिनमें दूर्वादल बाँधकर उनके शतायु होने की प्रार्थना कर सकूँ।

आश्रम में जितने उत्सव होते थे, उनमें गान और वेदमन्त्रों का प्राधान्य रहता था। गान गुरुदेव के रचे हुए होते थे, सुर भी उन्हीं के दिये रहते थे, सिर्फ गानेवाले आश्रम के वे लोग होते थे जिनमें गा सकने की क्षमता होती थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन वेदमन्त्रों का चुनाव करते थे। मैं 1930 ई. के नवम्बर में शान्तिनिकेतन प्रथम बार गया था। 1931 ई. के वैशाख में (8 मई को) मैं गुरुदेव के जन्मोत्सव में प्रथम बार सम्मिलित हुआ। इस बार उनका 70वाँ जन्मदिन था, इसीलिए धूम भी बहुत थी। आचार्य सेन ने उसी बार मुझसे और अन्य कई अध्यापकों और विद्यार्थियों से वेदमन्त्रों का पाठ कराया था। और लोग तो नाना स्थानों में चले गये, पर मैं तभी से आचार्यजी के सहकारी के तौर पर उत्सवों में वेदमन्त्रों का पाठ करने लगा। उनकी अनुपस्थिति में मुझे प्रधान पुरोहित का भी काम करना पड़ता। गुरुदेव उत्सव के अनुरूप वेदमन्त्रों के चुनाव में बहुत रस लेते थे। वे प्रत्येक मन्त्र और गान को स्वयं देख लेते थे। आवश्यकता पड़ने पर मन्त्रों के अनुवाद की भाषा का सुधार भी करते थे। प्रत्येक छोटे-से-छोटे काम को वे बहुत गम्भीरतापूर्वक देखते थे। परन्तु उस सम्पूर्ण गम्भीरता में एक प्रकार का

सहज भाव बना रहता था। यह सहज-गम्भीर भाव उनकी अपनी विशेषता थी। इसी ने शान्तिनिकेतन के प्रत्येक कार्य को इतना सुरुचिपूर्ण बना दिया है।

एक बार गुरुदेव ने एक विशेष उत्सव के लिए मन्त्र चुनने का भार भी मुझे दिया था। उन दिनों आचार्य सेन आश्रम में उपस्थित नहीं थे। उत्सव की बात गुरुदेव के मन में आयी और तुरन्त उनका आदमी मेरे पास पहुँचा। उत्सव के अवसर पर वे बालकों की तरह प्रसन्न हो उठते थे। मेरे पास जब उनका आदमी पहुँचा तो मुश्किल से उस समय सूर्योदय हुआ होगा। मैं कुछ नहीं समझ पाया कि गुरुदेव ने क्यों बुला भेजा है। दौड़ा-दौड़ा गया। गुरुदेव बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने बताया कि 'अमुक दिन को मेरे मन में अमुक उत्सव की बात आयी है। इस बार मन्त्र तुम्हें ही चुनने पड़ेंगे, तुम्हें ही पढ़ने पड़ेंगे।' फिर जरा विनोद के स्वर में बोले, 'तुम मेरे प्रतिद्वन्द्वी बनना चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा।' एक क्षण के लिए मैं समझ नहीं सका कि उनका आशय क्या है, परन्तु उनका चेहरा तब तक स्मित-दीप्त हो चुका था। उन दिनों मैंने भी दाढ़ी बढ़ा ली थी। शायद वह अच्छी नहीं दीखती थी। कम-से-कम कवि की आँखों में स्थान पाने योग्य तो वह नहीं ही थी। गुरुदेव का इशारा उसी ओर था। बोले, 'वेद पढ़वाता हूँ तो चेहरा भी वेद पढ़ने-वाले का चाहता हूँ।' और फिर हँसते हुए बोले, 'आजकल यह बड़ा खतरनाक है। बचके रहा करो।'

मैंने वेदमन्त्र चुने। उनका बँगला अनुवाद भी लिखा और गुरुदेव के पास ले गया। थोड़े में रीझना गुरुदेव को ही आता था। एकदम भोलानाथ ! मेरे मन्त्रों की उन्होंने खूब प्रशंसा की। अनुवाद की भाषा की भी प्रशंसा की। यद्यपि प्रेस में जाते-जाते वह भाषा एकदम बदल गयी थी। छपी प्रति मुझे देते हुए बोले, 'बँगला अनुवाद थोड़ा बदल दिया है। देख लो।' उनका मूल शब्द था 'एकटू'। उस 'एकटू' के पीछे कितना स्नेह था ! गुरुदेव ने सोचा होगा कि कहीं इसे ऐसा न लगे कि बँगला मुझसे बहुत गलत लिख गयी थी। इसीलिए उन्हें ऐसा कह देना आवश्यक जान पड़ा। मैं कृतकृत्य हो गया। जरा-जरा-सी गलतियों पर विद्यार्थियों को झिड़क देनेवाले अध्यापक क्या जानते हैं कि वे मनुष्य के भावी निर्माण में कितनी बाधा पहुँचा रहे हैं !

मैंने गुरुदेव से परिचय होने के कुछ समय बाद से ही हिन्दी में उनकी कविताओं के विषय में लिखना शुरू किया। मैं ही जानता हूँ कि इन लेखों में कितनी त्रुटियाँ थीं। मेरे इन लेखों की कटिंग्स को एक बार आचार्य सेन ने गुरुदेव को दिया। उन्होंने उसे रख लिया। अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रम के भीतर भी उन्होंने उन बाल-प्रयत्नों को देखने का समय निकाल लिया और जब मैं कई दिनों बाद उनसे मिला तो बहुत ही उत्साहवर्धक शब्दों में उन्होंने कहा, 'बहुत अच्छा लिखा है तुमने ! मुझे यह प्रसन्नता है कि तुम पढ़कर लिखते हो।' फिर जरा विनोद के साथ बोले, 'मुझे ऐसे समालोचक मिलते हैं जो बिना पढ़े ही लिख मारते हैं।' फिर थोड़ा रुककर किसी पुरानी बात को याद करते हुए बोले, 'बिना पढ़े जो आलोचना

लिखी जाती है वह होती खूब है।' और हँस पड़े। मैंने निस्सन्देह समझा कि यह उत्साह देने के उद्देश्य से कहे हुए वाक्य हैं। अपनी त्रुटियों का मुझे बराबर ज्ञान बना रहता है, उस समय भी था। परन्तु वे दो-चार वाक्य मेरे लिए कितने महत्त्व-पूर्ण थे, यह कोई भी सहृदय आसानी से समझ सकता है। एक दिन एक साहित्यिक ने अपने विषय में बड़े दर्प के साथ कहा कि 'मैं लड़कों को बढ़ावा नहीं देता, अपने को सस्ता बनाना बहुत अच्छी बात नहीं है।' तो मुझे रवीन्द्रनाथ की वह बात याद आ गयी। वर्द्धिष्णु युवकों को प्यारपूर्वक उत्साहित कर देना सस्ता बनना है? और यदि सस्ता ही है तो महँगा बनना क्या बहुत बड़ी बात है?

उनके पास जाने से बराबर यह अनुभव होता था कि मैं छिन्न-वृन्त तूलखण्ड की भाँति व्यर्थ ही इधर-उधर मारे-मारे फिरने के लिए नहीं बना हूँ। छोटे-से-छोटे जीवन की भी अपनी चरितार्थता है। एक भी ऐसा अवसर स्मरण नहीं जब उनके पास से हताश होकर लौटा होऊँ। कभी-कभी तो बढ़ावा देने के लिए अपने स्तर पर खींच ले जाते थे। कहते, 'देखो, मैं भी पहले तुम्हारी ही तरह इन बातों से घबराता था।' मानो वे और मैं एक ही स्तर के मनुष्य हों, मानो उनमें और मुझमें केवल इतना ही अन्तर था कि वे कुछ पहले दुनिया में आ गये थे और मैं कुछ बाद।

साधारण-से-साधारण बातचीत में भी वे कभी नीचे नहीं उतरते थे। उनके प्रत्येक वाक्य में उनके महिमामय व्यक्तित्व की छाप रहती थी। पर साधारण-से-साधारण विद्यार्थी को भी वह महिमा बोझ नहीं मालूम होती थी। मनुष्य की महिमा के वे प्रचारक थे और प्रत्येक मनुष्य में उसके महिमामय रूप को वे पहचान लेते थे। साधारण औरतों, बालकों, नौकरों तक में उस महिमा का साक्षात्कार उन्हें मिल जाता था और यही कारण है कि वे सबके अविसंवादी स्वजन थे। प्रत्येक बालक उन्हें उतना ही निकट का समझता था जितना कोई उनके घर-परिवार का आदमी। वे हृदय उँडेलकर स्नेह दे सकते थे और दूसरों का सर्वोत्तम पा भी सकते थे। उनका व्यक्तित्व अपूर्व था--सब प्रकार से अपूर्व।

इस समय मेरे मन में सौ-सौ बातें आ रही हैं। समझ में नहीं आता किसे सुनाऊँ। जो बात सबसे अधिक मन में आती है, वह यही कि महान् गुरु का शिष्य होना बड़े सौभाग्य की बात है। शान्तिनिकेतन से जो लोग कीर्त्तिमान होकर निकले हैं उनके निर्माण में इस अपूर्व स्नेह का बहुत बड़ा हाथ है, यह बात वे सभी स्वीकार करेंगे। रवीन्द्रनाथ पारस थे। जो भी उनके सम्पर्क में आया, वह धन्य हो गया। उन्होंने अपनी कई कविताओं में कहा है कि जब वे इस दुनिया में न रहें तो शोक नहीं मनाना; इस दुनिया के लता-फल-पेड़-पौधे—सबके भीतर वे बने रहेंगे। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उन्होंने एक कविता लिखी थी—'जब मैं इस मर्त्यकाया में न रहूँ'। मूल कविता बँगला में है। उसके आरम्भ की दो-तीन पंक्तियों का हिन्दी रूपान्तर सुना देता हूँ—आज इन पंक्तियों की स्मृति और भी हृदय में कचोट उत्पन्न कर रही है। कविता की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"जब मैं इस मर्त्यकाया में न रहूँ--इस क्षणभंगुर देह को छोड़ जाऊँ, उस समय मुझे याद करने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम इस निभृत शान्त छाया में आ जाना, जहाँ यह चैत्र का शालवन खिला हुआ है।"

इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"तुम्हें यदि कभी मुझे स्मरण करने की इच्छा हो तो देखो, सभा न बुलाना, हुजूम न करना, आ जाना इस छाया में, जहाँ यह चैत्र का शालवन खिला हुआ है।"

रवीन्द्रनाथ चले गये —इस मर्त्यकाया को छोड़कर निकल गये; पर चैत्र का शालवन अब भी है—उसी मस्ती के साथ खिला हुआ !
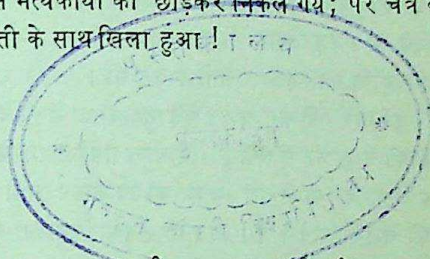
रवीन्द्रनाथ की दिनचर्या

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर हमारे देश के केवल महान् कवि ही नहीं थे, अपने समय के श्रेष्ठ मनीषी और तत्त्वचिन्तक भी थे। उनकी दिनचर्या के सम्बन्ध में आज लोगों के मन में उत्सुकता हो, यह स्वाभाविक ही है। मनुष्य के अन्तर में जो प्रकाश है वह उसके बाह्य आचरण में भी प्रकट होता है। अन्तर और बाह्य जगत् एकदम असम्बद्ध नहीं हैं। यह समझना कि बाहरी आचरण से आन्तरिक शुचिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक नहीं है। इसलिए महापुरुषों का बाहरी आचरण भी कुतूहल और जिज्ञासा का विषय बन जाता है। वस्तुतः, सत्य जब आचरित या सेवित बनता है तभी धर्म बनता है। जो विचार आचार के रूप में नहीं उतारा गया, वह केवल बात-की-बात है।

मुझे कविगुरु के आश्रम में बीस वर्षों तक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आरम्भ के लगभग बारह वर्षों तक मैंने उनकी छाया में रहने का सुअवसर प्राप्त किया है। इन दिनों मैंने उन्हें निकट से, बहुत निकट से देखने का अवसर पाया है। मैं साहित्य का विद्यार्थी रहा हूँ। मुझे साहित्य में अधिक रुचि रही है। यथाशक्ति और यथाबुद्धि मैं उनके लिखे साहित्य को पढ़ने और समझने का प्रयत्न करता रहा। कभी-कभी उनसे पूछने का साहस किया और उनका स्नेह इतना अधिक था कि कभी-कभी मैं जो बातें करता था वह बहस के स्तर तक पहुँच जाती थीं। इस प्रकार का व्यवहार धृष्ठता नहीं तो क्या थी ? लेकिन मैंने न उन्हें कभी अप्रसन्न होते देखा, न उन्हें बाल-बुद्धि के तर्कों की उपेक्षा करते देखा। बड़े धैर्य और प्रेम के साथ वे सारी बातें सुनते थे और आशय को ठीक पकड़कर समझा देते थे। जब-

जब मैं उनसे मिलकर लौटता था तब-तब ऐसा लगता था कि मैं कुछ ऊपर उठा हूँ। उनकी स्नेहसिक्त, सरस परिहासपूर्ण बातचीत सदा मेरे भीतर के उत्तम को जाग्रत और सतेज बनाती थी। मेरे भीतर जो छोटापन है, संकीर्णता है, अल्पज्ञता है, वह उस समय दब जाती थी। वे महान् गुरु थे—महान् गुरु, जिनके सम्पर्क में आने पर शिष्य का देवत्व जागता है। उन्होंने अपने साहित्य में जो कुछ लिखा है, वही उनका जीवन था। जिस सत्य के सुन्दर रूप को उन्होंने अपने काव्य में रूपान्तरित किया है, उसी सत्य को उन्होंने अपने जीवन में भी चरितार्थ किया था। उनका सम्पूर्ण जीवन किसी क्रान्तदर्शी कवि के काव्य-सा ही मनोहर और प्रभावोत्पादक था। वह जीवन भी एक काव्य ही था। भीतर से बाहर तक उनमें पवित्र आत्मज्योति की शिखा जलती रहती थी।

कविवर रवीन्द्रनाथ को मैंने वृद्धावस्था में ही देखा है। मैंने उन्हें जैसा देखा है, उसी की बात कह सकता हूँ। वे बहुत तड़के उठते थे; नियम से वे 4 बजे के आसपास उठते थे। कभी इस नियम का व्यतिक्रम नहीं होता था। सन् 1931 ई. में काफी चल-फिर लेते थे। बाद में उनका टहलना कम हो गया था। चार बजे के आसपास उठकर वे अपने कमरे से बाहर निकलकर आरामकुर्सी पर चुपचाप सूर्य की ओर मुँह करके बैठ जाते थे। गला साफ करने के लिए वे जब खाँसते थे तो निस्तब्धता में दूर तक आवाज़ जाती थी और लोग समझ जाते थे कि गुरुदेव अब बाहर आ गये हैं। सूर्योदय होने तक वे शान्त-मौन भाव से बैठे रहते थे। उनका ध्यान और समाधि, सब यही था। कम लोग ऐसे थे जो उस समय उनके समीप जा सकते थे। एक बार एक विचित्र कारण से मुझे उसी प्रत्यूषकाल में उनके निकट पहुँचने का सुयोग मिला। एक महाराष्ट्रीय सज्जन ने गीता पर कुछ लिखा था। उस पर सम्मति लेने या भूमिका लिखाने की इच्छा से वे पैदल चलकर कलकत्ता पहुँचे। फिर कलकत्ते से उसी प्रकार शान्तिनिकेतन पहुँचे। गुरुदेव के साथ रहनेवाले लोगों ने उन्हें विक्षिप्त समझा और उनके पास जाने से रोक दिया। किसी प्रकार उन्होंने पता लगा लिया कि सुबह चार बजे वे उठकर अपने कमरे के बाहर बैठ जाते हैं और उस समय पूर्ण एकान्त रहता है। साहसी आदमी थे। दुतल्ले पर गुरुदेव के कमरे की सीढ़ियों पर सबकी आँख बचाकर तीन ही बजे जम गये। गुरुदेव जब बाहर आये तो उन्हें गीतापाठ में व्यस्त पाया; बोले, 'आप कौन हैं ?' उन्होंने अपना उद्देश्य बताया। मराठी हिन्दी और बंगाली हिन्दी में टक्कर हुई। बात उलझी रह गयी। तब मेरी जरूरत समझी गयी। मैं अभी सोकर उठा भी नहीं था कि रथी बाबू का आदमी आया—'अभी चलिए।' मैं जल्दी-जल्दी मुँह-हाथ धोकर भागता हुआ पहुँचा। रथी बाबू (उनके सुपुत्र) व्याकुल भाव से बाहर टहल रहे थे। उनसे बात मालूम करके ऊपर गया। गुरुदेव शान्त भाव से पूर्व की ओर मुँह किये बैठे थे और वे सज्जन सीढ़ी पर परम मनोयोग के साथ गीता का पाठ कर रहे थे। गुरुदेव ने कुछ कातर भाव से ही कहा, 'आ गये। देखो, ये क्या कहना चाहते हैं ? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, ये हटना नहीं चाहते'। मैंने यथाबुद्धि उनकी

बात गुरुदेव को समझायी। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में स्नेह का तारल्य था। बोले, 'बेचारे को कितना कष्ट हुआ। मगर मैं मराठी की पुस्तक पर क्या सम्मति दे सकता हूँ ? इन्हें समझाओ।' मैं ही जानता हूँ कि उन्हें समझाना कितना कठिन काम था। सिर्फ एक बात उनकी समझ में आ सकी। मैंने कहा, 'यह तो इनके ध्यान का समय है, आपको इस समय तो इन्हें अवसर देना ही चाहिए।' धार्मिक प्रकृति के आदमी थे। बोले, 'अच्छा। तब तो आप ठीक कहते हैं।' और मेरी बात वे मान गये। बड़ी मुश्किल से उन्हें भूमिका लिखाने के संकल्प से विरत किया जा सका। खैर, प्रातःकाल नियमित रूप से वे इस प्रकार का ध्यान किया करते थे। एक बार मेरे साथ दर्शनार्थ गये हुए एक सज्जन ने उनसे पूछा, 'आप उस समय क्या सोचते हैं ?' उस समय उन्होंने गायत्री मन्त्र का एक अपूर्व अर्थ समझाया था। उस बात को यहाँ उठाने से विस्तार होने की आशंका है, इसलिए छोड़ रहा हूँ। शुरू-शुरू में मैं जब शान्तिनिकेतन गया था तो स्व. आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ खूब प्रातःकाल टहलने निकल जाता था। सूर्योदय के बाद गुरुदेव को प्रातःकाल अपने बाग में टहलते देखता था। आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ वे थोड़ी देर बात करते थे और मैं चुपचाप सुना करता था। कभी-कभी हम लोग देर से लौटते थे। गुरुदेव उस समय प्रातःकालीन चाय या कॉफ़ी (जाड़ों में) या अन्य कोई पेय लेते थे। मुझे तो आचार्यजी के साथ रहने से ही उन दिनों गुरुदेव के दर्शन ऐसे समय में भी हो जाते थे। यह मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि कभी-कभी उनका प्रसाद भी पा जाता था। सन्देश उन्हें बहुत प्रिय था, मुझे आचार्यजी ने ऐसा बताया था। आचार्य सेन लौटते समय बहुत-सी बातें अनायास बता जाते थे। कहते —'तुम्हारा भाग्य अच्छा है जो कॉफ़ी मिली। गुरुदेव को कभी-कभी मौज आती है तो टमाटर का रस ही ले लेते हैं और किसी जमाने में तो नीम के पत्तों के रस से भरा ग्लास ही ले लिया करते थे। वैसे तो उनके सामने बिस्कुट, डबल रोटी और अन्य मिठाइयाँ भी पड़ी रहती थीं, पर वे जरा-जरा-सा कुछ टूँग-भर लेते थे। अधिकतर संयोग से पहुँचे हुए चेले ही उन पदार्थों का पूर्ण उपयोग करते थे। उस अवसर पर गुरुदेव से बहुत मनोरंजक बातें सुनने को मिलती थीं। कभी-कभी बैठे ही रहते थे कि डाक भी आ जाती थी और उन चिट्ठियों के बारे में ही बात करने लगते थे। बातें सदा सरस परिहास से भरी होती थीं। छोटी-से-छोटी बात को भी वे इस प्रकार कहते थे जिससे केवल विनोद ही नहीं बल्कि मर्मस्पर्शी तत्त्व प्रकट हो जाते थे। उन्हें मैंने सदा ऊँचे धरातल पर ही देखा है। कितनी ही चिट्ठियाँ बहुत हास्यास्पद होती थीं, पर उन्हें भी वे उचित मान देते थे और साथ ही कुछ विनोदात्मक टिप्पणी भी जड़ देते थे। जाड़े के दिनों में वे थोड़ा दिन निकल आने के बाद स्नान करते थे। पुत्र-वधू विशेष रूप से उनके समय का ध्यान रखती थी। प्रातःकाल वे कुछ लिखा भी करते थे या पुस्तकें पढ़ा करते थे। पढ़ना उनका बड़ा ही आश्चर्यजनक होता था। वे पुस्तक के पूरे पैराग्राफ का भाव आसानी से ग्रहण कर लेते थे। कुछ अभ्यास होने पर जिस प्रकार पढ़ा-

लिखा आदमी शब्द के प्रत्येक अक्षर को मिलाये बिना ही पूरे शब्द को शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार वे पूरे पैरा के भाव को अनायास ग्रहण कर लेते थे। लिखने का काम वे प्रातःकाल और मध्याह्न को भी करते थे। दोपहर को वे कभी सोते नहीं थे। एक बार हँसते हुए उन्होंने कहा था कि 'विधाता ने मुझे वैशाख के महीने में भेजा था। उनकी इच्छा नहीं थी कि मैं धूप या गर्मी से डरूँ। अन्तिम वयस में गाँधीजी के कहने से दोपहर को विश्राम करने की बात मान ली थी, पर सोते नहीं थे। लेटे-लेटे कुछ-न-कुछ करते रहते थे। लेटे-लेटे उन्होंने उन दिनों कितने ही सुन्दर चित्र बना डाले।

सायंकाल वे बाहर आरामकुर्सी पर बैठ जाते थे। इसी समय आश्रमवासी उनसे मिलने आते थे। न जाने कितनी सन्ध्याएँ आज भी मेरे मन में साकार हैं। न जाने कितने संस्मरण उमड़ रहे हैं। मैं प्रायः हिन्दी-प्रदेश के दर्शनार्थियों को लेकर उनके पास जाया करता था। स्नान-भोजन के समय के अतिरिक्त उनकी अनुमति लेकर मैं किसी भी समय दर्शनार्थियों के साथ पहुँच जाता था। वे लिखते होते थे, परन्तु देखते ही बड़े स्नेह से कहते—'एशो' (आओ)। दिन-भर वे या तो लिखने-पढ़ने में या लोगों से मिलने में व्यस्त रहते थे। दुनिया-भर से तरह-तरह के लोग उनसे मिलने आते थे, बातचीत (इण्टरव्यू) करते थे, साथ फोटो लेने का अनुरोध करते थे, पुस्तकों पर या ऑटोग्राफ की पुस्तिका पर हस्ताक्षर कराते थे, अपनी पुस्तक पढ़ने को दे जाते थे; वे किसी को निराश नहीं करते थे। यह सब करके भी वे लिखने का पूरा समय निकाल लेते थे। अन्तिम वयस में तो वे थक जाते थे, पर लोग छोड़ते नहीं थे। उनके साथ रहनेवाले चिढ़ जाते थे, झल्ला उठते थे, पर उनके मन में ऊब नहीं होती थी।

रवीन्द्रनाथ महामानव थे। दीर्घकालीन तपस्या के बाद मनुष्य ने जिन महनीय गुणों को पाया है, उनमें एकत्र सुलभ थे। उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण था। वे युग-गुरु थे।

एक कुत्ता और एक मैना

आज से कई वर्ष पहले गुरुदेव के मन में आया कि शान्तिनिकेतन को छोड़कर कहीं अन्यत्र जायें। स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। शायद इसलिए, या पता नहीं क्यों, तै पाया कि वे श्रीनिकेतन के पुराने तिमंजिले मकान में कुछ दिन रहें। शायद मौज में आकर ही उन्होंने यह निर्णय किया हो। वे सबसे ऊपर के तल्ले में रहने लगे।

उन दिनों ऊपर तक पहुँचने के लिए लोहे की चक्करदार सीढ़ियाँ थीं, और वृद्ध और क्षीणवपु रवीन्द्रनाथ के लिए उस पर चढ़ सकना असम्भव था। फिर भी बड़ी कठिनाई से उन्हें वहाँ ले जाया जा सका।

उन दिनों छुट्टियाँ थीं। आश्रम के अधिकांश लोग बाहर चले गये थे। एक दिन हमने सपरिवार उनके 'दर्शन' की ठानी। 'दर्शन' को मैं जो यहाँ विशेष रूप से दर्शनीय बनाकर लिख रहा हूँ, उसका कारण यह है कि गुरुदेव के पास जब कभी मैं जाता था तो प्रायः वे यह कहकर मुस्करा देते थे कि 'दर्शनार्थी हैं क्या ?' शुरू-शुरू में मैं उनसे ऐसी बँगला में बात करता था, जो वस्तुतः हिन्दी-मुहावरों का अनुवाद हुआ करती थी। किसी बाहर के अतिथि को जब मैं उनके पास ले जाता था तो कहा करता था, 'एक भद्र लोक आपनार दर्शनेर जन्य ऐशे छेन।' यह बात हिन्दी में जितनी प्रचलित है, उतनी बँगला में नहीं। इसलिए गुरुदेव जरा मुस्करा देते थे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मेरी यह भाषा बहुत अधिक पुस्तकीय है और गुरुदेव ने उस 'दर्शन' शब्द को पकड़ लिया था। इसलिए जब कभी मैं असमय में पहुँच जाता था तो वे हँसकर पूछते थे—'दर्शनार्थी लेकर आये हो क्या ?' यहाँ यह दुख के साथ कह देना चाहता हूँ कि अपने देश के दर्शनार्थियों में कितने ही इतने प्रगल्भ होते थे कि समय-असमय, स्थान-अस्थान, अवस्था-अनवस्था की एकदम परवा नहीं करते थे और रोकते रहने पर भी आ ही जाते थे। ऐसे 'दर्शनार्थियों' से गुरुदेव कुछ भीत-भीत-से रहते थे। अस्तु, मैं मय बाल-बच्चों के एक दिन श्रीनिकेतन जा पहुँचा। कई दिनों से उन्हें देखा नहीं था।

गुरुदेव वहाँ बड़े आनन्द में थे। अकेले रहते थे। भीड़-भाड़ उतनी नहीं होती थी, जितनी शान्तिनिकेतन में। जब हम लोग ऊपर गये तो गुरुदेव बाहर एक कुर्सी पर चुपचाप बैठे अस्तगामी सूर्य की ओर ध्यान-स्तिमित नयनों से देख रहे थे। हम लोगों को देखकर मुस्कराये, बच्चों से जरा छेड़-छाड़ की, कुशल-प्रश्न पूछे और फिर चुप हो रहे। ठीक उसी समय उनका कुत्ता धीरे-धीरे ऊपर आया और उनके पैरों के पास खड़ा होकर पूँछ हिलाने लगा। गुरुदेव ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। आँखें मूँदकर अपने रोम-रोम से उस स्नेह-रस का अनुभव करने लगा। गुरुदेव ने हम लोगों की ओर देखकर कहा, "देखा तुमने, ये आ गये। कैसे इन्हें मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ, आश्चर्य है ! और देखो, कितनी परितृप्ति इनके चेहरे पर दिखायी दे रही है।"

हम लोग उस कुत्ते के आनन्द को देखने लगे। किसी ने उसे राह नहीं दिखायी थी, न उसे यह बताया था कि उसके स्नेह-दाता यहाँ से दो मील दूर हैं और फिर भी वह पहुँच गया। इसी कुत्ते को लक्ष्य करके उन्होंने 'आरोग्य' में इस भाव की एक कविता लिखी थी—"प्रतिदिन प्रातःकाल यह भक्त कुत्ता स्तब्ध होकर आसन के पास तब तक बैठा रहता है, जब तक अपने हाथों के स्पर्श से मैं इसका संग नहीं स्वीकार करता। इतनी-सी स्वीकृति पाकर ही उसके अंग-अंग में आनन्द का प्रवाह बह उठता है। इस वाक्यहीन प्राणिलोक में सिर्फ यही एक जीव अच्छा-बुरा सबको

भेदकर सम्पूर्ण मनुष्य को देख सका है, उस आनन्द को देख सका है, जिसे प्राण दिया जा सकता है, जिसमें अहैतुक प्रेम ढाल दिया जा सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्य लोक में राह दिखा सकती है। जब मैं इस मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन देखता हूँ, जिसमें वह अपनी दीनता बताता रहता है, तब मैं यह सोच ही नहीं पाता कि उसने अपने सहज बोध से मानव स्वरूप में कौन-सा मूल्य आविष्कार किया है, इसकी भाषाहीन दृष्टि की करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है, उसे समझा नहीं पाती और मुझे इस सृष्टि में मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती है।" इस प्रकार कवि की मर्मभेदी दृष्टि ने इस भाषाहीन प्राणी की करुण दृष्टि के भीतर उस विशाल मानव-सत्य को देखा है, जो मनुष्य मनुष्य के अन्दर भी नहीं देख पाता।

मैं जब यह कविता पढ़ता हूँ तब मेरे सामने श्रीनिकेतन के तितल्ले पर की वह घटना प्रत्यक्ष-सी हो जाती है। वह आँख मूँदकर अपरिसीम आनन्द, वह 'मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन' मूर्त्तिमान हो जाता है। उस दिन मेरे लिए वह एक छोटी-सी घटना थी, आज वह विश्व की अनेक महिमाशाली घटनाओं की श्रेणी में बैठ गयी है। एक आश्चर्य की बात और इस प्रसंग में उल्लेख की जा सकती है। जब गुरुदेव का चिताभस्म कलकत्ते से आश्रम में लाया गया, उस समय भी न जाने किस सहज बोध के बल पर वह कुत्ता आश्रम के द्वार तक आया और चिताभस्म के साथ अन्यान्य आश्रमवासियों के साथ शान्त गम्भीर भाव से उत्तरायण तक गया। आचार्य क्षितिमोहन सेन सबके आगे थे। उन्होंने मुझे बताया कि वह चिताभस्म के कलश के पास थोड़ी देर चुपचाप बैठा भी रहा।

कुछ और पहले की घटना याद आ रही है। उन दिनों मैं शान्तिनिकेतन में नया ही आया था। गुरुदेव से अभी उतना धृष्ठ नहीं हो पाया था। गुरुदेव उन दिनों सुबह अपने बगीचे में टहलने के लिए निकला करते थे। मैं एक दिन उनके साथ हो गया था। मेरे साथ एक और पुराने अध्यापक थे और सही बात तो यह है कि उन्होंने ही मुझे भी अपने साथ ले लिया था। गुरुदेव एक-एक फूल-पत्ते को ध्यान से देखते हुए अपने बगीचे में टहल रहे थे और उक्त अध्यापक महाशय से बातें करते जा रहे थे। मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। गुरुदेव ने बातचीत के सिलसिले में एक बार कहा, "अच्छा साहब, आश्रम के कौए क्या हो गये ? उनकी आवाज सुनायी ही नहीं देती ?" न तो मेरे साथी उन अध्यापक महाशय को यह खबर थी और न मुझे ही। बाद में मैंने लक्ष्य किया कि सचमुच कई दिनों तक आश्रम में कौए नहीं दीख रहे हैं। मैंने तब तक कौओं को सर्वव्यापक पक्षी ही समझ रखा था। अचानक उस दिन मालूम हुआ कि ये भले आदमी भी कभी-कभी प्रवास को चले जाते हैं या चले जाने को बाध्य होते हैं। एक लेखक ने कौओं की आधुनिक साहित्यिकों से उपमा दी है, क्योंकि इनका मोटो है—'मिसचीफ फार मिसचीफ्स सेक' (शरारत के लिए ही शरारत)। तो क्या कौओं का प्रवास भी किसी शरारत के उद्देश्य से ही था ? प्रायः एक सप्ताह के बाद बहुत कौए दिखायी दिये।

एक दूसरी बार मैं सवेरे गुरुदेव के पास उपस्थित था। उस समय एक लँगड़ी मैना फुदक रही थी। गुरुदेव ने कहा, "देखते हो, यह यूथभ्रष्ट है। रोज फुदकती है, ठीक यहीं आकर। मुझे इसकी चाल में एक करुण भाव दिखायी देता है।" गुरुदेव ने अगर कह न दिया होता तो मुझे उसका करुणभाव एकदम नहीं दीखता। मेरा अनुमान था कि मैना करुण भाव दिखानेवाला पक्षी है ही नहीं। वह दूसरों पर अनुकम्पा ही दिखाया करती है। तीन-चार वर्ष से मैं एक नये मकान में रहने लगा हूँ। मकान के निर्माताओं ने दीवारों में चारों ओर एक-एक सूराख छोड़ रखी है। यह कोई आधुनिक वैज्ञानिक खतरे का समाधान होगा। सो, एक मैना-दम्पति नियमित भाव से प्रतिवर्ष यहाँ गृहस्थी जमाया करते हैं, तिनके और चीथड़ों का अम्बार लगा देते हैं। भलेमानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते। हैरान होकर हम सूराखों में ईंटें भर देते हैं, परन्तु वे खाली बची जगह का भी उपयोग कर लेते हैं। पति-पत्नी जब कोई एक तिनका लेकर सूराख में रखते हैं तो उनके भाव देखने लायक होते हैं। पत्नी देवी का तो क्या कहना! एक तिनका ले आयीं तो फिर एक पैर पर खड़ी होकर ज़रा पंखों को फटकार दिया, चोंच को अपने ही परों से साफ कर लिया और नाना प्रकार की मधुर और विजयोद्घोषी वाणी में गान शुरू कर दिया। हम लोगों की तो उन्हें कोई परवा ही नहीं रहती। अचानक इसी समय अगर पति देवता भी कोई कागज़ का या गोबर का टुकड़ा लेकर उपस्थित हुए तब तो क्या कहना! दोनों के नाच-गान और आनन्द-नृत्य से सारा मकान मुखरित हो उठता है। इसके बाद ही पत्नी देवी ज़रा हम लोगों की ओर मुखातिब होकर लापरवाही-भरी अदा से कुछ बोल देती हैं। पति देवता भी मानो मुस्कराकर हमारी ओर देखते, कुछ रिमार्क करते और मुँह फेर लेते हैं। पक्षियों की भाषा तो मैं नहीं जानता; पर मेरा निश्चित विश्वास है कि उनमें कुछ इस तरह की बातें हो जाया करती हैं:

पत्नी—ये लोग यहाँ कैसे आ गये ज़ी?

पति—उँह बेचारे आ गये हैं, तो रह जाने दो। क्या कर लेंगे!

पत्नी—लेकिन फिर भी इनको इतना तो ख्याल होना चाहिए कि यह हमारा प्राइवेट घर है।

पति—आदमी जो हैं, इतनी अक़्ल कहाँ?

पत्नी—जाने भी दो।

पति—और क्या?

सो, इस प्रकार की मैना कभी करुण हो सकती है, यह मेरा विश्वास ही नहीं था। गुरुदेव की बात पर मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि सचमुच ही उसके मुख पर एक करुण भाव है। शायद यह विधुर पति था, जो पिछली स्वयंवर-सभा के युद्ध में आहत और परास्त हो गया था। या विधवा पत्नी है, जो पिछले बिड़ाल के आक्रमण के समय पति को खोकर, युद्ध में ईषत् चोट खाकर एकान्त विहार कर रही है। हाय, क्यों इसकी ऐसी दशा है! शायद इसी मैना को लक्ष्य करके गुरुदेव

ने बाद में एक कविता लिखी थी, जिसके कुछ अंश का सार इस प्रकार है :

"उस मैना को क्या हो गया है, यही सोचता हूँ। क्यों वह दल से अलग होकर अकेली रहती है ? पहले दिन देखा था सेमर के पेड़ के नीचे मेरे बगीचे में। जान पड़ा जैसे एक पैर से लँगड़ा रही हो। इसके बाद उसे रोज सवेरे देखता हूँ—संगी-हीन होकर कीड़ों का शिकार करती फिरती है। चढ़ जाती है बरामदे में। नाच-नाचकर चहलकदमी किया करती है, मुझसे जरा भी नहीं डरती। क्यों है ऐसी दशा इसकी ? समाज के किस दण्ड पर उसे निर्वासन मिला है, दल के किस अविचार पर उसने मान किया है ? कुछ ही दूरी पर और मैनाएँ बक-झक कर रही हैं, घास पर उछल-कूद रही हैं, उड़ती फिरती हैं शिरीषवृक्ष की शाखाओं पर। इस बेचारी को ऐसा कुछ भी शौक नहीं है। इसके जीवन में कहाँ गाँठ पड़ी है, यही सोच रहा हूँ। सवेरे की धूप में मानो सहज मन से आहार चुगती हुई झड़े हुए पत्तों पर कूदती फिरती है सारा दिन। किसी के ऊपर इसका कुछ अभियोग है, यह बात बिल्कुल नहीं जान पड़ती। इसकी चाल में वैराग्य का गर्व भी तो नहीं है, दो आग-सी जलती आँखें भी तो नहीं दिखतीं।" इत्यादि।

जब मैं इस कविता को पढ़ता हूँ तो उस मैना की करुण मूर्त्ति अत्यन्त साफ होकर सामने आ जाती है। कैसे मैंने उसे देखकर भी नहीं देखा और किस प्रकार कवि की आँखें उस बिचारी के मर्मस्थल तक पहुँच गयीं, सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। एक दिन वह मैना उड़ गयी। सायंकाल कवि ने उसे नहीं देखा। जब वह अकेले जाया करती है उस डाल के कोने में, जब झींगुर अन्धकार में झनकारता रहता है, जब हवा में बाँस के पत्ते झरझराते रहते हैं, पेड़ों की फाँक से पुकारा करता है नींद तोड़नेवाला सन्ध्यातारा ! कितना करुण है उसका गायब हो जाना !

प्रयाग में कवि रवीन्द्र

सन् 1914 ई. के शीतक., में एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ प्रयाग गये थे। वहाँ वे प्रायः एक मास रहे। इस बीच उन्होंने चार कविताएँ लिखीं, जो 'बलाका' में एक ही जगह संगृहीत हैं। ये चारों कविताएँ बड़ी लोकप्रिय हो गयी हैं। इनमें सबसे अधिक प्रचार हुआ है 'ताजमहल' वाली कविता का। यह कविता है भी वस्तुतः इसी योग्य। तीर्थराज प्रयाग में बैठकर भारतेश्वर शाहजहाँ के प्रेम के स्मारक शाहेमहल 'ताजमहल' को लक्ष्य करके लिखी गयी कवि-सम्राट् की यह कविता

सचमुच ही कविताओं की रानी बनी हुई है। कवि ने ताजमहल को एक ही शब्द में इस यथार्थ रूप में चित्रित कर दिया है कि उससे अधिक कह सकना शायद सम्भावना की सीमा के बाहर है, कम कहना अनुचित :

"हे सम्राट् कवि,
एइ तव हृदयेर छवि
एइ तव नव मेघदूत
अपूर्व अद्भुत !"

कविकुल-गुरु कालिदास के 'मेघदूत' से तुलना करके कवि ने ताजमहल के बारे में सबकुछ कह दिया है। उस अद्भुत काव्य के मन्दाक्रान्ता का प्रत्येक पदविक्षेप विरही विश्व की अपार वेदना के भार से क्लान्त है। कितनी विशाल अनुभूति का केन्द्र था वह कवि का हृदय ! और ताजमहल ! सम्राट् कवि के हृदय का वह चित्र ? यह तो उस महान् हृदयप्रेम-पारावार के गम्भीर आश्रय की एक झलकमात्र है--'शुधू, एक बिन्दु नयनेर जल' !

कवि के विरही यक्ष का हृदय जब धातुराग से लिखित शिलापट्टी की प्रेयसी के सामने प्रणय-अनुनय करना चाहता था, उस समय क्रूरकृतान्त उसका बाधक जरूर था, फिर भी सारा विरह इस मधुर आशा से मधुमय हो उठा था कि एक दिन प्रिया के कानों तक यह बात पहुँच जायगी। प्रीतिस्निग्ध मेघ यह सन्देश लेकर जायगा :

"त्वामालिख्य-प्रणय कुपितां धातुरागैः शिलायां
आत्मानं ते चरण पतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।"

किन्तु हाय, सम्राट् कवि के हृदय की कोई भी साध क्या इस दूत से पूरी हो सकती है ? मनुष्य के हृदय की सारी करुण वेदना इस एक प्रेमिका के हृदय से देख ली जा सकती है। संचय जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह जाता है, सहसा कहीं का निमन्त्रण आ जाता है और सब छोड़-छाड़कर चल देना पड़ता है :

"हाय ओ रे मानव-हृदय बार-बार
कारो पाने फिरे चाहिबार
नाइ जे समय, नाइ-नाइ !!
जीवनेर खरस्रोते भासिछ सबाइ
भुवनेर घाटे-घाटे
एक हाटे लओ बोझा शून्य करे दाओ अन्य हाटे।"

कितनी करुण दशा है इस मानव-हृदय की ! किन्तु नहीं, सारा संसार इसी करुण संगीत में सना हुआ है। ऐ मनुष्य के हृदय, संचय के उपभोग का समय किसी के पास नहीं है। देखते नहीं—

"दक्षिणेर मन्त्र गुंजरणे
तव कुंज बने
बसन्तेर माधवी-मंजरी
जेइ क्षणे देय भरि'
मालंचेर चंचल अंचल
बिदाय गोधूलि आशे धूलाय छड़ाये छिन्न दल।"

आखिर उस सम्राट् कवि को भी विदाई लेनी पड़ी। रह गया वह अपूर्व अद्-भुत 'मेघदूत' जो आजकल की वेड़ी तोड़कर उसकी विदाई का गान गा रहा है :

"सेइ बीज अमर अंकुरे
उठेछे अम्बर पाने
कहिछे गम्भीर गाने—
जत दूर चाइ,
नाइ नाइ से पथिक नाइ ! !"

यहीं पर कवि अपने प्रसारित बाहु को समेटकर सारे विश्व की वेदना आत्मसात कर लेता है, और पाठक के हृदय पर—शायद कुछ बेरहमी के साथ ही—उँड़ेल देता है। कविता समाप्त करके हृदय भाराक्रान्त हो जाता है :

"प्रिया तारे राखिल ना, राज्य तारे छेड़े दिल पथ
रुधिल ना समुद्र पर्वत
आजि ता'र रथ
चलिया छे रात्रिर आह्वाने
नक्षत्रेर गाने
प्रभातेर सिंहद्वार पाने
ताइ
स्मृति भारे आमि पड़े आछि
भार मुक्त से एखाने नाइ !"

* * *

'बलाका' की कविताओं में एक अद्भुत प्रवाह है। इसके सभी छन्द बँगला-साहित्य में नये हैं। कवि ने ही इन्हें पहले-पहल इस साहित्य में परिचित कराया है, इसीलिए 'बलाका'—छन्द, भाषा, भाव सब ओर से अतुल है। भाषा का इतना प्रचण्ड प्रवाह तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' को छोड़कर मुझे अन्यत्र कहीं नहीं दिखायी दिया। जिन चार कविताओं के स्खलित अनुवाद आगे दिये गये हैं, उन सबमें सहृदय पाठक आसानी से उक्त कथन की सत्यता का प्रमाण पा सकते हैं। एक बार इस प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को विवशता के साथ बहना पड़ा है, वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौन्दर्य पर आप ही नाच उठा है। प्रथम तीन कविताओं में कवि ने स्पष्ट ही अपने को अपनी कविता

के प्रवाह में बहा दिया है—तीनों ही कविताओं में उसे प्रयत्नपूर्वक सम्हलना पड़ा है। पहली कविता में वह कहता है :

"चलियाछि दूर हते दूरे
मेटेछि पथेर प्रेमे
तुमि पथ ह'ते नेमे जे खाने दाँड़ाले
से खानेइ आछ थेमे।
एइ तृण, एइ धूलि,—ओइ शशी-रवि
सबार आड़ाले
तुमि छवि—तुमि शुधू छवि।"

यहाँ तक वह बहता ही चला जाता है, फिर अचानक कहता है :

"कि प्रलाप कहे कवि
तुमि छवि ?
नहे, नहे नओ शुधू छवि !"

इसी तरह ताजमहलवाली कविता में कवि कहता है :

"तोमार सौन्दर्य दूत युग-युग धरि
एड़ाइया कालेर प्रहरी
चलियाछे वाक्यहारा एइ वार्ता निया
भूलि नाइ, भूलि नाइ, भूलि नाइ प्रिया।"

अपने प्रवाह में बहा हुआ वह इसे फिर दुहराता है :

'तबूओ तोमार दूत अमलिन
श्रान्ति क्लान्ति हीन
तुच्छ करि राज्य भाङ्गा गड़ा
तुच्छ करि जीवन मृत्युर ओठा पड़ा
युग युगान्तरे कहितेछे एक स्वरे
चिर विरहीर वाणी निया
भूलि नाइ, भूलि नाइ, भूलि नाइ प्रिया।"

यहीं पर कवि एक बार सम्हलता है :

"मिथ्या कथा—के बले जे भोलो नाइ ?
के बले रे खोलो नाइ
स्मृतिर पिंजर द्वार ?"

तीसरी कविता में जिस विराट् नदी की चर्चा है, वह कुछ मामूली नदी नहीं है। इसी के कायाहीन वेग के प्रचण्ड आघात से विश्व में यह वस्तुरूप फेन दिखायी दे रहे हैं; इसके घूर्णाचक्र में सारा ज्योतिष्कपुंज बुलबुले की भाँति नष्ट हो रहा है; इस उन्मत्त अभिसार के फलस्वरूप इसके वक्षस्थल में जो उत्कम्प होता है, उससे नक्षत्रों की मणियाँ बिखर पड़ती हैं; शून्य का अन्धकार इसी के वात्याहत अस्तव्यस्त केशराजि का स्वरूप है; इसी के चंचल अंचल से तृण-पल्लव फूट पड़े

हैं, और इसी की ऋतुस्थाली से नाना वर्ण के विकच पुष्प बिखरे पड़े हैं—यह नियति की उद्दाम वेगवती सरिता है—सदा पवित्र, सदा चंचल, सदा कर्मठ, सदा नृत्यमय ! नदी के उद्दाम वेग के साथ कविता का ताल इस खूबी से मिला हुआ है कि कवि भी उसी में बह जाता है, उसे अपनी बात ही भूल गयी है। हठात् उसे याद आता है—हैं ! मैं भी तो प्रवाहमय हूँ—एक अजस्र प्रवाहमय ! कहता है :

"ओरे कवि तोरे आज करेछे उतला
झंकार मुखरा एइ भुवन मेखला
अलक्षित चरणेर अकारण अवारण चला।
नाड़ीते नाड़ीते तोर चंचलेर शुनि पद-ध्वनि
वक्ष तोर उठे रन रनि
नाहि जाने केउ
रक्ते तोर उठे आजि समुद्रेर ढेउ,
काँपे आजि अरण्येर व्याकुलता;
मने आजि पड़े सेइ कथा
युगे युगे एसेछि चलिया
स्खलिया स्खलिया
चुपे चुपे
रूप ह'ते रूपे
प्राण ह'ते प्राणे।"

सो भी ठीक इसी तरह लुटाता हुआ—

"निशीथे प्रभाते
जा किछु पेयेछि हाते
एसेछि करिया क्षय दान ह'ते दाने
गान ह'ते गाने।"

अच्छा अब इन कविताओं के अनुवाद लीजिए :

[1]

तुम क्या केवल चित्र हो ? केवल पट पर अंकित चित्र ?— वे सुदूर की नीहारिकाएँ, जो आकाश के घोंसले में भीड़ किये हुए हैं; वे अन्धकार के यात्री --ग्रह, तारा, सूर्य—जो दिन-रात हाथ में मशाल लिये चले जा रहे हैं,--क्या तुम उन्हीं के समान सत्य नहीं हो ? हाय चित्र, तुम केवल चित्र हो !

इस चिर-चंचल (जगत्) के भीतर तुम शान्त होकर क्यों रहती हो ? हे मार्गहीन ! पथिकों के संग हो लो। रात-दिन सबके बीच रहकर भी सबसे इतनी दूर--स्थिरता के चिर-अन्तःपुर में—क्यों रहती हो ? यह धूलि (अपना) धूसर अंचल उठाकर वायु की सहायता से चारों ओर दौड़ रही है; वैशाख में वह तपस्विनी धरणी के विधवा-आभरण खोलकर उसे गैरिक (आवरण) से सजाती

है, और वसन्त की मिलन-उषा में उसके अंगों पर पत्र-लेख लिख देती है—हाय, यह धूलि, यह भी तो सत्य है; —यह तृण, जो विश्व के चरण-तल में लीन हैं, ये जो अस्थिर हैं, इसीलिए सब सत्य हैं ! तुम स्थिर हो, तुम चित्र—तुम केवल चित्र हो !

एक दिन तुम इसी रास्ते पर हमारी बगल में ही चलीं थीं। तुम्हारा वक्षस्थल निःश्वास से हिला करता था; प्रति अंग में तुम्हारा प्राण कितने ही गानों और कितने ही नाचों (के रूप) में, विश्व-तान के साथ, ताल देता हुआ नये-नये छन्द रचा करता था; (हाय,) वह आज बहुत दिनों की बात हो गयी ! इस जीवन में —मेरी दुनिया में —तुम कितनी सत्य थीं ! तुमने ही मेरी आँखों में, इस निखिल विश्व में, चारों ओर रूप की तूलिका धारण करके रस की मूर्त्ति लिखी थी। उस दिन के प्रभातकाल में तुम्हीं तो इस विश्व की मूर्त्तिमती वाणी थीं।

एक ही साथ रास्ता चलते-चलते (एक जगह) रात्रि की ओट में तुम रुक गयीं। इसके बाद मैं कितने ही दुःख-सुख में रात-दिन (बराबर) आगे बढ़ता रहा हूँ। आकाश और प्रान्तर में आलोक और अन्धकार का ज्वार-भाटा चला है; रास्ते के दोनों ओर नाना वर्ण के पुष्पों के दल नीरव पदविक्षेप करते हुए चले हैं, और दुरन्त जीवन-निर्झरिणी मृत्यु की किंकिणी बजाकर छूट चली है। अज्ञात के सुर के साथ—दूर से सुदूर को चला हूँ—रास्ते के प्रेम में मतवाला हो उठा हूँ। (और) तुम रास्ते से उतरकर जहाँ खड़ी हो गयीं, वहीं रुकी हो। यह तृण, यह धूलि, वे तारे, वे सूर्य-चन्द्र—सबकी ओट में तुम चित्र—केवल चित्र हो !

कवि यह कैसा प्रलाप कर रहा है ? तुम चित्र हो ? नहीं, नहीं, केवल चित्र नहीं हो ! कौन कहता है कि तुम रेखा के बन्धन में—निस्तब्ध क्रन्दन के रूप में —स्थिर हो ? हाय-हाय, अगर वह आनन्द रुक जाता, तो यह नदी अपना तरंग-वेग भूल जाती, और यह मेघ अपना सोने का लेख मिटा देता। तुम्हारे चिकने चिकुरों की छाया विश्व से यदि हट जाती, तो एक दिन कब की, चंचल पतन से लीलायित माधवी-वन की मर्मरध्वनि से मुखर वह छाया, सपने की सम्पत हो गयी होती।

तुम्हें क्या मैं भूल गया हूँ ? तुमने जो जीवन के मूल में ही डेरा डाल दिया है, इसीलिए यह भूल है। (जब मैं) अन्यमनस्क-भाव से पथ पर चलता हूँ, तो क्या फूल को नहीं भूल जाता, ताराओं को नहीं भूल जाता ? फिर भी वे प्राण के निःश्वासों को सुमधुर कर देते हैं, और विस्मृति की शून्यता में एक सुर भर देते हैं। यह भूलना तो भूलना नहीं है ! विस्मृति के मर्मस्थल में बैठकर तुमने मेरे रक्त में हिलोरें दे दी हैं। तुम आँखों के सम्मुख नहीं हो—तुमने आँखों के बीच में जो अपना स्थान बना लिया है, इसीलिए आज तुम श्यामल में श्याम और नीलिमा में नील हो। मेरा सर्वस्व तुममें अपना आन्तरिक मिलन पा गया है। मैं नहीं जानता —कोई भी नहीं जानता—कि तुम्हारा ही सुर मेरे गान में बजता है; कवि के भीतर तुम कवि हो, चित्र नहीं हो—नहीं-नहीं, तुम केवल चित्र नहीं हो।

किसी प्रभात में तुम्हें पाया था, रात में खो दिया, और (आज) अन्धकार में, अगोचर में तुम्हीं को पाता हूँ। चित्र नहीं हो, तुम चित्र नहीं हो !

[2]

ऐ भारतेश्वर शाहजहाँ, तुम यह बात जानते थे कि समय के प्रवाह में जीवन, यौवन, धन और मान सब बह जाते हैं। तुम सम्राट् की यही साधना थी कि तुम्हारी अन्तर्वेदना चिरन्तन होकर रहे। वज्र-कठिन राजशक्ति यदि सन्ध्या की लालिमा के समान तन्द्रा के नीचे लीन हो जाती है, तो हो जाय; केवल एक दीर्घ निःश्वास नित्य उच्छ्वसित होकर आकाश को सकरुण करता रहे—तुम्हारे मन की यही साध थी। हीरा, मोती, और मणियों की घटा शून्य दिगन्त के इन्द्रजाल, इन्द्रधनुष की छटा की भाँति, यदि लुप्त हो जाती है, तो हो जाय; केवल एक बूँद आँखों का आँसू—यह शुभ्र समुज्ज्वल ताजमहल—काल के कपोल-प्रान्त पर बच रहे।

हाय रे मनुष्य का हृदय, किसी की ओर बार-बार देखने का समय कहाँ है ? ना, ना, वह नहीं है ! तुम तो संसार के इस घाट से उस घाट तक जीवन के तीव्र स्रोत में बहे जा रहे हो—एक बाजार में बोझा लेते हो, और दूसरे में खाली कर जाते हो ! दक्षिणी हवा के मन्त्र-गुंजार से तुम्हारे कुंजवन में वसन्त की माधवी-मंजरी मालंच* के चंचल अंचल को ज्यों ही भर देती है, त्यों ही विदाई की गोधूलि आकर उसकी छिन्न पंखुड़ियों को धूलि में बिखरा देती है ! समय कहाँ है ? इसी-लिए तुम फिर शिशिर की रात्रि में हेमन्त के अश्रु-गद्गद आनन्द का साज सजाने के लिए अपने निकुंज में नूतन कुन्द-पुष्पों की पंक्ति खिला देते हो। (किन्तु) हाय रे हृदय, अपने इस संचय को प्रातःकाल और सायंकाल केवल फेंककर चल देना पड़ता है। समय जो नहीं है—ना-ना, वह नहीं है !

इसीलिए हे सम्राट ! तुम्हारे शंकित हृदय ने समय को सौन्दर्य में भुलाकर उसका हृदय हरना चाहा था। उसके गले में कौन-सा हार पहनाकर तुमने रूपहीन मरण को मृत्युहीन अनुपम साज में वरण किया था ? विलाप का अवकाश बारहो महीने नहीं रहता, इसीलिए तुमने अपने अशान्त क्रन्दन को चिर-मौन के जाल से एक कठिन बन्धन में बाँध दिया था। चाँदनी रात में, एकान्त में तुम प्रेयसी को जिस नाम से बुलाया करते थे, वही कानों-कान की पुकार यहाँ अनन्त के कान में रख गये हो। प्रेम की वह करुण कोमलता प्रशान्त पाषाण में, सौन्दर्य के पुष्प-पुंज के रूप में, फूट पड़ी है।

हे सम्राट् कवि ! यह तुम्हारे हृदय का चित्र है, यह तुम्हारा अपूर्व अद्भुत नया 'मेघदूत' है, जो अपने छन्द और गानों के रूप में अलक्ष्य की ओर उठा है,

* लताओं को ऊपर उठाने के लिए उपवनों में लकड़ी आदि का एक ठाट बनाया जाता है। इसी को मालंच कहते हैं।

जहाँ तुम्हारी विरहिणी प्रिया प्रभात के अरुण आभास में, क्लान्त सान्ध्य दिगन्त के करुण निःश्वास में, पूर्णिमा में खिली हुई चमेली के देहहीन लावण्य-विलास में, भाषा के अतीत किसी कूल में, मिल गयी है, जहाँ से भिखारिणी आँखें बार-बार लौट आती हैं। तुम्हारा सौन्दर्य-दूत युग-युगान्तर से, काल के प्रहरी से बचता हुआ निर्वाक् होकर, यह सन्देश लेकर चला है—"हे प्रिया ! मैं तुम्हें नहीं भूला हूँ, नहीं भूला हूँ, नहीं भूला हूँ।"

महाराज, आज तुम चले गये हो; तुम्हारा राज्य स्वप्न के समान नष्ट हो गया—सिंहासन टूट गया है। तुम्हारे उन सैन्यदलों की, जिनके चरण-भार से धरती तिलमिला उठती थी, यादगार आज हवा के झोंकों के साथ दिल्ली के रास्ते की धूल पर उड़ जाती है; बन्दी गान नहीं गाते, यमुना के कल-कल्लोल के साथ नौबत अपना तान नहीं मिलाती; हाय रे, तुम्हारी पुर-सुन्दरियों के नूपुरों की रुन-झुन टूटे खण्डहरों के कोनों में मरकर झिल्ली की आवाज के रूप में रात्रि के आकाश को रुला देती हैं ! फिर भी तुम्हारा यह श्रान्ति-क्लान्तिहीन अम्लान दूत राज्यों का बनना-बिगड़ना, जीवन और मृत्यु का चढ़ाव-उतार तुच्छ करके, युग-युगान्तर से चिर-विरही की एक ही वाणी, एक ही स्वर में कह रहा है—"हे प्रिया ! मैं तुझे नहीं भूला हूँ, नहीं भूला हूँ, नहीं भूला हूँ।"

झूठी बात !—कौन कहता है कि तुम नहीं भूले ? अरे, कौन कहता है कि तुमने स्मृति के पिंजड़े का दरवाजा नहीं खोला ? क्या अतीत का चिरन्तन अस्त अन्धकार आज भी तुम्हारा हृदय बाँधे है ? क्या विस्मृति के मुक्त-मार्ग से वह बाहर नहीं हो गया ? यह समाधि-मन्दिर चिरकाल से इसी जगह स्थिर हो रहा है, पृथ्वी की धूल में रहकर मरण को इसने यत्नपूर्वक स्मरण के आवरण में ढँक रखा है ! जीवन को कौन रख सकता है ? आकाश की ओर तारिकाएँ उसे बुला रही हैं, उसका निमन्त्रण लोक-लोक से, नूतन पूर्वाचल के प्रत्येक आलोक से, आ रहा है। स्मरण की गाँठ टूट जाती है, और वह (जीवन) बन्धनविहीन होकर विश्व-पथ की ओर छूट पड़ती है !

महाराज, कोई भी महाराज्य तुम्हें किसी दिन नहीं पकड़ सका। हे विराट् ! यह समुद्रस्तनित पृथिवी तुम्हें नहीं भर सकी, अतएव जीवन-उत्सव के अन्त में इस पृथिवी को, मिट्टी के बर्तन की तरह, दोनों पैरों से ठेलकर, छोड़-छाड़कर तुम चल दिये। अपनी नीति की अपेक्षा तुम महान् थे, तभी तो तुम्हारे जीवन का रथ इस कीर्त्ति को बार-बार पीछे छोड़ जाता है, इसीलिए तो तुम्हारा चिह्न यहाँ है; पर तुम नहीं हो।

जो प्रेम सामने चलना-चलाना नहीं जानता, जिस प्रेम ने रास्ते में अपना सिंहासन डाल रखा था—उसके विलास-सम्भाषण ने रास्ते की धूल की तरह तुम्हारा पैर जोर से पकड़ रखा था—उसे तुमने धूल को ही लौटा दिया है। तुम्हारे पीछे की उसी पद-धूलि पर हवा के सहारे, तुम्हारे चित्त से सहसा (न-जाने) कब, जीवन की माला से खिसककर एक बीज गिर पड़ा था। आज तुम दूर चले गये हो,

वह बीज अमर अंकुर के रूप में आकाश की ओर उठा है, और गम्भीर गान के रूप में कह रहा है—"जितनी दूर तक देखता हूँ, वह पथिक नहीं है, नहीं है !"

प्रिया उसे न रख सकी, राज्य ने उसके लिए रास्ता छोड़ दिया, समुद्र और पर्वत उसका पथ-रोध न कर सके। आज उसका रथ रात के बुलावे से, नक्षत्रों के गान के रूप में, प्रभात के सिंहद्वार की ओर चला है । इसीलिए मैं यहाँ स्मृति के भार से दबा हुआ पड़ा हूँ; वह भार-मुक्त (अब) यहाँ नहीं है ।

[3]

हे विराट् नदी ! तुम्हारा अदृश्य निःशब्द जल अनवरत, अविच्छिन्न, अविरल भाव से बह रहा है । तुम्हारे रुद्र कायाहीन वेग के स्पन्दन से शून्य सिहर उठता है; वस्तुहीन प्रवाह के प्रचण्ड आघात खाकर राशि-राशि वस्तु-फेन जग उठते हैं; आलोक की तीव्रच्छटा, धावमान अन्धकार से पतित हो-हो तुम्हारे प्रत्येक वर्ण-स्रोत पर विच्छुरित (अनुरंजित) हो उठती है, और तुम्हारे स्तर-स्तर में (प्रत्येक तह में) सूर्य-चन्द्र-तारे तुम्हारे घूर्णाचक्र (आवर्त्त) में भटक-भटककर बुलबुले की भाँति मर जाते हैं ।

हे भैरवी, अजी ओ वैरागिणी, तुम जो निरुद्देश चली हो, वही तुम्हारा चलना— तुम्हारी रागिणी—तुम्हारा शब्दहीन सुर है । यह अन्तहीन दूर क्या तुम्हें निरन्तर आवाज दिया करता है ? आह, उसका यह प्रेम सर्वनाशी प्रेम है, तभी तो तुम गृहत्यागिनी हो ? इस उन्मत्त अभिसार के कारण तुम्हारे वक्षःस्थल के हार में बारम्बार आन्दोलन हो रहा है—यों ही नक्षत्रों की मणियाँ बिखर पड़ती हैं, तुम्हारी यह वात्याहत अस्त-व्यस्त केशराजि शून्य में अन्धकार करके उड़ती है; विद्युत् के कुण्डल हिल जाते हैं; तुम्हारा आकुल अंचल वन-वन में कम्पित तृण और चंचल पल्लवों के रूप में फहराने लगता है; तुम्हारी ऋतु की थाली से बारम्बार रास्ते-रास्ते जूही, चम्पा, मौलसिरी और पारुल पुष्प झड़ पड़ते हैं ।

तुम केवल दौड़ती हो, दौड़ती हो और वेग से दौड़ती हो--- उद्दाम भाव से दौड़ती हो; फिरकर देखतीं भी नहीं । तुम्हारे पास जो कुछ है, उसे दोनों हाथों से लुटाती चली जाती हो । कुछ बटोर नहीं लेतीं, कुछ संचय नहीं करतीं; न तुम्हें शोक है, न भय; रास्ते के आनन्दवेग में पाथेय (राह-खर्च) अबाध रूप से खर्च करती जाती हो ।

जिस क्षण तुम पूर्ण हो जाती हो, उस क्षण तुम्हारा कुछ भी नहीं रह जाता, इसीलिए तुम पवित्र हो । तुम्हारे चरण-स्पर्श से विश्व-धूलि प्रतिक्षण अपनी मलिनता भूल जाती है, तुम्हारी प्रत्येक झलक से मृत्यु प्राण हो जाती है ।

यदि तुम क्षण-भर के लिए थककर ठमक जाओ, तो उसी समय विश्व चौंक-कर उछल पड़े, राशि-राशि वस्तुओं के पर्वतों से वह भर जाय, लँगड़ी-गूँगी, बेसिर बेआँख की मोटी-मुचण्डी-भयंकरी बाधा सबको रोककर रास्ते में खड़ी हो जाय,

छोटा-से-छोटा परमाणु अपने भार से ही—जो भार-संचय के चिर-विकार का फल है—विद्ध हो जाय। सो भी आकाश के मर्मस्थल की जड़ में—कलुष वेदना के शूल के रूप में।

हे नटी, ओ चंचल अप्सरा, अजी ओ अलक्ष्य सुन्दरी, तुम्हारी यह नृत्य-मन्दाकिनी नित्य स्रवित हो-होकर मृत्यु के स्नान से विश्व का जीवन पवित्र कर देती है। अशेष निर्मल आकाश में वह विश्व का जीवन विकसित कर रही है।

अरे, कवि, आज यह झंकार-मुखर भुवन-मेखला (नदी) के अलक्षित चरणों का अकारण, अवारण संचार तुझे उतावला किये है। तेरी नाड़ियों में (किसी) चंचल की पदध्वनि सुन रहा हूँ। तेरा वक्षःस्थल झंकृत हो उठा है। कोई नहीं जानता कि तेरे रक्त में आज समुद्र की तरंगें नाच रही हैं, अरण्य की व्याकुलता काँप रही है; आज वही बात याद आती है—युग-युगान्तर से स्खलित हो-होकर चुपचाप रूप से रूप में, प्राण से प्राण में, संक्रमित होता हुआ चला जा रहा हूँ। आधी रात हो या प्रातःकाल, जब जो हाथ में आया है, सब-कुछ लुटाता आया हूँ—दान से दान को, गान से गान को।

अरे देख, वही प्रवाह बोल रहा है, नाव थरथर काँप रही है। पड़ा रहे तेरा किनारे का संचय किनारे ही पर, तू उधर फिरकर भी न देख! सम्मुख की वाणी तुझे पीछे के महान्धकार से खींचकर महास्रोत में ले जाय—अतल अन्धकार में, अकूल आलोक में।

[4]

रे पाषाण, तुझे किसने प्राण दिया? कौन तुम्हारे लिए प्रतिवर्ष इस अमृत-रस को जुटा देता है?—इसीलिए तो, तुमने देवलोक की ओर पृथिवी की आनन्द-मंजरी धारण कर रखी है; तभी तो बारहो महीने अवसन्न वसन्त की विदाई का उदास निःश्वास तुम्हें घेरकर बहा करता है। मिलन-रात्रि के उपान्त में, क्लान्त आँखों और धूमिल दीपालोक में, जितने अश्रुगलित गान थे, सभी समाप्त हो गये; पर हे अमर पाषाण, तुम्हारे अन्तस्तल में वे आज भी असमाप्त होकर जग रहे हैं।

वह राज-विरही अपने विदीर्ण हृदय से विरह का वह रत्न बाहर निकाल लाया। लाकर सबके सामने विश्वलोक के हाथ में दे दिया। वहाँ आज सम्राट के पहरेदार सिपाही नहीं हैं, (केवल) दसो दिशाएँ उसे घेरकर पकड़े हुए हैं। आकाश यत्नपूर्वक उस पर अपना नीरव चिरन्तन चुम्बन रख देता है; प्रभात अरुण अपनी रतनारी शोभा—प्रथम मिलन की प्रभा—उसे दे देता है; ज्योत्स्ना विरह की उदास हँसी हँसकर अपने पाण्डुर आभास से उसे करुण कर देती है।

हे सम्राट् महिषी, तुम्हारे प्रेम की स्मृति सौन्दर्य से महत्तर हो गयी है। वह स्मृति तुम्हें छोड़कर जीवन के अलक्ष्य आलोक के साथ निखिल लोक में फैल गयी है। उस अनंग स्मृति ने अंग धारण करके सम्राट् के प्रेम को विश्व की प्रीति में

मिला दिया है। उसने राज-अन्तःपुर से तुम्हारे गौरव-मुकुट को बाहर निकाल लिया है—राजा के महलों से लेकर दीन की कुटिया तक, जहाँ कहीं, जिस किसी की प्रेयसी है, सबके सिर पर पहना दिया है। तुम्हारे प्रेम की स्मृति ने सबको महत्त्वशालिनी बना दिया !

सम्राट् का मन, उनका धन-जन, सबने इस राजकीर्त्ति से विदा ले ली है; आज सर्वमानव-वेदना इस पाषाण-सुन्दरी को आलिंगन से घेरकर रात-दिन साधना कर रही है।

कृतित्व

मृत्युंजय रवीन्द्रनाथ

[1]

सम्वत् 2004 में सावन के महीने में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर हमें सदा के लिए छोड़कर चले गये थे। वे उन महापुरुषों में थे, जिनकी वाणी किसी विशेष देश या सम्प्रदाय के लिए नहीं होती, बल्कि जो समूची मनुष्यता के उत्कर्ष के लिए सबको मार्ग बताती हुई दीपक की भाँति जलती रहती है। अपने जीवन-काल में उन्होंने नाना भाव से मनुष्य की संकीर्णता को शिथिल करने के लिए उस पर बार-बार आघात किया था। देश का, जाति का, राष्ट्र का और धर्म का अभिमान मनुष्य को संकीर्ण-से-संकीर्णतर बनाते जा रहे हैं। उन्होंने समय रहते उन लोगों को सावधान करना चाहा था, जो इन संकीर्णताओं को उत्तेजना दे रहे हैं और जो इन्हें पाल-पोसकर बढ़ाते जा रहे हैं। यद्यपि मदगर्वित सिंहासनों तक उनकी वाणी पहुँच नहीं सकी और उनकी जीवितावस्था में ही संसार दो-दो बार विश्व-युद्ध की भयंकर विभीषिका का शिकार हो गया, तो भी वे हार माननेवाले नहीं थे। चलते-चलाते भी वे कह गये थे—"नागिनियाँ चारों ओर जहरीला निःश्वास छोड़ रही हैं, इस समय शान्ति की ललित वाणी दारुण परिहास-सी सुनायी देगी; फिर भी मैं उन लोगों को पुकार जाता हूँ, जो घर-घर (मनुष्य के भीतर वर्तमान) दानव से जूझने की तैयारी कर रहे हैं।" उनका सारा जीवन मनुष्य को उसकी महिमा के प्रति सचेतन करने का प्रयास है; संकीर्ण राष्ट्रीयता और धार्मिकता को शिथिल करने के लिए महान् संघर्ष का प्रयास है; और मनुष्य में प्रेम, औदार्य और भ्रातृभाव को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न है।

वे मूलतः कवि थे। इस संसार के स्त्री-पुरुषों के वैचित्र्यमय जीवन ने उन्हें बहुत आकृष्ट किया था। वे मनुष्य को उसके समस्त बन्धनों और वैविध्यों के साथ प्यार करते थे। बहुत पहले अपने विश्वमोहन प्रभु को सम्बोधन करके उन्होंने एक बार कहा था, "हे नाथ, तुम्हारे संसार की रुलायी और हँसी मुझे विचित्र भाषा में

बुलाया करती हैं। तुम्हारी सृष्टि के ये पुरुष और ये स्त्रियाँ न जाने कितनी वेदना की डोरियों से और वासना के आकर्षणों से मुझे चारों ओर खींच रहे हैं। हे नाथ, वीणा की भाँति मैं अपने इस मुग्ध मन को तुम्हारी गोदी में सौंप देता हूँ। इसके मोह-रूपी सैकड़ों तारों पर आघात करके तुम अपना विचित्र संगीत मुखरित करो।"

मनुष्य के इसी विचित्र प्रेम द्वारा प्रभावित वह विशाल साहित्य है, जिसे हम आजकल रवीन्द्र-साहित्य कहते हैं। काव्यों, नाटकों, कहानियों, गानों, निबन्धों, व्याख्यानों और प्रवचनों के माध्यम से नाना विचित्र सुरों और नाना विचित्र भावों में यह मानव-प्रेम उद्वेल हो उठा है। भजन, पूजन, साधना, आराधना-जैसे पवित्र नामों की खाल ओढ़ाकर भी मनुष्य ने मनुष्य के अपमान का आयोजन किया है। रवीन्द्रनाथ ने बार-बार इसका विरोध किया है। ऐसे व्यवहारों से उनका हृदय जल उठता था। भाषा में उस ज्वलन्त हृदय का उद्दीप्त प्रकाश रह गया है :

"अरे, ओ भलेमानस, क्यों तू देवालय का दरवाजा बन्द करके उसके कोने में पड़ा हुआ है? अरे, रहने दे अपने इस भजन और पूजन को, ध्यान और आराधना को। अपने मन के अँधेरे में छिपा हुआ तू चुपचाप किसकी पूजा कर रहा है? ज़रा आँख खोलकर देख तो भला, देवता तेरे घर में नहीं हैं। वे वहाँ चले गये हैं, जहाँ किसान मिट्टी तोड़कर हल जोत रहा है, जहाँ मजदूर बारह महीने पत्थर काटकर रास्ता तैयार कर रहा है। वे धूप और पानी में सबके साथ हैं। उनके दोनों हाथों में धूल लगी हुई है। भलेमानस, तू भी उन्हीं के समान इस पवित्र वस्त्र को फेंककर धूल में उतर आ। रहने दे अपनी ध्यान-धारणा, पड़ी रहने दे फूलों की डलिया, फट जाने दे इस शुचि-वस्त्र को, लगने दे इस शरीर में धूल और बालू। ऐसा हो कि उनके साथ कर्मयोग में एक होकर तेरा पसीना चुए।"

वे कल्पना-विलासी कवि नहीं थे। मनुष्य की वेदना ने बार-बार उनके कोमल हृदय पर आघात किया है। वे दीन और दलित के कण्ठ की वाणी को सहस्रगुण शक्ति देकर मुखरित कर सके थे; क्योंकि उनकी वेदना उन्हें व्याकुल कर देती थी। अपनी एक अत्यन्त प्रसिद्ध कविता में इस व्याकुल कवि ने मेघ के-से गम्भीर स्वर में पूछा है, "कहाँ आग लगी है? किसका शंख बज उठा है जगत्-जन को जगाने के लिए? कहाँ के क्रन्दन से शून्यतल ध्वनित हो रहा है?" और उन्होंने स्वयं उत्तर दिया है, "स्फीतकाय अपमान अक्षम पुरुषों के वक्षःस्थल से रक्त-शोषण करके पान कर रहा है—लाखों मुखों से। स्वार्थ से उद्धत अविचार वेदना की खिल्लियाँ उड़ा रहा है। संकुचित भीत क्रीतदास छद्मवेश में छिप रहा है। वह जो खड़ा है—सिर नीचा किये हुए—मूक होकर, उसके म्लान मुख पर केवल सैकड़ों शताब्दियों की वेदना की करुण कहानी लिखी हुई है; उसके कन्धों पर जितना ही भार लदता जाता है, ढोये चलता है मन्द गति से—जब तक कि उसमें प्राण है; इसके बाद दे जाता है अपनी सन्तान को—पीढ़ी-दर-पीढ़ी! अदृष्ट की निन्दा नहीं करता, देवताओं को याद करके नहीं कोसता, मनुष्य को दोष नहीं देता, अभिमान करना

नहीं जानता; केवल दो दाने खोंटकर किसी प्रकार कष्ट-क्लिष्ट प्राणों को बचाकर रख देता है। वही अन्न जब कोई छीन लेता है, गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचार जब उन प्राणों पर आघात पहुँचाता है, तब वह नहीं जानता कि किसके दरवाजे पर सुविचार की आशा लेकर जा खड़ा होगा। दरिद्र के भगवान् को एक बार पुकारकर चुपचाप मर जाता है।"

कवि ने गम्भीर निर्घोष में मानो वर्त्तमान युग के कवि को चेताते हुए कहा, "इन्हीं सब मूढ़-म्लान मुखों में भाषा देनी होगी---इन्हीं सब श्रान्त-शुष्क भग्न वक्षः-स्थलों में आशा का संचार करना होगा। इन्हें पुकारकर कहना होगा : टुक खड़े तो हो जाओ एक बार सिर उठाकर ! जिसके भय से तुम डर रहे हो, वह अन्यायी तुम से कहीं अधिक कमजोर है। तुम जागे नहीं कि वह भाग खड़ा होगा —जैसे ही तुम उसके सामने तनकर खड़े हुए कि वह राह के कुत्ते की भाँति संकोच और त्रास से दुबककर रह जायेगा। देवता उससे विमुख हैं---कोई नहीं है उसका सहायक—वह तो केवल मुँह से ही बड़ी-बड़ी बातें हाँका करता है; किन्तु मन-ही-मन अपनी हीनता को खूब पहचानता है ! अतएव हे कवि, उठ आओ ! यदि तुम्हारे अन्दर केवल प्राण ही बाकी हों, तो उन्हें ही साथ लेते आओ--(वही क्या कम है)—उन्हें न्यौछावर कर दो। बड़ा दुःख है---बड़ी व्यथा है—सामने कष्ट का संसार फैला हुआ है। बड़ा ही दरिद्र है—शून्य है---क्षुद्र है---अन्धकार में बद्ध है। उसे अन्न चाहिए--प्राण चाहिए—आलोक चाहिए, चाहिए मुक्त वायु, बल, स्वास्थ्य—आनदोज्ज्वल परमायु और चाहिए साहस से चौड़ी छाती। इसी दीनता के बीच, हे कवि, एक बार ले तो आओ स्वर्ग से विश्वास की छवि !"

रवीन्द्रनाथ उन लोगों में नहीं थे, जो संसार को माया समझने में आनन्द पाते हैं और उसको त्याग करने की सलाह देते हैं। मनुष्य इसीलिए बड़ा है कि उसमें दया-माया है, प्रीति और ममता है। देवता के मन्दिर में बैठा हुआ प्रवीण भक्त जब मनुष्य की अवहेला करता है, तो वह वस्तुतः देवता को ही द्वार से लौटा देता है। रवीन्द्रनाथ ने इसे एक कथा के रूप में इस प्रकार कहा है, "संसार से वैराग्य लेनेवाला एक वैरागी गम्भीर रात्रि में बोल उठा : आज मैं इष्टदेव के लिए घर छोड़ दूँगा—कौन मुझे भुलाकर यहाँ बाँधे हुए है ? देवता ने कहा : 'मैं' ! उसने नहीं सुना। नींद में डूबे शिशु को छाती से चिपटाकर प्रेयसी शय्या के एक किनारे सो रही थी। वैरागी ने कहा : ऐ माया की छलना, तू कौन है ? देवता बोल उठे : 'मैं' ! किन्तु किसी ने नहीं सुना। शय्या पर से उठकर वैरागी ने पुकारा : प्रभो ! तुम कहाँ हो ? देवता ने उत्तर दिया : 'यहाँ' ! तो भी वैरागी ने नहीं सुना। स्वप्न में माता को खींच शिशु रो पड़ा--देवता ने कहा : 'लौट आओ'। वैरागी को यह वाणी भी नहीं सुनायी दी। अन्त में लम्बी साँस लेकर देवता ने कहा—'हाय, मेरा भक्त मुझे छोड़कर कहाँ चला !' "

'चैतालि' नाम के कविता-संग्रह में एक और आकर्षक कविता है। एक साधु स्वर्ग गये। उनकी धारणा थी कि यौवन में तो उन्होंने पुण्य किया ही नहीं है, जो-

कुछ साधना है, वह अन्तिम जीवन में ही हुई है। पर श्रीचित्रगुप्त के बहीखाते में बिल्कुल उलटी बात दिखायी दी। वस्तुतः यौवन-काल के पुण्यों से ही हिसाब का पन्ना भरा हुआ था। साधु हैरान था कि यौवन में उसने पुण्य किया ही कहाँ! उसने तेज होकर पूछा, 'देव, यौवन के पृष्ठ पर पूजा के हिसाब में आपने इतना पुण्य कैसे लिख डाला?' चित्रगुप्त हँसकर बोले, 'समझाना जरा कठिन है। जिसे पेम कहा जाता है, उसी का नाम पूजा है।'

रवीन्द्रनाथ भारतीय स्वाधीनता के लिए जूझनेवालों में अपने ढंग के अकेले ही महापुरुष थे। उन्होंने बार-बार याद दिलायी है कि बन्धन बाहर का नहीं, भीतर का है। यह जो पद-पद का भय है; लोक से, परलोक से, राजा से, मुसाहिब से, मरण से, दारिद्र्य से बार-बार भीत होना है, यही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। उन्होंने बार-बार अपने प्रभु से प्रार्थना की थी कि यह जो भीति का जंजाल है, वह छिन्न हो जाय; मनुष्य की हीनवीर्य जो अवनति है, वह दूर हो जाय; भीतर का जो कठोर मनोबन्धन है, वह कट जाय। आज शायद उनकी इसी प्रार्थना को याद करने की आवश्यकता सबसे अधिक है :

इस अभागे देश से, हे नाथ मंगलमय,
करो तुम दूर सब भवजाल ओछे,
छिन्न कर दो लोक से, नृप से, मरण से, भीति का जंजाल
चूर्ण-विचूर्ण कर दो, रुद्र, यह पाषाण का-सा भार
दुर्बल-दीन स्कन्धारूढ़—चिरपेषण व्यथा की मार
यह अवनति सदा की धूलितल में
यह कठिन अपमान अपना ही निमेष-निमेष
यह दासत्व की शृंखला भीतर और बाहर की,
सदा डरते हुए करना प्रणति शत-शत पदों की
यह सुचिर अपमान मानव-दर्प का,
हतगर्व मर्यादाजनित धिक्कार
लज्जाराशि वृहदाकार—
कर दो चूर्ण ठोकर मार
दो अवसर कि शुभ प्रत्यूष वेला में उठाये सिर,
ग्रहण कर सके निज निःश्वास मुक्त बयार में
लख सके यह निस्सीम परम व्योम का आलोक—
दृप्त, अशोक !

[2]

सहज भाव रवीन्द्रनाथ के काव्य का एक प्रधान स्वर है। मनुष्य, मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखे, यही सहज भाव है। केवल अतीत के स्तूपाकार संचित जंजालों के भीतर से मनुष्य की प्रगति का मूल्य नहीं आँका जा सकता और न केवल

वर्त्तमान की अस्थिर चकाचौंध के भीतर से देखकर ही उसे समझा जा सकता है। दोनों प्रकार के लोग अपने-अपने ढंग से मनुष्य की नवीन गति देखकर कुढ़ा करते हैं। परन्तु महाकाल देवता बहुत निर्मम और कठोर हैं। न जाने कितने अतीत के वृथा मोहों को रौंदते हुए वे आगे बढ़ रहे हैं और न जाने कितने वर्त्तमान के शक्ति-मदमत्त लोगों की तनी भृकुटियों की उपेक्षा करते हुए बढ़ते जा रहे हैं। अपने एक गान में उन्होंने गाया है :

"ना भाई, यह नहीं होने का, 'यह रह गया'—ऐसा कहकर तुमने किसे बचा लिया ? कब तुम्हारा हुकुम तामील हुआ है ? भाई मेरे, यह खींचतान नहीं चलेगी, सिर्फ वही बचेगा जिसमें बचने की योग्यता है। वैसे जो खुशी करो, जबर्दस्ती करके रखते रहो और मारते रहो—परन्तु इतना स्मरण रखो कि जिनके शरीर में सारी व्यथाएँ लगा करती हैं उनसे जितना सहा जायेगा उतना ही रह जायेगा, उतना ही चल सकेगा। तुम्हारे पास बहुत रुपये-पैसे हैं, अनेक टीम-टाम हैं, बहुत हाथी-घोड़े हैं—बहुत सम्पत्ति है। तुम सोचते हो कि तुम जो चाहोगे वही होगा। तुम सोचते हो, दुनिया को तुम्हीं नचा रहे हो। लेकिन भाई मेरे! एक दिन आँख खोलकर देखोगे कि तुम्हारे मत से जो नहीं होता वह भी हो गया!"

यह अत्यन्त सहज-सी बात है, परन्तु नाना प्रकार के शक्तिमदत्त लोग इस अत्यन्त सरल बात को नहीं समझ पाते। महाकाल का रथ किसी की परवा नहीं करता, सबकुछ को कुचलकर वह आगे बढ़ जाता है। लेकिन जो लोग शक्ति से मत्त हैं वे ही नहीं, जो लोग इस रहस्य को समझते हैं वे भी दुविधा में पड़े रहते हैं। सहज भाव इतना कठिन हो गया है कि मनुष्यों के इस विशाल समुदाय में उस भाव का मानव दुर्लभ हो गया है। इस सहज भाव के कारण रवीन्द्रनाथ ने अत्यन्त स्पष्ट रूप में जगत् की समस्याओं को देखा था, और उसका मूल कारण खोज लिया था। एक बार उन्होंने, कोरिया के एक युवक के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था, "हमारा कष्ट और हमारी दीनता ही हमारी शक्ति है। उसी ने संसार-भर में हमारा महासम्मिलन कराया है और उसी के बल पर भविष्य पर हमारा अधिकार होगा। जो लोग धनी हैं वे स्वार्थ की प्राचीर से अलग-अलग घिरे हुए हैं। हमारे लिए बड़े आश्वासन की बात यह है कि जो लोग सत्यरूप में मिल सकते हैं उन्हीं की जय होती है। यूरोप में जो महायुद्ध हुआ था वह धनिकों का युद्ध था। उस युद्ध का बीज आज असंख्य होकर संसार-भर में फैल गया है। वह बीज मानव-प्रकृति के अन्दर ही है—स्वार्थ ही विद्वेषबुद्धि की जन्मभूमि है। अब तक दुःखी ही दीनता और अज्ञान के कारण एक-दूसरे से अलग थे; और धन में जो शक्तिशूल था वह उनके मर्मस्थल में चुभा हुआ था। आज दुःख और दीनता ही हमें मिलायेगी और धन ही धनिकों को विच्छिन्न करायेगा। संसार में आज राष्ट्रतन्त्र की अशान्त लहरें उठ रही हैं, बलवान् जातियों में जो दुराकांक्षाएँ बढ़ रही हैं उनसे क्या हमें यही नहीं दीख रहा।"

एक बार कवि ने लिखा था :

"वर्त्तमान युग का एक प्रबल लक्षण यह है कि जो लोग पीछे अन्धकार में पड़े हुए थे, वे अब आगे आ रहे हैं। संसार-भर के शूद्र समाज के तलदेश में थे, वे ऊपर-वालों के विशाल दल के बोझ से दबे थे। किसी ने सोचा भी नहीं था कि इस दबाव को अस्वीकार करके किसी दिन मुक्त होकर ये लोग निकल आयेंगे। संसार के समस्त स्थूल प्रयोजनों का बोझ ढोने के काम में अपनी समस्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता लुप्त करके ये सब लोग एकाकार होकर एक मानवपिण्ड हो उठे थे, उनके भीतर कहीं ऐसा फाँक या अवकाश नहीं था जिसके भीतर से आत्मशक्ति, क्रिया-प्रति-क्रिया, प्राण की चंचलता विस्तार कर सकती, इसीलिए ये लोग केवल बाहर के धक्के से ही हिलते-डुलते और लुढ़कते रहे हैं, कोल्हू की तरह चक्कर काटते रहे हैं, चक्की की तरह पिसते रहे हैं। मानसिक परतन्त्रता के कारण वे विशेष कुछ 'सृष्टि' नहीं कर सके हैं, केवल उत्पन्न करते रहे हैं—चालन नहीं कर सके हैं, केवल वहन करते रहे हैं। उन्हें अज्ञ बनाये रखना ही समाज की गरज थी, क्योंकि ज्ञान से मनुष्य केवल बाहर की वस्तु को नहीं जानता, खुद को भी जानता है। जो खुद को जानता है उससे जब दूसरा अपनी आवश्यकता के अनुसार ठीक-ठीक मेल बैठा लेना चाहता है तो फिर वे आपस में टकरा जाते हैं। ऐसे आदमी से सहयोग की आवश्यकता पड़ते ही समझौता करना पड़ता है। राजा के लिए यह प्रजा के आकार में हो या धनी के लिए मजदूर के रूप में, इससे ऊपरवाले का रास्ता ऊबड़-खाबड़ हो जाता है। काम-काज का चक्का आसानी से नहीं सरकता। पाश्चात्य समाज में ज्ञान का आलोक परिव्याप्त हुआ है। जहाँ शूद्र अचेतन होकर एकाकार बने हुए थे, वहाँ इस आलोक ने चेतनता फैला दी है और इसके साथ-ही-साथ उनमें स्वतन्त्रता की उपलब्धि हुई है और आत्मकर्तृत्व का बोध जाग पड़ा है। आज अवस्था यह है कि प्रभु और दास का सम्बन्ध सहज नहीं रह गया है। देश के सनातन अज्ञान का जुआ ज्यों ही जनसाधारण की गर्दन से उतर जायेगा त्यों ही अपने-आप उसका सिर ऊँचा हो जायेगा।"

—एक पत्र से

जो दूसरे को बन्धन में रखता है वह स्वयं बन्धन में पड़ जाता है। बन्धन जब तक अज्ञानमूलक कारण होता है तब तक उससे कहीं विकार नहीं पैदा होता। परन्तु ज्यों ही उसमें ज्ञान का आलोक पहुँच जाता है वह कष्ट देने लगता है। केवल बन्धनप्राप्त व्यक्ति को ही कष्ट नहीं होता, उसे भी होता है जो बन्धनकारक है। हमारे देश में स्त्रियाँ कृत्रिम बन्धन से बद्ध हैं। उनके इस बन्धन ने उन्हें तो बाँध ही रखा है, पुरुषों को भी कम बन्धन में नहीं डाल दिया है। सब समय पुरुष बाधामुक्त होकर आगे नहीं बढ़ सकता। कवि ने एक बार इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया था :

"संसार के संकीर्ण प्रयोजनों के निकट हमारी स्त्रियाँ कल दबाकर चलायी जानेवाली पुतलियों की तरह विधिविहित नियमों के अनुसार आवाज देती रही हैं,

हिलती-डुलती रही हैं। वे केवल यही बात जानती हैं कि अज्ञता और अशक्ति ही उनका भूषण है। माता और गृहिणी के विशेष-विशेष ढाँचे में ही उनका परिचय रहा है। यह बात कभी तो अस्वीकृत हुई और कभी निन्दित हुई है कि उसके मनुष्यत्व का स्वातन्त्र्य-साँचा अतिक्रम करके भी प्रकाशित होता है। इसी प्रकार स्त्रियाँ मनुष्य-जाति की एक बड़ी भारी क्षति करती आयी हैं। आज ऐसा युग आया है जब स्त्रियों ने मानवत्व के पूर्ण मूल्य का दावा उपस्थित किया है। 'जननार्थ महाभागा' कहकर अब उनकी गणना नहीं होगी। सम्पूर्ण व्यक्ति-विशेष के रूप में ही उनकी गिनती होगी। मानव-समाज में इस आत्मश्रद्धा के विस्तार के समान इतनी बड़ी सम्पत्ति और कुछ नहीं हो सकती। गिनती में मनुष्य का परिमाण नहीं मिलता, पूर्णता में ही उसका परिमाण है। हमारे देश में भी कृत्रिम बन्धनमुक्त स्त्रियाँ जब अपने पूर्ण मनुष्यत्व की महिमा प्राप्त करेंगी, तभी पुरुष भी अपनी पूर्णता प्राप्त करेगा।"

रवीन्द्रनाथ का यह मानवता-प्रेम हार माननेवाली चीज नहीं थी। मृत्यु के कई दिन पूर्व उन्होंने कहा था, "मैं ऐसा विश्वास करना अपराध ही मानता हूँ कि मनुष्यत्व का अन्तहीन और प्रतिकारहीन पराभव ही चरम सत्य है।" जीवन-भर उन्होंने मनुष्यता का ही सन्देश दिया है। आज यद्यपि उनका मृण्मय शरीर हमारे बीच नहीं है, पर उनका चिन्मय सन्देश उनके काव्यों और अन्य ग्रन्थों में हमारे पास है। वह आज भी हमें प्रेरणा दे सकता है। उनके लिखे ग्रन्थों में उनका वह सन्देश जी रहा है जो हमें निरन्तर कठिनाइयों से जूझते रहने की प्रेरणा देता है, मनुष्यत्व के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की उमंग संचारित करता है।

रवीन्द्रनाथ की आशाभूमि

जब कभी कविवर रवीन्द्रनाथ के विषय में लिखने का प्रयत्न करता हूँ, तभी एक विषम समस्या उठ खड़ी होती है—कहाँ से शुरू करूँ? सबसे पहली बात जो बिना सोचे ही मन में आ जाती है, वह है मनुष्य की जय-यात्रा में उनका अखण्ड विश्वास। वे केवल कल्पना-विलासी कवि नहीं थे, वे द्रष्टा थे। जीवन की उच्छल प्राणधारा में उनका अडिग विश्वास था। जहाँ यह उच्छल प्राणधारा है, वहीं मनुष्य का सर्वस्व है, वहीं आशा है। चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो, चाहे वाणिज्य-व्यवसाय का, प्राण की उच्छल धारा ही प्रधान वस्तु है। युद्ध-विग्रह का उन्होंने कसके विरोध किया था; क्योंकि यह भय से, मोह से, लोभ से विकृत मानव का उन्माद है।

परन्तु तोपों का गर्जन अघटित घटना नहीं है, असम्भावित वस्तु नहीं है; मनुष्य जिस रास्ते पर जा रहा है उसका यही परिणाम हो सकता है। राष्ट्रीयता के नाम पर पुंजीभूत गतिहीन-प्राणहीन स्वार्थ-सम्भार की सड़ाँध से मनुष्य का मन विकृत हो उठा है। परन्तु निराश वे नहीं होते थे। युद्ध इसी सड़ाँध को झाड़ फेंकने का प्रकृतिदत्त उपचार है। युद्ध में यद्यपि मनुष्यता अपार कष्ट में फँस जाती है, पर मरती वहाँ मृत्यु है, जीतता जीवन है। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने के पूर्व ही उन्होंने संसार को बारम्बार चेतावनी दी थी कि मनुष्य विनाश की ओर बढ़ रहा है। परन्तु युद्ध छिड़के ही रहा। शायद विधाता के अस्त्रागार में मनुष्य की दुर्दम लिप्सा और मोह को ध्वस्त करने का दूसरा अस्त्र बचा नहीं रह गया था। सन् 1914 ई. के पौषोत्सव के प्रवचन में उन्होंने कहा था :

"एक बार विचारकर देखो तो सही, हम जब यहाँ आनन्दोत्सव मना रहे हैं, ठीक उसी समय समुद्रपार मनुष्य के साथ मनुष्य का कैसा दारुण युद्ध चल रहा है। वहाँ आज के इस प्रातःकाल का आलोक क्या दिखा रहा है—किस भयंकर प्रलय की विभीषिका को! वहाँ इसी प्रलय की विभीषिका पर खड़ा होकर मनुष्य अपने मनुष्यत्व का प्रचार कर रहा है। वहाँ इतिहास की पुकार अभी है, उस पुकार को सुनकर सब लोग निकल पड़े हैं। किसने गलती की है, किसने नहीं; कौन किस बात के लिए कितना जवाबदेह है, कौन नहीं—दूर रहने दो इस विचार को। किन्तु इतिहास ने पुकारा है, यह सही है; उस पुकार को जर्मनों ने सुना है, अंग्रेजों ने सुना है, फ्रांसीसियों ने सुना है, बेलजियनों ने सुना है, रूसियों ने सुना है। इतिहास के भीतर से इतिहास के देवता अपनी पूजा ग्रहण करेंगे; इस युद्ध में उसी महादेवता का वह उत्सव चल रहा है। यह नहीं होने का कि कोई जाति अपने राष्ट्रीय स्वार्थ को पुंजित करके अपनी राष्ट्रीयता को सँकरी कर दे—इतिहास-विधाता का यही आदेश है। मनुष्य राष्ट्रीय-दानव के पदतल में इतने दिनों से नरबलि का उद्योग कर रहा है, इसीलिए आज उस अपदेवता का मन्दिर तोड़ देने का हुक्म हुआ है। इतिहास-विधाता कहते हैं—तुम सबको इस स्वार्थ-दानव के मन्दिर की दीवालें तोड़ देनी होंगी, यह नरबलि अब नहीं चलेगी। हुक्म मिलते ही तोप के गोले आकर उस मन्दिर की दीवालों को तड़ातड़ चूर्ण करने में जुट गये हैं। वीरों का दल अपने रक्त-पद्म का अर्घ्य लेकर इस इतिहास-विधाता की पूजा के लिए निकल पड़ा है। जो लोग आराम में थे, वे आराम को धिक्कार देकर कहने लगे हैं—प्राणों से चिपके नहीं रहेंगे, मनुष्य के पास प्राणों से भी बढ़कर कोई चीज है। आज तोपों के गर्जन में मानव का जय-संगीत बज उठा है, माताएँ रो उठी हैं, स्त्री-पुत्र अनाथ होकर छाती कूट रहे हैं और इसी क्रन्दन के ढूह पर उत्सव चल रहा है। जिस समय वाणिज्य-व्यवसाय चल रहा था, घर में पैसा भर रहा था, राज्यों और साम्राज्यों को छापकर प्रताप व्याप्त हो रहा था, ठीक उसी समय पुकार आयी—निकल आना होगा। महेश्वर ने जब अपने पिनाक में रुद्र-टंकार भरा है, तब माँ को रोकर कहना पड़ा है—जाओ। स्त्री को रोते-रोते पति

को अपने हाथों कवच पहना देना पड़ा है। समुद्र के उस पार आज मरण-यज्ञ में यही प्राणों का महोत्सव चल रहा है।"

यह रवीन्द्रनाथ का कहने का अपना ढंग है। राष्ट्रीयता के दानव के प्रति उनके मन में बहुत ही कठिन क्रोध था। उन्होंने प्रथम महायुद्ध का कारण इस संकीर्ण राष्ट्रीय भावना को ही समझा था। वे मनुष्य की एकता में विश्वास रखते थे। युद्ध से वे विचलित नहीं हुए थे, क्योंकि उन्हें बहुत पहले ही उसकी काली छाया दिख गयी थी; परन्तु उन्होंने समझा था कि युद्ध में चाहे मनुष्य को जितना कष्ट हो, जितनी भी लांछना और गंजना सहनी पड़े, युद्ध का परिणाम अन्ततः मनुष्य की प्रगतिशील शक्तियों की ही विजय होगी। वही जीतेगा जिसमें प्राण की उच्छल धारा का वेग होगा। जो सड़े विचारों और सूखे आचारों से चिपटे हैं वे कितने भी शक्तिशाली क्यों न हों, अपने ऊपर उन्होंने स्वेच्छा से मृत्यु की खाल डाल ली है। मनुष्यता आगे बढ़ेगी, उसे रोकने का प्रयत्न व्यर्थ होगा। उन्हें विश्वास था कि इस विकट संघर्ष के बाद संकीर्णता की दीवाल टूटेगी, मनुष्य में उदारता का संचार होगा। युद्ध में सर्वत्र यह अनुभव किया गया कि संकीर्णता खतरनाक है। युद्ध के बाद एक होने का प्रयत्न भी किया गया; पर सब व्यर्थ हुआ। क्योंकि मनुष्य ने संकीर्णता के दुःख को तो समझा, पर इतिहास-विधाता के इंगित को नहीं समझा। रवीन्द्रनाथ ने युद्ध के क्रन्दन और चीत्कार के भी उस इंगित को समझा था, इसीलिए आशापूर्ण स्वर में उन्होंने घोषित किया :

"आज जो संसार-भर में क्रन्दन चल रहा है, उसमें डर का सुर नहीं है; उसके भीतर से इतिहास तैयार हो रहा है। इसी में इतिहास-विधाता का आनन्द है। यह क्रन्दन उन्हीं में शान्त हो रहा है। उन्हीं शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम् के भीतर मृत्यु मर रही है, उन्होंने अपने हाथों मनुष्य के ललाट पर जय-तिलक लगाया है। वे ही विच्छेद और विरोध के मध्य-स्थल में खड़े हैं। देखो, यात्री जिधर चल पड़े हैं, मृत्यु की झंकार जिधर प्रतिध्वनित है, वहीं विराजमान हैं शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्। आज उस रुद्र के दक्षिण हाथ का आशीर्वाद ग्रहण करो। रुद्र की प्रसन्न हँसी तभी दिखायी देती है जब वे देखते हैं कि उनकी वीर सन्तान दुःख की परवा नहीं कर रही है। उसी समय उनके प्रसन्न मुख की हास्यच्छटा विकीर्ण होकर समस्त विश्व को सत्य-ज्योति से अभिषिक्त कर देती है।"

रुद्र भयंकर रूप में ही ताण्डव करते रहे; पर जब ताण्डव रुका, तो उनका प्रसन्न मुख नहीं दिखायी दिया। संसार से सभी पापों का प्रायश्चित नहीं हो सका था। अभी बहुत बाकी था। इतिहास-विधाता का प्रथम इंगित नितान्त व्यर्थ नहीं गया। युद्ध का बुखार जब उतरा तो संसार जैसा था वैसा ही नहीं रहा। नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्व-गगन में भयंकर झंझा के भीतर से नवीन ज्योति-लेखा का दर्शन हुआ; परन्तु संसार में जिस अपदेवता के मन्दिर को देखकर रवीन्द्रनाथ इतने विचलित हुए थे, उसके मन्दिर की सब दीवालें नहीं टूट सकीं। फिर उनके जीवन-काल में ही नया संघर्ष छिड़ गया। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उन्हें

संसार के बलदृप्त राष्ट्रों के भयंकर लोभ और निरीह राष्ट्रों की दयनीय भीति ने विचलित कर दिया था। वे बीमार पड़े थे, बेहोश हो गये थे; पर उस बेहोशी में भी उन्हें लोभ और भय का यह दारुण दृश्य व्याकुल किये रहा। होश में आकर उन्होंने गाया :

"जिस दिन मेरा चैतन्य लुप्ति की गुहा से मुक्त हुआ, उस दिन उसने एक दुःसह विस्मय की आँधी के साथ दारुण दुर्योग के बीच मुझे जाने किस नरकाग्नि-वर्षी ज्वालामुखी के गिरि-गह्वर के किनारे लाकर खड़ा कर दिया! मैंने देखा कि वह ज्वालामुखी तप्त धूम के रूप में मनुष्य का तीव्र अपमान उगलता हुआ फुफकार रहा है, अमंगल-ध्वनि से धरा को कम्पित कर रहा है और वायुमण्डल के स्तरों में कालिमा पोत रहा है। (वहीं से) मैंने इस युग की आत्मघाती मूढ़ उन्मत्तता देखी और यह भी देखा कि उसके समूचे शरीर में विकृति का घिनौना परिहास छा गया है, एक तरफ है स्पर्धित क्रूरता, मत्तता का निर्लज्ज हुंकार और दूसरी तरफ भीरुता का दुविधा-भरा पद-संचार, कृपण का छाती से चिपका हुआ सतर्क सम्बल। यह सन्त्रस्त प्राणी की भाँति क्षणिक गर्जन के बाद तत्काल ही क्षीण स्वर से अपनी निरापद नीरव नम्रता को बता देता है। जितने प्रौढ़ प्रतापशाली राष्ट्रपति हैं, उन सभी ने मन्त्र-सभा के मण्डप-तले संशय और संकोचवश अपने समस्त आदेशों और निर्देशों को अधरोष्ठों से दबाकर पीस रखा है। इधर वैतरणी नदी के उस पार से दानव-पक्षियों के दल-के-दल क्षुब्ध शून्य से उड़े आ रहे हैं और ये नर-मांस के भुक्खड़ गिद्ध अपने यन्त्ररूपी पक्षों को हुंकारित करके अपवित्र कर रहे हैं।

"हे महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक, मुझे शक्ति दो, मुझे शक्ति दो। मेरे कण्ठ में वज्रवाणी संचारित करो ताकि मैं इस शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित बीभत्सता को धिक्कार दे सकूँ—जो धिक्कार लज्जातुर इतिहास के हृदयस्पन्दन में उस समय भी स्पन्दित होता रहेगा जबकि यह रुद्धकण्ठ, भयार्त्त, शृंखलित युग चुपचाप अपने चिता-भस्म के नीचे प्रच्छन्न हो गया रहेगा।"

कितनी वेदना है इस कविता में! तीन दिन की बेहोशी में कवि ने केवल नरकाग्नि-वर्षी ज्वालामुखी को देखा, क्रूरता का मत्त अभियान और भीरुता का संशय-भरा पदसंचार ही अनुभव किया, भुक्खड़ गिद्धों के यन्त्र-पक्षों की कोलाहल-ध्वनि ही सुनी। महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक से उन्होंने दृढ़ कण्ठ-शक्ति माँगी। ऐसी कण्ठ-शक्ति जो शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित बीभत्सता को धिक्कार दे सके। उन्हें विश्वास था कि यह बीभत्स हिंसा एक दिन चिता-भस्म के नीचे दब जायेगी; परन्तु वे व्याकुल बहुत थे। उनकी अनेक कविताओं में इस व्याकुलता का परिचय मिलता है! जीवन-भर उन्होंने आशा का सन्देश सुनाया था, क्षमा और दया का मन्त्र सिखाया था। "जय हो, जय हो, नवीन अरुणोदय की जय हो; पूर्वी आकाश ज्योतिर्मय हो उठे, (महापुरुषों की) अपराजित वाणी, तुम आओ, कसके असत्य पर आघात करो। नाश हो शंका का, नाश हो संशय का! नवजाग्रत प्राण, आओ; चिर-यौवन के

विजय-संगीत, तुम आओ; मृत्यु को जीतनेवाली आशा, आओ; जड़ता को विनष्ट करनेवाली आशा, आओ। तुम्हारा स्वागत है, क्रन्दन दूर हो, बन्धन क्षय हो!"

ऐसे आशावादी कवि ने मृत्यु के कुछ दिन पूर्व अपने भगवान् को पुकारकर कहा :

"भगवान्, तुमने युग-युग में बार-बार इस दयाहीन संसार में अपने दूत भेजे हैं।
वे कह गये हैं—क्षमा करो,
कह गये हैं—प्रेम करो, अन्तर से विद्वेष का विष नष्ट कर दो।
वरणीय हैं वे, स्मरणीय हैं वे,
तो भी आज दुर्दिन के समय उन्हें निरर्थक नमस्कार के साथ बाहर के द्वार से ही लौटा दे रहा हूँ।
मैंने देखा है—गोपन हिंसा ने
कपट-रात्रि की छाया में निस्सहाय को चोट पहुँचायी है,
मैंने देखा है—प्रतीकारविहीन जबर्दस्त के अत्याचार से विचार की वाणी चुपचाप एकान्त में रो रही है,
मैंने देखा है—तरुण बालक उन्मत्त होकर दौड़ पड़ा है, बेकार ही पत्थर पर सिर पटकर मर गया है;
कैसी घोर यन्त्रणा है उसकी!
आज मेरा गला रुँध गया है, मेरी बाँसुरी का संगीत खो गया है, अमावस्या की कारा ने मेरे संसार को दुःस्वप्नों के नीचे लुप्त कर दिया है,
इसीलिए तो आँसू-भरी आँखों से तुमसे पूछ रहा हूँ—
जो लोग तुम्हारी हवा को विषाक्त बना रहे हैं,
उन्हें क्या तुमने क्षमा कर दिया है?
उन्हें क्या तुमने प्यार किया है?"

मर्म-वेदना की उक्त वाणी से यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने आशा छोड़ दी थी। उन्हें उन सब वस्तुओं के लिए कोई मोह नहीं था, जो स्वयं मृत्यु का वरण करके तीव्र गति से विनाश की ओर बढ़ रही हैं। मनुष्य ने वास्तविक प्राण-शक्ति की यदि उपेक्षा की है तो वह विनाश के गढ्डे में गिरेगा ही। विधाता की ओर से उसे यह अभिशाप मिल चुका है। और विधाता कौन है? स्वयं मनुष्य। बहुत-से लोग रवीन्द्रनाथ के राजा, महाकाल, रुद्र, इतिहास-विधाता आदि शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। रवीन्द्रनाथ अत्यन्त अवच्छिन्न विचार को भी मूर्त्त रूप देकर सोचते थे, इसीलिए वे उस ऐतिहासिक शक्ति को, जो मनुष्य को नाना रूपों में उपस्थित कर रही है, मूर्त्त देवता के रूप में देखते थे। मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह इतिहास-विधाता के इंगित को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। प्राण की उपेक्षा करके जीवित रहने की आशा आत्मवंचना है। मनुष्य उस मिट्टी की ओर से विरत होता जा रहा है जो प्राणशक्ति का जीवन्त उत्स है

और उस आसमान की ओर ताकने लगा है जो माया है, कुहेलिका है। रवीन्द्रनाथ ने गाया था—'अरे भाई, मिट्टी की ओर लौट; वह मिट्टी जो आँचल फैलाकर तेरे मुँह की ओर देख रही है, जिसके वक्षस्थल को फोड़कर यह प्राणधारा उच्छ्वसित हो रही है, जिसकी हँसी से फूल खिले हैं, जो संगीत की हर तान पर पुकार उठती है। वह देखो, इस छोर से उस छोर तक, इस दिगन्त से उस दिगन्त तक उसकी गोद फैली हुई है। जन्म और मरण उसी के हाथ के अलक्ष्य सूत्रों में गुँथे हैं। उसी के हृदय की विगलित वारि-धारा आत्मविस्मृत हो समुद्र की ओर छूटती है और वहाँ से प्राणों का सन्देश वहन कर लाती है। हाँ भाई, इस मिट्टी की ओर ही लौट आ!"

यही आशा है। बाकी सब छलना है, सब माया है। मृत्यु की काली छाया को हटाना है तो प्राण की इस उच्छल धारा की ओर देखो। मनुष्य ने जहाँ कहीं इस प्राणधारा की उपेक्षा की है—साहित्य में, कला में, वाणिज्य में, राजनीति में, विचारों में, आचारों में, सर्वत्र—वहीं मृत्यु की काली छाया स्वयं आ जाती है। प्राणधारा ठीक रहती है तो बाकी सबकुछ ठीक हो जाता है—अनायास। प्राणधारा दुर्बल हुई तो सब विकृत हो जाता है, हजार प्रयत्नों के बावजूद। साम्राज्य बनते हैं और बिगड़ते हैं; जय-डंका बजती है और रुकती है; विजय-पताका फहराती है और झुकती है; परन्तु जीते हैं वही जो मिट्टी से सम्बद्ध हैं, जो प्राणशक्ति से समन्वित हैं। अपनी एक कविता में उन्होंने इस बात को इस प्रकार कहा है:

अलस समय की धारा में बहता हुआ मन
शून्य की ओर ताकता हुआ चला जा रहा है।
उस महाशून्य के मार्ग में छाया के अंकित चित्र दिखायी दे रहे हैं।
ज़माने से दल-के-दल जन-समूह
सुदीर्घ अतीतकाल में
जयोद्धत प्रबल गति से आये हैं और चले गये हैं।
आये हैं साम्राज्यलोभी पठान,
आये हैं मुग़ल,
उनके विजय-रथ का पहिया धूल उड़ाता रहा,
उनकी विजय-पताकाएँ फहराती रही हैं।
सूने मार्ग की ओर देख रहा हूँ
आज उनका कोई चिह्न नहीं।
युग-युग में प्रभात और सन्ध्या-कालीन
सूर्योदय और सूर्यास्त के रंगीन प्रकाश
उस निर्मल-नीलिमा में चमकते रहते हैं।
दूसरी बार, उसी शून्य के नीचे आये हैं झुण्ड के झुण्ड,
लौहबद्ध मार्ग से, अनल-निःश्वासी रथ पर
प्रबल अंग्रेज,

विकीर्ण कर दिया है अपना तेज,
जानता हूँ काल उनके रास्ते से भी निकल जायेगा,
बहा देगा साम्राज्य का विजयग्रासी जाल
न जाने किस ओर।
जानता हूँ ज्योतिष्क लोक के मार्ग में
उनकी पण्यवाही सेना का लेशमात्र
मिट्टी की पृथ्वी की ओर जब दृष्टि फेरता हूँ
तो देखता हूँ, वहाँ कल-कल रव करती हुई विपुल जनता
चली जा रही है नाना पथों के नाना दलों में
युग-युगान्तर से मनुष्य के नित्य प्रयोजन के कार्यों में
जीवन में, मरण में।
वे चिरकाल रस्सी खींचते हैं, पतवार थामे रहते हैं,
वे मैदानों में बीज बोते हैं, पका धान काटते हैं;
वे काम करते हैं,
नगर में और प्रान्तर में।
राज-छत्र टूट पड़ता है,
रण-निनाद बन्द हो जाता है,
विजय-स्तम्भ मूढ़ की भाँति अपना अर्थ भूल जाता है।
लहूलुहान हथियारों के साथ सभी लहूलुहान आँखें
शिशु-पाठ्य कहानियों में मुँह ढाँपे रहती हैं।
वे काम करते हैं
देश में और देशान्तर में,
अंग-बंग-कलिंग में,
समुद्रों और नदियों के घाट-घाट में
पंजाब में, बम्बई में, गुजरात में।
उनके गुरुगर्जन और उनके गुन-गुन स्वर
दिन-रात में गुँथे रहकर दिन-यात्रा को मुखरित किये रहते हैं;
मन्द्रित कर डालते हैं
जीवन के महामन्त्र की ध्वनि को।
सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नावशेष पर
वे काम किये जा रहे हैं!

यहीं मनुष्य की आशा है। यहीं वह मिट्टी से बिछुड़ा नहीं है। यहीं उसकी प्राणधारा अबाध गति से बह रही है। रवीन्द्रनाथ ने यहीं विश्वास जमाया था, यहीं उन्होंने जीवन्त सौन्दर्य देखा था। क्योंकि, यहीं प्राणों की अनाविल धारा का प्रवाह है। मिट्टी की ओर ही उन्होंने देश के अपरिपक्व तरुणों को पुकारा था; क्योंकि यद्यपि वे अपरिपक्व हैं, पर उनमें प्राणधारा है। उन्होंने कहा था:

चलना न चाहतीं मिट्टी की सन्तानें
पग रख मिट्टी पर (उसे अशुचि ये मानें)!
अपनी-अपनी उनकी हैं बास मचानें
जिन पर अडोल आसन बाँधे वे सुस्थिर।
आ रे अशान्त, आ अपरिपक्व, आ अस्थिर !
सब तुझे रोकना चाहेंगे भरसक वे
सोचेंगे देख प्रकाश नया औचक वे—
यह कैसा अद्भुत काण्ड आज दिखता रे !
पाकर तेरा संघात खीझ जायेंगे,
शयनीय छोड़ निज दौड़-दौड़ आयेंगे;
इस अवसर पर निद्रा से जग जायेंगे—
फिर गुत्थमगुत्थी सत्य और मिथ्या की !
आ रे प्रचण्ड, आ अपरिपक्व एकाकी।

देश के युवकों में उनका अखण्ड विश्वास था। मिट्टी, कार्य, औदार्य और छलकती प्राणधारा—यही चिरन्तन सौन्दर्य के मूल उत्स हैं।

भविष्यद्रष्टा रवीन्द्रनाथ

गत 7 अगस्त को कविवर रवीन्द्रनाथ का तिरोधान-दिवस सारे देश में मनाया गया है। भारतीय तिथियों के अनुसार यह श्राद्धदिवस श्रावणी पूर्णिमा को पड़ना-चाहिए। मुझे लगभग बारह वर्ष तक उनका स्नेह प्राप्त करने का अवसर मिला था। इस बीच उनके अनेक उपदेश सुनने को मिले हैं, अनेक आदेश पालन करने पड़े हैं, अनेक सरस विनोदों और झिड़कियों को भी सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है—इन बातों की स्मृति आज अन्तस्तल में चुभती रहती है। इतना बड़ा प्रेमी, इतना बड़ा सदाशय, ऐसा महान् मानव-विश्वासी मनुष्य मैंने नहीं देखा। उनके पास दस मिनट बैठने के बाद चित्त में अपूर्व आत्मबल का संचार होता था। ऐसे लोग तो संसार में बहुत मिलेंगे जिनके पास जाने से मनुष्य अपने भीतर के दोषों को देखता है, अपने अन्तस्तल के असुर को प्रत्यक्ष देखकर निराश हो जाता है, पर ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे जो उसके भीतर के देवता को प्रत्यक्ष करा दें। रवीन्द्रनाथ ऐसे ही महापुरुष थे। वे मनुष्य के अन्तस्तल में निस्तब्ध देवता को प्रत्यक्ष करा देते थे। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनके काव्यों की भाँति ही मनोहर, उद्बोधक और प्रेरणादायक तत्त्वों से

संघटित था। मैंने उन्हें अनेक विचित्र और जटिल समस्याओं के भीतर निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति प्रशान्त तेज से जलते देखा है, एक बार भी उन्हें ऊँचे आसन से नीचे उतरते नहीं देखा, एक बार भी उन्हें अभिभूत होते नहीं देखा। उनकी बड़ी-बड़ी-आँखों से स्निग्ध प्रीतिधारा झरती-सी रहती थी। मैंने उन्हें वृद्धावस्था में देखा था। फिर भी कैसी अपूर्व शोभा उनके इस वृद्ध शरीर में थी! जिस ओर से भी देखिए, विधाता ने उन्हें अपूर्व चारुता-सम्पत्ति दे रखी थी। मुखमण्डल से कान्ति की धारा झरती रहती थी, बड़ी-बड़ी आँखों से स्नेह की पावन धारा बरसती रहती थी और श्वेत श्मश्रु से आच्छादित अधरोष्ठों के मन्दस्मित से तो अपूर्व शान्ति की स्रोतस्विनी ही बह जाया करती थी। उनके विराट् मानस में औदार्य, तेज और प्रेम की त्रिवेणी लहराया करती थी और कुशाग्र बुद्धि जगत् की गूढ़तम समस्याओं को अनायास भेद जाया करती थी। जितना ही सोचता हूँ उतना ही लगता है, रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व अपूर्व था, अद्भुत था। ऐसे महापुरुष के सान्निध्य को विधाता के वरदान के सिवा और क्या कहा जा सकता है और स्नेहाधार से विमुक्त होने को दुर्दैव के भयंकर अभिशाप के सिवा और क्या कहा जाय? उनके ही विषय में आज कहना है—"आँखिन में जो सदा रहते तिनकी यह कान कहानी सुन्यो करें।"

जिस दृष्टि की प्रेमाप्लुत मोहिनी शक्ति की मैंने ऊपर चर्चा की है, वह बड़ी भेदक थी। उसने इस युग के सम्पूर्ण रहस्य को इस सहज भाव से देखा था कि आश्चर्य होता है। उसमें सौन्दर्य और सत्य तक पहुँचने की अपूर्व शक्ति थी। यूरोप की सभ्यता ने हमारे देश के पिछले इतिहास को अभिभूत कर रखा था। कुछ लोग उसके प्रभाव में एकदम बह गये थे, कुछ दूसरे लोग ठीक बह तो नहीं गये थे, पर उसकी ओर से धक्का खाकर अपने प्राचीन आचारों से चिपट गये थे। ये लोग पद-पद पर 'हमारे यहाँ' का ब्रह्मास्त्र चलाया करते थे। रवीन्द्रनाथ ने इस सभ्यता के दोष और गुण, दोनों को विवेक के साथ परखा था। इस युग में यूरोप ने निश्चय ही किसी बड़े सत्य को पाया है; न पाया होता तो इतनी उन्नति उसकी न होती। रवीन्द्रनाथ ने इस सत्य से अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा था कि "भौतिक जगत् के प्रति व्यवहार सच्चा होना चाहिए, यह आधुनिक वैज्ञानिक युग का अनुशासन है। इसे नहीं मानने से हम धोखा खायेंगे। इस सत्य को व्यवहार करने की सीढ़ी है मन को संस्कार मुक्त करके विशुद्ध प्रणाली से विश्व के अन्तर्निहित भौतिक तत्त्वों का उद्धार करना।" आगे चलकर वे इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं, "यह बात सही है। किन्तु और भी सोचने की बात रह जाती है। यूरोप ने जिस बात में सिद्धि प्राप्त की है उस पर हमारे देशवासियों की दृष्टि बहुत दिनों से पड़ी है, वहाँ पर उसका जो ऐश्वर्य है वह विश्व के सामने प्रत्यक्ष है। किन्तु जिस बात में उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है वह गहराई में है, इसीलिए वह बहुत दिनों तक दुनिया की आँखों से ओझल रही है। यहीं उसने विश्व की भयंकर क्षति की है और यह क्षति अब धीरे-धीरे उसी की ओर लौट रही है। यूरोप के जिस लोभ ने चीन

को अफीम खिलायी है वह लोभ तो चीन की मृत्यु से ही मर नहीं जाता। हम बाहर से देख सकें या नहीं, यह लोभ यूरोप को प्रतिदिन बेरहमी के साथ मोहान्ध बनाता जा रहा है। केवल भौतिक जगत् में ही नहीं, मनुष्य की दुनिया में भी निष्काम चित्त से सत्य का व्यवहार करना आत्मरक्षा का आखिरी और उत्तम उपाय है। उस सत्य-व्यवहार पर से पश्चिमी जातियों की श्रद्धा प्रतिदिन कम होती जा रही है। इसी कारण उनकी लज्जा भी दूर होती जा रही है और इसीलिए उनकी समस्या भी जटिल होती जा रही है। विनाश नजदीक आता जा रहा है।"

क्या मानव-जगत् और क्या भौतिक जगत्, क्या स्वदेश और क्या विदेश, सर्वत्र सत्याचरण को ही उन्नति और अभ्युदय का मूल मन्त्र मानना चाहिए। कवि ने अपने जीवन में भी और अपने ग्रन्थों में भी सर्वत्र इस सत्य का जयगान किया है। इस सत्य पर दृष्टि निबद्ध रहने के कारण ही आज से बीसियों वर्ष पहले वे ऐसी बातें लिख गये हैं जो आज आश्चर्यजनक भविष्यवाणी-जैसी लगती हैं। सन् 1916 ई. में चीनसमुद्र से उन्होंने अपने एक प्रियजन को पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने चीनी मजदूरों की अपूर्व कर्मतत्परता को देखकर लिखा था—"कर्म की यही मूर्त्ति है। एक दिन इसकी जीत होगी। यदि न हो, यदि वाणिज्यदानव ही मनुष्य की घर-गिरस्ती, आनन्द-आजादी आदि को लीलता चला जाये और एक वृहद् गुलाम-सम्प्रदाय की सृष्टि कर डाले तथा उसी की मदद से कुछ थोड़े-से लोगों का आराम और स्वार्थ-साधन करता रहे, तब यह पृथ्वी रसातल को चली जायेगी। चीन की यह इतनी बड़ी शक्ति (कर्म करने की शक्ति) जिस दिन हमारे इस युग के सर्वश्रेष्ठ वाहन को पा सकेगी अर्थात् जिस दिन विज्ञान को हाथ कर लेगी, उस दिन संसार की कौन-सी शक्ति है जो उसे बाधा दे सके ?" रवीन्द्र की यह भविष्य-वाणी सत्य सिद्ध हुई है। चीन को बाधा देने की समस्त चेष्टाएँ व्यर्थ हुई हैं। चीन की इस कर्म-तत्परता को देखकर उन्हें अपना देश याद आ गया था। उन्होंने दीर्घ निश्वास त्याग करते हुए लिखा था—"कब मिलेगी यह तस्वीर भारतवर्ष में देखने को ! यहाँ तो मनुष्य अपना बारह आना अंश अपने-आपको ही धोखा देकर काट रहा है। नियमों का ऐसा जाल फैला है जिससे केवल बाधा-ही-बाधा पाकर, केवल उलझ-उलझकर ही, अपनी शक्ति का अधिकांश फिजूल खर्च कर देता है, बाकी अंश को काम-काज में जुटा ही नहीं पाता। विपुल जटिलता और जड़ता का ऐसा समा-वेश पृथ्वी में और कहीं नहीं मिल सकता। चारों ओर केवल जाति के साथ जाति का विच्छेद, नियम के साथ काम का विरोध, और आचार-धर्म के साथ काल-धर्म का द्वन्द्व फैला हुआ है।" इस प्रकार उन्होंने भारतीय धर्म की जड़ विधियों का तिरस्कार किया था, परन्तु सत्यों का सत्य यह है कि उपनिषदों के अपूर्व रस का मन्थन करने के बाद ही उन्होंने सिद्धान्त सिद्ध किया था। रवीन्द्रनाथ मनुष्य की जीवनधारा में पूर्ण आस्था रखते थे। वे जानते थे कि ऊपर का हो-हल्ला क्षणिक है। समस्त अशान्ति और आलोड़न के नीचे मनुष्य-जाति की वह सहज कर्मशील धारा ही एक-मात्र जीवित रहती है जो मैदानों में परिश्रम करती है, जो जड़ संचय के बल पर

नहीं बल्कि जीवन्त प्राणमय कर्मशक्ति पर भरोसा रखती है। इसीलिए वे प्रबल उत्तेजना के समय भी शान्त-निस्तब्ध रह सके थे। उनका उस परमात्मा में विश्वास था जो विलास और शक्तिमद में नहीं रहता बल्कि कर्ममय मानव-जीवन के साथ नित्य चला करता है। एक कविता में उन्होंने इस भाव को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है :

वे चिरकाल रस्सी खींचते हैं, पतवार थामे रहते हैं।
वे मैदानों में बीज बोते हैं, पका धान काटते हैं,
वे काम करते हैं नगर में और प्रान्तर में।
राज-छत्र टूट पड़ता है, रण निनाद बन्द हो जाता है।
विजयस्तम्भ मूढ़ की भाँति अपना अर्थ भूल जाता है।
लहुलुहान हथियारों के साथ सभी लहुलुहान आँखें
शिशुपाठ्य कहानियों में मुँह ढाँपे रहती हैं।
वे काम करते हैं
देश में और देशान्तर में।
अंग-वंग कलिंग में
समुद्रों और नदियों के घाट-घाट में
पंजाब में, बम्बई में, गुजरात में।
उनके गुरुगर्जन और उनके गुन-गुन स्वर
दिन-रात में गुँथे रहकर दिन-यात्रा को मुखरित किये रहते हैं।
मन्द्रित कर डालते हैं जीवन के महामन्त्र की ध्वनि को
सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नावशेष पर
वे काम किये जा रहे हैं!

रवीन्द्रनाथ ने कई सौ ग्रन्थ लिखे हैं, इनमें कविताएँ हैं, उपन्यास हैं, कहानियाँ हैं, नाटक हैं, निबन्ध हैं, आलोचना हैं---साहित्य अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित करता है, उन सब पर उनका अबाध अधिकार था। देश और दुनिया की सभी समस्याओं पर उन्होंने विचार किया है। सर्वत्र उन्होंने सत्य का पक्ष लिया है। सम्राटों की विकट भृकुटियों की उन्होंने परवा नहीं की, धनकुबेरों की भरी थैलियों की ओर उन्होंने आँख उठाकर नहीं ताका। वे विशुद्ध मनुष्यता के गीत गाते रहे। उन्होंने समय रहते ही संसार को विनाश की आँधी से बचने की सतर्क वाणी उच्चारित की थी, पर ऊँचे सिंहासनों तक वह वाणी पहुँच नहीं सकी। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उनके चित्त में यह आशंका प्रबल रूप धारण करती जा रही थी कि संसार फिर एक बार शिशुघाती प्रबल बीभत्सता का शिकार होने जा रहा है। उन्होंने व्याकुल भाव से अपने इतिहास-विधाता से इसका प्रतिरोध करने लायक शक्ति माँगी थी—

इधर दानव-पक्षियों के झुण्ड उड़ते आ रहे हैं क्षुब्ध अम्बर में
विकट वैतरणिका के अपर तट से यन्त्रपक्षों के विकट हुंकार से करते अपावन
गगनतल को, मनुज-शोणित-मांस के ये क्षुधित दुर्दम गिद्ध !
कि महाकाल के सिंहासनस्थित हे विचारक, शक्ति दो मुझको—
निरन्तर शक्ति दो, दो कण्ठ में मेरे विकट वह वज्रवाणी, करूँ कठिन प्रहार
इस बीभत्सता पर, बालघाती, नारिघाती इस परम कुत्सित अनय को
कर सकूँ धिक्कार-जर्जर ! शक्ति दो ऐसी कि यह वाणी सदा स्पन्दित
रहे लज्जातुरित इतिहास के हृद्देश में उस समय भी जब रुद्धकण्ठ
भयार्त्त यह शृंखलित युग चुपचाप हो प्रच्छन्न अपनी चिता-भस्म-स्तूप में।

निस्सन्देह रवीन्द्रनाथ की यह वज्रवाणी इतिहास के लज्जातुर स्पन्दन में सदा अंकित रहेगी और जब यह शृंखलित युग चुपचाप चिता-भस्म के नीचे दब जायेगा तो वह विशुद्ध मानवता अंकुरित होगी जिसके लिए वे इतना कुछ कर गये हैं। तथास्तु।

रवीन्द्रनाथ की विचारधारा

"जब सोचकर देखता हूँ कि इस जीवन में केवल बत्तीस ही शरत्काल आये और गये हैं, तो बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। फिर भी जान पड़ता है कि मेरा स्मृति-पथ क्रमशः अस्पष्टतर होकर अनादिकाल की ओर चला गया है और जब इस वृहत् मानव-राज्य के ऊपर मेघ-मुक्त सुन्दर प्रभात की वह धूप आकर पड़ती है, उस समय मैं मानो अपनी एक माया-अट्टालिका की खिड़की पर बैठकर एक सुदूर विस्तृत भाव-राज्य की ओर एकटक देखा करता हूँ और मेरे माथे पर जो हवा आकर लगा करती है, वह मानो अतीत का सारा अस्पष्ट मृदु-गन्ध-प्रवाह ढोकर ले आया करती है। मैं प्रकाश और हवा से इतना प्रेम करता हूँ ! गेटे ने मरते समय कहा था—More Light—मुझे यदि उस समय कोई इच्छा प्रकट करनी हो तो मैं कहूँगा—More light and more space ! ..."

आज चालीस वर्ष से भी अधिक व्यतीत हुए, कविवर रवीन्द्रनाथ ने ऊपर की पंक्तियाँ एक पत्र में लिखी थीं। More light and more space---और भी प्रकाश, और भी स्थान !---कवि की अन्तरात्मा बार-बार व्याकुल भाव से इस मन्त्र को जपती रही है। सौन्दर्य का अनन्य पुजारी कवि आनन्द के अतिरेक में सर्वत्र एक उदास भावना को वहन करता आया है। कवि ने बार-बार लिखा है कि उनका इस पृथ्वी के साथ नया सम्बन्ध नहीं है। अनादिकाल से वे पृथ्वी के साथ युक्त हैं और बराबर युक्त रहेंगे। यही कारण है कि प्रकृति की प्रत्येक सुन्दरता उन्हें उस पुराने युग के क्रीड़ा-कौतुक का स्मरण दिलाकर उदास कर देती है। एक दूसरे पत्र में, जो लगभग उसी समय लिखा गया था, वे लिखते हैं :

"···नदी और तट दोनों के आकार-प्रकार का भेद क्रमशः घटता गया है—दो छोटी उम्र के भाई-बहन की भाँति। तट और जल ऊँचाई में बराबर हैं, जरा भी घट-बढ़ नहीं। क्रमशः नदी का वह आकार फिर नहीं रह गया—नाना दिशाओं में नाना रूपमय होकर चारों ओर फैल गया। यही थोड़ी-सी हरी घास और थोड़ा-सा स्वच्छ जल देखकर पृथ्वी का शिशु-काल याद आ जाता है—असीम जल-राशि में जब स्थल ने बिल्कुल जरा-सा सिर ऊपर उठाया था, जल और स्थल का अधिकार तब तक निर्दिष्ट नहीं हो पाया था।"

पृथ्वी की ओर देखते ही कितनी बार कवि का प्राण प्रकाण्ड उल्लास से भर-कर उठा है, उसे इच्छा हुई है कि समुद्र की करधनी धारण करनेवाली पृथ्वी को खींचकर छाती से चिपटा ले, प्रभातकालीन धूप के समान अनन्त और अशेष रूप में समस्त दिशाओं में व्याप्त होकर अरण्यों और पर्वतों में काँपते हुए पल्लव के हिल्लोल के साथ सब समय नृत्य करता रहे और प्रत्येक कुसुम-कलिका का चुम्बन करके सघन कोमल श्यामल तृण-क्षेत्रों को आलिंगन करके प्रत्येक तरंग पर आनन्द के झूले में झूलने लगे। रात में चुपचाप, निःशब्द चरणों से (चलता हुआ) विश्व-व्यापी निद्रा के रूप में वसुन्धरा सुन्दरी के समस्त पशु-पक्षियों के नेत्रों पर अंगुलि सहला दे---प्रत्येक शयन में, प्रत्येक नीड़ में, प्रत्येक गृह में और प्रत्येक गुहा में प्रवेश करके, अपने-आपको बड़े आँचल की तरह फैलाकर विश्व-भूमि को सुस्निग्ध अन्धकार से ढक दे :

"हे सुन्दरी वसुन्धरे, तोमार पाने चेये।
कत बार प्रान मोह उठिया छे गेये
प्रकाण्ड उल्लास भरे; इच्छा करियाछे
सबले आँकड़ि धरि ए वक्षेर काछे
समुद्र मेखला परा तव कटि देश;
प्रभात रौद्रेर मतो अनन्त अशेष
व्याप्त ह' जे दिके दिके अरण्ये भूधरे
कम्पमान पल्लवेर हिल्लोलेर

करि नृत्य सारा वेला करिया चुम्बन
प्रत्येक कुसुम कलि करि आलिंगन
सघन कोमल श्याम तृणक्षेत्र गुलि
प्रत्येक तरंग परे सारा दिन दुलि
आनन्द दोलाय । रजनीते चुपे चुपे
निःशब्द चरणे विश्वव्यापी निद्रा रूपे
तोमार समस्त पशु पक्षीर नयने
अंगुलि बुलाये दिइ शयने शयने
नीड़े-नीड़े, गृहे-गृहे, गुहाय-गुहाय
करिया प्रवेश वृहत् अञ्चल प्राय
आपनारे विस्तारिया ढाकि विश्व भूमि
सुस्निग्ध आँधारे"

यह है कवि की विराट् इच्छा, जो पृथ्वी को देखकर उठा करती है। कविवर रवीन्द्रनाथ की इस इच्छा का कारण है। वे अपनी 'वसुन्धरा' शीर्षक कविता में एक जगह कहते हैं :

"तुम हमारी बहुत वर्षों की पृथ्वी हो; अपनी मृत्तिका में मुझे मिलाकर अनन्त आकाश में, अविश्रान्त चरणों से तुमने कितने ही युग-युगान्तर तक असंख्य रात और दिन सूर्य-मण्डल की प्रदक्षिणा की है, मुझमें तुम्हारा तृण उगा है, पुष्प खिला है, वृक्षराजि ने पत्र-फूल-फल और गन्ध-रेणु की वर्षा की है; इसीलिए आज जब कभी अनमना होकर अकेले पद्मा के तीर पर बैठता हूँ, मुग्ध आँखें बन्द करके तुम्हारे सामने समस्त अंगों और मन नें अनुभव करता हूँ कि किस प्रकार तुम्हारी मिट्टी में तृणांकुर सिहर उठता है ! तुम्हारे अन्तर में कैसी जीवन-रसधारा दिवारात्रि संचरण कर रही है, कुसुम-मुकुल (पुष्प-मञ्जरी) किस अन्ध आनन्द से पूर्ण हो फूटकर सुन्दर वृक्ष की ओर आकुल हो उठी है ! नवीन आतप के आलोक में तरु, लता, तृण और गुल्म मातृस्तन पान करके थके हुए, तृप्त-हृदय सुख-स्वप्न के कारण हास्य-मुख शिशु की तरह, किस गूढ़ प्रमोद-रस से हर्षित हो उठते हैं !"

केवल इतना ही नहीं, "जब किसी दिन शरत्काल की किरण पके हुए सुनहले खेतों पर पड़ती है, प्रकाश में चमककर नारियल के पत्ते वायु के द्वारा काँप उठते हैं, (उस समय) महा-व्याकुलता जग पड़ती है। जान पड़ता है, उस दिन की बात याद आ जाती है, जब मेरा मन सर्वव्यापी होकर जल में, स्थल में, अरण्य के पल्लवों में, और आकाश की नीलिमा में व्याप्त था मानो सारा भुवन सैकड़ों बार अव्यक्त आह्वान की पुकार से मुझे बुला रहा है; —उस वृहत् खेल-घर से मर्मर की भाँति चिरकाल के संगियों की लाख-लाख भाँति की आनन्द-क्रीड़ा का परिचित स्वर सुन पाता हूँ।"

कवि का विश्वास है कि मानव-आत्मा बराबर पूर्ण से पूर्णतर होती जा रही है। किसी दिन वह धरित्री की मृत्तिका में मिली हुई थी, धीरे-धीरे तृण-गुल्म के

रूप में विकसित होकर उसने नाना जन्म धारण किये हैं—परन्तु यह पुनर्जन्म उसे सदैव पूर्णता की ओर अग्रसर कराता रहा है। संसार का कोई भी पदार्थ उसका अपरिचित नहीं है, इसीलिए ये सभी उसकी अस्पष्ट स्मृति जगा देते हैं। आकाश में उड़ते हुए पक्षी को देखकर मानव-मन उसी पुराने संस्कार के कारण उड़ने के लिए व्याकुल हो उठता है, नदी की तरंग को देखकर मनुष्य के रक्त-कण झनझना उठते हैं ; वह और किसी कारण से नहीं, केवल इसलिए कि एक दिन उसने भी प्रवाह के इस आनन्द का अनुभव किया था। 'चंचला' कविता में कवि ने अपने को सम्बोधित करके कहा है :

"अरे कवि, आज यह झंकार-मुखरा भुवन-मेखला (नदी) के अलक्षित चरणों का अवारण-संचार तुझे उतावला किये है। तेरी नाड़ियों में चंचल की पद-ध्वनि सुन रहा हूँ, तेरा वक्षःस्थल झंकृत हो उठा है। कोई नहीं जानता कि तेरे रक्त में आज समुद्र की तरंगें नाच रही हैं और अरण्य की व्याकुलता काँप रही है। आज वही बात याद आ रही है—युग-युगान्तर से स्खलित हो-होकर चुपचाप रूप से रूप में, प्राण से प्राण में संक्रमित होता हुआ चला आ रहा हूँ। आधी रात हो या प्रातः-काल, जब जो हाथ में आया, सबकुछ लुटाता आया हूँ—दान से दान को, गान से गान को।"

परन्तु मनुष्य की आत्मा का यह अनवरत विकास, उसकी यह अबाध सत्ता और उसका यह अनन्त आनन्द ही एक विशाल विरह-वेदना का कारण है। कितने साथियों को उसने छोड़ दिया है, कितने प्रेमाश्रु-कातर नयनों ने उसके लिए क्रन्दन किया है, कितनी ही बार 'जेते नाहि दिब' अर्थात् 'नहीं जाने दूँगा।' (या दूँगी) के प्रिय विघ्न से उसे मर्माहत होना पड़ा है, इसका कुछ हिसाब नहीं।

हाय रे मनुष्य का हृदय, किसी की ओर बार-बार लौटकर देखने का समय कहाँ है ? ना, ना, नहीं है। तुम तो संसार के इस घाट से उस घाट तक जीवन के तीव्र स्रोत में बहते जा रहे हो, एक बाजार में बोझा लेते हो और दूसरे में खाली कर जाते हो :

"हाय ओ रे मानव हृदय बार-बार
कारो पाने फिरे चाहिबार
नाइ जे समय नाइ-नाइ ! !
जीवनेर खरस्रोते भासिछ सबाइ
भुवनेर घाटे-घाटे
एक हाटे लओ बोझा शून्य करे दाओ अन्य हाटे !"

—शाहजहाँ

हाय, किस गम्भीर दुःख में सारा आकाश और सारी पृथ्वी मग्न है ! जितनी ही दूर चलता हूँ, यही मर्मान्तिक स्वर सुन रहा हूँ—नहीं जाने दूँगी तुम्हें।

"...की गम्भीर दुःखे मग्न समस्त आकाश,
समस्त पृथिवी। चलिते छि जत दूर

शुनिते छि एकमात्र मर्मान्तिक सुर
'जेते आमि दिब ना तोमाय,..."

पृथ्वी के एक प्रान्त से लेकर नील गगन के दूसरे प्रान्त तक 'नहीं जाने दूँगी !' की एकमात्र व्याकुल ध्वनि सुनायी दे रही है। अत्यन्त क्षुद्र तृण को भी वक्षःस्थल में चिपकाकर माता वसुमती कह रही है—"नहीं जाने दूँगी तुम्हें !" माता के मुख में वही बात, प्रिया के मुख में वही बात और तुतलाती हुई बालिका के मुख में भी वही बात है। अर्थात् इस अनन्त चराचर में स्वर्ग से लेकर मर्त्य तक वही सबसे पुरानी बात, सबसे गम्भीर क्रन्दन—'नहीं जाने दूँगी।'

"ए अनन्त चराचर स्वर्ग मर्त्य छेये
सब चेये पुरातन कथा, सब चेये
गम्भीर क्रन्दन 'जेते नाहि दिब' "...

परन्तु यह सब व्यर्थ है। कबीर कहते हैं:

"प्राण कहे सुनु काया मेरी तुम हम मिलन न होय।
तुम-सम मीत बहुत हम कीना संग न लीना कोय।"

इन समस्त क्रन्दनोंको भुलाकर चल पड़ना होता है। प्रलयसमुद्र की भाँति बहनेवाले सृष्टि-स्रोत में फैलाये हुए व्यग्र बाहुओं और ज्वलन्त आँखों से 'नहीं जाने दूँगा (गी)' की आवाज देते-देते सभी 'हू-हू' कर तीव्र वेग से विश्व-तट को आर्त्तकलरव से पूर्ण करके चले जाते हैं। सामने की तरंग को पीछे की लहर बुलाकर कहती है, "नहीं जाने दूँगी—नहीं जाने दूँगी"—कोई नहीं सुनता, कोई नहीं शब्द करता !

"प्रलय समुद्र वाही सृजनेर स्रोते
प्रसारित व्यग्र बाहु ज्वलन्त आँखिते
'दिब ना दिब ना जेते' डाकिते
हू-हू करे तीव्र वेगे चले जाय सबे
पूर्ण करि विश्व तट अति कलरवे
सम्मुख ऊर्म्मिरे डाके पश्चातेर ढेउ
'दिब ना दिब ना जेते'—नाहि शुने केउ
नाहि कोनो साड़ा।"

दुःख की सीमा यहीं तक नहीं है। अखण्ड कालस्रोत मनुष्य की पुंजीकृत सञ्चय राशि को चुपचाप लेकर चल देता है, पर उसे ढो ले जाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है ! जिस मनुष्य ने पहली बार चावल को उबालकर भात बनाने की विधि का आविष्कार किया था, वह कहाँ है ? उसकी सारी कृति आज भी कालस्रोत में बहती आ रही है, परन्तु वह ? कैसा मर्मन्तुद है यह दृश्य, पर कैसा सुन्दर !

"आकाश में मेघ गरज रहे हैं, वर्षा घनी हो रही है। मैं अकेले किनारे पर बैठा हूँ—भरोसा नहीं है। राशि-राशि धान कट चुके हैं। भरी नदी तीक्ष्णधारा और स्वरस्पर्शा हो गयी है। धान काटते-काटते वर्षा आ गयी।

"एक छोटा-सा खेत है, मैं अकेला हूँ। चारों ओर टेढ़ा-मेढ़ा जल खिलवाड़ कर

रहा है। उस पार मसी-मसृण (स्याही-पुती) वृक्ष की छाया देख रहा हूँ। वह गाँव मेघ से ढक गया है, सवेरे का समय है। इस पार यह छोटा-सा खेत है और मैं अकेला हूँ।

"वह कौन है जो गान गाता हुआ, नौका खेता हुआ इस पार आ रहा है। देख कर जान पड़ता है, जैसे उसे पहचानता हूँ। वह पाल ताने चला आ रहा है। किसी तरफ नहीं देखता, निरुपाय लहरें दोनों ओर टूट जाती हैं, देखकर जान पड़ता है जैसे उसे पहचानता हूँ।

"अजी, तुम कहाँ जा रहे हो ? किस विदेश में ? किनारे आकर एक बार नाव लगाओ तो। जहाँ जाना चाहते हो जाना, जिसे खुशी हो दे देना, केवल जरा-सा हँसकर किनारे आकर मेरा सोने का धान लेते जाओ।

"जितना चाहो, उतना नौका पर ले जाओ। और है ? और नहीं है, (जो कुछ था) भर दिया। इतनी देर तक नदी के किनारे भूल करके जो लिया था सब एक-एक करके (नाव में) उठा दिया, इस समय कृपा करके मुझे चढ़ा लो।

"जगह नहीं है, जगह नहीं है। यह नाव छोटी है, मेरे ही सोने के धान से वह भर गयी है। श्रावण के आकाश को घेरकर घने मेघ घूम-फिर रहे हैं, (और मैं) नदी के शून्य तट पर पड़ा हुआ हूँ, (मेरे पास) जो कुछ था वह सोने की नाव लेती गयी।"

ऊपर का चित्र इतना मनोहर है कि उसे पूरा करने के लिए किसी बाहरी अर्थ की आवश्यकता नहीं, वह अपने-आपमें ही परिपूर्ण है। कविवर रवीन्द्रनाथ किसी चित्र के अर्थ निकालने की जरूरत नहीं समझते। परन्तु यह चित्र चीनी के बने खिलौनों की भाँति केवल चक्षुस्तृप्तिकर ही नहीं है, रसना को भी सरस कर सकता है। कितना उदास विरह इसकी अन्तिम पँक्तियों में वर्त्तमान है :

"ठाँई नाइ ठाँइ नाइ। छोट से तरी
आमारि सोनार धाने गियेछे भरि।
श्रावण गगन घिरे घन मेघ छूटे फिरे
शून्य नदीर तीरे रहिनु पड़ि,
जाहा छिल नियै गेल सोनार तरी।"

तो क्या मनुष्य-जीवन दुःखमय, विषादमय, करुणापूर्ण जीवन है ? नहीं, इसी विरह के अन्दर मनुष्य सच्चे प्रेम की उपलब्धि करता है। इसी अवश्यम्भावी विरह के लिए संसार व्याकुल है। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस सार्वभौम विरह को कवि ने किस सरसता के साथ अभिव्यक्त किया है।

सबको पुराना होना होगा, सबको मरना होगा ! मृत्यु से बढ़कर निश्चित सत्य की सृष्टि किस विधाता ने की है ? संसार इस मृत्यु से बड़ा डरता है। परन्तु संसार यह नहीं जानता कि मृत्यु के अन्दर वस्तु को चिर-सत्य कर देने की शक्ति है। जो मर गया वह चिरकाल के लिए उसी रूप में रह गया। परन्तु उसका उसी रूप में रह जाना ही क्या कम दुःखजनक है ? न जाने कितने प्रेमियों के निकट हम एक

विशेष रूप में ज्यों-के-त्यों रह गये हैं और न जाने कितने प्रियजन हमारे निकट ज्यों-के त्यों बने हुए हैं। संसार के सृष्टि-चक्र में पड़कर मनुष्य कहीं भी स्थिर नहीं हो सका है, हो सका है तो केवल मृत्यु में।

हाय रे निर्बोध मनुष्य! कहाँ है तेरा घर, कहाँ है तेरा स्थान ? तेरे पास केवल छोटा-सा कलेजा है—भय से कम्पमान ! देख ज़रा ऊपर आँख उठाकर, समस्त आकाश में छाया हुआ वह अनन्त का देश। वह (अनन्त) जब एक ओर उसे (प्रिय को) छिपाकर रख देगा तो क्या तू सन्धान पायेगा ?

हाय रे निर्बोध नर कोथा तोर आछे घर
कोथा तोर स्थान।
शुधू तोर ओइ टूक अतिशय क्षुद्र बूक
भये कम्पमान।
ऊर्ध्वे ओइ देख चेये समस्त आकाश छेये
अनन्तेर देश,
से जखन एक धारे लूकाये राखिबे तारे
पाबि की उद्देश ?

असीम आकाश में ग्रह और ताराओं के असंख्य संसार को देख, शायद उसी में वह अकेला राहगीर भटकता हुआ रास्ता खोज रहा है। उस दूर-दूरान्तर (देश) में, अज्ञात भुवन के पार, कहीं किसी जगह, क्या उससे फिर मिलन होगा, वह क्या फिर कुछ बातें करेगा—कोई नहीं जानता।

ओइ हेरो सीमा हारा गगने ते ग्रह तारा
असंख्य जगत,
ओरि माझे परिभ्रान्त हय तो से एका पान्थ
खूँजितेछे पथ।
ओइ दूर दूरान्तरे अज्ञात भुवन परे
कभु कोनोखाने
आर कि गो देखा हबे आर कि से कथा कवे
केउ नाहि जाने।

परन्तु मृत्यु का यह एक पहलू है। रवीन्द्रनाथ की अन्तर्दृष्टि वस्तु के केवल एक पहलू तक आबद्ध नहीं रहती। मृत्यु भी केवल दुःख नहीं है और शोक भी एकदम भुला देने की चीज नहीं है। जहाँ शोक नहीं, जहाँ आँसू नहीं, वह स्थान भी क्या रहने योग्य है ? 'स्वर्ग से विदा' कविता में, जो आगे दी जा रही है, कवि ने दुःख के उस दूसरे पहलू को दिखाया है। यह कविता संसार के साहित्य में अपना सानी नहीं रखती। 'सूरदास की प्रार्थना' वाली कविता में कवि ने नाश के वास्तविक रूप की ओर संकेत किया है। कवि सूरदास एक रमणी की सुन्दरता से आकृष्ट होकर मोह-ग्रस्त हो गये हैं। वे अपनी लज्जा कहानी कहकर उससे भिक्षा माँगने गये हैं। कहते हैं :

"देवि, आँचल सरकाकर मुँह ढक लो, मैं कवि सूरदास भीख माँगने आया हूँ; आशा पूरी करनी होगी। अति असहनीय अग्नि की जलन हृदय में वहन किये हूँ, कलंकरूप राहु प्रति-पल मेरा जीवन-ग्रास कर रहा है। तुम पवित्र हो, तुम निर्मल हो, तुम देवि हो, तुम सती हो, और मैं अति कुत्सित हूँ, दीन हूँ, अधम हूँ, पामर हूँ, पंकिल हूँ।

"तुमसे अपनी लज्जा-कहानी कहूँगा, इसमें ज़रा भी लज्जा नहीं करूँगा। तुम्हारी आभा से मलिन लज्जा पलभर में विलीन हो जाती है। जैसे खड़ी हो उसी तरह खड़ी रहो, आँखें नीची करके मेरी ओर देखो। हे आनन्दमयी, मुँह खोल दो, आवरण की कोई जरूरत नहीं। तुम्हें भीषण मधुर (रूप में) देख रहा हूँ। तुम निकट हो तब भी बड़ी दूर हो। तुम देव-रोषानल की भाँति उज्ज्वल हो, बाज की तरह उद्धत।

"क्या जानती हो कि मैं इन पापी आँखों को बन्द करके तुम्हें देखा करता हूँ? मेरी विभोर-वासना तुम्हारे उस मुँह की ओर दौड़ पड़ी थी। तुम क्या उस समय जान पायी थीं? तुम्हारे उस विमल हृदय-दर्पण पर क्या निश्वास-रेखा के चिह्न कुछ पड़े थे? धरणी के कुहासे से जिस प्रकार आकाश की उषा का शरीर म्लान हो जाता है, वह उससे वैसा ही मलिन हो गया था। सहसा विना किसी कारण के लज्जा ने रंगीन वस्त्र की भाँति क्या तुम्हें इन लुब्ध नयनों से (बचाने के लिए) ढक लेना चाहा था? वह मेरी मोह-चञ्चल लालसा क्या काले भौंरे के समान तुम्हारे दृष्टि-पथ पर गुनगुनाकर रोती फिरती थी?…"

सूरदास अपनी इसी पाप-क्रिया के प्रायश्चित के लिए तीक्ष्ण छुरी ले आये हैं और उस मोहिनी से प्रार्थना कर रहे हैं कि इन आँखों को नष्ट कर दो—"लओ बिंधे दाओ वासना-सघन ए कालो नयन मम।" क्योंकि ये आँखें शरीर में नहीं, मर्मस्थल में फूट उठी हैं। जिन आँखों की तृषा तुम्हारे लिए है, वे तुम्हारी ही हों। लो, सूरदास अकपट चित्त से भीख माँग रहा है, उसके असीम आकाश में अन्धकार की स्याही पोत दो। जिस असीम में—

अपार भुवन, उदार गगन श्यामल कानन तल,
वसन्त अति मुग्ध-मूरति, स्वच्छ नदीर जल,
विविध वरण, सन्ध्या नीरद, गृह तारामयी निशि,
विचित्र शोभा शस्य क्षेत्र, प्रसारित दूर दिशि,
सुनील गगने घनतर नील अति दूर गिरि-माला
तारि पर पारे रविर उदय कनक किरण ज्वाला
चकित तड़ित्, सघन वरषा, पूर्ण इन्द्रधनु
शरत आकाशे असीम विकास ज्योत्स्ना शुभ्र तनु

विराज रहे हैं। सूरदास उस शोभा को आज के बाद फिर नहीं देखेंगे। आकाश का यह समस्त सौन्दर्य कल इस अन्ध कवि के लिए स्वप्न हो जायेगा। फिर भी वे स्वेच्छापूर्वक इस नाश को वरण करने चले हैं। क्यों?

"···केवल मूर्त्ति के स्रोत में मैं नहीं बह सकता। आलोक-मग्न मूर्त्ति-भुवन से मुझे उठा लो। आँखें नष्ट होते ही मेरी सीमा चली जायेगी, मैं असीम और पूर्ण हो जाऊँगा। मेरे ही अन्धकार में सारा आकाश और सारी पृथ्वी मिल जायेगी, मेरा एकान्तवास उस आलोकहीन विशाल हृदय में होगा और प्रलय का आसन जमाकर बारहो मास बैठा रहूँगा। जरा रुको, समझ नहीं रहा हूँ, अच्छी तरह सोचकर जरा देखूँ। विश्वविलोपी यह विमल अन्धकार क्या चिरकाल तक रहेगा? क्रमश: धीरे-धीरे क्या पवित्र-मुख, मधुर-मूर्त्ति और आनत आँखें इसमें नहीं फूट उठेंगी? इस समय देवी की प्रतिमा की भाँति खड़ी होकर स्थिर, गम्भीर तथा करुण नेत्रों से मेरे हृदय की ओर देख रही हो। खिड़की के रास्ते सन्ध्या की किरणें तुम्हारे ललाट पर आकर पड़ रही हैं और तुम्हारे इन घने कृष्ण-केशों के ऊपर मेघ का आलोक विश्राम कर रहा है; यह तुम्हारी शान्ति-रूपिणी मूर्त्ति अपूर्व साज से सज्जित हो मेरी अनन्त रात में अग्नि-रेखा-सी फूट उठेगी। तुम्हारे चारों ओर नया संसार अपने-आप स्पष्ट हो उठेगा और यह सन्ध्या की शोभा तुम्हें घेरकर चिरकाल तक जागती रहेगी। यह वातायन, वह चम्पे का वृक्ष, वह दूरवर्त्ती सरयू की रेखा, रात्रि और दिन से हीन इस अन्ध हृदय में चिरकाल तक दृष्टिगत होंगे। उस नये संसार में काल-स्रोत नहीं है, परिवर्त्तन नहीं है---आज का यह दिन अनन्त होकर चिर दिन तक देखता रहेगा।

"तो फिर वही हो। देवि, विमुख न होओ, इसमें क्षति ही क्या है? इस हृदयाकाश में अपनी वह देह-हीन ज्योति जगी रहने दो न! वासना से मलिन आँख का कलंक उस पर छाया नहीं डालेगा। यह अन्धा हृदय चिरकाल तक नीलोत्पल पाता रहेगा। अपने देवता को तुममें खोजूँगा, तुम्हारे आलोक में देखूँगा और अनन्त रात्रि में जागता रहूँगा।"

यह है मृत्यु, नाश के भीतर से चमकते हुए नित्यरूप की ज्योति। 'मृत्यु-माधुरी' नामक अपनी कविता में कवि ने मृत्यु के माधुर्य को व्यक्त किया है। परन्तु इस मर्त्यलोक का सर्वोत्तम चित्र उतरा है 'स्वर्ग से विदा' कविता में। हम उसके सम्बन्ध में और कुछ न कहकर कवि के ही भावों को उद्धृत कर देते हैं—पुण्य भोग समाप्त हो जाने के बाद स्वर्ग से विदा लेते समय मर्त्यलोक का पुराना अधिवासी कहता है:

"हे महेन्द्र, मेरे कण्ठ की मन्दार-माला म्लान हो गयी, मेरे मलिन ललाट की ज्योतिर्मयी रेखा बुझ गयी—पुण्यबल क्षीण हुआ। हे देव-देवीगण, स्वर्ग से मेरे विदा होने का दिन है। इस देवलोक में देवता की भाँति सौ लाख वर्ष मैंने बिताये हैं। आज अन्तिम विच्छेद के क्षण में, यह आशा थी कि स्वर्ग की आँखों में आँसू की जरा-सी रेखा देख आऊँगा। शोक-हीन, हृदय-हीन सुख-स्वर्ग-भूमि उदासीन भाव से एकटक देख रही है, लाख-लाख वर्ष तक उसकी आँखों के पलक नहीं गिरते; जब हमारे जैसे सैकड़ों लोग गृहच्युत हतज्योति-नक्षत्र की तरह मुहूर्त-भर में धरित्री के अन्तहीन जन्म-मृत्यु-प्रवाह में जा गिरते हैं, उस समय स्वर्ग को उतनी व्यथा भी

नहीं मालूम पड़ती जितनी पीपल के वृक्ष को अपने एक जीर्णतम पत्ते के गिर जाने से। यदि वह वेदना बज उठती, विरह की छायारेखा दिखायी देती, तो स्वर्ग की चिर-ज्योति मर्त्य के समान ही कोमल शिशिर-वाष्प से म्लान हो जाती; —नन्दन-कानन निःश्वास फेंककर मर्मर-ध्वनि कर उठता, मन्दाकिनी कलकण्ठ से अपने कूलों पर करुण कहानी गा उठती, दिन के अन्त में सन्ध्या निर्जन प्रान्त के पार दिगन्त की ओर उदास भाव से चली जाती और निस्तब्ध निशीथ झिल्ली, मन्त्रों से नक्षत्रों की सभा में अपना वैराग्य-सन्देश सुना जाता। बीच-बीच में, स्वर्गपुरी में नृत्य-परा मेनका के कनक-नूपुरों का ताल भंग हो जाता। उर्वशी के स्तनों में लगकर, रह-रहकर स्वर्ण-वीणा मानो अन्यमनस्क भाव से कठिन पीड़नवश निदारुण करुण मूर्च्छना का झंकार करती और देवता की अश्रु-हीन आँखों में बिना कारण जल की रेखा दिखायी देती, पति के पास एक ही आसन पर बैठी हुई शची सहसा चकित होकर मानो पिपासा का पानी खोजने लगती, बीच-बीच में पृथ्वी से वायुप्रवाह में उसका सुदीर्घ निःश्वास उच्छ्वसित हो उठता, और नन्दनवन में कुसुम-मञ्जरियाँ झर पड़तीं।

"हे स्वर्ग, तुम हास्य-मुख बने रहो, अमृत-पान किया करो। देवगण, स्वर्ग तुम्हीं लोगों का स्थान है, हम हैं पराये लोक के बसनेवाले। मर्त्यभूमि स्वर्ग नहीं है, वह तो मातृभूमि है—इसीलिए अगर कोई उसे दो दिन के बाद भी, दो दण्ड के लिए भी छोड़कर चला जाये तो उसकी आँखों में आँसू की जल-धारा बहने लगती है। कितना भी क्षुद्र, क्षीण, अभाजन क्यों न हो, कितना भी पाप-ग्रस्त, ताप-युक्त क्यों न हो, अपने व्यग्र आलिंगन-पाश में जकड़कर वह सबको बाँधना चाहती है; —धूलि-धूसर शरीर के स्पर्श से माता का हृदय जुड़ा जाता है। स्वर्ग में तुम्हारे पास बहुत अमृत है, परन्तु मर्त्य में अनन्त सुख-दुःख मिश्रित प्रेमधारा अश्रुजल से भूतलस्थ स्वर्ग-खण्डों को चिर-श्याम किये है।

"हे अप्सरे, तुम्हारी नयन-ज्योति प्रेम-वेदना से कभी म्लान न हो,—मैं विदा लेता हूँ। तुम किसी से प्रार्थना मत करो, पृथ्वी पर, किसी अत्यन्त दीन के घर में भी नदी के किनारे किसी गाँव के प्रान्त-भाग में, पीपल के वृक्षतले यदि मेरी प्रेयसी जन्म लेगी तो भी वह बालिका यत्नपूर्वक अपने वक्षःस्थल में, केवल मेरे ही लिए, सुधा का भाण्डार सञ्चय कर रखेगी और शैशव-काल में नदी के किनारे सवेरे शिव की मूर्त्तिरचना करके वरदान में मुझे माँग लेगी। सन्ध्या होने पर जलते हुए दीपक को जल में बहाकर शंकित-कम्पित वक्षःस्थल से घाट पर अकेली खड़ी होकर वह एकटक देखती हुई अपनी सौभाग्य-गणना करेगी। एक बार शुभ क्षण में मेरे घर में आँखें नीची किये उत्सव के वंशी-रव के साथ प्रवेश करेगी। उसके चन्दन-चर्चित भाल-देश पर रक्तपाटाम्बर विराजमान होगा। इसके बाद सुदिन हो या दुर्दिन, सुख हो या दुःख, वह गृह-लक्ष्मी हाथ में कल्याण का कंकण और माँग में मंगल सिन्दूर-बिन्दु धारण किते रहेगी। हे देवगण, बीच-बीच में, दूर स्वप्न-समान यह स्वर्ग भी याद आयेगा—जब किसी आधी रात को जगकर सहसा देखूँगा कि

निर्मल शय्या पर चाँदनी छिटकी हुई है, उसमें प्रेयसी निद्रित होकर सो गयी है, उसकी शिथिल बाँहें लुण्ठित हो गयी हैं, और लज्जा की ग्रन्थियाँ ढीली हो गयी हैं;—मेरे मृदु सुहाग चुम्बन से वह चकित भाव से जाग उठेगी और गाढ़ालिंगन से मेरे वक्षःस्थल में लता की भाँति लिपट जायेगी। दक्षिणी हवा फूल की सुगन्धि ले आयेगी और दूरस्थ शाखा पर जाग्रत कोयल गा उठेगी।

"हे दीना-हीना, आँसू-भरी आँखोंवाली दुखातुरा म्लान माता, हे मर्त्यभूमि, आज बहुत दिन के बाद मेरा चित्त तेरे लिए रो उठा है। ज्यों ही विदाई के दुःख से शुष्क ये दोनों आँखें आँसू से भर गयीं, त्यों ही यह स्वर्गलोक की छायाछवि अलस कल्पना के समान न जाने कहाँ मिल गयी। तेरा नील आकाश, तेरा प्रकाश, तेरा जनाकीर्ण लोकालय—सिन्धु तीर पर का सुदीर्घ बालुका-तट, नील गिरिशृंग पर की शुभ्र हिम-रेखा, तरु-श्रेणी के बीच का निःशब्द अरुणोदय, शून्य नदी के पार की अवनतमुखी सन्ध्या—एक बिन्दु आँसू के जल में ये सारे दर्पण-प्रतिबिम्ब की भाँति आ पड़े हैं।

"हे हृत-पुत्रा जननी, तुम्हारे अन्तिम वियोग के दिन जिस शोकाश्रुधारा ने झरकर तुम्हारे उस मातृस्तन को अभिषिक्त किया था—आज इतने दिनों के बाद वह अश्रु सूख गया है, तो भी मन-ही-मन जानता हूँ कि जब तुम्हारे घर में लौट आऊँगा, उसी समय तुम्हारी दोनों बाँहें मुझे जकड़ लेंगी, मंगल का शंख बजेगा, स्नेह की छाया में, सुख-दुःखमय प्रेम से भरे संसार में, अपने घर पर, पुत्र-कन्याओं के बीच, मुझे तू चिर-परिचित के समान ले लेगी। उसके दूसरे ही दिन से मेरे प्रतिक्षण काँपते प्राणों के साथ, शंकित हृदय से देवताओं की ओर ऊपर करुण दृष्टि लगाकर, जागती रहेगी—तू इस बात के लिए सदा चिन्तित बनी रहेगी कि जिसे पाया है उसे खो न दूँ।"

मूल कविता का यह विकृत कंकाल है। मुझे नहीं मालूम कि मर्त्यलोक की यह महिमा, शोक का यह महान् रूप, मातृभूमि का ऐसा सरस चित्र, किसी अन्य कवि की लेखनी से निकला है या नहीं। इस कविता में कवि की अन्तर्भेदिनी दृष्टि ने मर्त्यलोक के सत्य-गौरव को प्रत्यक्ष कराया है। इस पर अधिक कुछ कहना धृष्टता है। रवीन्द्रनाथ के निकट मृत्यु जीवन को पूर्ण करने का साधन है। मृत्यु मानो एक परिपूर्ण सुदूर है—उसमें विलसित हो सबकुछ सीमा के आवरण से उन्मुक्त होकर मधुर बन जाता है। "प्राण धीरे-से कहता है कि हे मधुर मृत्यु, यह नीलाम्बर ही क्या तुम्हारा अन्तःपुर है?"

> "परान कहिछे धीरे, हे मृत्यु मधुर
> एह नीलाम्बर एकि तव अन्तःपुर?"

कविता स्वयं अपना भाष्य है।

इस अवस्था में कवि की मनीषा ने अनुभूति का रूप धारण किया है, उसकी चञ्चलता ने गम्भीरता का आकार ग्रहण किया है। जीवन की इस अवस्था का आरम्भ 'कल्पना' नामक ग्रन्थ से होता है। इस अवस्था के सिंहद्वार पर कवि का

चित्त एक विचित्र अवसाद से भर जाता है। सामने एक अज्ञात जीवन है और पीछे परित्यक्त ऐश्वर्य। वह व्याकुल भाव से सोचता है :

"यद्यपि सन्ध्या मन्द-मन्थर गति से आ रही है, सारा संगीत (उसके) इंगित पर रुक गया है, यद्यपि अनन्त आकाश में कोई साथी नहीं है, यद्यपि शरीर में क्लान्ति उतर आयी है, अन्तर में महा आशंका मौन जप कर रही है, दिग्दिगन्त अवगुण्ठन से ढका हुआ है, तो भी ऐ विहंग, ओ मेरे विहंग, अभी ही, ऐ अन्धे, पंख बन्द न कर—

यदि ओ संध्या आसिछे मन्द मन्थरे
सब संगीत गेछे इंगिते थामिया;
यदि ओ संगी नाहि अनन्त अम्बरे,
यदि ओ क्लान्ति आसिछे अंगे नामिया
महा आशंका जपिछे मौन अन्तरे
दिक् दिगन्त अवगुंठने ढाका,
तबू विहंग, ओरे विहंग मोर,
एखनि अन्ध बन्ध करो ना पाखा।

"यह ठीक है कि पूर्वपरिचित ऐश्वर्य यहाँ नहीं है। वह मर्मर-गुञ्जित मुखर वन नहीं है, यह तो अजगर के गर्जन के साथ सागर फूल रहा है, यह कुन्द-कुसुम-रञ्जित कुञ्ज नहीं है, (यह तो) फेन के हिलोर और कल-कल्लोल के साथ हिल रहा है। अरे, कहाँ है वह फल-पल्लव-पुञ्जित तीर, कहाँ है वह नीड़, कहाँ है वह आश्रय-शाखा! तो भी ऐ विहंग, ओ मेरे विहंग, अभी ही, ऐ अन्धे, पंख बन्द न कर!

"अब भी सामने लम्बी रात पड़ी है, अरुण सुदूर अस्ताचल पर सो रहा है; विश्व-जगत निःश्वास वायु-संवरण करके, स्तब्ध आसन पर, एकान्त में प्रहरों की गणना कर रहा है, अभी-अभी अकूल अन्धकार को तैरकर सुदूर क्षितिज पर क्षीण बाँका चाँद दिखायी पड़ा है। अरे विहंग, अरे ओ मेरे विहंग, अभी ही, ऐ अन्धे, पंख बन्द न कर!

"ऊपर आकाश में तारिकाएँ उँगली दिखाकर, इशारा करके तुम्हारी ओर ताक रही हैं, नीचे गम्भीर अधीर मरण सौ-सौ तरंगों में उछलकर तुम्हारी ओर दौड़ रहा है; बहुत दूर तीर पर (न जाने) वे कौन हैं जो, 'आओ आओ' कहकर बुला रहे हैं, उनके स्वर में करुण विनती भरी हुई है; अरे विहंग, अरे ओ मेरे विहंग, अभी ही, ऐ अन्धे, पंख बन्द न कर!

"अरे, भय नहीं, स्नेह-मोह का बन्धन नहीं है; अरे, आशा नहीं, आशा तो केवल व्यर्थ ही छलना है; अरे, भाषा नहीं है, वृथा बैठकर रोना नहीं है; अरे, घर नहीं है, वृथा फूल-सेज की रचना भी नहीं है। हैं केवल पंख, है महान् नभःप्रांगण जिसमें उषा की दिशा का कुछ ठिकाना नहीं, जो निविड़ अन्धकार से अंकित है; अरे विहंग, अरे ओ मेरे विहंग, अभी ही, ऐ अन्धे, पंख बन्द न कर!"

प्रारम्भ से ही कवि रवीन्द्रनाथ के साथ साधक रवीन्द्रनाथ चलते पाये जाते हैं। प्रौढ़ावस्था में यह सम्बन्ध और भी निविड़ हो उठा है। रवीन्द्रनाथ की साधना कविता हो गयी है, और कविता साधना। इसीलिए 'वर्षा-मंगल' कविता में कवि कहता है :

"कहाँ हो तुम ऐ तरुणी पथिक ललनाओ, ऐ तड़ित-चकितनयना जनपद-वधू[1], कहाँ हो ? ऐ मालती और मालिनी आदि प्रिय परिचारिकाओ, कहाँ हो तुम ! ओ अभिसारिकाओ, घन-नील-वसन विभूषिता होकर आओ इस सघन वन-तल में, ललित नृत्य में बज उठें तुम्हारी स्वर्ण-रशनाएँ और लेती आओ वह मनोहारिणी वीणा ! कहाँ हो तुम ऐ विरहिणियो ! ऐ अभिसारिकाओ !"

और "यूथी का परिमल सजल समीर से होकर आ रहा है और बोल रही है दादुरी उस तमाल-कुञ्ज के तिमिर में। ऐ सहचरी, जागो, आज की रात भूल न जाओ। बाँधो उस कदम्ब-शाखा में झूलन। प्रत्येक झलक में कुसुम का पराग झड़ पड़ेगा। अधर से अधर का मिलना होगा, अलक (केश) से अलक का, और फिर कहाँ होगी उस पुलक की तुलना ! सखी, कदम्ब-शाखा में, फूलों की डोरी में, बाँधो (आज का) झूलन।"

वही कवि आनन्दोल्लास के एक क्षण में अनन्त-सौन्दर्य को देखता है। केवल स्थान में ही अनन्त नहीं, काल में भी अनन्त—

"वर्षा आयी है, नयी वर्षा आयी है, आकाश भरकर भुवन की आशा आयी है, हवा से वन-वीथिका, सन्-सन् करके हिल रही है। तरु-लतिकाएँ गीतमय हो उठी हैं। सैकड़ों वर्ष के कवियों के दल ने मिलकर आकाश में और मत्त-मदिर हवा में सैकड़ों युग की गीतिका ध्वनित कर दी है। वन-वीथिका शत-शत गीतों से मुखरित हो उठी है।"

हमारे कथन का प्रमाण इस पुस्तक की 'सुदूर' कविता में मिलेगा, जिसका हिन्दी रूपान्तर आगे 'कविवर रवीन्द्रनाथ का डाकघर' नामक प्रबन्ध में द्रष्टव्य है। एक कविता और भी दे देना पर्याप्त होगा। कविता का नाम है 'भ्रष्टलग्न'।

"शयन के सिरहाने अभी-अभी प्रदीप बुझा है, जाग उठी हूँ प्रभातकाल के कोकिल के शब्द से। अलस चरणों से (चलकर) खिड़की पर आकर बैठी हूँ और शिथिल केशों में नयी माला धारण की है। ऐसे ही समय, जबकि रास्ता अरुण-धूसर हो उठा है, राजमार्ग पर तरुण पथिक दिखायी दिया। सोने के मुकुट पर उषा का आलोक पड़ रहा है, गले में उसने भली-भाँति मुक्ता की माला सजा ली है। कातर कण्ठ से उसने पुकारा—'वह कहाँ है, वह कहाँ है ?'—व्यग्र चरणों से हमारे ही द्वार पर उतरकर !—मैं लाज से मरी जा रही हूँ, हाय, यह बात कह नहीं सकती कि 'ऐ नये बटोही, वह मैं हूँ, वही तो मैं हूँ।'

"गोधूली बेला में, तब प्रदीप नहीं जला था, मैं माथे में सोने की बिन्दी पहन

1. 'मेघदूत' की विरहिणी और अभिसारिकाओं से मतलब है।

रही थी—हाथ में सोने का दर्पण लेकर खिड़की पर, अपने मन से कबरी (जूड़ा) बाँध रही थी। ऐसे ही समय, सन्ध्या-धूसर-पथ पर वह करुण नयनोंवाला तरुण पथिक रथ पर आया। (मुँह से निकलते हुए) फेन और पसीने के कारण घोड़े व्याकुल थे। उसके वस्त्रों और भूषणों में धूल भर गयी थी। कातर कण्ठ से उसने पुकारा—'वह कहाँ है, वह कहाँ है?'—क्लान्त चरणों से हमारे ही द्वार पर उतरकर! हाय मैं लाज से मरी जा रही थी, यह बात तो कहने की नहीं है कि 'ऐ, थके बटोही, वह मैं हूँ, वही तो मैं हूँ।'

"फागुन की रात है, घर में प्रदीप जल रहा है, दक्षिण हवा छाती पर लग रही है। वह मुखरा (सारिका) मैना सोने के पिंजरे में सो रही है। द्वार के सामने द्वारपाल भी सो रहा है। सोहाग-घर धूप के धुआँ से धूसर हो गया है। अगुरु की गन्ध से सारा शरीर व्याकुल है। मोर-पंखी चोली मैंने पहनी है। दूर्वा के समान उस श्यामल वक्षःस्थल पर आँचल खींचकर, विजन राज-पथ के उस पार देख रही हूँ, खिड़की के नीचे, बैठ रही हूँ धूल में उतरकर, अकेली बैठी तीन पहर रात गान गाती रही हूँ...'ऐ हताश बटोही, वह मैं हूँ, वही तो मैं हूँ।"

इस विकल प्रतीक्षा की भाव-भाषा इतनी सुकुमार है कि किसी प्रकार का विश्लेषण इसके सौन्दर्य को नष्ट कर सकता है। पर सहृदय मात्र इस कविता के आध्यात्मिक रस को अनुभव किये बिना न रहेंगे। अन्तिम पंक्तियाँ कितनी मर्मन्तुद हैं :

> मयूरकंठी परेछि काँचलखानि
> दूर्वा श्यामल वक्षे आँचल टानि
> रयेछि विजन राज पथ पारे चाहि—
> वातायन तले वसेछि धूलाय नामि—
> त्रियामा यामिनी एका वसे गान गाहि,
> 'हताश पथिक से जे आमि, सेइ आमि।'

इस प्रकार 'कल्पना' में कवि रवीन्द्रनाथ की कविता निविड़ भाव से उनकी साधना से युक्त होती है। यह साधना है सहज प्रेम की। प्रिय की विकल प्रतीक्षा का जो स्वर ऊपर की कविता में बज उठा है, आगे चलकर वह अधिकाधिक स्पष्ट होता गया है।

कठिनाई यह है कि हम एक ऐसे कृत्रिम जीवन के अभ्यस्त हो गये हैं कि सीधी बात सहज भाव से कह या सुन ही नहीं सकते। यही कारण है कि 'सहज प्रेम' हमारे समझने में बड़ा कठिन हो जाता है। हम सत्य कहने में हिचकते हैं, न्याय को न्याय कहने के लिए तर्क और युक्ति की अपेक्षा रखते हैं। सहज प्रेम बहुत सहज है, पर उसका पालन बड़ा कठिन है। सीधी रेखा खींचना रेखागणित का सबसे कठिन कार्य है। इसीलिए कवि 'क्षणिका' के आरम्भ में ही कहते हैं :

"सच्ची बात सरल भाव से तुझे सुना देने का साहस नहीं कर पाती। कैसे समझूँ कि तू अविश्वास से हँसेगी या नहीं? इसीलिए छल से मिथ्या सुना दिया

करती हूँ, सहज बात को ही मैं उलटा करके कहती हूँ; भाई, कहीं तुम उसे व्यर्थ न कर दो, इसीलिए अपनी व्यथा को ही व्यर्थ कर देती हूँ।

"सोहाग-भरे प्राणों की बात तुझे सुना देने का साहस नहीं कर पाती, कैसे समझूं कि फिर सोहाग पाऊँगी या नहीं ? इसीलिए कठिन बात सुना जाती हूँ। गर्व के बहाने अपनी ही बात को बड़ी कर देती हूँ। कहीं तुम्हें भी व्यथा न हो, इसीलिए अपनी ही व्यथा को छिपा रखती हूँ।"

ऊपर की पंक्तियाँ जिस कविता से ली गयी हैं, उसका नाम 'भीरुता' है। ऐसा जान पड़ता है कि कवि यहाँ अधिक साफ और दृढ़ रूप से अपने सहज प्रेम की बात कहना चाहते हैं। मानो अब तक उन्होंने जो कुछ कहा है वह पर्याप्त स्पष्ट नहीं हुआ। मानो उनकी आत्मा के पंख अब अधिक देर तक स्थिर नहीं रह सकते। वे फड़फड़ाकर उड़ना चाहते हैं। इसीलिए वेदना अधिक टीस के साथ प्रकट हो रही है।

कवि अपने-आपसे ही कहना चाहते हैं, "अरे बन्द कर यह रोना, तोड़ दे, अरे तोड़ दे दोनों हाथों से अपना बाँधा बन्धन। जो सहज तेरे सामने पड़ा है, आदर के साथ लगा ले उसे अपनी छाती से। आज-भर के लिए चुक जाने दे, जितने असाध्य साधन हैं। आज क्षणिक सुख का उत्सव है, बन्द कर दे यह रोना।"

ओरे थाक् थाक् काँदनि।
दुइ हात दिये छिंड़े फेले दे रे
निज हाते बाँधा बाँधनि।
जे सहज तोर रयेछे समुखे
आदरे ताहारे डेके ने रे बुके,
आजिकार मतो जाक् जाक् चुके
जतो असाध्य साधनि।
क्षणिक सुखेर उत्सव आजि
ओरे थाक् थाक् काँदनि।

इस परिवर्त्तित अवस्था का उत्तम उदाहरण है 'यात्री' नामक कविता। इस कविता के साथ 'सोनार तरी' वा 'सोने की नाव' कविता की तुलना कीजिए। पहले 'यात्री' कविता का हिन्दी रूपान्तर लीजिए :

"स्थान है, स्थान है, तुम अकेले हो, तुम्हारे पास केवल एक आँटी धान है। यही न कि जरा धक्कम-धुक्का होगा; वह कुछ ऐसा अधिक नहीं है। यही न कि थोड़ी-सी भारी हो जायेगी मेरी नाव—परन्तु इसलिए क्या तुम लौट जाओगे? स्थान है, स्थान है!

"आ जाओ, आ जाओ नाव में। धूल अगर कुछ हो तो रहने देना पैर में। पतली है यह तुम्हारी देह-वल्लरी, आँखों के कोने में चञ्चलता है और शरीर में है वह सजल-नीलमेघ का-सा वस्त्र! अजी, तुम्हारे लिए जगह हो जायेगी, आओ, आ जाओ नाव में।

"यात्री नाना भाँति के हैं। वे विभिन्न घाटों पर जायेंगे, कोई किसी की जान-पहचान का नहीं है। अजी, तुम भी क्षण-भर के लिए हमारी नाव पर बैठोगे? यात्रा जब समाप्त हो जायेगी तो मेरा कहा नहीं मानोगे! आ ही गये तो तुम भी आ जाओ, यात्री नाना भाँति के हैं।

"कहाँ है तुम्हारा स्थान? किस गोला (आढ़त) में रखने जाओगे यह एक आँटी धान? यदि बोलना न चाहो तो सुनकर हमें क्या फल होगा? जब खेवा खतम हो जायेगी तो बैठकर सोचूँगा, कहाँ है तुम्हारा स्थान?"

सोने की नाव मेरे ही धान से भर गयी थी, मेरे लिए उसमें जगह नहीं थी। वह काल-स्रोत की निष्ठुर नौका थी। पर यहाँ दूसरों के आने का साग्रह निमन्त्रण है। यह प्रेम की नैया है जिसमें जरा से धक्कम-धुक्का की कोई गणना ही नहीं। आरोही अगर निरपेक्ष है तो भी कोई चिन्ता नहीं। वह हमारी बात का जवाब दे या न दे, हम उसकी चिन्ता में सुदूर दिगन्त तक आँख बिछा देंगे। प्रेम का यही माहात्म्य है।

प्रेम की इस सहज उपासना का जो सुन्दर रूप रवीन्द्रनाथ ने अंकित किया है, वह अनुपम है। उनकी साधना स्वदेश या विदेश के किसी साधना-पन्थ से हू-ब-हू नहीं मिलेगी। वैष्णव आचार्यों की दस-दशाओं की भी उसमें नकल नहीं है और ईसाई सन्तों की भी नहीं। इसे किसी-किसी समालोचक ने subjective individualism या व्यक्तिगत अपरोक्षानुभूतिवाद कहा है। नाम चाहे जो दिया जाये, इसमें सन्देह नहीं कि यह कवि की आत्मानुभूति ही है। कवि की सहज साधना का यह अच्छा परिचय उन्हीं की एक कविता से मिलता है :

"उनकी बातों से आँखें चौंधिया जाती हैं, मैं तुम्हारी बात समझता हूँ। तुम्हारा आकाश, तुम्हारी हवा—यह तो सभी सीधी-सी बात है! हृदय-रूपी पुष्प अपने-आप ही खिलता है, और हमारा जीवन भर उठता है, दरवाजा खोल-कर देखता हूँ तो हाथ ही के पास सारी पूँजी है :

ओदेर कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बूझि
तोमार आकाश तोमार वातास
एइ त सबि सोजा सूजि।
हृदय-कुसुम आपनि फोटे
जीवन आमार भरे उठे
दुवार खुले चेये देखि
हातेर काछे सबि पूँजि।"

इससे अधिक साफ और सहज क्या कहा जा सकता है? पर नाना पन्थों और मतों की पथ-प्रदर्शकता में हमारा मन ऐसा उलझ गया है कि वह सीधी-सी बात ग्रहण ही नहीं करता। कवि ने अपने एक गान में कहा है—"माँ, तेरा रास्ता तो मुझे आप ही दिखायी पड़ रहा है, मैं उसे ही पकड़कर सीधा चलूँगा। ये लोग जो

रास्ता दिखाने के लिए भीड़ किये हैं, केवल खोज बढ़ाते हैं :

तोमार पथ आपनारे आपनि देखाय
ताइ बेये माँ चलवो सोजा।
जारा पथ देखाबार भिड़ करे गो
तारा शुधू बाड़ाय खोजा।"

खोज बढ़ाने को ही आजकल हमने चरम कृतित्व समझ लिया है। आज के दिन हमें यह समझने के लिए विज्ञान और तर्क-शास्त्र की सहायता चाहिए कि प्रकाश प्रकाश ही है।

इस सहज-साधना की एक परिणति हुई है 'अतिथि' नामक कविता में। इसका अनुवाद अन्यत्र दिया गया है।

इस लेख के आरम्भ से ही हम आध्यात्मिक साधना की बात करते आ रहे हैं। यहाँ तक आकर हमें भय हो रहा है कि हमारे पाठक हमारी बातों को अत्यधिक महत्त्व न देते आ रहे हों। कहीं ऐसा न हो कि वे 'वह' और 'मैं' का आध्यात्मिक अर्थ करके उनसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु का अर्थ खोज रहे हों। हम यहाँ एक बार फिर अपने पाठकों से नम्रतापूर्वक निवेदन कर देते हैं कि आप उतनी ही दूर तक आध्यात्मिक साधना की ओर अर्थ करें जितनी दूर तक शुद्ध रूपकरूप में काव्य का सौन्दर्य अविकृत रहता हो। ऊपर की कविताएँ मन्त्र या 'सरमन' नहीं हैं। वे एक शब्द और अर्थ से अतीत सत्य की ओर इशारा-भर कर देती हैं। कविता पढ़ लेने के बाद अगर आपकी आत्मा यह अनुभव कर रही हो कि वह उदास भाव से दिगन्त के पार किसी प्रिय—अज्ञात प्रिय—के लिए व्याकुल हो उठी है तो हो चुका ! जरूरत नहीं यह जानने की कि 'वह' कौन है ? 'तुम' कौन है ? कवि स्वयं कहते हैं :

"तुमको पहचानता हूँ, इसीलिए मैंने लोगों में गर्व किया है; मेरे अंकित पट पर बहुतों ने तुम्हें बहुत रूपों में देखा है। कितने ही लोग मुझसे आकर पूछते हैं— 'अजी, वह कौन है ?' जानना चाहते हैं वे तुम्हारा परिचय—'अजी, वह कौन है ?' उस समय क्या कहूँ, वाणी ही नहीं निकलती। मैं केवल कहता हूँ—'क्या जानूँ, क्या जानूँ !' तुम सुनकर हँसते हो, वे मुझे दोष देते हैं, किस दोष पर !

"तुम्हारी अनेक कहानियाँ मैंने अनेक गानों में गायी हैं। गोपन वार्त्ता अपने ही प्राणों में छिपाकर न रख सका। कितने ही लोगों ने मुझे बुलाकर पूछा है, 'जो तुमने गाया है, उसका क्या कुछ अर्थ भी है ?' उस समय क्या कहूँ, वाणी ही नहीं निकलती। मैं केवल कहता हूँ 'अर्थ क्या जानूँ !' वे हँसकर चल देते हैं, और तुम मुस्कराया करते हो।

"तुम्हें जानता नहीं, पहचानता नहीं, यह बात बताओ तो भला मैं कैसे कहूँ ? क्षण-क्षण पर तुम झाँका करते हो और क्षण-क्षण पर छल जाया करते हो। चाँदनी-भरी रात में, पूर्ण चन्द्रमा में, देखा है मैंने तुम्हारे घूँघट को खिसकते। आँख की पलकों में तुम्हें देख पाया हूँ। सहसा वक्षःस्थल हिल गया है, अकारण ही आँखें

अकुला उठी हैं, (ऐसे समय) मैंने चकित होकर समझा है कि तुमने चरण-निक्षेप किया है।

"तुम्हें, प्रतिक्षण मैंने शब्दों के धागे में बाँधना चाहा है। चिरकाल के लिए गान के सुर में तुम्हें रखना चाहा है। सोने के छन्दों का जाल बिछाया है, वंशी में कोमल निषाद-स्वर भरा है, तो भी सन्देह होता है कि क्या तुम पकड़े गये ? कुछ काम नहीं, तुम जो चाहे करो, पकड़े न जाओ, मेरा मन हरो —पहचानूँ या न पहचानूँ, ऐसा हो कि मेरा मन पुलकित हो उठे।"

और इसके ऊपर तो कुछ जवाब नहीं चलता। सहृदयों से भी हम यही अनुरोध करेंगे कि वे यही कहें :

"काज नाइ तुमि जा खुसि ता करो,
धरा नाइ दाओ मोर मन हरो
चिनि वा ना चिनि प्रान उठे जेन पुलकि"

इस समय की कविताओं में व्याकुलता और प्रतीक्षा फूट पड़ी है। उदाहरण के लिए 'सुदूर' कविता देखी जा सकती है।

रवीन्द्रनाथ उन साधकों में नहीं हैं जो बन्धन से घृणा करते हैं। सीमा को वे असीम की अभिव्यक्ति का साधन समझते हैं। उन्होंने बहुत बार कहा है कि सीमा उस फाटक की भाँति है जिसका प्रयोजन है भीतर की ओर का मार्ग बताना। वे कहते हैं :

"वैराग्य-साधन से जो मुक्ति होती है वह मेरी नहीं है। असंख्य बन्धनों में रहकर मैं महा-आनन्दमय मुक्ति का स्वादलाभ करूँगा। इस वसुधा की मिट्टी का वह पात्र तुम्हारे नाना वर्णों और गन्धोंवाला अमृत बारम्बार ढाल दिया करेगा। प्रदीप की भाँति मेरा सारा संसार लाख-लाख वर्त्तियों में प्रकाश जला देगा, तुम्हारी ही शिखा के रूप में, तुम्हारे ही मन्दिर में—

"वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय
असंख्य बन्धन माझे महानन्दमय
लभिव मुक्तिर स्वाद। एइ वसुधार
मृत्तिकार पात्र खानि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
नाना वर्ण गन्धमय। प्रदीपेर मतो
समस्त संसार मोर लक्ष वर्तिकाय
ज्वालाये तुलिबे आलो तोमारि शिखाय
तोमार मन्दिर माझे॥"

"इन्द्रिय का द्वार रुद्ध करके जो योगासन होता है वह मेरा नहीं है। दृश्य में, गन्ध में और गान में जो कुछ आनन्द है, उसके बीच में तुम्हारा आनन्द रहेगा। मेरा मोह मुक्ति के रूप में जल उठेगा, मेरा प्रेम भक्ति के रूप में फलित हो उठेगा :

"इन्द्रियेर द्वार
रुद्ध करि, योगासन से नहे आमार।
जा किछू आनन्द आछे दृश्ये गन्धे गाने।
तोमार आनन्द रबे ता'र माझ खाने।
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिबे फलिया।"

इस साहस के साथ, इतने दृढ़ स्वर में शायद ही किसी कवि ने वैराग्य के विरुद्ध घोषणा की हो। बन्धन का यह माहात्म्य प्रथम बार इस सौन्दर्य के साथ प्रकाशित हुआ है। एक जगह वे कहते हैं :

"जो भक्ति तुम्हें लेकर धैर्य नहीं धारण करती; क्षण-भर में ही नृत्य, गीत और गान में, भावोन्माद की मत्तता में विह्वल हो जाती है; वह ज्ञानहीन उद्भ्रान्त भक्तिमद की फेनोच्छल धारा नहीं चाहता, नाथ! दो मुझे शान्तरस की भक्ति, स्निग्ध अमृत से भरकर मंगल-कलश, इस संसार के द्वार पर; —जो भक्ति-अमृत मेरे समस्त जीवन में निगूढ़-गम्भीर भाव से विस्तृत होगा, सारे कर्मों को बल देगा, और विफल शुभ चेष्टाओं को भी आनन्द और कल्याण से सफल करेगा, सबके प्रेम में तृप्ति देगा, सबके दुःख में कल्याण देगा और सबके सुख में दाहहीन दीप्ति देगा।"

इसीलिए कहते हैं कि इस द्वितीय अवस्था में प्रौढ़ रवीन्द्रनाथ का कण्ठ-स्वर अधिक स्पष्ट और दीप्त हो गया है। 'क्षणिका' ग्रन्थ की 'परामर्श' नामक कविता में एक बार अपने पूर्वप्रयत्नों की अस्पष्ट सफलता को लक्ष्य करके कहते हैं :

"अरे दुःसाहसी! अनेक बार तो पतवार टूट चुकी है और पाल फट चुका है! समुद्र की ओर, उस अकूल काले जल में, तू बह गया है—रस्सियाँ टूट गयी हैं। आज क्या वह बल है?

"अनेक बार तो हाल भेङेछे
पाल गिये छे छिंड़े
ओरे दुःसाहसी!
सिन्धु पाने गेछिस् भेसे
अकूल कालो नीरे—
छिन्न रसा रसि।
एखन कि आर आछे से बल?"

इसीलिए कवि अपने को समझा रहे हैं—"अरी, श्रान्त नौका, अब की बार रुक। रहने दे यह आना-जाना। देख, वर्ष-समाप्ति की वह वंशी सारे सान्ध्य-आकाश में व्याप्त होकर बज रही है—वह सुनी जा रही है :

"ए बार तबे क्षान्त ह'रे
ओरे श्रान्त तरी।
राख रे आना गोना!

वर्ष शेषेर वांशि बाजे
संध्या गगन भरि,
ओइ जेते छे शोना।"

किन्तु यह समझाना व्यर्थ है। कवि की आतमा इसे सुनना नहीं चाहती। उनकी यह अबोध तरी फिर बह जायगी। उनका वह सर्वनाशी स्वभाव यमदूत की भाँति कर्ण (पतवार) पकड़कर बैठा है! हाय रे मरण का लोभी स्वभाव, वह आँधी-तूफान और उर्म्मि-माला का नशा नहीं छोड़ेगा। जिसके अदृष्ट में नाव डूबना है, वह क्या घाट पर बँधा रहेगा :

हाय रे मिछे प्रबोध देवा
अबोध तरी मम
आवार जावे भेसे।
कर्ण धरे बसे छे तार
यमदूतेर सम
स्वभाव सर्व नेशे।
झड़ेर नेशा ढेउयेर नेशा
छाड़बे ना को आर,
हाय रे मरण लुभी।
घाटे से कि रइबे बाँधा
अदृष्टे जाहार
आछे नौका डूबि।"

ये कविताएँ उस समय लिखी गयी थीं, जब उन्नीसवीं शताब्दी विदा लेने की तैयारी में थी। 'नैवेद्य' प्रथम बार 1901 ई. में प्रकाशित हुआ। इसी समय बंगाल विदेशी शासन का जुआ अपने कन्धे से उतार फेंकने के लिए बेतरह व्याकुल हो उठा था। 1905 ई. में बंग-विच्छेद हुआ और इसने सारे भारतवर्ष को इस सिरे से उस सिरे तक हिला दिया। बंगाल तो प्राण देने पर उतर आया। इस विकट राजनीतिक आन्दोलन के उन्नायकों में अन्यतम थे हमारे कवि। 'नैवेद्य' में वे राजनीतिक नायक के रूप में हुंकार करते सुने जाते हैं :

"मुझे सम्मानित करो नये वीरवेश से, दूरूह कर्त्तव्यभार से, दुरूह कठोर वेदना से! पहना दो मेरे अंगों में क्षत-चिह्नित अलंकार। धन्य कर दो इस दास को सफल चेष्टा में और निष्फल प्रयास में। भाव की ललित गोद में विलीन न रखकर, कर्म-क्षेत्र में कर दो मुझे सक्षम और स्वाधीन।"

इस प्रकार की वीर-वाणी से उस युग का वायुमण्डल ध्वनित करके रवीन्द्रनाथ ने बंगाली युवकों के उत्साह को बहुगुण प्रबुद्ध कर दिया था। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने देखा कि यह क्षेत्र उनका नहीं है। वे इस मैदान से धीरे-धीरे हट गये। इसके बाद की रचना है 'खेया'। 'खेया' को इस दृष्टि से पढ़ने पर उसमें एक विचित्र रस मिलेगा। रवीन्द्रनाथ के तत्कालीन राजनीतिक समालोचकों ने उस समय जो

कुछ भी क्यों न कहा हो; यह उनका अपूर्व साहस और त्याग था। कितने आदमी हैं जो राजनीतिक क्षेत्र की महिमा को इसलिए त्याग सकें कि वह उनका स्वधर्म नहीं है ? एक स्थान पर वे कहते हैं :

"विदा दो, मुझे क्षमा करो मेरे भाई ! मैं तो अब कार्य के रास्ते में नहीं रहा। जाओ ना तुम लोग दल-के-दल आगे होकर, जयमाल्य पहन ना लो गले में, मैं इस समय वनच्छाया तले, अलक्षित भाव से पीछे ही रहना चाहता हूँ। तुम लोग मुझे पुकारना मत मेरे भाइयो !

"विदाय देह क्षम आमार भाइ।
काजेर पथे आमित आर नाइ।
एगिये सबे जाओ ना दले-दले
जयमाल्य लओ ना तुलि गले
आमि एखन वनच्छाया तले
अलक्षित बिछिये जेते चाइ,
तोमरा मोरे डाक दीयो ना भाइ।

"बहुत दूर मैं तुम्हारे साथ-साथ आया, हम सभी हाथ-में-हाथ मिलाकर चले। यहाँ दो रास्तों के मोड़ पर मेरा हृदय न जाने कैसा हो उठा है। मुझे मालूम नहीं किस फूल की गन्ध इस अति लौकिक व्याकुल वेदना के रूप में घूम रही है। और अधिक तो अब साथ-साथ चलना नहीं हो (सकता) !

"अनेक दूरे एलेम साथे-साथे,
चले छिलेम सबाइ हाते-हाते,
एइखाने ते दुटि पथेर मोड़े
हिया आमार उठ्लो केमन करे,
जानिने कोन् फूलेर गंध धोरे
सृष्टि छाड़ा व्याकुल वेदना ते
आर त चला हय ना साथे-साथे।"

'खेया' की कविताओं का थोड़ा-सा परिचय हमने अन्यत्र कराया है। इसलिए यहाँ हम उसकी चर्चा अधिक नहीं करते। यहाँ इस अवस्था की दो प्रसिद्ध पुस्तकों से एक-आध कविता की बानगी देकर पाठकों से विदा लेंगे। ये दो पुस्तकें हैं 'गीताञ्जलि' और 'गीतिमाल्य'।

'खेया' की आलोचना के प्रसंग में एक समालोचक ने लिखा है, "देवता का यौवन लेकर एक समय जिसने 'उर्वशी' के नृत्य का उपभोग किया है, विजयिनी का विजय निर्निमेष भाव से देखा है, गम्भीर ज्ञान को आत्मसात् करके गम्भीर उदात्त कण्ठ से जिसने यह घोषणा की है कि

'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय'

वही वलीयान् हृदयवाला कवि आज विराट् के प्रेम-आकर्षण से नवानुरागिनी किशोरी की तरह काँप रहा है। भाषा की जो दीप्ति थी, उच्छ्वास था, कल्पना

की जितनी उद्दामता थी, वह सब आज कहाँ है ? एकदम सादी भाषा में हृदय खोल देने के लिए कवि आज व्याकुल है।" हमारा विश्वास है कि कवि की यह व्याकुलता और भी घन और निविड़ हो उठी है 'गीताञ्जलि' और 'गीतिमाल्य' में।

"कहाँ है दीपक, अरे कहाँ है दीपक ! विरह-अग्नि से उसे जला दो, जला दो। दीपक है, शिखा नहीं है—हाय रे, यही क्या कपाल में लिखा था, इससे तो भाई, मरण अच्छा। प्रदीप को जला दो विरह की आग में।

"कोथाय आलो कोथाय ओ रे आलो
विरहानले ज्वालो से तारे ज्वालो।
रयेछे दीप ना आछे शिखा
एइ कि भाले छिल रे लिखा।
इहार चेये मरण से-जे भालो।
विरहानले प्रदीप खानि ज्वालो।"

इस विरह की गम्भीर व्यथा से 'गीतांजलि' भरी पड़ी है। इस विरह के बीच-बीच में प्रिय-सान्निध्य की आवाज भी दृढ़ और स्पष्ट स्वर में सुन पड़ती है। कहते हैं, "यों ओट में छिपने से काम नहीं चलेगा। इस बार हृदय में छिपकर बैठो। कोई नहीं जानेगा, कोई नहीं बोलेगा :

"एमन आड़ाल दिये लुकिये गेले
चल्बे ना
एवार हृदय माझे लुकिये बोसो
केउ जान्बे ना केउ बोल्बे ना।"

"हम जानते हैं कि हमारा कठिन हृदय चरण रखने योग्य नहीं है:

"जानि आमार कठिन हृदय
चरन राखार योग्य से नय,"

तथापि, "मेरे मित्र, हिया में तुम्हारी हवा लगने पर प्राण गल नहीं पड़ेगा ?

"सखा, तोमार हावा लाग्ले हियाय
तबू कि प्राण गल्बे ना ?"

'गीताञ्जलि' की कविता उस स्थान पर पहुँच गयी है जहाँ मिलन और विरह में लकीर खींचना मुश्किल हो जाता है। कवि की ध्वनि मिलन और विरह दोनों के एक ही करुण स्वर में किस प्रकार बज उठी है—"वह तो नजदीक आया था, तो भी मैं नहीं जगी —

"से-जे पाशे एसे छिल
तबू जागिनि !"

"सुन्दर, तुम आज प्रातःकाल अरुण-वर्ण पारिजात हाथ में लेकर आये थे :

"सुन्दर तुमि एसे छिले आजि प्राते
अरुण वरण पारिजात ल'ये हाते।"

हाय ! कवि की अन्तरात्मा की यह साध कितनी वेदनामयी है ! "तुम्हारी ओर से मुँह फिराकर बैठ रहूँगी, यह इच्छा सफल करो मेरे प्राणों में—

"मुख फिरिये रबो तोमार पाने
एइ इच्छा टि सफल करो मोरे प्राणे।"

हमारे पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि अंग्रेजी 'गीताञ्जलि' और बँगला 'गीताञ्जलि' एक ही नहीं हैं। 'गीताञ्जलि' प्रकाशित होने तक कवि की जितनी कविताएँ प्रकाशित हुई थीं उनमें से कुछ चुनी हुई कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद ही अंग्रेजी 'गीताञ्जलि' है।

'गीताञ्जलि' में जिस प्रकार के विरह-मिलन की बात है, उसकी तृप्ति दिखायी देती है 'गीतिमाल्य' में। वहाँ कवि कहते हैं—हमें तो राह देखने में ही आनन्द है—आमार ए पथ चावातेइ आनन्द।"

"जिस रात को आँधी से मेरे दरवाजे टूट गये, उस समय मैंने यह तो समझा ही नहीं कि तुम आये हो मेरे घर पर।...मैं क्या जानूँ कि आँधी तुम्हारी जयध्वजा है ? सवेरे उठकर जो देखा, तो यह क्या ! तुम खड़े हो, हमारे घर में भरी शून्यता के ही वक्षःस्थल पर—

"जे राते मोर दुयार गुलि भाँगलो झड़े
जानि नाइ तो तुमि एले मोर घरे।···
झड़ जे तोमार जयध्वजा ताइ कि जानि ?
सकाल वेला चेये देखि, दाँड़िये आछ तुमि एकि !
घर भरा मोर शून्यतार बुकेर परे।"

इस प्रकार की कविताओं से 'गीतिमाल्य' भरा पड़ा है।

"अजी, मेरे मुँह का आँचल झड़ा जा रहा है, उड़ा जा रहा है, हाथ ढका नहीं रह सकता, उसे खींचकर रख नहीं सकती :

"झड़े जाय उड़े जाय गो
आमार मुखेर आँचल खानि
ढाका थाके ना हाय गो
तारे राखते पारिनि टानि।"

सचमुच वे इस अवगुण्ठन को अन्त तक न रख सके। प्रथम अवस्था से यहाँ तक जो प्रेम-संगीत गूढ़ भाव से गीत हो रहा था, वह गूढ़ता के पर्दे को अब नहीं सह सकता :

"बाजाओ आमारे बाजाओ।
बाजाले जे सुरे प्रभात आलोरे
सेइ सुरे मोरे बाजाओ !"

यह प्रकट होने की व्याकुलता है।

"तुमि जे सुरे आगुन लागिये दिले मोर प्राणे
से आगुन छड़िये गेल सब खाने।"

इस अवस्था की चरम परिणति होती है 'गीतांजलि' में। यहाँ आकर इस विशाल हृदयरूपी समुद्र के कवित्व का ज्वार एकदम उतर गया है, यहाँ उसका भाटा है, कल्पना का वह उद्दाम वेग धीमा पड़ गया है। साधक रवीन्द्रनाथ स्पष्टतर हो आये हैं—"दुःख की वर्षा में आँखों का पानी ज्यों ही रुका, त्यों ही वक्षःस्थल के दरवाजे पर मित्र का रथ भी रुक गया :

"दुःखेर वरषाय चक्षेर जल जेइ नाम्‌ल।
वक्षेर दरजाय बन्धुर रथ सेइ थाम्‌ल।

"इतने दिनों के बाद मालूम हुआ कि जो कुछ क्रन्दन था वह किसके लिए था। धन्य है यह क्रन्दन, धन्य है यह जागरण, धन्य है—सबकुछ धन्य है :

एत दिने जान्‌लेम, जे काँदन काँदलेय
से काहार जन्य।
धन्य ए क्रन्दन, धन्य ए जागरण,
धन्य रे धन्य !

बस, यही स्वर समस्त 'गीतांजलि' में बजा है। यहाँ आकर कवि की सारी व्यथा सार्थक हो गयी है। परन्तु साधना उनकी समाप्त न हुई, होगी भी नहीं। कहते हैं—"यही तो मैं चाहता हूँ ! हमारी साधना समाप्त होगी, यह चिन्ता मुझे नहीं है :

सेइ त आमि चाइ ! साधना जे शेष ह'ब मोर
से भावना त नाइ।"

"फल के लिए तो खोज नहीं, कौन ढोयेगा इस विषम बोझ को ?

"फलेर तरे नय तो खोजाँ, के बइबे से विषम बोझा ?"

[1935 ई.]

मरमी रवीन्द्रनाथ

आज से बाईस वर्ष पहले की बात है। एक दिन संसार के सुधी-समाज ने आश्चर्य के साथ देखा कि पराधीन भारतवर्ष में—जिस भारतवर्ष को अब तक अर्धसभ्य देश से बहुत ऊपर का नहीं समझा जाता था—एक ऐसा कवि-रत्न पैदा हुआ है जिसका तेज अद्वितीय है। इस कवि के कुछ ही गान अंग्रेजी गद्य में अनूदित होकर

यूरोप में पहुँचे पाये थे। पहले तो जो गान वहाँ तक पहुँच पाये थे, वे संख्या में इतने कम थे कि उनसे कवि की वास्तविक प्रतिभा का दशमांश भी उपस्थित नहीं किया जा सकता था। दूसरे, उनका अनुवाद एक ऐसी भाषा में हुआ था जो मूल की भाषा से ३६ का सम्बन्ध रखती है। उस पर वह अनुवाद था गद्य में ! और गद्य भी कैसा—एक अंग्रेज समालोचक के शब्दों में "बाँयें हाथ से लिखा हुआ !" तो भी अंग्रेज जनता इस बाँयें हाथ के गद्य से अत्यधिक प्रभावित हुई। वहाँ के साहित्यिकों ने यथार्थ में ही कहा कि इस प्रकार का 'छन्दःसम्पन्न' गद्य उनके साहित्य में पहली बार दिखायी पड़ा है। अंग्रेज़ी-साहित्य कुछ साधारण नहीं है। बीसियों विश्ववरेण्य सुकवियों और नाटककारों की लेखनी का प्रसाद पाकर वह अत्यन्त समृद्ध हो गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के जादूभरी लेखनीवाले कवियों—वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, ब्राउनिंग, रोज़ेटी आदि—की अमर कविताएँ बीसवीं शताब्दी के सहृदयों को अब तक मुग्ध कर रही थीं। ऐसी परिस्थिति में 103 गीतों का 'बाँयें हाथ के गद्य' में अनुवाद करनेवाले कवि का इस प्रकार सम्मान पाना कुछ साधारण बात न थी। यह कवि थे रवीन्द्रनाथ, और गीतों का संग्रह 'गीतांजलि'।

नोबेल-पुरस्कार की घोषणा होते ही संसार में रवीन्द्रनाथ की चर्चा ज़ोरों पर चल पड़ी। यूरोप के समालोचकों ने रवीन्द्रनाथ को एक स्वर से 'मरमी'[1] (mystic) कवि कहा, और इस मरमी की गम्भीरता की परीक्षा के लिए मध्ययुग के ईसाई मरमियों से तुलना की जाने लगी। ईसाई समालोचकों की यह प्रवृत्ति सदा से रही है कि जब वे प्राच्य देशों के किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि को देखते हैं, तो मध्ययुग के ईसाई-मरमियों से उसकी तुलना करने लगते हैं। ग्रियर्सन साहब तुलसीदास या सूरदास की प्रतिभा पर इसलिए मुग्ध हुए थे कि वह मध्ययुग के मरमी (सेंट थेरिसा, बर्नर्ड आफ़ क्लेयरवक्स, एगबर्ट और थामस-ए-केम्पिस प्रभृति) कवियों के सम्बन्धी थे। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि ईसाई-हृदय पर इन मरमियों की अमिट छाप लगी हुई है।

तुलना तो हुई, पर इसके परिणामस्वरूप कितने ही ईसाई धर्माचार्य रवीन्द्र-नाथ के गीतों में उस मर्म-भाव का अस्तित्त्व न पा सके जिसके द्वारा मनुष्य का हृदय सीधे, बाण की भाँति, भगवान् के चरणों में पहुँच सके। कारण यह बताया गया कि रवीन्द्रनाथ के गीतों में पाप-भावना की स्मृति को जगा देनेवाली बातें नहीं हैं, अतएव वे हृदय पर सीधे न पहुँचकर कानों के ऊपर ही मधुर भाव से गुनगुना जाते हैं। पर यूरोप के ही समालोचकों ने इन अभियोगों को निराधार बताया था। अब रवीन्द्रनाथ के मर्म-भाव की आलोचना में प्रवृत्त होने के पूर्व देखा जाय कि

1. सन्त-कवियों ने 'मरमी' या 'मरमिया' शब्द का व्यवहार mystic शब्द के अर्थ में किया है। लेखक इस सूचना के लिए अध्यापक क्षितिमोहन सेन का ऋणी है। इस शब्द के तौल पर mysticism के अर्थ में लेखक ने 'मर्म-भाव' शब्द गढ़ लिया है।

धर्माचार्यों के इन अभियोगों का कारण क्या है।

ईसाई-मरमी सन्तों की साधना में इन बातों का समावेश है : (1) आत्म-समर्पण, (2) अपने में ईसा मसीह की अनुभूति, (3) तीन दशाएँ (stages) --पवित्रीकरण, उज्ज्वलीकरण और योग, (4) प्रतीक-भावना, (5) आदर्श का वास्तविकता से योग, (6) अद्वैतबोध, (7) पाप के प्रति कोमल भावना। यह बात नहीं है कि सभी ईसाई सन्तों ने इन सारी बातों को लेकर साधना की हो; एक या एकाधिक भावनाएँ भी साधना को पूरी कर सकती हैं। इन मरमी सन्तों में सबसे प्रबल भावना है पापबोध की। यह भावना सूरदास के इस पद से मिलती-जुलती है :

हौं हरि सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौं तो जनमत ही कौ।

रवीन्द्रनाथ के गानों में इस बात का अस्तित्व न पाकर ईसाई धर्माचार्य अगर निराश हुए तो कुछ आश्चर्य नहीं।

आलोचना को अग्रसर करने के पहले दो-एक गीत, जो रवीन्द्रनाथ की मर्म-भावना को वास्तविक रूप में उपस्थित करते हैं, जान रखना नितान्त आवश्यक है। रवीन्द्रनाथ उन लोगों में नहीं हैं जो भगवान् को तटस्थ की भाँति देखते हैं। हिन्दू-धर्मशास्त्रकारों ने ईश्वर को इतने ऊँचे सिंहासन पर बिठाया है कि मनुष्य उससे डरता रहता है। ईसाई मरमी सन्तों की सारी शक्ति लगने पर भी ईसाई-हृदय का वह संस्कार दूर नहीं हुआ है। रवीन्द्रनाथ ने कभी ईश्वर को इतनी दूर देखा ही नहीं, न उनमें सम्भ्रम की भावना है, न तटस्थता की। है क्या---एक अतिपरिचित सरल घरेलू सम्बन्ध। ईश्वर कवि के लिए अपरिचित नहीं है, बल्कि एक ऐसा प्रेमी है जो स्वयं प्रेम का भिखारी है। वह पार्थयितव्य अगर हो भी, तो दुर्लभ तो कदापि नहीं है। कालिदास के शब्दों में मानो रवीन्द्रनाथ अपने-आपसे ही कह रहे हैं :

न विद्यते प्रार्थयितव्य एव ते
भविष्यति प्रार्थित दुर्लभः कथम्।

अर्थात् "तेरा तो कोई प्रार्थयितव्य ही नहीं है, और यदि कदाचित् कोई हो भी तो वह दुर्लभ कैसे होगा!"

'खेया' की 'बालिका-वधू' नामक कविता रवीन्द्रनाथ के इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर सकती है :

"ऐ वर, अजी ओ (मेरे) मित्र, यह जो नवीना बुद्धिविहीना (लड़की) है, वह तुम्हारी बालिका-वधू है। तुम्हारे उदार प्रासाद में अकेली ही कितने ही खेल खेलती हुई समय काट देती है, तुम जब उसके पास आते हो तो —ऐ वर, अजी ओ (मेरे) मित्र—सोचती है कि तुम (भी) केवल उसके खेल के धन हो।

"ओगो वर ओगो बंधु,
एइ-जे नवीना बुद्धिविहीना
ए तव बालिका-वधू।

तोमार उदार प्रासादे एकला
कत खेला दिये काटाय जे बेला,
तुमि काछे एले भावे तुमि तार
खेलिबार धन शुधू
ओगो वर ओगो बंधु।"

"शृंगार करना नहीं जानती; केशपाश यदि एक ही लट बन जाता है तो भी मन में लाज नहीं मानती। दिन में सौ बार बना-बिगाड़कर धूल के घर बनाती है और मन-ही-मन सोचती है कि अपनी घर-गिरस्ती का काम कर रही है! शृंगार करना नहीं जानती।

"इसे गुरुजन बताते हैं— 'वह तेरा पति है, तेरा देवता है।' वह भीत होकर इस बात को सुनती है। किस प्रकार तुम्हें पूजेगी, यह बात किसी तरह नहीं समझ पाती; खेल छोड़कर मन में कभी-कभी सोचती है—'गुरुजन जो कहते हैं, प्राणपण से उसका पालन करूँगी।'

"सोहाग-सेज पर तुम्हारे बाहु-पाश में बँधी होने पर भी अचेतन भाव से सो जाती है। तुम्हारी बातों का कोई जवाब नहीं देती। कितने ही शुभ क्षण वृथा बीत जाते हैं। तुम जो हार उसे पहना देते हो, वह न जाने किधर सोहाग-सेज पर खिसककर गिर जाता है।

"केवल दुर्दिन में, आँधी-पानी के समय —जबकि दसों दिशाएँ, पृथ्वी से लेकर आकाश तक, त्रास से अन्धकाराच्छन्न हो आती हैं – उसकी आँखों में निद्रा अधिक देर तक नहीं रह पाती। उसके गुड़ियों के खेल कहीं-के-कहीं पड़े रह जाते हैं, जोर से तुमसे चिपटकर पड़ी रहती है; इस दुर्दिन की आँधी-पानी में उसका हृदय थर-थर काँपा करता है।

"हम लोग मन-ही-मन डरा करते हैं, कहीं इस अबोध बहू से तुम्हारे चरणों के प्रति अपराध न हो जाय। (किन्तु) तुम मन-ही-मन हँसते हो, शायद यही देखना पसन्द करते हो। खेल के घर के द्वार पर खड़े होकर न जाने क्या परिचय पाते हो? हम लोग झूठमूठ ही डरा करते हैं।

"तुमने मन में समझा है कि एक दिन इसके सारे खेल तुम्हारे श्री-चरणों में लीन हो जायेंगे। यत्नपूर्वक तुम्हारे ही लिए शृंगार करके खिड़की पर जागती रहेगी। उस समय क्षणभर के अदर्शन को सौ युग समझेगी, तुमने यह मन में समझ लिया है।

"ऐ वर, अजी ओ (मेरे) मित्र, तुम खूब जानते हो कि धूल में बैठी हुई यह बाला तुम्हारी ही बहू है। तुमने निर्जन घर में इसी के लिए रत्न का आसन सजा रखा है। ऐ वर, हे मेरे मित्र! तुमने (इसी के लिए) सोने के कटोरे में नन्दनवन का मधु भर रखा है।"

यह कविता रवीन्द्रनाथ का दृष्टिकोण स्पष्ट कर सकती है। हम इस पर कुछ टिप्पणी नहीं करेंगे। अनुवाद करते समय ही इस पर जरूरत से कहीं ज्यादा

अत्याचार किया जा चुका है। केवल पाठकों को इतना स्मरण करा देना चाहते हैं कि वे सेमेटिक खुदा के साथ इस 'मित्रवर' के पार्थक्य को मार्क कर रखें। एक दूसरी कविता और दी जा रही है, ताकि इस सम्बन्ध का दूसरा पहलू भी स्पष्ट हो जाय :

"अजी, वह सुनो, पाहुना (अतिथि) शायद आज आया है, आया है। ऐ बहू, छोड़ दो अपना काम, रख दो। सुन नहीं रही हो, तुम्हारे घर के दरवाज़े पर, जाने कौन, ऐसी भरी साँझ में, साँकल खटखटाकर हिला रहा है! अजी, पैरों का नूपुर न बजने दो, चञ्चल चरणों से दौड़ो नहीं; अचानक लजा जाओगी। अजी वह सुनो, पाहुना आज आया है, आया है। ऐ बहू, छोड़ दो अपना काम, छोड़ दो।

"नहीं जी, यह हवा कभी नहीं हो सकती, कभी नहीं। ऐ बहू, झूठ-मूठ किसका भय कर रही हो? झूठा है यह भय। आँगन में तो कुछ भी अन्धकार नहीं है, आज फागुन की पूनो का आकाश प्रकाश से जगमगा रहा है।

"न हो तो तुम सिर पर घूँघट सरका लो, यदि शंका हो तो हाथ में प्रदीप ले लो। नहीं जी, यह हवा कभी नहीं हो सकती, कभी नहीं।

"न हो तो उसके साथ—उस बटोही के साथ—बातें न करना। एक कोने में—दरवाज़े के कोने में तुम खड़ी हो रहना। यदि कोई प्रश्न करे तो मुँह नीचा करके नम्र नयनों से नीरव हो रहना। देखना, कहीं हाथ के कंकण उस समय झंकार न कर उठें, जबकि तुम उस सज्जन अतिथि को राह दिखाकर लिवा ला रही हो। न हो तो उसके साथ—उस बटोही के साथ—बातें न करना। एक कोने में—दरवाज़े के कोने में—खड़ी हो रहना।

"ऐ बहू, तुम्हारा काम—घर का काम—अभी (समाप्त) नहीं हुआ? वह सुनो, जाने कौन अतिथि आज आया है! पूजा-आरती की डाली तुमने नहीं सजायी क्या? अब भी क्या गोष्ठगृह में प्रदीप जलाना नहीं हुआ? माँग में सिन्दूर-विन्दु नहीं लगाया तुमने? सायंकाल का शृंगार नहीं हुआ? ऐ बहू, क्या तुम्हारा काम—घर का काम—(समाप्त) नहीं हुआ? वह सुनो, जाने कौन अतिथि आज आया है, आज आया है।"

ऊपर की दोनों कविताओं में जिस प्रेम-पेलव-सम्बन्ध का संकेत पाया जाता है, वह किसी तटस्थ व्यक्ति के प्रति असम्भव है। मध्ययुग के ईसाई मरमी सन्तों ने अपनी महिमामयी प्रतिभा के बल पर ईश्वर और जगत् के व्यवधान को भर देने की चेष्टा की है। हिब्रू-शास्त्रों के अनुसार यह संसार ईश्वर के हाथ से खिसक पड़ा हुआ यन्त्र है, अतएव पापभूमि है। इस पापभूमि पर बसनेवाले मनुष्य पापात्मा होते हैं। पाप कोई बाहरी उपादान नहीं है। मर्त्यलोकवासी स्वभावतः ही पापी हैं। हज़रत ईसा, ईश्वर और जगत् के व्यवधान को भरने के लिए अवतीर्ण हुए थे। स्वर्ग से उतरने के कारण मर्त्यलोक में क्रूश से उन्हें विद्ध होना पड़ा था। इसी क्रूश को वह रख गये हैं अपने भक्तों के उद्धार के लिए। इसीलिए स्वर्ग की इच्छा रखनेवाले को इस क्रूश का—परम दुःख का—वरण करना आवश्यक है। मध्ययुग के

मरमियों में इस दुःख-भावना और पापबोध का संस्कार ज्यों-का-त्यों रह गया था। रवीन्द्रनाथ के साथ इन मरमी सन्तों की तुलना करना दोनों के प्रति अन्याय करना है। रवीन्द्रनाथ के मित्र (प्रभु भी नहीं!) अपनी बालिका-वधू के गुड़ियों के खेल को प्यार करते हैं। लोग नाहक डरा करते हैं कि वह इस अबोध बालिका से स्वागत-संवर्धना न पाकर क्रुद्ध होंगे।

इस प्रकार एक तरफ है पाप-बोध, दुःख-वरण और भय; दूसरी ओर है आनन्द, अमृत, प्रेम। इन दो दृष्टिकोणों की तुलना करना व्यर्थ है। तुलना करने-वाले का निराश होना निश्चित है।

भारतवर्ष के वैष्णव भक्त-कवि लीला के द्वारा भगवान् की उपलब्धि करते हैं। भगवान् शक्ति में अनन्त हैं, किन्तु प्रेम के क्षेत्र में सान्त; शक्ति में वह पूर्ण हैं, प्रेम में भिक्षुक; शक्ति में वह उदासीन हैं, प्रेम में आसक्त। सान्त और अनन्त के इस द्वन्द्व ने भारतीय प्रेमकाव्य को एक विचित्र रस से मधुर कर दिया है। वैष्णव-भक्तों की कल्पना में श्रीकृष्ण द्वारका में पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर और वृन्दावन में पूर्णतम हैं। द्वारका उनके ऐश्वर्य की लीला-भूमि है और वृन्दावन प्रेम की। इस वृन्दावन में वह नाचते हैं, गाते हैं, खेलते हैं और सारे वृन्दावन को प्रेम से इतना भर देते हैं कि उनके अन्दर के 'भगवान्-अंश' को वैष्णव-कवि एकदम भूल जाता है। यह प्रेम-लीला भारतवर्ष की साधना में ही सम्भव हुई है।

परन्तु रवीन्द्रनाथ यहीं आकर नहीं रुके।

वैष्णव-कवि ठोस रूप का उपासक है। वह कविता आरम्भ करने के पहले स्वीकार कर लेता है कि उसके वर्ण्य कृष्ण सत्-चित्-आनन्दमय हैं, पूर्ण हैं और राधिका उनकी आह्लादिनी या आनन्ददायिनी शक्ति का प्रतीक हैं। प्रेम की क्रीड़ा-भूमि वृन्दावन में आह्लादिनी शक्ति के बिना कृष्ण अपूर्ण हैं और राधिका भी विच्छिन्न। इतना स्वीकार करके वह अपनी कविता आरम्भ करता है। फिर जहाँ तक सम्भव है, वह इस प्रतीक को ठोस घरेलू रूप में देखता है। वह इस प्रतीक के पीछे सतत लुक्कायित आध्यात्मिक शक्ति को एकदम भूल जाता है। अपनी इस मस्ती में वह प्रेम का अथ से इति तक सबकुछ गा सकता है। वह ज़ोर के साथ इस प्रेम के सांसारिक रूप की घोषणा करेगा, फिर वह आपको अच्छा लगे या बुरा :

> कवि 'ठाकुर' प्रीति करी है गुपाल सों
> टेरि कहौं सुनो ऊँचे गले।
> हमैं नीकी लगी सो करी हमने,
> तुम्हें नीकी लगै न लगै तो भले।

अपनी प्रेम-निष्ठा के विषय में वह किसी गवाही की अपेक्षा नहीं रखता। वह अपने-आपमें ही पूर्ण है। इस वेगवती धारा को कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती—नहीं रोक सकती :

> टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि
> कालिह कोऊ कितनो समुझैहै।

माई री वा मुख की मुसुकानि
सम्हारि न जैहै, न जैहै, न जैहै।

इस प्रकार वैष्णव-साधना केवल प्रेम की साधना है, ज्ञान की आँच से वह गल जाती है। जहाँ किसी तरह का अविश्वास न हो, कहीं सन्देह न हो, वहाँ ज्ञान की ज़रूरत? राधा-माधव के नेह में भी सन्देह? ऐसा भी आदमी है जिसे यह प्रेम अच्छा नहीं लगता? विश्वासपरायण वैष्णव-कवि इस सन्देह को नहीं समझ पायेगा। बोल उठेगा, 'धूल झोंक दो उसकी आँख में जो राधालली और मोहनलाल के नेह में सन्देह करता है—एक मुट्ठी नहीं, हज़ार मुट्ठी, दस हज़ार मुट्ठी!

"राधा मोहन लाल कौ जिन्हें न भावत नेह।
परियो मुठी हजार दस तिनकी आँखिन खेह॥"

परन्तु रवीन्द्रनाथ वैष्णव-लीला को ज्ञान के आलोक में देखते हैं, शास्त्र के आलोक में नहीं। बालिका-वधू के गुरुजन उससे कहते हैं कि "देख, वह तेरा पति है, तेरा देवता है!" पर भोली बालिका यह नहीं समझ पाती। प्रेम की भूमि में भी यदि नियम का शासन हो, तो हो चुका! हमारी सबसे बड़ी Tragedy—दुःखवाद यह है कि हम प्रेम-जैसी चीज़ को नापते हैं सांसारिक नियमों से, वस्तुओं से, और सांसारिक चीज़ों को नापना चाहते हैं प्रेम के माप-दण्ड से। मुकद्दमे की जीत-हार को हम भगवान् की भक्ति से तौलना चाहते हैं और सत्यनारायण की पूजा को हजारों रुपये के व्यय से। रवीन्द्रनाथ में यह बात नहीं पायी जाती है। वैष्णव-भक्तों में भी नहीं पायी जाती। वैष्णव-भक्त ठोस रूप तक ही आकर आनन्दमत्त हो उठते हैं। रवीन्द्रनाथ कुछ और दूर जाते हैं—इस बाह्यरूप के पीछे छिपे हुए अरूप सौन्दर्य की ओर; परन्तु ज्ञान के प्रकाश से वह सन्देह की आग नहीं जला देते। उनका ज्ञान विश्वास का विरोधी नहीं है। वह सूखा तर्क नहीं है, वह सरस ज्ञान है। जो लोग रवीन्द्रनाथ के इस दृष्टिकोण को नहीं समझते, वे उसे अस्पष्ट या रहस्यमय कहते हैं। परन्तु यदि आप विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध प्रेम के महिमामय संयोग का रस लेना जानते हों तो इसमें रहस्य का दुर्भेद्य जाल तो मिलेगा ही नहीं, अधिकन्तु एक अत्यन्त सरस मार्मिक भावना मिलेगी, जो रवीन्द्रनाथ की कविता की जान है, जो इतःपूर्व बहुत ही कम देखने को मिलती है। रवीन्द्रनाथ यहीं पर प्राचीन वैष्णव-कवियों से अलग हो जाते हैं। नहीं कह सकते, दोनों में कौन अधिक सरस है—हमें दोनों ही आनन्द देते हैं, पर रवीन्द्रनाथ की इसी नवीनता ने आज की इस सन्देहपरायण दुनिया को प्रेम का पागल बना दिया है।

आज हम सूरदास और तुलसीदास के प्रेम में सन्देह करने लगे हैं! अपनी छिछली बुद्धि से मीराबाई और रसखान के गम्भीर हृदयों की नाप-जोख करने लगे हैं। विडम्बना की हद हो गयी है! रवीन्द्रनाथ कहते[1] हैं:

1. बँगला गीतों को हिन्दी-अक्षरों में लिखते समय उच्चारण-सौकर्य के लिए कहीं-कहीं परिवर्त्तन कर दिया गया है।

तोरा शुनिस् नि कि शुनिस् नि तार पायेर ध्वनि,
ओइ जे आसे, आसे, आसे।
युगे युगे पले पले दिन रजनी
से जे आसे आसे आसे।
गेयेछि गान जखन जत
आपन मने खेपार मतो
सकल सुरे बेजे छे तार
आगमनी—
से जे आसे, आसे, आसे।

अर्थात् "तुम लोगों ने क्या उसके पैरों की ध्वनि नहीं सुनी ! वह आता है, आता है, (बराबर) आता है। प्रत्येक युग में और प्रत्येक क्षण में वह आता है, आता है, (बराबर) आता है। जब जितने गान मैंने पागल की भाँति अपने-आप गाये हैं, उन सभी स्वरों में उसकी आगमनी बजी है। वह आता है, आता है, (बराबर) आता है।"

कतो कालेर फागुन दिने बनेर पथे
से जे आसे, आसे, आसे।
कत श्रावन अन्धकारे मेघेर रथे
से जे आसे, आसे, आसे।
दुखेर परे परम दुखे
तारि चरन बाजे बुके
सुखे कखन बुलिये से देब
परशमनि।
से जे आसे, आसे, आसे।

अर्थात् "कितने ही काल के फागुन-मास के वनमार्ग से वह आता है, आता है, (बराबर) आता है। कितने ही सावन की अँधियारी में मेघों के रथ पर वह आता है, आता है, (बराबर) आता है। दुःख के बाद दुःख—परम दुःख—आते हैं, उस समय भी उसी के चरणों की ध्वनि हमारे हृदय में बजा करती है और सुख में (न जाने कब) वह पारसमणि से (हृदय को) सहला देता है। वह आता है, आता है, (बराबर) आता है।"

रवीन्द्रनाथ में न तो केवल उपनिषदों का अध्यात्मज्ञान है और न वैष्णवों की प्रेम-लीला। इन दोनों का अभिनव मनोरम सामञ्जस्य ही रवीन्द्रनाथ की कविता है। रवीन्द्रनाथ से अधिक साफ भाषा में अब तक किसी ने नहीं कहा :

"इसीलिए – तुम्हारा आनन्द है मेरे ऊपर, इसीलिए तुम नीचे आये हो; (क्योंकि) हे त्रिभुवनेश्वर, मैं अगर न होता तो तुम्हारा प्रेम मिथ्या (हो गया) होता। मुझे ही लेकर यह मेला है, मेरे हृदय में रस का खेल चल रहा है, मेरे जीवन में विचित्र रूप धारण करके तुम्हारी इच्छा तरंगित हो रही है।"

ताइ तोमार आनन्द आमार परे
तुमि ताइ एशेछो नीचे।
आमाय नइले त्रिभुवनेश्वर
तोमार प्रेम हतो जे मिछे।
आमाय नियें मिलेछे एइ मेला।
आमार हियाय चलछे रसेर खेला
मोर जीवने विचित्र रूप धरे।
तोमार इच्छा तरङ्गिछे।

यही है रवीन्द्रनाथ की प्रेमसाधना। इसमें ईसाई-मरम-भाव (mysticism) खोजना बेकार है। पर है यह मर्म-भाव। भारतवर्ष के कबीर, दादू आदि सन्तों का मर्म-भाव इसी कोटि का है।

जाना है, जाना है, आगे जाना है

कवीन्द्र की कविताओं के पीछे उनकी अन्तरात्मा का एक व्याकुल सुर छिपा हुआ है। वह है---'जाना है, जाना है, सबकुछ छोड़कर आगे जाना है। मैं असीम हूँ, यह सीमा है, दोनों एक दूसरे से मिलने के लिए व्याकुल हैं। यह व्याकुलता केवल क्षण-भर के आनन्द के लिए है। इसके बाद जाना है। कहाँ जाना है? कुछ नहीं मालूम। क्यों जाना है? राम जाने! पर कोई बुला रहा है, सुदूर से कोई व्याकुल भाव से पुकार रहा है, वहीं जाना है। उसी की अभिसार-यात्रा के लिए सीमा का यह सारा आनन्द छोड़कर जाना है।'

'बलाका' के युग को लीजिए। यहाँ रवीन्द्र-साहित्य-समुद्र में एक नया ज्वार आया है। भाषा, भाव, कल्पना, छन्द, संगीत--- सबमें एक प्रचण्ड गति आ गयी है, और उसके साथ ही कवि का वह चिरपरिचित सुर नवीन उल्लास, नवीन सौन्दर्य और नवीन वैभव के साथ प्रकट हुआ है। इस वैभव को समझने के लिए एक बार इसकी पूर्ववर्त्ती कविताओं को इस दृष्टि से देख लेना अनुचित न होगा।

अपने कवि-जीवन के आरम्भिक दिनों में ही रवीन्द्रनाथ ने पथिकवेश में यात्रा की है। उन्होंने कहा है :

"छूटे आय तबे — छूटे आय सबे,
अति दूर—दूर जा'व ;
कोथाय जाइबे ? —कोथाय जाइब !

जानि ना आमरा कोथाय जाइब; —
समुखेर पथ जेथा लये जाय, —"

अर्थात् "तो फिर दौड़ आओ—तुम सभी दौड़ आओ, दूर—बहुत दूर जायेंगे। कहाँ जाओगे—मैं ही कहाँ जाऊँगा ? हम नहीं जानते कहाँ जायेंगे; —यह सामने का रास्ता जहाँ ले जाय !"

इस निरुद्देश यात्रा के आवेग को कवि ने सारे जीवन में अनुभव किया है। एक बार वे कहते हैं :

"जगत् स्रोते भेसे चल, जे जेथा आछ भाइ,
चलेछे जेथा रवि-शशी चल् रे सेथा जाइ।"

अर्थात् "भाई, जो जहाँ हो, वहीं से जगत्स्रोत में बह चलो। जहाँ ये रवि और शशि जा रहे हैं, चलो, वहीं जायँ।"

अपनी 'निरुद्देश यात्रा' नामक कविता में 'विदेशिनी' के अभिसार के लिए चलते-चलते वे उत्सुकता-सहित पूछते हैं :

"आर कत दूर निये जाबे मोरे
हे सुन्दरी ?
बलो कौन् पार भिड़िबे तोमार
सोनार तरी ?
जखनि शुधाइ ओगो विदेशिनी,
तुमि हासो शुधू मधुर हासिनी,
बुझिते ना पारि की जानि की आछे
तोमार मने।
नीरवे देखाओ अंगुलि तुलि,
आकूल सिन्धु उठिछे आकुलि
दूरे पश्चिमे डुबिछे तपन
गगन कोने।
की आछे हेथाय —चलेछि किसेर
अन्वेषणे ?"

अर्थात् "और कितनी दूर मुझे ले जाओगी हे सुन्दरी ! बताओ, किस पार तुम्हारी सोने की नैया जाकर लगेगी ? हे विदेशिनी, मैं जभी पूछता हूँ, तभी हे मधुरहासिनी, तुम केवल हँसती हो, समझ नहीं सकता कि तुम्हारे मन में है क्या ! चुपचाप उँगली उठाकर दिखाती हो, यह अकूल समुद्र व्याकुल हो उठता है, दूर पश्चिम आकाश के कोने में सूर्य डूब रहा है। वहाँ क्या है, किसके अन्वेषण को चले हैं हम ?"

कुछ ठीक नहीं, कहाँ जाना है; यह खेवा (पाड़ि) दो-चार दण्ड का नहीं है, अकूल समुद्र पार करना है। इसीलिए—

"सकाल वेलाय घाटे जे दिन
भासिये दिलेम नौकाखानि,
कोथाय आमार जेते ह्वे
से कथा कि किछुइ जानि ?"

अर्थात् "सवेरे घाट पर जिस दिन नाव छोड़ दी थी, उस दिन क्या यह बात मैं कुछ भी जानता था कि मुझे कहाँ जाना होगा ?"

और,

"दुलुक तरी ढेउयेर प'रे
ओरे आमार जाग्रत प्राण !
गाओ रे आजि निशीथ राते
अकूल पाड़िर आनन्द गान।
जाक्ना मुछे तटेर रेखा,
नाइ वा किछु गेल देखा,
अतल तारि दिक् ना साड़ा
बाँधनहारा हवार डाके।
दोसर छाड़ा एकार देशे
एके बारे एक निमेषे
लओ रे दुके दु हात मेलि
अन्तविहीन अजानाके।"

अर्थात् "अरे ओ मेरे जागते प्राण ! हिलने दो न इस तरी को तरंगों पर। गा लो न आज निशीथ रात्रि में अकूल खेवे का आनन्द-गान। मिट जाने दो न उस तट की रेखाओं को, कुछ न देखा जा सकेगा, न सही; यह अतल जल देवे न जवाब— इस बन्धनहीन होने की पुकार पर !

"जहाँ दूसरा नहीं है, उस एकान्त देश में, एकदम एक निमेष में, हृदय पर दोनों हाथ रखकर मिला लो अन्तविहीन अज्ञात को !"

इस भाव की इतनी कविताएँ हैं कि उनको उद्धृत करने से करीब-करीब सम्पूर्ण रवीन्द्र-साहित्य को उद्धृत करना पड़ेगा। 'वर्षशेष' नामक प्रसिद्ध कविता में वे कहते हैं :

"चाबो ना पश्चाते मोरा, मानिब ना बन्धन क्रन्दन,
हेरिब ना दिक्,
गनिब ना दिन-क्षण, करिब ना वितर्क विचार,
उद्दाम पथिक्।"

अर्थात् "हम लोग पीछे मुड़कर नहीं देखेंगे, बन्धन-क्रन्दन कुछ भी नहीं मानेंगे, दिशा नहीं देखेंगे, दिन-क्षण नहीं गिनेंगे, वितर्क-विचार नहीं करेंगे—हम तो उद्दाम पथिक हैं।"

सचमुच कवि ने इस प्रधान सुर को उद्दाम पथिक की भाँति ही गाया है।

केवल जाना है, जाना है, आगे जाना है :

"एइ मत चले चिरकाल गो
शुधू जावा, शुधू आसा !"

अर्थात् "अजी, इसी तरह चिरकाल चलकर केवल जाना है, केवल आना है।"

कवि की यह यात्रा नयी नहीं है। तभी वे कहते हैं :

"कबे आमि बाहिर हलेम तोमारि गान गेये—
से तो आज के नय, से तो आज के नय।"

अर्थात् "तुम्हारा गान गाकर हम न जाने कब बाहर निकले थे; वह बात आज की नहीं—आज की नहीं है।"

"ओरे माझी ओरे आमार
मानव-जीवन-तरीर माझि
सुन्ते कि पास् दूरेर थेके
पारेर बाँशि उठ्छे बाजि।"

अर्थात् "अरे मल्लाह, अरे ओ मेरे मानव-जीवन की नैया के मल्लाह, क्या तू सुन रहा है, दूर से उस पार की वंशी बज उठी है ?"

रवीन्द्र-साहित्य में इस प्रकार की नाव और मल्लाह, खेया और पाड़ि की कविताओं की संख्या बहुत अधिक है। सबमें एक ही सुर है—जाना है, जाना है, उस सुदूर की वंशी की पुकार पर जाना है। यह यात्री ऐसा नहीं है, जो कोई विघ्न-बाधा से डर जाय :

"यात्री आमि ओरे
पारबे ना केउ राख्ते आमाय ध'रे;"

अर्थात् "मैं यात्री हूँ, मुझे कोई भी पकड़कर रोक नहीं सकता। कोई नहीं रख सकता। अगर नाव न मिले, तो भी यात्रा नहीं रुकेगी।"

"जे दिल झाँप भवसागर माँझ खाने
कूलेर कथा भावे ना से
चायना कभू तरीर आशे
आपन सुखे साँतार काटा सेइ जाने
भवसागर-माझ खाने।"

अर्थात् "जो भवसागर में कूदा है, वह किनारे की बात नहीं सोचता, तरी की आशा में ताका नहीं करता। वही जानता है मस्तमौला की तरह तैरना इस भवसागर में !"

इस निरुद्देश यात्रा का कोई गन्तव्य स्थान नहीं है। इसमें कहीं विराम नहीं, विश्राम नहीं। कभी-कभी रास्ते में थोड़ी देर रुक जाना पड़ता है और बस ! नहीं तो इस महायात्रा का कहीं अवसान नहीं है।

"पथेर शेषे मिल्बे वासा
से कभू नय आमार आशा,

जा, पाब ता' पथेइ पाबो,
दुयार आमार खुलिये दाओ ।"

अर्थात् "रास्ता खतम हो जाने पर कहीं वासस्थान मिलेगा, यह मैंने कभी आशा नहीं की । जो कुछ मिलेगा, वह रास्ते में ही मिलेगा । ऐसी हालत में रुद्ध होकर रहना बुद्धिमत्ता नहीं है, खोल दो दरवाजा !"

उसके यात्रा-साधन भी सुनिए—

झड़ एसेछे एबार ओरे
झड़के पेलेम साथी ।
प्रथम बाहिर ह'ये छिलेम
प्रथम आलोर रथे ।"

अर्थात् "तूफान साथी बनकर आया है, और प्रथम आलोक के रथ पर ही मैं बाहर हुआ था ।"

यह चलना कुछ दुःखकर नहीं है । यह तो स्वभाव है । लुट जाने में, दौड़ पड़ने में, चल देने में कवि को आनन्द है :

"लुटे जाबार छुटे जाबार
चल्बारइ आनन्दे ।"

'बलाका' पुस्तक में यह सुर अधिक स्पष्ट और अधिक दृढ़ होकर प्रकट हुआ है । 'बलाका' को अगर 'गति' का श्रेष्ठ काव्य कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी । आगे दो-चार कविताओं का हिन्दी रूपान्तर दिया जा रहा है जो हमारे कथन को परिपुष्ट कर सकता है ।

"हम चलते हैं सामने की ओर, कौन है जो हमें बाँधेगा ? जो लोग पीछे के खिचाव में पड़कर पिछड़ गये हैं, वे रोयेंगे, रोयेंगे । हम रक्त-चरणों से बाधा छिन्न करेंगे, धूप और छाया में दौड़कर चलेंगे । जो अपने ही शरीर को जकड़कर केवल फन्दा ही फाँदा करेंगे; वे रोयेंगे, रोयेंगे ।

"रुद्र ने हमें पुकारा है, अपनी तुरही बजाकर । मस्तक पर पुकारा है मध्याह्न के सूर्य ने । मन हमारा सारे आकाश में व्याप्त हो गया है, पागल हो गया हूँ आलोक के नशे में । वे दरवाजा बन्द किये हैं, उनकी आँखें चौंधिया जायेंगी । वे रोयेंगे, रोयेंगे ।

"अरे, हम सागरों और पर्वतों को जीतेंगें, उन्हें लाँघ जायेंगे । अकेले पथ पर हम नहीं डरते, साथ में हमारा साथी घूमा करता है । अपने नशे में आप ही मतवाले होकर उन्होंने सीमा बाँध रखी है । घर छोड़कर आँगन जाते उन्हें रुकावट पड़ेगी, पड़ेगी । वे रोयेंगे, रोयेंगे !

"जगेगा ईशान, बजेगा विषाण (रणसिंवा) और जल जायेगा सारा बन्धन : हवा में विजय-निशान उड़ेगा, नष्ट हो जायेगी सारी द्विधा और सारा द्वन्द्व । मृत्यु-सागर-मन्थन करके हम अमृतरस हर लायेंगे, और वे जीवन से चिपटे रहकर मरण-साधन साधेंगे । वे रोयेंगे, रोयेंगे ।"

नीचे जो कविता दी जा रही है, वह केवल गति से ही सम्बन्ध नहीं रखती, वह संचय की विपुल व्यर्थता की ओर भी इशारा करती है। भगवान के तीन रूप—सुन्दर, प्रेमिक और रुद्र की सार्थकता और यात्री मनुष्यों की व्यर्थ-लोलुपता का सुन्दर चित्र इसमें प्रतिबिम्बित हुआ है।

"हे मेरे सुन्दर, जाते-जाते रास्ते के प्रमोद में मतवाले होकर वे—न-जाने वे लोग कौन हैं—जब तुम्हारे शरीर पर धूल डाल जाया करते हैं, तो मेरा अन्तर हाय-हाय कर उठता है! रोकर कहता हूँ, हे मेरे सुन्दर, आज तुम दण्डधर हो जाओ, विचार करो!—इसके बाद देखता हूँ, यह क्या! खुला है तुम्हारे विचार-घर का दरवाजा—नित्य चलता है तुम्हारा विचार। प्रभातकाल का आलोक चुपचाप उनके कलुष रक्त-नयनों पर पड़ता है; शुभ्र वनमल्लिका वन सुवास स्पर्श करता है लालसा से उद्दीप्त निःश्वास को; सन्ध्यारूपी तपस्विनी के हाथ से जलायी हुई सप्तर्षियों की दीपमालिका उनकी मत्तता की ओर सारी रात देखा करती है—हे सुन्दर, तुम्हारे शरीर पर जो धूल डालकर चले जाते हैं! हे सुन्दर, तुम्हारा विचार-घर है पुष्प-वन में, पवित्र हवा में, तृण-पुंज में, पतंग-गुंजन में, वसन्त के पक्षियों के कूजन में, तरंग-चुम्बित तीर में, मर्मर ध्वनि करते हुए पल्लवों के व्यजन में।

"प्रेमी मेरे! वे घोर निर्दय हैं, दुर्वार है उनका आवेग। अपनी नग्न वासना को सजाने के लिए वे छिपते फिरते हैं तुम्हारा आभरण हरण करने को। उनका आघात जब प्रेम के सर्वांग में लगता है, तो मैं उसे सह नहीं सकता; आँसू-भरी आँखों से रोकर तुम्हें पुकारता हूँ—खड्ग धारण करो, प्रेमी मेरे! विचार करो! इसके बाद देखता हूँ, यह क्या, कहाँ है तुम्हारा विचार-घर? माता का स्नेहाश्रु झड़ पड़ता है उनकी उग्रता पर; प्रणयी का असीम विश्वास उनके विद्रोहशूल से क्षत वक्षःस्थल को ग्रास कर लेता है। प्रेमी मेरे, तुम्हारा वह विचारागार है। विनिद्र स्नेह की स्तब्ध निःशब्द वेदना में, सती की पवित्र लज्जा में, मित्र के हृदय के रक्तपात में, राह देखनेवाले प्रणय की विच्छेद रात्रि में, अश्रुलुप्त करुणा से परिपूर्ण क्षमा के प्रभात में!

"हे मेरे रुद्र, वे लोभग्रस्त हैं, मोहग्रस्त हैं, तुम्हारे सिंहद्वार को पार करके, छिपकर बिना बुलाये वे सेंध मारकर तुम्हारे भाण्डार में चोरी करते हैं। वह चुराया हुआ धन, वह दुर्वह भार, प्रतिक्षण उनके मर्म को दला करता है, उतारने की शक्ति नहीं रह जाती। रोकर तब मैं तुमसे कहता हूँ : क्षमा कर दो इन्हें, हे मेरे रुद्र! आँखें फाड़कर देखता हूँ जिस रूप में वह क्षमा आती है। वह आती है प्रचण्ड आँधी के रूप में; उसी आँधी में वे धूलिसात् हो जाते हैं। चोरी का वह प्रकाण्ड बोझ खण्ड-खण्ड होकर उस हवा में न-जाने कहाँ उड़ जाता है। हे मेरे रुद्र, तुम्हारी क्षमा है गरजती हुई वज्राग्नि की शिखा में, सूर्यास्त के प्रलयलेख में, रक्त के वर्षण में, अकस्मात् संघात के प्रति घर्षण में!

"अरे दीन, अरे ओ उदासीन, दूर से क्या सुन रहा है वह मृत्यु का गर्जन,

क्रन्दन का वह कोलाहल, लक्ष-लक्ष वक्षस्थल से मुक्त वह रक्त का कल्लोल ! आग की बाढ़ की तरंगों का वेग, विषरूपी श्वास-झटिका के मेघ, भूतल और आकाश को मूर्च्छित और विह्वल करनेवाला प्रत्येक मृत्यु का आलिंगन—इन्हीं के बीच, रास्ता चीरते हुए नवीन समुद्र के किनारे, नैया लेकर, पार होना है—देख वह, कर्णधार बुला रहा है, आदेश गया है—अबकी बार का, यह बन्दरगाह का बन्धन-काल समाप्त हुआ, पुराने संचय को लेकर बार-बार उसी की खरीद-बिक्री अब अधिक न चलेगी। (ऐसा करने से) वंचना बढ़ जाती है, सत्य की सारी पूँजी समाप्त हो जाती है—शायद इसीलिए कर्णधार बुला रहा है, 'तूफान के बीच नये समुद्र के तीर की ओर, नाव खेनी होगी।' इसीलिए, वह देख, जल्दी-जल्दी घर छोड़कर वह खेवैया लग्गी लिये दौड़ा आ रहा है।

" 'नयी उषा का स्वर्णद्वार खुलने में और कितनी देर है ?' अकस्मात् जगकर ये सभी भीत-आर्त्तस्वर से पूछ रहे हैं। आँधी के पुंजित मेघ की कालिमा में प्रकाश ढक गया है—कोई तो नहीं जानता रात है या नहीं; दिगन्त में फेनिल तरंगें उठ रही हैं—उसी में कर्णधार पुकार रहा है—'नये समुद्र के तीर नैया खेनी होगी।' कौन हैं ये जो बाहर निकल आये ? पीछे माता रो रही है, दरवाजे पर खड़ी प्रेयसी आँख मूँद रही है। आँधी के गर्जन में विच्छेद का हाहाकार बज रहा है; घर-घर आराम की सेज सूनी हो गयी। आज्ञा हुई है—'यात्रियो, यात्रा करो, यात्रा करो, बन्दरगाह का समय समाप्त हुआ।'

"मृत्यु को भेद करके हिल उठी है यह नाव। किस घाट पर पहुँचेगी, कब पार होगी—पूछने का तो समय न मिला। थोड़े में यही जाना है कि तरंग से संघर्ष करके नाव खे ले जाना है। पाल को खींच रखना होगा, पतवार को जोर से पकड़े रहना होगा; और फिर बचें या मरें, नाव खे ले जाना होगा। आदेश आया है—बन्दरगाह का समय समाप्त हुआ।

"अज्ञात समुद्र के तीर पर अज्ञात है वह देश—वहीं के लिए, आँधी के प्रत्येक स्वर में, शून्य के कोने-कोने में, प्रचण्ड आह्वान जग उठा है। मृत्यु का गान, नव-जीवन के अभिसार के मार्ग में ध्वनित हो उठा है; घोर अन्धकार में, पृथ्वी का जितना दुःख है, जितना पाप है, जितना अमंगल है, जितना अश्रुजल है, जितनी हिंसा और जितना हलाहल है—सभी किनारा लाँघकर, ऊपर के आकाश पर व्यंग करते हुए तरंगित हो उठें हैं। तो भी नाव खे ले चलनी होगी, सब ठेल-ठालकर पार होना होगा—कान में लेकर निखिल (विश्व) का हाहाकार, सिर पर लेकर उन्मत्त दुर्दिन, चित्त में लेकर अन्तहीन आशा। हे निर्भीक, हे दुःख अभिहत ! अरे भाई, तुम किसकी निन्दा करते हो ? सिर झुका दो ! यह हमारा-तुम्हारा पाप है। विधाता के वक्षस्थल में यह ताप बहुत दिनों से जमा था, जो आज वायव्य कोण में घनीभूत हो गया है—भीरु का पुंजीभूत भय, प्रबल का उद्धत अन्याय, लोभी का निष्ठुर लोभ, वंचित का नित्य का चित्तक्षोभ, जाति-अभिमान, मनुष्य की अधिष्ठात्री देवी का प्रभूत असम्मान, आज विधाता का वक्ष विदीर्ण करके आँधी के दीर्घ श्वास

के साथ जल और स्थल में चक्कर लगा रहा है।

"टूट पड़े आँधी, जगे वह तूफान और निःशेष हो जाय निखिल (चराचर) का सारा वज्रबाण ! रख दो निन्दावाणी, रख दो अपने साधुत्व का अभिमान, केवल एक मन से यह प्रलय-पयोधि पार करो---नयी सृष्टि के उपकूल पर नयी विजय-ध्वजा फहराकर !

"नित्य ही दुःख को देखा है, नाना छल से पाप को देखा है; जीवन-स्रोत में प्रतिक्षण अशान्ति का आवर्त्त देखा है। समस्त पृथ्वी में व्याप्त होकर मृत्यु आँख-मिचौनी खेल रही है। बह जाते हैं वे लोग, हट जाते हैं और क्षण-भर के लिए जिन्दगी की मखौल उड़ा जाते हैं। देखो, आज उनका अभ्रभेदी विराट् स्वरूप ! इसके बाद, खड़े हो जाओ सामने, और बोलो अकम्पित हृदय से—'नहीं डरता तुझसे; प्रतिदिन इस संसार में तुझे जीना है। तुझसे हम अधिक सत्य हैं—इस विश्वास पर देख, प्राण दे दूंगा ! शान्ति सत्य है, शिव सत्य है और सत्य है वह चिरन्तन एक !'

"यदि मृत्यु के अन्तर में प्रवेश करके अमृत नहीं खोज पायें, यदि दुःख के साथ जूझकर सत्य न मिले, पाप यदि अपने प्रकट होने की लज्जा में न मर जाय, यदि अहंकार अपनी असह्य सज्जा से न टूट जाय, तब ये घर छोड़नेवाले, शत-शत प्रपात-आलोक की ओर लाख-लाख नक्षत्रों की भाँति किस आश्वासवाणी पर मरण की ओर दौड़ पड़ेंगे ? वीर का यह रक्तस्रोत, माता की यह अश्रुधारा, इसका जो मूल्य है, वह क्या पृथ्वी की धूल में खो जायेगा ? स्वर्ग क्या नहीं खरीद लिया जायेगा ? विश्व का भाण्डारी इतना ऋण नहीं चुकायेगा ? रात की वह तपस्या क्या दिन न ले आयेगी ? निदारुण दुःख-रात्रि में, मृत्यु के घात में, जब मनुष्य ने अपनी मर्त्य-सीमा चूर्ण की, तो क्या देवता की अमर महिमा दिखायी न देगी ?

"अरे मुसाफिर, वह देख, पुराने वर्ष की जीर्णक्लान्त रात्रि कट गयी। तेरे पथ पर तप्त रौद्र (धूप), रुद्र के भैरव गान का आह्वान लाया है। वह सुदूर की ओर, रास्ते के थके, तीव्र, दीर्घमान सुर में कुछ बज रहा है, मानो रास्ता भूले हुए किसी वैरागी का सहारा हो !

"अरे ओ मुसाफिर, वह धूसर पथ की धूल तेरी धात्री है, चलने से उत्क्षिप्त धूलि-राशि के अंचल में तुझे लेकर, घूर्णापाक (बवण्डर) के वक्षस्थल में ढककर इस पृथ्वी के बन्धन से हरण करके वह ले जाय तुझे दिगन्त के पार दूसरे दिगन्तर में ! घर का मंगलशंख मेरे लिए नहीं है, अरे, सन्ध्या का दीपालोक भी नहीं, प्रेयसी का अश्रुपूर्ण नयन भी नहीं !

"रास्ते-रास्ते कालवैशाखी का आशीर्वाद, श्रावणरात्रि का वज्र-निनाद, अपेक्षा कर रहा है। रास्ते-रास्ते काँटे की अभ्यर्थना है, रास्ते-रास्ते गुप्त-सर्प का गूढ़ फण है। जयशंख तेरी निन्दा करेगा, यही तेरे लिए रुद्र का प्रसाद है।

"क्षति तेरे चरणों में अमूल्य उपहार लाकर रख देगी। तूने अमृत का अधिकार चाहा था—वह तो सुख नहीं है, अरे, वह तो विश्राम नहीं है, वह शान्ति नहीं, वह

आराम भी नहीं है! मृत्यु तुझे आघात करेगी, द्वार-द्वार पर तू प्रवेश निषिद्ध पायेगा, यही तो तेरा नये वर्ष का आशीर्वाद है, यही तेरे लिए रुद्र का प्रसाद है। भय नहीं, भय नहीं, ओ मुसाफिर, गृहत्यक्ता, हृत-दिशा अलक्ष्मी तेरी वरदात्री है।

"अरे मुसाफिर, वह देख, पुराने वर्ष की जीर्ण-क्लान्त रात्रि कट गयी! आया है वह निष्ठुर, हो जाने दे द्वार का बन्धन दूर, अरे, हो जाने दे उस मद के पात्र को चूर्ण-विचूर्ण! मैं नहीं समझता, नहीं पहचानता, नहीं जानता उसे, पकड़ उसका हाथ---ध्वनित हो उठे तेरे हृत्कम्पन में उसकी दीप्त वाणी! अरे ओ मुसाफिर, वह पुरानी रात कट गयी, कट जाने दे उसे!

"पुरातन वत्सरेर जीर्ण क्लान्त रात्रि
ओइ केटे गेल ओरे यात्री!
एसेछे निष्ठुर,
होक् रे द्वारेर बन्ध दूर,
होक् रे मदेर पात्र दूर!
नाइ बूझि नाइ चिनि नाइ ता'रे जानि,
धर ता'र पाणि; —
ध्वनिया उठ्लक् तव हृत्कम्पने ता'र दीप्त वाणी!
ओरे यात्री
गेछे केटे जाक् केटे पुरातन रात्रि!"

रूप और अरूप, सीमा और असीम

इस स्थान पर कवि के 'रूप और अरूप' तथा 'सीमा और असीम' के विषय में कुछ विचार उनके विविध लेखों से संग्रह किये जाते हैं। ये विचार कवि की कविता को समझने में सहायक होंगे। वस्तुतः रूप और अरूप के सम्बन्ध में जितना विचार कविवर ने किया है, उतना शायद ही और किसी कवि ने किया हो। 'रूप और अरूप' तथा 'सीमा और असीम' के इस सर्वांगीण विचार ने ही कविवर की काव्य-सम्पत्ति को नाना वैचित्र्यों से समृद्ध किया है।

'रूप और अरूप' नामक प्रबन्ध (1916) में कवि ने लिखा था :

"काल से होकर देखो, तो सारे पदार्थ प्रवहमान हैं। इसीलिए हमारे देश में विश्व को जगत् कहते हैं—संसार कहते हैं। क्षण-भर के लिए भी वह स्थिर नहीं है—वह केवल चलता है, संसरण करता है।

"जो केवल चलता है, संसरण करता है, उसका रूप हम देखते कैसे हैं ? रूप में तो एक स्थिरता है। जो चीज चल रही है, उसको, मानो वह नहीं चल रही है, इस तरह न देखने से हम देख ही नहीं पाते। लट्टू जब वेग से घूमता रहता है, तो हम उसे स्थिर-सा देखते हैं। मिट्टी फोड़कर जो अंकुर निकला है, वह प्रतिक्षण ही परिवर्त्तित हो रहा है, और इसीलिए उसकी परिणति होती है। किन्तु जब उसकी ओर देखते हैं, वह कुछ भी व्यस्तता नहीं दिखलाता, मानो वह अनन्तकाल तक इसी प्रकार का अंकुर बना रहकर प्रसन्न रहेगा, मानो उसे बड़े होने की कोई इच्छा ही नहीं। हम उसे परिवर्त्तन-भाव से नहीं देखते, स्थिति-भाव से देखते हैं।

"किन्तु गति को जो हम इस स्थिति से होकर जानते हैं, यह स्थिति का तत्त्व भी तो हमारा अपना गढ़ा हुआ नहीं है। हमें गढ़ने की शक्ति ही कहाँ है ? इसीलिए गति ही सत्य है, स्थिति सत्य नहीं; यह बात हम कैसे कह सकते हैं। असल में हम सत्य को ही ध्रुव और नित्य कहा करते हैं। सारी चंचलता के भीतर एक स्थिति है, इसलिए उस विधृतिसूत्र में हम जो कुछ भी जानते हैं, जानते हैं; नहीं तो जानने की यह बला भी न होती—जिसे माया कह रहे हैं, उसे माया ही नहीं कह सकते, अगर उसमें सत्य की उपलब्धि न होती।"

गति और स्थिति के इस सम्बन्ध पर कवि ने 'हमारा संसार' नामक प्रबन्ध में, अधिक सरस भाषा में इसी बात को कहा था। इस तात्त्विक विवेचन को अग्रसर करने के पहले, हम उसका एक अंश उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते :

"पृथ्वी की रात्रि मानो उसके बिखरे हुए केश हैं, जो पीठ को ढँककर एड़ी तक लटक गये हैं। किन्तु सौर-जगत्-लक्ष्मी के शुभ्र ललाट पर यह काला तिल भी नहीं है। अगर उन तारिकाओं में से कोई भी अपनी साड़ी के एक छोर से कालिमा के इस नन्हे-से कण को पोंछ देती, तो उसके आँचल में जो दाग लगता, वह बड़े-से-बड़े निन्दक की आँखों को भी न दिखायी पड़ता।

"यह मानो आलोक-माता की गोद का काला शिशु है—अभी-अभी जन्मा है। लाख-लाख तारिकाएँ निर्निमेष भाव से इस धरणी-रूपी पालने के सिरहाने खड़ी हुई हैं। वे ज़रा भी हिलती-डुलती नहीं, कहीं नींद न टूट जाये—

"मेरे वैज्ञानिक मित्र से अधिक न सहा गया। उन्होंने कहा—तुम किस प्राचीन काल के वेटिंगरूम की आरामकुर्सी पर पड़े-पड़े झूम रहे हो, जबकि उधर बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की रेलगाड़ी सीटी बजाकर दौड़ी जा रही है। ये तारिकाएँ हिलती नहीं, यह तुम कैसी बात कहते हो ? यह तो विशुद्ध कविता है !

"हमारी इच्छा थी यह कहने की कि तारिकाएँ जो चल रही हैं, यह तुम्हारी विशुद्ध वैज्ञानिकता है। मगर जमाना ऐसा खराब है कि यह बात जय-ध्वनि की भाँति ही सुन पड़ती।

"हमारे कवित्व के कलंक को स्वीकार कर लिया गया। इस कलंक की कालिमा भी पृथ्वी की रात के समान ही है। इसके सिरहाने के पास विज्ञान का जगद्विजयी

आलोक खड़ा है; किन्तु वह इसके शरीर पर हाथ नहीं उठाता। स्नेहपूर्वक कहता है, अहा, यह ज़रा स्वप्न देखो !

"हमारा वक्तव्य यह है कि हम साफ देखते हैं कि तारिकाएँ चुपचाप खड़ी हैं। इसके ऊपर तो तर्क नहीं चल सकता।

"विज्ञान कहता है—तुम अत्यधिक दूर हो, इसीलिए देखते हो कि तारिकाएँ स्थिर हैं। किन्तु यह बात सत्य नहीं है।

"मैं कहता हूँ—तुम अत्यन्त नजदीक से ताक-झाँक किया करते हो, इसीलिए कहते हो, वे चलती हैं; किन्तु यह बात सच नहीं है।

"विज्ञान आँखें लाल करके कहता है—सो कैसी बात ?

"मैं भी आँखें लाल करके जवाब देता हूँ—अगर नजदीक का पक्ष लेकर तुम दूर को गाली दे सकते हो, तो मैं भी भला दूर का पक्ष लेकर नजदीक को क्यों नहीं गाली दे सकता ?

"विज्ञान कहता है, जब दो पक्ष एकदम उलटी बातें कहते हों, तो उनमें से एक को ही मानना पड़ता है।

"मैं कहता हूँ, तुम यह बात तो मानते नहीं। पृथ्वी को गोलाकार कहते समय तुम अनायास ही दूर की दुहाई दिया करते हो। उस समय कहते हो, हम नजदीक हैं, इसीलिए पृथ्वी समतल जान पड़ती है। उस समय तुम्हारा तर्क यह रहता है कि नजदीक से अंश को ही देखा जाता है, दूर न खड़ा होने से समग्र को नहीं देखा जा सकता···

"हम जब सारी तारिकाओं को परस्पर में सम्बन्धित देखते हैं, तब देखते हैं कि वे अविचल हैं, स्थिर हैं। तब वे मानो गजमुक्ता के हार हैं। ज्योतिष-विद्या जब इस सम्बन्ध-सूत्र को विच्छिन्न करके किसी तारा को देखती है, तब वह देखती है कि वह चल रही है—उस हार से छिन्न मुक्ताएँ बिखरकर लुढ़कने लगती हैं !"

फिर गति और स्थिति के इस गोरखधन्धे का समाधान क्या है ? 'रूप और अरूप' नामक प्रबन्ध में उपनिषद के एक मन्त्र को उद्धृत करके (एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासेन गार्गिनिमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतवः सम्वत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति) कवि कहते हैं :

"अर्थात्, इन सारे निमेष और मुहूर्तों को हम एक तरफ तो देखते हैं कि चल रहे हैं और दूसरी ओर वह निरवच्छिन्नता-सूत्र में बँधे हैं। इसीलिए काल विश्व-चराचर को छिन्न-भिन्न नहीं करता जा रहा है, बल्कि सब ओर से पकड़कर, गूँथ-कर, पिरोकर चल रहा है। वह संसार को चकमक की चिनगारी के समान फेंकता नहीं, अत्यन्त योगयुक्त दीप-शिखा की भाँति प्रकाशित कर रहा है। अगर ऐसा न होता, तो हम मुहूर्त-भर को भी न जान सकते। क्योंकि हम एक मुहूर्त के साथ दूसरे का योग ही जान पाते हैं, विच्छिन्नता को नहीं। इस योग का तत्त्व ही स्थिति का तत्त्व है। यही सत्य है, यही नित्य है।

"जो अनन्त सत्य अर्थात् अनन्त स्थिति है, वह अपने को अनन्त गति में ही प्रकाशित करता है। इसीलिए सभी प्रकाश की दो दिशाएँ हैं। वह एक ओर बद्ध है, नहीं तो प्रकाश ही न हो पाता, और दूसरी ओर मुक्त है, नहीं तो अनन्त का प्रकाश न हो पाता। एक तरफ वह हो चुका है और एक तरफ उसका होना समाप्त नहीं हुआ, इसीलिए वह केवल चलता ही है। इसीलिए जगत् जगत् (गतिशील) है, संसार संसार (संसरणशील) है। इसीलिए कोई विशेष रूप अपने-आपको चरम-भाव से बद्ध नहीं करता—यदि करता, तो अनन्त के प्रकाश को बाधा पहुँचाता।"

गति यदि रुद्ध होकर क्षण-भर के लिए खड़ी हो जाती, तो 'विश्व पुंजीभूत वस्तु-पर्वतों से आच्छन्न हो जाता।' 'बलाका' की कविताओं में गति और स्थिति के इन पहलुओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। कवि के शब्दों में—"जब तक मैं स्थिर होकर रहता हूँ, तब तक जमा रखता हूँ, जितना कुछ वस्तुभार है। तब तक मेरी आँखों में नींद नहीं रहती; तब तक इस विश्व को कीड़े की तरह काट-काट-कर खाता हूँ; तब तक केवल नये-नये दुःखों का बोझा ही बढ़ता जाता है। यह जीवन सतर्क बुद्धि के भार से प्रतिक्षण संशय के शीत से, केश पक जाने के कारण वृद्ध होता रहता है :

"जत क्षण स्थिर ह'ये थाकि
तत क्षण जमाइया राखि
जत किछु वस्तुभार।
तत क्षणे नयने आमार
निद्रा नाइ;
तत क्षण ए विश्वेरे केटे-केटे खाइ
कीटेर मतन;
तत क्षण
दुःखेर बोझाइ शुधू बेड़े जाय नूतन-नूतन;
ए जीवन
सतर्क बुद्धिर भारे निमेषे-निमेषे
वृद्ध हय संशयेर शीते पक्व केशे।"

किन्तु "जब चलता रहता हूँ तो उस चलने के वेग में, संसार का आघात लगकर, आवरण स्वयं छिन्न हो जाता है, वेदना का विचित्र संशय क्षय होता रहता है। पुण्य होता हूँ उस चलने के स्नान से, चलने के अमृत-पान से, नवीन यौवन प्रतिक्षण विकसित हो उठता है :

"जखन चलिया जाइ से चलार वेगे
विश्वेर आघात लेगे

आवरण आपनि जे छिन्न हय,
वेदनार विचित्र संचय,
ह'ते थाके क्षय।
पुण्य हइ से चलार स्नाने
चलार अमृत पाने
नवीन यौवन
विकशिया उठे प्रतिक्षण।"

"अजी, मैं यात्री हूँ, इसीलिए, चिर दिन सामने की ओर ही देखता हूँ, व्यर्थ ही मुझे पीछे की ओर क्यों बुलाते हो ? मैं तो मृत्यु के गुप्त प्रेम में हूँ, घर के कोने में तो रुका नहीं रहूँगा। मैं चिरयौवन को माला पहनाऊँगा—हाथ में मेरे उसी की तो वरण-डाली है। फेंक दूँगा और सब भार, वार्द्धक्य का स्तूपाकार आयोजन !

"ओगो आमि यात्री ताइ—
चिर-दिन सम्मुखेर पाने चाइ।
केन मिछे
आमारे डाकिस् पिछे ?
आमि त मृत्युर गुप्त प्रेमे
र'बो ना घरेर कोने थेमे।
आमि चिर यौवनेरे पराइब माला,
हाते मोर तारि त बरण डाला।
फेले दिब आर सब भार
वार्द्धक्येर स्तूपाकार आयोजन !"

"अरे मन, यात्रा के आनन्द-गान से पूर्ण है आज यह अनन्त आकाश। तेरे रथ पर विश्वकवि गान गा रहा है, गान गाते हैं, चन्द्र-तारा-सूर्य :

"ओ रे मन,
यात्रार आनन्द गाने पूर्ण आजि अनन्त गगन।
तोर रथे गान गाय विश्व कवि,
गान गाय चन्द्र तारा रवि।"

संसार में रूप के रूप में जो कुछ अचल या स्थित दिखायी दे रहा है, वास्तव में वह वैसा नहीं है। जो कुछ रूप है, वह रूप होकर सत्य नहीं, अरूप होकर सत्य है। नाम और रूप बदलते रहते हैं, निरन्तर प्रवहमान हैं। ये नये-नये अवगुण्ठन हैं; पर भीतर की सुन्दरी कोई और ही है। कवि ने एक जगह कहा है—कितने ही नये-नये अवगुण्ठनों के नीचे, कितने बहानों से, चुपचाप, मैंने देखा है, एक ही प्रेयसी का मुख, कितने-कितने रूपों में···

"कत नव-नव अवगुंठनेर तले
देखियाछि कत छले

चुपे चुपे
एक प्रेयसीर मुख कत कत रूपे।"

पर जो लोग अवगुण्ठन को ही चरम समझते हैं, प्रेयसी के मुख-दर्शन के आनन्द से वे सर्वथा वंचित रह जाते हैं। अवगुण्ठन गौण है, प्रेयसी ही मुख्य। इसीलिए कवि 'रूप और अरूप' नामक प्रबन्ध में लिखते हैं :

"जो लोग अनन्त की साधना करते हैं, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि चारों ओर जो कुछ देख और जान रहे हैं, वही चरम सत्य नहीं है, स्वतन्त्र नहीं है, किसी भी क्षण में वह अपने को अपने-आप पूर्ण रूप से प्रकाश नहीं कर रहा है। यदि ऐसा वे करते होते, तो सभी स्वयम्भू स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहते। ये जो अन्तहीन गति के द्वारा अन्तहीन स्थिति को निर्देश करते हैं, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है।

"अतएव आध्यात्मिक साधना कभी भी रूप की साधना नहीं हो सकती। वह समस्त रूप के भीतर से चंचल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु अपने को ही चरम या स्वतन्त्र समझने का भान करती है, साधक उस भान के आवरण को भेद करके ही परम पदार्थ को देखना चाहता है। यदि इस नाम-रूप का आवरण चिरन्तन होता, तो वह भेद नहीं कर सकता था। यदि ये अविश्रान्त-भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपने-आप ही सीमा को तोड़ते न चलते, तो इन्हें छोड़कर और किसी बात के लिए मनुष्य के मन में किसी चिन्ता के लिए स्थान भी न होता—तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते—तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे अचल प्रत्यक्ष सत्यों के भीषण शृंखल में बँधकर एकदम मूक और मूर्च्छित हो रहते। इसके पीछे और कुछ भी न देख सकते। किन्तु ये सब खण्ड वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँधकर खड़े होकर रास्ता नहीं रोके हुए हैं, इसीलिए हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का सन्धान पाते हैं।···"

शिल्प की साधना के विषय में भी यही बात है। इस साधना में मनुष्य का चित्र अपने को बाहर रूप देता है, और उस रूप के भीतर से पुनः अपने-आपको देख पाता है।

"इसीलिए शिल्प-साहित्य में भावव्यंजना का इतना आदर है। इस भावव्यंजना के द्वारा रूप अपनी एकान्तव्यक्तता का यथासम्भव परिहार करता है; इसीलिए अपने को अव्यक्त की ओर विलीन कर देता है। अतएव मनुष्य का हृदय रूप से प्रतिहत नहीं होता। राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्पकला कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हममें आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो जाता है। असल गन्तव्य स्थान उसे अतिक्रम करने के बाद ही है, यही बात बताना उसका फर्ज है। इसीलिए तोरण कठिन पत्थर से कितना ही मजबूत क्यों न हो, वह अपने में अनेक फाँक रखता है। असल में इस खाली

स्थान को प्रकट करने के लिए वह खड़ा हुआ है। वह जितना है, उससे कहीं अधिक नहीं है। अपने उस नहीं अंश को यदि वह एकदम भर दे, तो सिंहोद्यान का पथ बिल्कुल बन्द हो जाय। ऐसी अवस्था में उसके समान निष्ठुरबाधा दूसरी नहीं हो सकती। उस समय वह दीवार हो उठता है, और जो लोग मूढ़ हैं, वे समझते हैं, यही देखने की चीज है, इसके पीछे और कुछ भी नहीं है। पर जो लोग पता रखते हैं, वे उसे एक अत्यन्त स्थूल मूर्तिमान बाहुल्य समझकर अन्यत्र रास्ता खोजने निकलते हैं। रूपमात्र ऐसे ही सिंहद्वार हैं। रूप अपने खालीपन को लेकर ही गौरव कर सकता है। यदि वह (रूप) अपने को ही निर्देश करता है, तो धोखा देता है। रास्ता दिखाकर ही वह सच बोलता है। वह भूमा को दिखायेगा, आनन्द को प्रकाश करेगा—क्या शिल्प-साहित्य में और क्या जगत्-सृष्टि में सर्वत्र उसका यही एक कार्य है।

"मनुष्य के साहित्य-शिल्पकला में हृदय का भाव रूप में धृत ज़रूर होता है; पर रूप में बद्ध नहीं होता। इसीलिए वह केवल नये-नये रूप के प्रवाह की सृष्टि करता है, इसीलिए प्रतिभा को नव-नवोन्मेषिनी बुद्धि कहते हैं। प्रतिभा रूप में चित्र को व्यक्त अवश्य करती है; पर बन्दी नहीं करती—इसीलिए उसमें नव-नव उन्मेष की शक्ति रहनी चाहिए।"

इस बात को कवि ने एक उदाहरण देकर समझाया है। थोड़े में उसका सारांश यह है—मान लिया जाय कि पूर्णिमा की शुभ्र रात्रि का सौन्दर्य देखकर किसी कवि ने वर्णन किया कि मानो सुरलोक के नीलकान्त मणिमय प्रांगण में सुरांगनाएँ नन्दन की नवमल्लिका की फूल-शय्या रच रही हैं। यह बात पढ़कर हम जानते हैं कि पूर्णिमा-रात्रि के सम्बन्ध में यह उपमा अन्तिम नहीं है—असंख्य व्यक्त और अव्यक्त बातों में से यह एक है। इस उपमा को ग्रहण करने से अन्य सैकड़ों उपमाओं का पथ रुद्ध नहीं, बल्कि और भी प्रशस्त हो गया। पर कोई आलंकारिक यह नियम कर दे कि इसके सिवा और कोई उपमा हो ही नहीं सकती, तब यह असह्य बन्धन हो उठेगी। कारण यह है कि रूप नामक वस्तु कभी नहीं कह सकती कि मैं यहाँ चिरकाल के लिए आ डटी हूँ, मैं ही अन्त हूँ। वह यदि चल न सकेगी, तो उसे विकृत होकर मरना पड़ेगा। दीये की बत्ती जिस तरह स्वयं जलकर प्रकाश का मार्ग प्रशस्त कर देती है, उसी तरह रूप भी लोप होकर अरूप आनन्द का मार्ग प्रशस्त कर देता है। रूप की अनित्यता ही उसकी सार्थकता है।

सन्देह किया जा सकता है कि यह रूप तो एक सीमा है, और सीमा स्वतन्त्रता के लिए एक भयानक बाधा है। मनुष्य स्वभावतः ही स्वतन्त्र होना चाहता है। उसके लिए इस बाधा की क्या ज़रूरत थी? रूप निश्चय ही बाधा है। जब हम चलते हैं, तो पैरों का पृथ्वी पर गिरना और उठना क्या बाधा नहीं है; पर बाधा ही हमारी गति को रूप देती है, हम अग्रसर होते हैं। सुर के लिए अगर ताल-रूपी बन्धन न होता, तो हम उसे पकड़ ही न पाते।

कवि कहते हैं, "इसीलिए कहता हूँ सत्य को, सुन्दर को, मंगल को जो सृष्टि व्यक्त

करती रहती है, वह बद्धरूपा नहीं है, वह एकरूपा नहीं है, वह प्रवहमान है, अनेक है।"

हमने एक स्थान पर वैष्णव कवियों के साथ रवीन्द्रनाथ की रूपोपासना की चर्चा करते समय कहा है कि वैष्णव कवि एक बार यह स्वीकार कर लेता है कि एक अचिन्त्य अरूप प्रेम द्वारा रूप बद्ध हुआ है, और फिर इस रूप के अवगुण्ठन में छिपे हुए अरूप को एकदम भूल जाता है। रवीन्द्रनाथ यह बात कभी नहीं भूलते। रवीन्द्रनाथ का तत्त्ववाद और उपलब्धि एक ही वस्तु है। यहाँ यह भी लक्ष्य करना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ किसी रूप विशेष को भाव की चरम अभिव्यक्ति नहीं समझते। एक जगह वे कहते हैं, "हम कल्पना को तभी कल्पना समझते हैं, जब उसमें प्रवाह होता है, जब वह एक रूप से दूसरे की ओर चलती है, जब उसकी सीमा कठिन नहीं होती, तभी कल्पना अपना सत्य कार्य करती है। वह कार्य क्या है? सत्य के अनन्त रूप का निदर्शन करना। कल्पना जब रुककर एक ही रूप में एकान्त भाव से, देह धारण करती है, तब वह अपने उसी रूप को दिखाती है, रूप के अतीत अनन्त सत्य को वह नहीं दिखाती। इसीलिए विश्व-जगत् के विचित्र और चिरप्रवाहित रूप के चिरपरिवर्त्तनशील अन्तहीन प्रकाश में ही हम अनन्त के आनन्द को मूर्त्तिमान देखते हैं।"

वैष्णव कवि भी रूप के इस पहलू को समझता है। अन्तर यह है कि उसका चरम रूप, जिसकी उपासनाओं में वह अरूप की परवा नहीं करता, कल्पना-प्रसूत नहीं है, वह कल्पना से परे है! अर्थात् वह भक्त पहले है, कवि बाद को। रवीन्द्रनाथ कवि पहले हैं, साधक बाद को। एक और अन्तर, जिसे विचित्र कहा जा सकता है, यह है कि वैष्णव कवि के लिए भक्ति और कल्पना दो चीज हैं, रवीन्द्रनाथ के लिए कल्पना और भक्ति एक। रवीन्द्रनाथ में, इसीलिए, रूप और अरूप की धारा युगपत् प्रवाहित हुई है। यह स्वाभाविक है; पर इसके समझने में कठिनाई इसलिए पड़ती है कि हम इस मार्ग के अभ्यस्त नहीं हैं। वैष्णव कवि के रूप-अरूप का तत्त्ववाद समझने में कुछ कम कठिन नहीं है, पर उसे सुविधा यह है कि हजारों वर्षों से वह विचार आसेतु-हिमाचल फैला हुआ है, रवीन्द्रनाथ के वाद को यह सुविधा नहीं मिली। रूप जो निरन्तर परिवर्त्तनशील है, सीमा का कार्य करता है। असीम सर्वदा इस सीमा को पाने के लिए व्याकुल है, और सीमा असीम के रास्ते पर आँख बिछाये हुए है। सीमा और असीम का यह पारस्परिक आकर्षण ही जगत् का आनन्द है। कवि कहते हैं, "हे भुवन, मैंने जब तक तुम्हें प्रेम न किया था, तब तक तुम्हारा प्रकाश खोज-खोजकर अपना सारा धन न पा सका। तब तक निखिल आकाश हाथ में प्रदीप लेकर शून्य में उसकी राह देख रहा था :

"हे भुवन
आमि जतक्षण
तोमारे ना बेसे छिनु भालो
ततक्षण तव आलो

खुँजे-खुँजे पायनाइ ता'र सब धन।
ततक्षण
निखिल गगन
हाते निये' दीप ता'र शून्ये-शून्ये
छिल पथ चेये।''

"मेरा प्रेम गान गाता हुआ आया, न जाने क्या कानाफूसी हुई, उसने तुम्हारे गले में अपनी माला डाल दी। मुग्ध आँखों से हँसकर तुम्हें उसने गुप्त रूप से कुछ दिया है, जो तुम्हारे गोपन हृदय में तारा की माला में, चिर दिन तक गुँथा रहेगा :

"मोर, प्रेम एल गान गेये;
कि जे हल' कानाकानि
दिल से तोमार गले आपन गलार माला खानि
मुग्ध चक्षे हेसे
तोमारे से
गोपने दियेछे किछू जा तोमार गोपन हृदये,
तारार मालार माझे चिर दिन र'वे गाँथा ह'ये।"

यह रूपवान ससीम जगत् असीम आत्मा को खोज रहा था, पाकर धन्य हो गया। जगत् और आत्मा में कितना पार्थक्य है ? एक सीमा है, एक असीम; एक रूप है, एक अरूप; एक स्थितिशील है, एक गतिशील--फिर भी एक-दूसरे के लिए व्याकुल हैं।

महान् गायक रवीन्द्रनाथ

कविवर रवीन्द्रनाथ ने दो हजार से ऊपर गान लिखे हैं। इन गानों को उन्होंने स्वयं सुर और ताल में बाँधा है। इनके अतिरिक्त उनकी कविताओं में बहुत अधिक संख्या ऐसी कविताओं की है जो वस्तुतः गेय पद हैं। 'गान' के माध्यम से ही उन्होंने परमसत्य का साक्षात्कार किया था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा था कि "स्वर का वाहन हमें किसी पर्दे की ओट में सत्य के लोक में वहन करके ले जाता है। वहाँ पैदल चलकर नहीं जाया जा सकता। वहाँ की राह किसी ने आँखों नहीं देखी।" इसका मतलब यह है कि गद्य के माध्यम से हम केवल प्रयोजनों की दुनिया में चक्कर लगाते रहते हैं, लेकिन संगीत और छन्द हमें एक प्रकार का पंख देते हैं

जिनके द्वारा हम अज्ञात सत्य तक अनायास पहुँच जाते हैं। एक कविता में उन्होंने छन्द को 'पंख' कहकर इसी बात को स्पष्ट किया है। अपने अनेक गान, काव्य, नाटक आदि में उन्होंने संगीत की इस महिमा का उद्घोष किया है। यद्यपि सुर को वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके गानों में अर्थ-तत्त्व का गाम्भीर्य कुछ कम है। यद्यपि उनके लिखे गानों का पूरा सौन्दर्य तभी अनुभव किया जा सकता है जब कि वे उनके दिये हुए सुरों में ही गाये जायें, तथापि जो पाठक उनके गेय रूप को प्राप्त करने का अवसर नहीं पा सके वे भी केवल काव्यदृष्टि से देखकर कुछ-न-कुछ रस अवश्य पा सकते हैं। रवीन्द्रनाथ की यह विशेषता है कि उनके गानों में अर्थ-गाम्भीर्य सदा बना रहता है। उन्होंने स्वयं बताया है कि उनके आरम्भिक गान भावावेशप्रधान हैं, जबकि परवर्त्ती गानों में सौन्दर्य-बोध का तत्त्व विशेष रूप से परिस्फुटित हुआ है। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ने समस्त विश्व में एक प्रकार का अदृश्य-निश्शब्द संगीत सुना। कोई अदृश्य गायक न जाने किस पर्दे के अन्तराल में बैठा हुआ गान गा रहा था जो इस अदृश्यमान जगत् में रूप-रंग-वर्ण आदि बहुविचित्र रूपों में गोचर हो रहा है। अपनी एक कविता में उन्होंने सृष्टि-प्रवाह को गतिशील बनानेवाली शक्ति को सम्बोधन करते हुए कहा है :

हे भैरवी, हे वैरागिणी !
तुम जो चलीं उद्देश्यहीन अबाध,
यह गति ही तुम्हारी रागिणी निश्शब्द मोहन गान !

इसी 'निश्शब्द मोहन गान' के ताल से ताल मिलाता हुआ कवि मनोहर गीत की सृष्टि करता है। जो इसके अनुकूल है वही सुन्दर है, जो प्रतिकूल है वह कुरूप है। अपनी 'तपोभंग' नामक कविता में उन्होंने महाकाल को सम्बोधन कर कहा है, "हे महाकाल, उस दिन तुमने जिस उन्मत्त नृत्य से वन-वन को मुखरित किया, उसी नृत्य के छन्द और लय से मैं प्रतिक्षण संगीत रचा करता हूँ; ताल के साथ ताल मिलाता हुआ।"

रवीन्द्रनाथ ने किसी बड़े उस्ताद की शागिर्दी करके विधिवत् शास्त्रीय संगीत की शिक्षा नहीं प्राप्त की, परन्तु समृद्ध परिवार में संगीत का बड़ा ही मोहन वातावरण था। रवीन्द्रनाथ में ग्राहिकाशक्ति बड़ी तीव्र थी। उन्होंने अनेक शक्तिशाली गायकों के गायन से रस-संग्रह किया और संगीत की दुनिया में बिल्कुल अभिनव प्रयोग किया। जिन लोगों को रवीन्द्र-संगीत को शास्त्रीय दृष्टि से परखने की दृष्टि मिली है, वे बताते हैं कि उनके आरम्भिक गानों में शास्त्र-सम्मत राग-ताल का ही अधिक प्रयोग है। ध्रुपद के चार अंगों का उन्होंने विशेष रूप से प्रयोग किया है और उनके परम्परा-प्रचलित भावगम्भीर अनाडम्बर रूप को अधिक प्रभावशाली बनाया है। युवावस्था में उन्हें अपनी जमींदारी का काम-काज देखने के लिए शिलाइदह जाना पड़ा, जो पद्मा नदी के तीर पर बसा हुआ है। यहाँ आकर रवीन्द्रनाथ साधारण जनता को निकट से देखने का अवसर पा सके। इस सम्पर्क ने एक

ओर जहाँ उनकी कहानियों एवं कविताओं को नयी शोभा और श्री से सम्पन्न किया, वहाँ दूसरी ओर उनके गानों को भी लोकसंगीत ने प्रभावित किया। समय बीतने के साथ रवीन्द्रनाथ ने विभिन्न स्वरों के समंजस-मिश्रण का भी प्रयत्न किया और आगे चलकर तो उन्होंने देश के विभिन्न भागों और विभिन्न स्तरों में प्रचलित अनेक प्रकार की गीति-पद्धतियों से अपने गान को समृद्ध किया। जानकार लोग बताते हैं कि अपने हजारों गानों में उन्होंने संगीत की एक नयी ही दुनिया उद्घाटित की है, जो उनके काव्य में प्रयुक्त छन्दों की भाँति ही विचित्र और नवीन है। संगीत उनके काव्यों और नाटकों में भी बहुविचित्र स्वरों में मुखरित हुआ है। अनेक नये तालों और मिश्र-स्वरों के प्रयोग के कारण विशुद्ध शास्त्रीय पद्धति के संगीतज्ञ इससे बिदकते भी हैं; ठीक उसी प्रकार जैसे पुराने ढंग के अलंकार-छन्द-रसवादी उनकी कविताओं से बिदकते हैं। लेकिन इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि रवीन्द्रनाथ ने बहुविचित्र स्वर-ताल से संगीत की एक नयी दुनिया ही सृष्ट की है।

रवीन्द्रनाथ संगीत को पावनकारी शक्ति के रूप में देखते हैं। विश्वरचना का मूल स्वर ही संगीत है। समष्टि-जगत् का यह छन्द और ताल व्यष्टि-जगत् में जीवन के बहुविचित्र रूपों में प्रकट हो रहा है। संगीत वस्तुतः जीवनधारा ही है। जहाँ कहीं जड़ता है, स्तब्धता है, सड़ान है, जीर्णता है, वह विराट् जीवन-धारा से विच्छिन्न होने का परिणाम है और इसीलिए मूल सृष्टिधारा के अनुकूल चलनेवाली संगीतधारा से भी विच्छिन्न है। व्यक्ति में प्रकट होनेवाला मोहन संगीत समष्टिगत जीवन-प्रवाह के अनुकूल होने के कारण ही रमणीय है। इसीलिए वह जीर्णता की सड़ान को और जड़ की स्तब्धता को झाड़ देता है और पद-पद पर नवीन जीवनी शक्ति को बल देता रहता है। एक गान में वह कहते हैं, "मेरा जो कुछ भी फटा-पुराना और निर्जीव है, उसके प्रत्येक स्तर पर झड़ पड़ने दो अपने सुर की धारा को। दिन-रात इस जीवन की प्यास पर और भूख पर झड़ती रहे तुम्हारे सुर की वह धारा, सावन की झड़ी की तरह। इस प्रकार सृष्टि की सारी जीर्णता, वन्ध्यता और असफलता के मूल में समष्टिगत संगीत के अनुकूल बहनेवाली जीवन-धारा का विच्छेद ही रहा करता है। मनुष्य क्षुद्र स्वार्थों की लपेट में आकर व्यर्थ ही परेशान होता रहता है। उसका भी कारण यही है कि उसे संगीत की धारा का साक्षात्कार नहीं हुआ। यदि मनुष्य उस संगीत-धारा का साक्षात्कार पा सके तो फिर फूल, पल्लव, नदी, निर्झर सब उसके सुर में सुर मिलाने लगेंगे और उसके प्रत्येक छन्द से आलोक और अन्धकार स्पन्दित होते रहेंगे। एक गान में उन्होंने कहा है, "भाई मेरे, स्थल में, जल में, लोक-लोक में, सर्वत्र तेरी पुकार हो रही है। तू सुख और दुःख में, लाज और भय से जो गान गायेगा, तेरे उस प्रत्येक स्वर में फूल और पल्लव, नदी और निर्झर, अपना सुर मिलायेंगे और तेरे प्रत्येक छन्द से आलोक और अन्धकार स्पन्दित होंगे।"

स्थले जले तोर आछे आह्वान आह्वान लोकालये,
चिरदिन तुइ गाहिबि जे गान सुखे-दुखे लाजे-भये।
फूल-पल्लव-नदी-निर्झर सुरे-सुरे तोर मिलाइवे स्वर,
छंदे जे तोर स्पन्दित हवे आलोक अंधकार।

सब समय विश्व-ताल के साथ मिलकर चलना नहीं हो पाता। मनुष्य की व्यर्थता वहीं है जहाँ उसकी गति विश्वव्यापी संगीत के साथ समानान्तर होकर नहीं चलती। छन्द टूट जाता है, राग विकृत हो उठता है, तुक नहीं मिलता। पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रातों की व्यर्थता इसी छन्दोभंग का फल है।

कवि ने अपने 'जीवन-देवता' को सम्बोधित करते हुए कहा था (जिसे हिन्दी में इस प्रकार कहा जा सकता है):

बन्धु, तुम क्या देखते हो मर्म में मेरे गड़ाकर नयन अपने ?
क्या क्षमा कर दीं सभी त्रुटियाँ,
विकृतियाँ, स्खलित गतियाँ इस अभाजन की, बताओ ?
हाय, पूजाहीन कितने दिवस, सेवाहीन कितनी रात्रियाँ
बीतीं, गयीं किस ओर ?
मेरे नाथ, फूलों का मनोरम अर्घ्य विकसित हो विजन वन
बीच कितनी बार झड़-झड़कर हुआ
बेहाथ !--
तुमने जो कसे थे तार वीणा के किसी मनहरण सुर के लिए,
बारम्बार शिथिल श्रान्त हो-होकर उतर वे गये !
हे कवि, कहाँ है सामर्थ्य मुझमें, गा सकूँ वह रागिणी जो
रची तुमने भव्य !

रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविताओं का विषय इस देश के पुराने और नये वातावरण से चुना है। पुरानी कथाओं को उन्होंने नयी ज्योति से दीप्त किया है। उनकी प्रतिभा मुख्य रूप से गीतात्मक थी। यह नहीं है कि उन्होंने वक्तव्य विषय को नये छन्द और नये सुर का बाना दिया है, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि वक्तव्य का कोई निजी छन्द था जो उनके हाथों स्वयं स्फुट हो उठा है। वक्तव्य की अन्तर्निहित मर्मवाणी ने ही मानो छन्द, स्वर और ताल की निजी अभिव्यक्तियों का आश्रय लिया है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ की कविताओं और गानों में अर्थ और छन्द एक-दूसरे से ऐसे घुले-मिले मिलते हैं कि उन्हें अलग करना कठिन हो जाता है। आवेग की तीव्र गति, अनुभूतियों का सहज प्रकाश और परम्पराप्राप्त अर्थों का दृढ़ मूल भाव संगीत के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त होते हैं कि सहृदय पाठक को लगता है कि ये इस प्रकार की अभिव्यक्ति खोज रहे थे। किसी अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति उन्हें मिलती तो उसका सौन्दर्य फीका पड़ जाता। अर्थ का इस प्रकार छन्द के साथ घुल-मिल जाना इस बात का सूचक है कि वे एक ही मूल स्वर के दो रूप हैं। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता था। अर्थ, शब्द में और

शब्द, अर्थ में विश्रान्ति खोज रहा है। 'निर्झर का स्वप्नभंग' नामक आरम्भिक काल (1882) की जिस कविता को रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रतिभा को मोड़ देने-वाला प्रथम स्वर कहा जाता है, वह वस्तुतः संगीत की वेगवती उपलब्धि की सूचना-मात्र है। ऐसा लगता है कि तरुण कवि को पहली बार स्पष्ट रूप से अनुभव हुआ है कि सुदूर दिगन्त पार से कोई संगीत पुकार रहा है, पक्षियों का कलरव, पुष्पों का उल्लास, वायु का रस-कम्पन, उषा का रागारुण सोहाग, सूर्यकिरणों की स्वप्न-मोचन प्रेरणा उसी महासंगीत की दूर की ताल की अस्पष्ट श्रुतियाँ हैं। पूरा सुनायी नहीं दे रहा है, क्योंकि बन्धनों और आवरणों का व्यवधान है, जितना सुनायी दे रहा है वह पूरे को हृदयंगम करने का व्याकुल इंगित-मात्र है :

आज जाने क्या हुआ जग उठे मेरे प्राण,
ऐसा लग रहा मानो महासागर घुमड़कर गा रहा जो गान
दूर दिगन्त के उस पार, उसको सुन रहा हूँ !
अरे, चारों ओर मेरे दिख रहा कैसा भयावह घोर कारागार—
इसको तोड़, चकनाचूर कर दे, दे प्रचण्डाघात बारम्बार
हाय रे यह आज कैसा गान गाया पक्षियों ने,
आ गयी रवि की किरण द्युतिमान।

अग-जग में व्याप्त इस महासंगीत ने कवि को निरन्तर चालित और प्रेरित किया है। उसी के ताल से ताल मिलाता हुआ कवि अनायास छन्दों, वर्णों, रंगों, भावों का मोहक संसार रच सका है।

रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा बहुमुखी थी, परन्तु प्रधान रूप से वे कवि थे। कविता में भी उनका झुकाव गीतिकविता की ओर ही था। उन्होंने गाने में आनन्द पाया, सुर के माध्यम से परमसत्य का साक्षात्कार किया और समस्त विश्व में अखण्ड सुर का सौन्दर्य व्याप्त देखा। एक प्रसंग में उन्होंने कहा था, "गान के सुर के आलोक में इतनी देर बाद जैसे सत्य को देखा। अन्तर में यह गान की दृष्टि सदा जाग्रत न रहने से ही सत्य मानो तुच्छ होकर दूर खिसक पड़ता है। सुर का वाहन हमें उसी पर्दे की ओट में सत्य के लोक में वहन करके ले जाता है। वहाँ पैदल चलकर नहीं जाया जाता, वहाँ की राह किसी ने आँखों नहीं देखी।" रवीन्द्रनाथ का सम्पूर्ण साहित्य संगीतमय है। उनकी कविताएँ गान हैं, परन्तु उनके गान केवल ताल-सुर

के वाहन नहीं हैं, अर्थगाम्भीर्य और शब्दमाधुर्य के भी आगार हैं। असल में जिस प्रकार उनकी कविताओं में संगीत का रस है उसी प्रकार, बल्कि उससे भी अधिक, उनके गानों में कवित्व है। सुर से विच्युत होने पर भी उनके गान प्रेरणा और स्फूर्त्ति देते हैं। उन्होंने सैकड़ों गान लिखे हैं। ये गान गाये जाने पर ही ठीक-ठीक समझे जा सकते हैं, परन्तु फिर भी उनको छापे के अक्षरों में पढ़ने पर भी कुछ-न-कुछ रस अवश्य मिलता है, क्योंकि उनका अर्थगाम्भीर्य वहाँ भी बना रहता है। रवीन्द्रनाथ सुर की धारा में एक अपूर्व पावनी शक्ति अनुभव करते हैं। अपने परमाराध्य को पुकारकर वे कहते हैं :

"तुम्हारे सुर की धारा मेरे मुख पर और वक्षःस्थल पर सावन की झड़ी के समान झड़ पड़े। उदयकालीन प्रकाश के साथ वह मेरी आँखों पर झड़े, निशीथ के अन्धकार के साथ वह गम्भीर धारा के रूप में मेरे प्राणों पर झड़े, दिन-रात वह इस जीवन के सुखों और दुःखों पर झड़ती रहे। तुम्हारे सुर की धारा सावन की झड़ी के समान झड़ती रहे। जिस शाखा पर फल नहीं लगते, फूल नहीं खिलते, उस शाखा को तुम्हारी यह बादल-हवा जगा दे। मेरा जो कुछ भी फटा-पुराना और निर्जीव है, उसके प्रत्येक स्तर पर तुम्हारे सुरों की धारा झड़ती रहे, दिन-रात इस जीवन की भूख पर और प्यास पर वह सावन की झड़ी के समान झड़ती रहे" :

श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे,
तोमारि सुरटि आमार मुखेर 'परे, बुकेर 'परे।
पूरबेर आलोर साथ झड़ुक प्राते दुइ नयाने—
निशीथेर अन्धकारे गँभीर धारे झड़ुक प्राणे
निशिदिन एइ जीवनेर सुखेर 'परे दुखेर 'परे
श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे॥
जे शाखाय फुल फोटे ना फल धरे ना एकेबारे
तोमारि बादल बाये दिक् जागाये सेइ शाखारे।
जा किछु जीर्ण आमार दीर्ण आमार जीवनहारा
ताहारि स्तरे स्तरे पड़ुक झरे सुरेर धारा
निशिदिन एइ जीवनेर तृषार 'परे भुखेर 'परे
श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे॥

इस प्रकार सुर की धारा रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में समस्त जीर्णता, वन्ध्यता, असफलता और क्षुद्र प्रयोजनों को बहाकर मनुष्य को सहज सत्य के सामने खड़ा कर देती है। निस्सन्देह संगीत ऐसी ही वस्तु है।

यह युग भारतवर्ष में राजनैतिक जागरण का युग है। रवीन्द्रनाथ ने किसी जमाने में राजनैतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था, परन्तु बहुत शीघ्र ही उन्होंने देखा कि जिन लोगों के साथ उन्हें काम करना पड़ रहा है, उनकी प्रकृति के साथ उनका मेल नहीं है। रवीन्द्रनाथ अन्तर्मुख साधक थे। हल्ला-गुल्ला करके, ढोल पीटके, गला फाड़के, लेक्चरबाजी करके जो आन्दोलन किया जाता है, वह

उन्हें उचित नहीं जँचता था। देश में करोड़ों की संख्या में दलित, अपमानित, निरन्न, निर्वस्त्र लोग हैं, उनकी सेवा करने का रास्ता ठीक वही रास्ता नहीं है, जिस पर वाग्वीर लोग शासकवर्ग को धमकाकर चला करते हैं। शौकिया ग्रामोद्धार करनेवालों के साथ उनकी प्रकृति का एकदम मेल नहीं था। जो लोग सेवा करना चाहते हैं, उन्हें चुप-चाप सेवा में ही लग जाना चाहिए। सेवा का विज्ञापन करना सेवा-भावना का विरोधी है। उन्होंने हल्ला-गुल्ला करके ग्रामोद्धार करनेवालों को लक्ष्य करके गाया था :

ओरे तोरा
नेइ वा किछु व'ल्लि !
दाँड़िये हाटेर मध्यिखाने
नेइ जागालि पल्ली ॥
मरिस् मिथ्ये वे'के-झे'के,
देखे केवल हासे लोके,
ना हय निये आपन मनेर आगुन,
मने मनेइ ज्व'ल्लि—
नेइ जागालि पल्ली ॥
अन्तरे तोर आछे की — जे
नेइ रटालि निजे निजे,
ना हय, वाद्यगुलो वन्ध रेखे
चुपचापेइ च'ल्लि—
नेइ जागालि पल्ली ॥
काज थाके त कर् गे ना काज,
लाज थाके तो घुचा गे लाज,
ओरे, के-जे तोरे की व'लेछे,
नेइ वा ता'ते ट'ल्लि—
नेइ जागालि पल्ली ॥

"अरे भाई, क्या बिगड़ गया यदि तूने कोई बात नहीं कही। बाजार में खड़े होकर अगर तुमने ग्रामों को जगाने का काम नहीं ही किया तो क्या हो गया ! बेकार बकवास करके मर रहे हो, देखकर लोग केवल हँसते हैं। अपने ही मन की आग से तुमने मन-ही-मन जल लिया तो क्या बुरा हुआ ! क्या हुआ जो तुमने गाँवों को नहीं जगाया ! तुम्हारे मन में क्या है सो तुमने खुद-ब-खुद चिल्लाकर नहीं कहा तो क्या बिगड़ गया ! न हो, ये बाजे बन्द करके और चुपचाप ही चल दिये तुम।—अरे भाई, तुमने ग्रामोद्धार नहीं ही किया। यदि कुछ काम हो तो जाओ न, उसे करो; यदि तुम्हारे भीतर कहीं लाज हो तो जाओ न, सबकी लाज बचाओ। अरे भाई, किसने तुम्हें क्या कहा है, इस बात से तुम नहीं ही विचलित हुए तो क्या बिगड़ गया। न हुआ, तुमने ग्रामोद्धार नहीं ही किया।"

उनकी स्वदेशभक्ति उनकी भगवद्भक्ति की विरोधिनी नहीं थी। उनके ऐसे बहुत थोड़े गान हैं, जिन्हें निश्चित रूप से स्वदेशभक्ति के गान कहा जा सकता है, नहीं तो साधारणतः राष्ट्रीय गानों के रूप में प्रचलित उनका ऐसा शायद ही कोई गान हो, जो भक्ति और साधना के अन्यान्य क्षेत्रों में व्यवहृत न हो सकता हो। उनकी समस्त साधनाओं का लक्ष्य एक ही आनन्दधाम भगवान् था। यदि किसी कार्य का उसके साथ विरोध है तो उसे उचित नहीं माना जाना चाहिए। उनका प्रसिद्ध उद्बोधन-संगीत, जिसमें उन्होंने अकेले ही समस्त दुःखों को शिरसा स्वीकार करके अग्रसर होने की सलाह दी है, स्वदेशभक्ति ही तक सीमित नहीं है। वस्तुतः वह सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ने का आह्वान है। स्वदेशभक्ति उस महालक्ष्य की परिपन्थिनी नहीं है। फिर वह यदि स्वदेशभक्ति का गान है तो ऐसा कोई देश नहीं, जिसके निवासी उसे गा न सकें। रवीन्द्रनाथ के सभी गान सार्वभौम हैं। उन्होंने साधक को पुकारके कहा है :

"यदि तेरी पुकार सुनकर कोई न आये तो तू अकेला ही चल पड़। अरे ओ अभागा, यदि तुझसे कोई बात न करे, यदि सभी मुँह फिरा लें, सब (तेरी पुकार से) डर जायें तो तू प्राण खोलकर अपने मन की वाणी अकेला ही बोल। अरे ओ अभागा, यदि सभी लौट जायें, यदि कठिन मार्ग पर चलते समय तेरी ओर कोई फिरकर भी न देखे तो तू अपने रास्ते के काँटों को अपने खून से लथपथ चरणों द्वारा अकेला ही रौंदता हुआ आगे बढ़। अरे ओ अभागा, यदि तेरी मशाल न जले और आँधी-तूफान और बादलों से भरी अँधेरी रात में (तुझे देखकर) सब लोग दरवाजा बन्द कर लें तो फिर अपने को जलाकर तू अकेला ही हृदय-पंजर जला। यदि तेरी पुकार सुनकर कोई तेरे पास न आये तो फिर अकेला ही चलता चल, अकेला ही चलता चल :

"यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे
तबे एक्ला चलो रे।
एक्ला चलो, एक्ला चलो,
एक्ला चलो रे॥
यदि केउ कथा ना कय—
(ओरे ओरे ओ अभागा!)
यदि सबाइ थाके मुख फिराये,
सबाइ करे भय—
तबे पराण खुले,
ओ तुइ मुख फुटे तोर मनेर कथा,
एक्ला बलो रे॥
यदि सबाइ फिरे जाय—
(ओरे ओरे ओ अभागा!)

यदि गहन पथे जाबार काले
केउ फिरे ना चाय—
तबे पथेर काँटा
ओ तुइ रक्तमाखा चरण तले
एकला दलो रे ।।
यदि आलो ना धरे—
(ओरे ओरे ओ अभागा !)
यदि झड़ बादले आँधार राते
दुयार देय घरे—
तबे वज्रानले
आपन बुकेर पांजर ज्वालिये निये
एकला ज्वलो रे ।।
यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे,
तबे एकला चलो रे ।
एकला चलो, एकला चलो,
एकला चलो रे ।।"

सत्यमार्ग के अनुसन्धित्सुओं के लिए इतने स्फूर्तिदायक गान कम ही लिखे गये होंगे। रवीन्द्रनाथ ऐसे साथियों को भारमात्र समझते थे, जिनका अपने लक्ष्य पर, विश्वास नहीं है। ऐसे लोगों को जुटाकर केवल संख्या गिनाने से कोई लाभ नहीं। जब विपत्ति से सामना पड़ेगा तभी ऐसे साथी बोझ हो जायेंगे, वे खुद पीछे हटेंगे और दूसरों को भी परेशान करेंगे। साधना के क्षेत्र में—चाहे वह स्वदेश-सेवा की साधना हो, या परमप्राप्तव्य को प्राप्त करने की—अधकचरे साथी बाधा ही हैं, क्योंकि साधना का क्षेत्र विपत्तियों से जूझने का क्षेत्र है। घरफूंक मस्त लोग ही इस रास्ते पर कदम उठा सकते हैं। कबीरदास ने कहा था कि मैं अपना घर जलाकर हाथ में लुकाठी लिये बाजार में खड़ा हूँ, जो अपना घर फूंक सके वही हमारे साथ चले :

कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ ।।

यदि साधना के साथी मोहवश अपना सर्वस्व त्याग देने में ज़रा भी झिझके तो पतन निश्चित है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने स्वदेश-सेवा के साधकों को पुकारकर गाया है :

"यदि भाई, तुझे कुछ चिन्ता-फिक्र है तो तू लौट जा। यदि तेरे मन में कहीं डर हो तो मैं शुरू में ही मना करता हूँ कि इस रास्ते न चल। यदि तेरे शरीर में नींद लिपटी रहेगी तो तू पग-पग पर रास्ता भूल जायगा, यदि कहीं तेरा हाथ काँप गया तो मशाल बुझाकर तू सबका रास्ता अन्धकारमय कर देगा। यदि तेरा मन कुछ छोड़ना न चाहे और तू अपना बोझा बराबर बढ़ाता ही गया तो इस कठिन

रास्ते की मार तू बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। यदि तेरे मन में अपने-आप (भीतर से) आनन्द नहीं जगता रहेगा तो तर्क-पर-तर्क करके तू सबकुछ तहस-नहस कर देगा। ना भाई यदि तुझे कुछ चिन्ता-फिक्र है तो तू लौट जा :

"यदि तोर भावना थाके,
फिरे जा ना—
तबे तुइ फिरे जा ना।
यदि तोर भय थाके तबे
करि माना ।।
यदि तोर घूम जड़िये थाके गाये,
भुलिब जे पथ पाये पाये,
यदि तोर हाथ काँपे तो निबिये आलो,
सबाय क'रबि काना ।।
यदि तोर छाड़्ते किछु ना चाहे मन,
करिस् भारी बोझा आपन,
तबे तुइ सइते कभु पारिस ने रे
विषम पथेर टाना ।।
यदि तोर आप ह'ते अकारणे
सुख सदा ना जागे मने,
तबे केवल, तर्क क'रे सकल कथा
क'रबि खाना-खाना ।।
यदि तोर भावना थाके. ।।

हो सकता है कि इस प्रकार अकेले ही सचाई के मार्ग पर चलनेवाले को लोग शुरू-शुरू में पागल कहने लगें। शुरू-शुरू में किस महापुरुष को लोगों ने पागल नहीं समझा है ? किस महापुरुष ने निर्यातन नहीं सहा है ? रवीन्द्रनाथ ने कहा :

"जो तुझे पागल कहे उसे तू कुछ भी मत कह। आज जो तुझे कैसा-कुछ समझकर धूल उड़ाता है, वही कल प्रातःकाल हाथ में माला लिये तेरे पीछे-पीछे फिरेगा। आज चाहे वह मान करके गद्दी पर बैठा रहे, किन्तु कल (निश्चय ही) वह प्रेमपूर्वक नीचे उतरकर तुझे अपना शीश नवायेगा :

"जे तोरे पागल बले,
ता'रे तुइ बलिस्ने किछु।
आजके तोरे केमन भेवे
अंगे जे तोर धूलो देबे,
काल से प्राते माला हाते
आस्बे रे तोर पिछु पिछु ।।
आजके आपन मानेर भरे
थाक् से ब'से गदिर 'परे,

काल्के प्रेमे आसवे नेमे,
क'र्‌बे से ता'र माथा नीचु ॥

सचाई होनी चाहिए। सत्य प्रकाशधर्मा है, उसे छिपाकर रोक नहीं रखा जा सकता। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो समझते हैं कि प्रत्येक नया विचार सनातन प्रथा को बर्बाद कर देगा, संस्कृति को रसातल में पहुँचा देगा। इतिहास साक्षी है कि ऐसा करनेवालों का प्रयत्न कभी सफल नहीं हुआ। मनुष्य ने इतिहास से कितना कम सीखा है। सम्पत्ति-मद से मत्त लोग दो दिन आगे की बात भी नहीं देख पाते। वे अपनी शक्ति पर जितना भरोसा रखते हैं उसका आधा भी उन पर नहीं रखते, जिनकी कणमात्र शक्ति पाकर वे अपने को शक्तिशाली समझा करते हैं। वे समझते हैं कि उनके हुक्मों पर ही संसार-धारा रुक जायेगी। वे पद-पद पर 'ऐसा कभी नहीं हो सकता' कहकर प्रत्येक प्रगति का विरोध करते हैं। लेकिन अनादिकाल से यह सर्वविदित सत्य है कि जिसे ऐसे मदमत्त शक्तिशाली लोग असम्भव कहा करते हैं, वह वस्तुतः असम्भव नहीं है :

रइलो ब'ले राख्‌ले कारे
हुकुम तोमार फ'ल्‌बे कवे।
(तोमार) टानाटानि टिक्‌बे ना भाई,
र'बार जेटा सेटाइ र'बे ॥
जा खुसि ताइ क'ते पारो—
गायेर जोरे राखो मारो—
जार गाये सब व्यथा बाजे
तिनि जा स'न सेटाइ स'ब ॥
अनेक तोमार टाका कड़ि,
अनेक दड़ा अनेक दड़ि,
अनेक अश्व अनेक करी,
अनेक तोमार आछे भवे।
भाव्‌छो हवे तुमिइ जा चाओ,
जगत्‌टा के तुमिइ नाचाओ,
देख्‌बे हठात् नयन खुले,
हय न जेटा सेटाओ हवे ॥

अर्थात् "'यह रह गया'—ऐसा कहकर तुमने किसे बचा लिया ? कब तुम्हारा हुक्म तामील हुआ है ! अरे भाई, यह तेरी खींच-तान चलेगी नहीं, जो रहने को है सिर्फ वही रहेगा। तुम जो खुशी कर सकते हो, जबर्दस्ती करके रखते रहो और मारते रहो, परन्तु जिनके शरीर में सारी व्यथा लगती है वे जो कुछ सहते हैं उतना ही चल सकेगा। तुम्हारे पास बहुत रुपये-पैसे हैं, टीमटाम हैं, बहुत हाथी-घोड़े हैं—दुनिया में तुम्हारे बहुत सम्पत्ति है। तुम सोचते हो कि जो तुम चाहोगे वही होगा, दुनिया को तुम्हीं नचा रहे हो। लेकिन, भाई मेरे, एक दिन तुम आँख खोल-

कर देखोगे कि (तुम्हारे मत से) जो कभी नहीं होता, वह भी हो गया।"

मगर निःसहाय अकेले निकल पड़ने में वीरता चाहे कितनी हो, क्या बुद्धिमानी भी है? अगर मनोवांछा पूरी न हुई तो इन लोगों का साथ छोड़ना किस काम आया? रवीन्द्रनाथ लक्ष्य-प्राप्ति को इतनी बड़ी बात नहीं मानते। चल देना ही बड़ी बात है, मनोवांछा पूरी हुई या नहीं इसका हिसाब दुनियादार लोग किया करते हैं। वीर इसकी परवा नहीं करता। सत्य के मार्ग में अग्रसर होकर टूट जाना भी अच्छा है। जो लोग सत्य के मार्ग में चल रहे हैं उनका चलना देखना भी श्रेयस्कर है, पर लक्ष्य तक नहीं पहुँचे तो सारी यात्रा ही व्यर्थ हो गयी, ऐसा विचार रवीन्द्रनाथ को पसन्द नहीं है। उन्होंने गाया है : "क्या हुआ जो मैं पार नहीं जा सका! मेरी आशा की नैया डूब गयी तो हर्ज क्या है, वह हवा तो शरीर में लग रही है, जिससे नाव चल रही थी। तुम लोगों की चलती नाव देख रहा हूँ, इसी में क्या कम आनन्द है? हाथ के पास अपने इर्द-गिर्द, जो कुछ पा रहा हूँ वही बहुत है। हमारा दिन-भर क्या यही काम है कि उस पार की ओर ताकता रहूँ। यदि कुछ काम है तो प्राण देकर उसे पूरा कर लूँगा। मेरी कल्पलता वहीं है, जहाँ मेरा कुछ दावा है!

"आमार नाइ वा ह'लो पारे जावा।
जे हावाते चलतो तरी
अंगेते सेइ लागाइ हावा।
नेइ यदि वा जमलो पाड़ि,
घाट आछे तो बसते पारि,
आमार आशार तरी डुबलो यदि
देखबो तोदेर तरी बावा।
हातेर काछे कोलेर काछे
जा आछे सेइ अनेक आछे
आमार सारा दिनेर एइ कि रे काज
ओ पार पाने कैंदे चावा?
कम किछु मोर थाके हेथा
पूरिये नेबो प्राण दिये ता,
आमार सेइखानेतेइ कल्पलता
जेखाने मोर दाबि-दावा।"

"ओ अभागे मनुष्य! हो सकता है कि तेरे अपने ही लोग तुझे छोड़ दें, लेकिन इसकी चिन्ता करने से कैसे चलेगा? शायद तेरी आशालता टूट जायेगी और उसमें फल नहीं फलेगा, पर इसीलिए चिन्ता करने से कैसे चलेगा? तेरे रास्ते में अँधेरा छा जायेगा, पर इसीलिए क्या तू रुक जायेगा? अरे ओ (अभागे), तुझे बार-बार बत्ती जलानी पड़ेगी और फिर भी शायद वह नहीं जलेगी। —लेकिन इसीलिए चिन्ता करने से कैसे चलेगा? तेरी प्रेम-वाणी सुनकर जंगली जानवर तक चले

आयेंगे और फिर भी ऐसा हो सकता है कि तेरे अपने लोगों का पाषाण का हृदय न पिघले।--लेकिन इसीलिए चिन्ता करने से कैसे चलेगा ? दोस्त मेरे, तू क्या इसीलिए लौट आयेगा कि सामने का दरवाजा बन्द है ? ना भाई, तुझे बार-बार ठेलना पड़ेगा और फिर भी हो सकता है कि दरवाजा हिले ही नहीं।—लेकिन इसीलिए चिन्ता करने से कैसे काम चलेगा ?

"तोर आपन जने छाड़वे तोरे
ता' बले भावना करा चलवे ना
तोर आशालता पड़वे छिंड़े,
हय तो रे फल फलवे ना—
ता' बले भावना करा चलवे ना।।
आसबे पथे आँधार नेमे
ताइ बले कि रइबि थेमे
ओ तुइ बारे बारे ज्वालबि बाति, हय तो बाति ज्वलबे ना
ता' बले भावना करा चलवे ना।।
शुने तोमार मुखेर वानी,
आसबे फिरे बनेर प्राणी
तबू हयतो तोमार आपन घरे पाषाण हिया गलवे ना—
ता' बले भावना करा चलवे ना।।
बद्ध दुयार देखलि बले
अमनि कि तुइ आसबि चले,
तोरे बारे बारे ठलते हबे, हयतो दुयार टलवे ना—
ता' बले भावना करा चलवे ना।।"

फलाशा के प्रति निःस्पृह होने का यह अर्थ नहीं कि फलप्राप्ति के विषय में साधक का विश्वास ही न हो। वस्तुतः अखण्ड विश्वास के बिना निःस्पृहता आती ही नहीं : "अरे ओ मन, सदा विश्वास रख कि काम होकर ही रहेगा। यदि तूने सचमुच प्रण ठान लिया है तो निश्चय ही तेरी प्रतिज्ञा रहेगी। यह जो तेरे सामने पाषाण की तरह पड़ा हुआ है वह प्राण पाकर हिल उठेगा, जो गूँगों की भाँति पड़े हुए हैं वे भी निश्चय ही बोलने लगेंगे। समय हो गया है। जिसके पास जो बोझ है वह उठा लो। मेरे मन, यदि तूने दुःख को सिर-माथे ले लिया है तो यह दुःख तेरा जरूर सह जायेगा। जब घण्टा बज उठेगा, तो तू देखेगा कि सब लोग तैयार हैं और सभी यात्री एक साथ निश्चय ही एक रास्ते पर निकल पड़ेंगे। मेरे मन, दिन-रात यह विश्वास रख कि काम होकर ही रहेगा :

"निशिदिन भरसा राखिस ओरे मन, हवेइ हवे।
यदि पण करे थाकिस, से-पण तोमार रबेइ र'बे।।
ओरे मन हबेइ हवे।।

पाषाण समान आछे पड़े
प्राण पेये से उठवे नड़े
आछे जारा बोबार मतन, ताराओ कथा कवेइ कवे ।।
समय होलो समय होलो,
जे यार आपन बोझा तोलो,
दुःख यदि माथाय धरिस, से दुःख तोर सवेइ सबे ।।
देखवे सवाइ आसवे सेजे,
घंटा जखन उठवे वेजे,
एक-साथ सब यात्री जत एकइ रास्ता लवेइ लबे ।।
निशिदिन भरसा राखिस. ।।

इस अखण्ड विश्वास का साधक एक बार चल पड़ने पर लौटता नहीं। "ना, मैं अब नहीं लौटूंगा, नहीं लौटूंगा। मेरी नैया अब ऐसी मनोहर हवा की ओर बह चली है, मैं अब किनारे नहीं लगूँगा, नहीं लगूँगा। धागे टूटकर छितरा गये हैं तो क्या ? मैं उन्हें ही खोंट-खोंटकर जान दे दूँ ? ना, अब टूटे घेर की खूँटियाँ बटोर-कर मैं बेड़ा नहीं रूँधूंगा। घाट की रस्सी टूट गयी है तो क्या इसीलिए छाती पीट-पीटकर रोऊँ ? अब तो मैं पाल की रस्सी कसके पकड़ लूंगा, यह रस्सी टूटने नहीं दूंगा, नहीं दूंगा :

"आमि फिर्बो ना रे, फिर्बो ना आर फिर्वो ना रे—
(एमन) हावार मुखे भास्लो तरी
(कूले) भिड्बो ना आर भिड्बो ना रे ।।
छड़िये गेछे सूतो छिंड़े
ताइ खूंटे' आज मर्बो कि रे,
(एखन) भांगा घरेर कुड़िये खुटि
(वेड़ा) घिर्बो ना आर घिर्बो ना रे ।।
घाटेर रसि गेछे केटे
कांद्बो कि ताइ वक्ष फेटे,
(एखन) पालेर रसि ध'रबो कसि,
(ए रसि) छिंड़बो ना आर छिंड़वो ना रे ।।

जो रास्ते पर निकल पड़ा है उसे फिरने का नाम लेना भी ठीक नहीं है। नेता वही हो सकता है जो स्वयं अपने-आपको ही जीत सके। रवीन्द्रनाथ ने नाना भाव से इस बात पर जोर दिया है। जो आत्मजयी है, जिसने अपने-आपको काबू में रखा है, वही दूसरों को भिड़ पड़ने की प्रेरणा दे सकता है। जो स्वयं हार गया, जो अपने को ही नहीं सँभाल सका, वह दूसरे को क्या बल देगा ?—"अरे ओ अभागे, यदि तू स्वयं ही अवसाद-ग्रस्त होकर गिर पड़ेगा तो दूसरे किसी को कैसे बल देगा ? उठ पड़, खड़ा हो जा, हिम्मत न हार। लाज छोड़ दे, भय छोड़ दे,—तू अपने-आपको ही जीत ले। जब ऐसा हो जायेगा तब तू जिसे पुकारेगा, वही तेरी पुकार

पर चल पड़ेगा। अगर तू रास्ते में निकल ही पड़ा है, तो अब जो भी हो, जैसे भी हो, लौटने का नाम न ले। अरे ओ अभागे, तू बार-बार पीछे की ओर न देख। भाई मेरे, दुनिया में भय और कहीं नहीं है, वह केवल तेरे अपने मन में है। तू सिर्फ अभय-चरणों की शरण लेकर निकल पड़ :

"आपनि अवश होलि, तबे बल दिबि तुइ कारे।
उठे दाँड़ा उठे दाँड़ा, भेडे पड़िस ना रे।
करिस ने लाज करिस ने भय,
आपना के तुइ क'रे ने जय,
सबाइ तखन साड़ा देबे डाक दिबि तुइ जारे॥
बाहिर यदि हलि' पथे
फिरिस ने तुइ कोनो मते,
थेके थेके पिछन पाने
चासे ने बारे बारे।
नाइ-जे रे भय त्रिभुवने
भय शुधू तोर निजेर मने,
अभय चरण शरण क'रे
बाहिर हये जारे॥"

"ना भाई, तू कमर कसकर तैयार हो जा, बार-बार हिलना ठीक नहीं है। मेरे दोस्त, केवल सोच-सोचकर तू हाथ में आयी लक्ष्मी को ठुकराने की गलती न कर। इधर या उधर कुछ एक बात तै कर ले। यह भी क्या कि केवल विचारों के स्रोत पर बहता ही फिरा जाय! बहता फिरना तो मर जाने से बुरा है। ना भाई, एक बार इधर, एक बार उधर—यह खेल अब बन्द कर। रत्न मिलता हो तो, न मिलता हो तो, एक बार प्रयत्न तो फिर भी करना ही पड़ेगा। क्या हुआ अगर वह तेरे मन लायक नहीं है तो? ना भाई, तू अब आँसू तो मत गिरा! डोंगी धारा में छोड़ देनी हो तो छोड़ दे, पशोपेश में पड़कर समय क्यों बरबाद कर रहा है? जब अवसर हाथ से निकल जायगा, पयान की बेला बीत जायगी, क्या तब तू आँख खोलेगा? :

"बुक बेधे तुइ दाँड़ा देखि, बारे बारे हेलिस ने, भाई,
शुधू तुइ भेबे भेबेइ हातेर लक्ष्मी ठेलिस ने, भाई॥
एकटी किछु क'रे ने ठिक, भेसे फेरा मरार अधिक,
बारेक ए दिक बारेक ओ दिक ए खेला आर खेलिस ने, भाई॥
मेले कि ना मेले रतन, करते तबू हबे यतन,
ना यदि हय मनेर मतन, चोखेर जलटा फेलिस ने, भाई॥
भासाते हय भासा भेला, करिस ने आर हेला फेला,
पेरिये जखन जाबे बेला तखन आँखि मेलिस ने, भाई॥"

"भाई मेरे, घर में म्लान मुँह देखकर तू गल न जा, बाहर अन्धकारमय मुख

देखकर तू बिदक न जा, जो तेरे मन में है उसे प्राणों की बाजी लगाकर भी पाने का प्रयत्न कर, सिर्फ इतना ध्यान रख कि उस मनचाही वस्तु के लिए दस भले आदमियों के बीच हल्ला न करना पड़े। भाई मेरे, रास्ता केवल एक ही है, उसे ही पकड़कर आगे बढ़ चल। जिसे ही आया देखा, उसी के पीछे चल पड़ने की गलती न कर। तू अपने काम में लगा रह, जिसे जो खुशी हो उसे वही कहने देना। क्यों तू दूसरों की परवा करता है? औरों की बात से अपने-आपको झुलसाना ठीक नहीं है; ना, तू किसी की भी परवा न कर:

"घरे मुख मलिन देखे गलिस ने—ओरे भाई,
बाइरे मुख आँधार देखे ढलिस ने—ओरे भाई॥
जा तोमार आछे मने साधो ताइ परानपणे,
शुधू ताइ दश जनारे बलिस ने—ओरे भाई॥
एकइ पथ आछे ओरे, चल् सेइ रास्ता ध'रे,
जे आसे तारि पिछे—चलिस ने— ओरे भाई॥
याक् ना तुइ आपन काजे, जा खुशी बलुक ना जे,
ता नियें गायेर ज्वालाय ज्वलिस ने—ओरे भाई॥"

जिस वीर ने एक बार आगे बढ़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया, जो अपने-आपको जीतकर, अपने समस्त क्षुद्र स्वार्थों को भूलकर अमृत के सन्धान में निकल पड़ा है उसकी विजय निश्चित है। रास्ते में विघ्न आयेंगे, पर वे दूर हो जायेंगे। बन्धन जकड़ेंगे, पर छिन्न हो जायेंगे। बाधाएँ दृढ़निश्चयी को परास्त नहीं कर सकतीं। वह दुःख में, संकट में और आनन्द में चराचर को आन्दोलित करता हुआ, उल्लसित करता हुआ, आगे निकल जायगा। "भय नहीं है, भय नहीं है, विजय निश्चित है, यह द्वार खुलकर ही रहेगा। मैं ठीक जानता हूँ—तेरे बन्धन की डोरी बार-बार टूट जायेगी। क्षण-क्षण तू अपने-आपको खोकर सुप्ति की रात काट रहा है। अरे भाई, तुझे बारम्बार विश्व का अधिकार पाना होगा। स्थल में, जल में, लोकालय में, सर्वत्र तेरा आह्वान है। तू सुख और दुःख में, लाज की हालत में और भय की हालत में भी जो गान गायेगा, तेरे उस प्रत्येक स्वर में फूल, पल्लव, नदी, निर्झर सुर मिलायेंगे और तेरे प्रत्येक छन्द से आलोक और अन्धकार स्पन्दित होंगे:

"नाइ नाइ भय, हबे-हबे जय खुले जाबे एइ द्वार—
जानि जानि तोर बन्धन डोर छिंड़े जाबे बारेबार॥
खने खने तुइ हाराये आपना सुप्ति निशीथ करिस यापना
बारे बारे तोरे फिरे पेते हबे विश्वेर अधिकार॥
स्थले जले तोर आछे आह्वान, आह्वान लोकालये,
चिरदिन तुइ गाहिबि जे गान सुखे दुखे लाजे भये।
फूल पल्लव नदी निर्झर सुरे सुरे तोर मिलाइबे स्वर,
छन्दे जे तोर स्पन्दित हबे आलोक अन्धकार।"

देश-माता के प्रति जो भक्ति है, वह क्या किसी स्वार्थ के कारण है? ऐसी

युक्तियाँ दी जाती हैं कि हमारा देश इतना सुन्दर है, हमारी पृथ्वी ऐसी रत्नगर्भा है, हमारा आकाश ऐसा मनोरम है और इसीलिए हमारा देश संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है, परन्तु ये युक्तियाँ केवल अपने-आपको भुलावा देने के लिए ही दी जाती हैं। माता के प्रति पुत्र का प्रेम अहेतुक होता है। "मातः, मेरा जन्म सार्थक है जो इस देश में पैदा हुआ हूँ, मेरा जन्म सार्थक है जो मैं तुझे प्यार कर रहा हूँ। मुझे ठीक नहीं मालूम कि तेरे पास किसी रानी की भाँति कितना धन है, कितने रत्न हैं। सिर्फ इतना ही जानता हूँ कि तेरी छाया में आने से मेरे अंग-अंग जुड़ा जाते हैं। मैं ठीक नहीं जानता कि और किसी वन में ऐसे फूल खिलते हैं या नहीं जो इस प्रकार अपनी सुगन्धि से आकुल कर देते हैं; यह भी नहीं जानता कि किसी आसमान में ऐसी मधुर हँसी हँसनेवाला चाँद उठता है या नहीं। सिर्फ इतना जानता हूँ कि तुम्हारे प्रकाश में पहले-पहल मैंने आँखें खोलीं और वे जुड़ा गयीं। बस, इसी आलोक में आँखें बिछाये रहूँगा और अन्त में इसी आलोक में उन्हें मूँद भी लूँगा :

"सार्थक जनम आमार जन्मेछि ए देशे।
सार्थक जनम मागो, तोमाय भालो बेसे ॥
जानिने तोर धन रतन, आछे कि ना रानीर मतन,
शुधू जानि आमार अंग जुड़ाय तोमार छायाय एसे ॥
कोन् बनेते जानिने फूल गन्धे एमन करे आकुल,
कोन् गगने ओठे रे चाँद एमन हासि हेसे।
आँखि मेले तोमार आलो प्रथम आमार चोख जुड़ाल,
ओइ आलोतेइ नयन रेखे मूदब नयन शेषे ॥"

यह अहेतुक प्रेम ही वास्तविक भक्ति है। यही देशभक्त का सबसे बड़ा सम्बल है।

सुन्दर का मधुर आशीर्वाद

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा बहु-विचित्र स्वरों में प्रकट हुई है। उनके किसी एक पहलू को भी संक्षेप में लिखना कठिन है। मृत्यु को उन्होंने कभी भयंकर नहीं माना, सदा 'जीवन-देवता' की विचित्र लीला का गान करते रहे। एक कविता में उन्होंने लिखा है, "ए जीवने सुन्दरेर पेयेछि मधुर आशीर्वाद" (मैंने इस जीवन में सुन्दर का मधुर आशीर्वाद पाया है)। वस्तुतः वे स्वयं मनुष्यजाति के लिए सुन्दर के मधुर आशीर्वाद के रूप में आये थे। भयंकर विरूप परिस्थितियों में उन्होंने उस महान् जीवन-देवता के

अनुग्रह की आशा नहीं छोड़ी, जो 'सुन्दर' के रूप में अपने को निरन्तर अभिव्यक्त करता जा रहा है, जिसके प्रेमरूपी अमृत का मधुर आस्वाद मानव के प्रीतिपात्र में मिला करता है। मृत्यु के कुछ पूर्व जब वे एक बार रोगाक्रान्त हुए, कई दिनों तक बेहोश पड़े रहे, तब भी उनके अवचेतन चित्त में यह विश्वास काम कर रहा था। 'आरोग्य' की एक कविता में कहा था, "जिस दिन मैंने आसन्न मृत्यु की छाया अनुभव की, उस दिन भय के हाथों मेरा पराभव नहीं हुआ, मैं महत्तम मानव के स्पर्श से वंचित नहीं हुआ, उन महामानवों की अमृतवाणी मेरे हृदय में बराबर संचित रही। मैंने जीवनविद्या का दाक्षिण्य अपने जीवन में पाया है, उसकी स्मारक लिपि कृतज्ञतापूर्वक लिखे जाता हूँ।" इसी कविता में उन्होंने यह भी कहा था कि "दुस्सह दुख के दिनों में मैंने अपने अक्षय अपराजित आत्मा को पहचान लिया है।" अक्षय-अपराजित आत्मा! —यही रवीन्द्रनाथ का महिमा-मण्डित सन्देश है।

सन् 1937 ई. की कठिन बीमारी से उठकर उन्होंने जो कविताएँ लिखी थीं, वे बड़ी ही शक्ति-सम्पन्न हैं। बीमारी से उठते ही उनके मन में अपनी 'अवसन्न चेतना' की अनुभूतियाँ मँडराने लगीं। उन दिनों संसार नये युद्ध की तैयारी में था, रण-दुन्दुभियों का विरक्तिजनक निःस्वन आकाश को कम्पित करने लगा था। कवि की प्रयाणोद्धत आत्मा नयी आशंकाओं से व्याकुल हो उठी थी, उसी मनः-स्थिति में वह बेहोशी का दौरा आया जिसे कवि ने अपनी भाषा में 'अवसन्न चेतना की गोधूलिवेला' कहा था। उन्होंने एक कविता में उस गोधूलिवेला की अनुभूतियों को जिस प्रकार व्यक्त किया है, उससे उनकी उस व्यापक अनुभूति और अपराजित विश्वास का शक्तिशाली रूप देखने को मिलता है। यहाँ उनका अन्तरतर का कवि-रूप अपने को परमात्मा के कल्याणमय रूप के साथ एक होने की बात ही प्रमुख रूप से विद्यमान पाता है। रोग ने जब कवि के मृण्मय शरीर को अक्षम और निष्क्रिय बना दिया था, उस समय भी कवि का चिन्मय रूप सम्पूर्ण आभा के साथ जाग्रत था। यह कविता उनके अक्षत-अपराजित आत्मा के प्रति दृढ़ निष्ठा को व्यक्त करती है। हिन्दी में उसे कुछ इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है :

"अवसन्न चेतना की गोधूलिवेला में मैंने देखा कि मेरा शरीर कालिन्दी के काले स्रोत में अपनी समस्त अनुभूतियों और विचित्र वेदनाओं को लिये हुए, एक विचित्र आच्छादन में आजन्म की स्मृतियों को लपेटे हुए हाथ में अपनी वंशी लिये बहा जा रहा है। जैसे-जैसे मैं दूर-से-दूर होता गया, वैसे-वैसे उसका रूप म्लान होता आया, परिचित घाटों पर तरु छाया द्वारा आलिंगित लोकालयों में आरती की ध्वनि क्षीण होती गयी, दीपशिखा ढक गयी, नौका घाट पर बँध गयी। दोनों किनारों पर लोगों का आना-जाना बन्द हो गया। रात घनी होती गयी और अरण्य की प्रत्येक शाखा पर विहंगों के मौन गानों ने 'महानिश्शब्द' के चरण तले अपनी बलि दे दी। विश्व की समस्त विचित्रताओं पर जल में और स्थल में एक प्रकार की काली अरूपता उतर आयी। अन्तहीन तमिस्रा में सारी देह छाया होकर बिन्दु-बिन्दु विलीन होने लगी। नक्षत्रों की वेदी के नीचे अकेला, स्तब्ध खड़ा हुआ था मैं। हाथ

जोड़कर ऊपर की ओर देखकर मैंने कहा, 'हे पूषन् ! तुमने अपने रश्मिजाल को समेट लिया है। इस बार अपना कल्याणतमरूप प्रकाशित करो ताकि मैं उस पुरुष को देख सकूँ जो तुममें और मुझमें एकरूप होकर विराजमान है।' "

एक दूसरी कविता में उन्होंने लिखा है, "रंगमंच पर से एक-एक करके जब सभी दीपशिखाएँ बुझ गयीं, सभास्थल रिक्त हो गया, उस समय किसी 'निश्शब्द' के तर्जनी-संकेत द्वारा मेरा चित्त उस सुषुप्ति की भाँति शान्त हो गया, जिसमें अन्धकार की कालिमा के पुत जाने से स्वप्नों के चित्र मिट गये होते हैं। अब तक अपने नाट्य परिचय के लिए मैंने जो वेश बनाया था, वह पहली बार यवनिका टूटते ही क्षणभर में निरर्थक हो गया। मैंने अपने को जिन नाना चिह्नों और प्रसाधनों द्वारा चिह्नित किया था वे मिट गये, अपने में आप ही निगूढ़ पूर्णता ने मुझे निस्तब्ध कर दिया—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्यास्त के अन्तिम चिता-रोहण के समय दिनान्त की शून्यता में धरती की विचित्र चित्रलेखा जब प्रच्छन्न हो जाती है तो वाद्ययुक्त आकाश अपने ही तारा-दीप्त परिचय से मौन विस्मय के साथ स्तब्ध हो रहता है।"

उस अवस्था में भी उन्हें संसारव्यापी लोभ और भय का घिनौना दृश्य व्याकुल कर रहा था। एक तरफ बलदृप्त गर्वान्ध राष्ट्रों के भयंकर लोभ का दारुण ताण्डव चल रहा था और दूसरी ओर निरीह, दुर्बल राष्ट्रों में दयनीय विभीषिका का आक्रमण हो रहा था। बेहोशी के बाद की उनकी एक कविता में यह बात बड़ी ही दृप्त भाषा में प्रकट की गयी है। उन्होंने लिखा है, "जिस दिन मेरा चैतन्य लुप्ति की गुहा से मुक्त हुआ, उसने उस दिन एक दुस्सह विस्मय की आँधी के साथ दारुण दुर्योग के भीतर से न जाने किस नरकाग्निवर्षी ज्वालामुखी के गिरिगह्वर के किनारे लाकर मुझे खड़ा कर दिया। मैंने देखा कि वह ज्वालामुखी तप्त धूप के रूप में मनुष्य का तीव्र अपमान उगलता हुआ फुफकार रहा है, अमंगलध्वनि से धरित्री को कम्पित कर रहा है और वायुमण्डल के स्तरों में कालिमा पोत रहा है। वहीं से मैंने इस युग की आतमघाती मूढ़ उन्मत्तता को देखा और यह भी देखा कि उसके समूचे शरीर में विकृति का घिनौना परिहास घर कर गया है। एक तरफ है स्पर्द्धित क्रूरता और मत्तता का निर्लज्ज हुंकार, और दूसरी तरफ है भीरुता का दुविधा भरा पद-संचार और कृपण का छाती से चिपका हुआ वह सतर्क सम्बल जो सन्त्रस्त प्राणी की भाँति क्षणिक गर्जन से ही तत्काल क्षीण स्वर से अपनी निरापद नीरव नम्रता को प्रकट कर देता है।

"(मैंने देखा) जितने प्रौढ़ प्रतापशाली राष्ट्रपति हैं उन सभी ने मन्त्रिसभा के मण्डप तले संशय और संकोचवश अपने समस्त आदेशों और निर्देशों को अधरोष्ठों से दबाकर पीस रखा है। इधर वैतरणी नदी के उस पार से दल-के-दल दानव पक्षी क्षुब्ध शून्य से उड़े आ रहे हैं और ये नरमांस के भुक्खड़ गिद्ध अपने यन्त्ररूपी पक्षों को हुंकारित करके महाशून्य को अपवित्र कर रहे हैं।

"हे महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक, मुझे शक्ति दो, शक्ति दो,

मेरे कण्ठ में वज्रवाणी संचारित करो ताकि मैं इस शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित बीभत्सता को धिक्कार दे सकूँ—जो धिक्कार लज्जातुर इतिहास के हृदयस्पन्दन में उस समय भी स्पन्दित होता रहे जबकि यह रुद्ध कण्ठ, भयार्त्त, शृंखलित विश्व चुपचाप अपने चिताभस्म के नीचे विलुप्त हो गया रहेगा।"

इस प्रकार कवि ने अवसन्न चेतना की गोधूलिवेला में क्रूरता का मत्त अभियान और भीरुता का संशय-भरा पदसंचार ही अनुभव किया। भुक्खड़ गिद्धों के यन्त्रपक्षों की कोलाहल-ध्वनि ही सुनी। महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक से उन्होंने दृढ़ कण्ठ की याचना की—ऐसी शक्तिशाली वाक्शक्ति, जो शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित बीभत्सता को धिक्कार दे सके। यद्यपि उनका यह विश्वास पूर्ण शक्ति के साथ उस समय भी विद्यमान था कि एक दिन यह बीभत्स हिंसा अपने चिता-भस्म के नीचे दब जायेगी। परन्तु व्याकुल वे अवश्य थे। अपनी अन्तिम कविताओं में उन्होंने अपने समस्त जीवन के विश्वासों पर मानो सही की मुहर लगायी। मृत्यु से लगभग डेढ़ वर्ष पहले लिखा था—"बार-बार मन में आता है कि अब मैं चला। कहाँ? जहाँ कोई नाम नहीं है। जहाँ विश्व का सारा परिचय मिट गया है, जहाँ 'हाँ' और 'ना' एक होकर मिल गये हैं; जहाँ आलोकहीन, अन्धकारहीन, अखण्ड दिन विराजमान है; जहाँ मेरे 'मैं' की धारा क्रमशः पूर्ण चैतन्य के समुद्रसंगम में मिल जायेगी। मैं ठीक नहीं कह सकता कि अन्त में मेरा यह वाह्यावरण क्या होगा। क्या वह नाना रूप-रूपान्तरों में होता हुआ कालस्रोत में बहता हुआ फिरेगा? और मैं अपनी स्वतन्त्रता में उसके बाहर के बहुपदार्थों से जड़ित अजाने तीर्थयात्री को निरासक्त होकर देख सकूंगा?"

वस्तुतः रवीन्द्रनाथ मृत्युञ्जय होकर ही जीते रहे। वे अपने जीवन-देवता को मृत्यु के अतीत समझते थे। मृत्यु जीवन के वेग को पवित्र बनाने के लिए आती है। गति का रोध ही मृत्यु है। अगजग में व्याप्त प्राण-धारा विराट् वेग से आगे बढ़ रही है। उन्होंने इस प्राण-धारा को 'निरवधि, विराम-विहीन, अविरल, अविच्छिन्न, अजस्र' कहा है। अपनी एक अत्यन्त शक्तिशाली कविता 'चंचला' में उन्होंने इस जीवनधारा को विराट् नदी कहकर सम्बोधित किया है। इसी विराट् नदी के विरामहीन प्रवाह के स्पन्दन से शून्य सिहर उठता है, और इस रूपात्मक जगत् की बहुविचित्र रूप-रस-वर्ण और गन्ध से आप्लावित सृष्टि-रूप ग्रहण करती है। उन्होंने कहा है, "हे विराट् नदी, अदृश्य अशब्द तेरी वारिधारा, बह रही निरवधि, विराम-विहीन—स्पन्दन से सिहरता शून्य तेरी रुद्र कायाहीन गति के वस्तुहीन प्रवाह के खा-खा प्रचण्डाघात उठते वस्तुरूपी फेन के शतपुंज;—नवआलोक की तीव्रच्छटा विच्छुरित होती नित्य चित्र-विचित्र वर्णस्रोत में उठ-उठ निरन्तर धावमान विशाल तिमिर-व्यूह से। इस चण्डगति से उठे घूर्णाचक्र के प्रत्येक स्तर में पतित-घूर्णित, भटकते-मरते अनेकों सूर्य-शशि-नक्षत्र बुदबुद की तरह दिन-रात"। यह जो जीवन-धारा की गति है उसका लक्ष्य क्या है? कवि ने इस उन्मत्त अभिसार-यात्रा का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र खींचा है। जीवनधारा की यह अभिसार-गति न जाने किस

जीवन-देवता को प्राप्त करने का प्रयत्न है। इसके कारण ही यह गति है और इस गति से ही सारा विश्व रूपायित हो रहा है। उसका एक क्षण रुकना भी रूप को विकृत करना है। जहाँ कहीं भी विश्व में विकार दिखायी दे रहा है वहीं गतिरोध है और जहाँ कहीं भी जीवन का स्वच्छन्द प्रवाह सहज गति में चल रहा है वहीं सौन्दर्य है, प्रेम है, प्राण है। कवि ने कहा है, "हे भैरवी, हे वैरागिणी, तुम जो चलीं उद्देश्यहीन अबाध—यह गति ही तुम्हारी रागिणी—निश्शब्द मोहन गान। क्या तुमको निरन्तर है पुकार रहा अनन्त सुदूर जिसका ओर-छोर न सका कोई जान? उसकी ही निगोड़ी प्रीति से तुम हाय घर-छोड़ी बनीं, चल पड़ीं, हो उन्मत्त उस अभिसारयात्रा को;—प्रणय का यह विकट सँवार!—वक्षोहार बारम्बार टकराता, बिखरते जा रहे नक्षत्र मुक्ताकार! घनमेचक चिकुर सम्भार उड़-उड़ व्योमतल को कर रहा है अन्ध तिमिराकार, हिल उठते चपल विद्युद्वलय के कर्ण फूल दुरन्त, व्याकुल विकल अंचल छू रहा धरती, विलुण्ठित हो रहा कम्पित तृणों पर और वन-वन में नवोदित तरुण किसलयराजि पर निर्बाध; झड़ पड़ते कि बारम्बार—चम्पा, बकुल, जूही और पाटल मार्ग में गिर-गिर तुम्हारे नवल ऋतु की थाल से।"

जीवनी शक्ति की यह वेगवती धारा विकारों को ध्वस्त करती जा रही है। उसकी चरितार्थता इसी बात में है कि वह अपने को निश्शेष भाव से दान करती हुई आगे बढ़ रही है। जो अपने को निश्शेष भाव से दे सकता है वही पवित्र होता है, वही जीवन-देवता को प्राप्त कर सकता है। इस जीवनधारा के पादस्पर्श से मृत्यु प्राण बनती है, जीवन निर्विकार बनता है और मनुष्य देवत्व प्राप्त करता है। रवीन्द्रनाथ ने इसी जीवन-धारा की महिमा को 'सुन्दर के मधुर आशीर्वाद' के रूप में उपलब्ध किया था। इसीलिए वे मृत्यु की विभीषिका से कभी विचलित नहीं हुए। इस महिमामयी जीवनधारा को लक्ष्य कर उन्होंने कहा था, "केवल दौड़ती हो, दौड़ती हो, दौड़ती उद्दाम, उद्धत वामगति से ताकती भी हो। नहीं फिरकर, लुटाती जा रहीं सर्वस्व अपना खींच-खींच उलीचकर सब शून्य करती हुई निज भण्डार, कुछ भी नहीं सँचतीं-सँजोतीं—लेतीं बटोर-बटोर। मन में कहीं शोक न मोह, तुम निर्भय, निधड़क, निछोह! इस आनन्द में पथ के लुटाती जा रहीं निर्बाध निज पाथेय, जिस क्षण पूर्ण हो जातीं उसी क्षण कुछ नहीं रहता तुम्हारा, सभी हो जाता निखिल का, स्वयं को इस भाँति दे देना उँडेल अशेष—मस्ती का कि अलबेला नशा निर्द्वन्द्व। ईससे तुम सदैव पवित्र! पादस्पर्श से है भूल जाती मलिनता निज विश्व-धूलि सदा निमेष-निमेष में; उन्मिषित होकर मृत्यु बनती प्राण प्रति उल्लास में;—बस, एक क्षण भी अगर थककर, साँस लो विश्वास का तुम तनिक रुककर, स्फीत हो उट्ठे जगत् दुर्वार पुंजीभूत पर्वत-सदृश-वस्तु-समूह से; अति पंगु-मूक-कबन्ध, बधिर-निरन्ध, वह बाधा घमण्डी स्थूल तनु मोटी-मुचण्डी खड़ी होवे छेंक-कर पथ रोक सबका—क्षुद्र से भी क्षुद्रतर परमाणु अपने-आपके ही भार से—संशय-जनित दारुण-विरूप-विकार से—हो उठे विद्ध असीम नभ के मूल में ही

वेदना के शूल से। हे नटी, हे चपलाप्सरे, तुम हे अलक्ष्य-विहारि-मोहिनि सुन्दरी ! तेरे मनोहर नृत्य की मन्दाकिनी अहरह स्रवित हो कर रही पावन निरन्तर विश्व-जीवन को मरण के स्नान से; निःशेष निर्मल नील में विकसा रही है इस असीम अनन्त तनु आकाश का आलोक।"

उन्होंने इस विचित्र विश्व को रूप देनेवाली महाशक्ति को ही 'सुन्दर' कहा है। नाना वर्णों, रंगों और गन्धों में वही 'सुन्दर' रूपायित हो रहा है। सर्वात्मना अपने-आपको उसे दे देना ही 'सुन्दर' की चरम उपलब्धि है। महाकाल के अधीश्वर की स्पन्दहीन, चांचल्यहीन स्थिति में विक्षोभ होने से ही इस रूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। महाकाल के सुन्दर रूप में अभिव्यक्त होने को ही उन्होंने कवि-जनोचित भाषा में अपनी 'तपोभंग' नामक कविता में अभिव्यक्त किया है : "उस दिन उन्मत्त भाव से नर्त्तन करते हुए तुम वन-वन में घूमते फिरे, (हे महाकाल) मैं उसी छन्द और लय के साथ ताल मिलाता हुआ प्रतिक्षण छन्द और गीत रचा करता हूँ, तुम्हारे ललाटदेश में विराजमान चन्द्रमा के आलोक में नन्दनवन के सपनों-भरी आँखों से जी भरकर नित्य-नूतन की लीला देखा करता हूँ और रूप की तरंगों से लहराती हुई 'सुन्दर' की पुलक-कम्पनवाली हँसी की रंगीनी देखा करता हूँ।" विश्व को रूप देनेवाले महान् सुन्दर के ताल के साथ ताल मिलाकर चलनेवाला तत्त्व ही सौन्दर्य है। जिसने इस अग-जगव्यापी सौन्दर्य को समझ लिया है, वही विश्व को मधुमय देख सकता है। जहाँ कहीं उस मूल छन्द के साथ ताल नहीं मिलता, तुक नहीं मिलती, वहीं विकार होता है, वहीं कुरूपता होती है, वहीं आकर कवि का चित्त विक्षुब्ध होकर धिक्कार की वाणी सुनाने को व्याकुल हो उठता है : "मैं महेन्द्र का वह दूत हूँ जो तुम्हारा तप भंग किया करता है। हे रुद्र संन्यासी, मैं स्वर्ग का षड्यन्त्र हूँ—मैं कवि हूँ। हर युग में आया करता हूँ तुम्हारे तपोवन में!" रूप और सौन्दर्य को महिमामण्डित करनेवाला कवि ही इस जगत् में 'सुन्दर का मधुर आशीर्वाद' है। रवीन्द्रनाथ से अधिक उज्ज्वल रूप में यह आशीर्वाद कभी नहीं आया।

रवीन्द्रनाथ के नाटक

'नाटक' शब्द सुनते ही स्वभावतः स्टेज का स्मरण हो आता है। इसीलिए नाटक-कार और नाटक के समालोचक दोनों के लिए स्टेज की जानकारी आवश्यक होती। है 'स्टेज' शब्द सुनकर आजकल के लोग कई प्रकार की बात याद कर सकते हैं।

स्टेज पर आजकल पर्दों का होना आवश्यक-सा हो गया है, उसे वास्तविक बनाने के लिए नाना प्रकार के उपकरण न हों तो आजकल का समालोचक 'वाहियात' कहे बिना न रहेगा। कल्पना कीजिये कि एक कमरे में पाँच आदमियों के बैठने का दृश्य है। इस दृश्य को वास्तविक (real) बनाने के लिए स्टेज मैनेजर को ऐसा पट तैयार करना चाहिए कि दर्शक उसकी माया में भूल जाये—वह समझ ले कि सचमुच एक मकान है। 'तपसी' नामक नाटक की भूमिका में कविवर रवीन्द्रनाथ ने इस प्रवृत्ति को 'लड़कपन' कहा है। आपके मत से दृश्य-पट मनुष्य की कल्पना-वृत्ति को संकुचित कर देते हैं।[1] सचमुच कण्व के आश्रम का वही दृश्य जो कालिदास का नाटक पढ़ने के समय कल्पना द्वारा आँखों के सामने खिंच जाता है, दृश्य-पट पर अंकित करना धृष्ठतामात्र है। इस प्रबन्ध के लेखक को एक बार एक पारसी कम्पनी के 'अभिमन्यु' नाटक का अभिनय देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जयद्रथ-वध के समय पर्दे पर आकाश का दृश्य दिखाया गया, जिसमें सूर्यास्त हो रहा था। देखकर यह जान पड़ा मानो आकाश अपनी इस धर-पकड़ के कारण रो रहा है। क्षण-भर में इस दृश्य ने उस सुनहरी शोभा को निर्दयतापूर्वक छिन्न-भिन्न कर दिया जो दर्शक के हृदय में कल्पना द्वारा अंकित थी। इसीलिए रवीन्द्रनाथ के नाटकों में दृश्य-पट की झंझट नहीं रहती। प्रायः उनके नाटकों में एक ही या दो स्थान पर दृश्य बदले जाते हैं। दर्शक को कल्पना की सहायता अधिक लेनी पड़ती है। इस प्रबन्ध में इसीलिए स्टेज के real और unreal पहलुओं पर विचार नहीं किया जायगा, उनके कवित्व की ओर ही लक्ष्य रखा जाएगा।

रवीन्द्रनाथ स्वयं कुशल अभिनेता हैं। उनके प्रायः सभी नाटक उन्हीं की देखरेख में सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। कई में उन्होंने स्वयं प्रमुख भाग लिया है। इसीलिए इस विषय में हम उनके कथन पर विश्वास कर लेते हैं कि दृश्य-पट मनुष्य की कल्पना-शक्ति पर आघात करते हैं। हम पाठकों से आशा रखते हैं कि वे इन नाटकों में वस्तु-तत्त्व की खोज पट के बिना भी उसी रस-ग्राहकता से कर सकेंगे जैसे हमारे पूर्वज रामलीला और कृष्णलीलाओं का रसास्वादन किया करते थे।

कवित्व की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ के नाटक अनुपम हैं। उनमें किसी वस्तु के अन्तस्तल पर पहुँचने की आश्चर्यजनक क्षमता पायी जाती है। रवीन्द्र ने किसी सत्य को खण्डरूप में नहीं देखा। सबको अखण्डरूप में देखना ही उनकी साधना है। बात असल में यह है कि जिस सत्य को हम लोग खण्डरूप में देखते हैं, उस पर चलते समय संसार की पन्द्रह आना चीजें त्याग देनी पड़ती हैं। यौवनावस्था की उद्दाम सौन्दर्य-लालसा संसार की अधिकांश चीजों को असुन्दर रूप में ही ग्रहण करती है। सौन्दर्य के बहुत अल्प अंश पर ही उसकी दृष्टि केन्द्रित रहती है; परन्तु यदि इस

1. रवीन्द्रनाथ का यह मत नया नहीं है, बहुत पहले आपने 'रंगमंच' नामक प्रबन्ध में यही मत व्यक्त किया था। इस प्रबन्ध का हिन्दी-अनुवाद भी शायद इण्डियन प्रेस ने प्रकाशित कराया था।

बात को ही चरम सत्य समझ लिया जाये तो संसार प्रायः सौन्दर्य-शून्य हो जाये। रवीन्द्रनाथ ने सत्य को पूर्ण रूप में ही देखने का यत्न किया है। कबीर ने ठीक कहा है :

जो तन पाया, खण्ड बुझाया, तृष्णा नहीं बुझानी।
अमृत छोड़ खण्ड रस चाखा तृष्णा ताप नसानी।

सत्य को खण्डरूप में देखने का ही परिणाम है कि हम संसार में जड़-चेतन को भिन्न रूप से देखते हैं। प्रकृति और जीव को रवीन्द्रनाथ ने द्वैतभाव से नहीं देखा। जिस प्रकार प्रकृति को नहीं बाँधा जा सकता—एक ओर बाँधने से वह दूसरी ओर निकल पड़ती है, उसी प्रकार मनुष्य को भी बन्धन में बाँधने की चेष्टा व्यर्थ है। रवीन्द्रनाथ के नाटक इस बात के उदाहरणों से भरे हैं।

'तपसी' में विक्रम ने रानी सुमित्रा को प्यार के बन्धन में बाँधना चाहा था पर वह न बँध सकी। मनुष्य को प्यार मिलते ही वह सम्मान चाहने लगता है। सुमित्रा 'प्रेयसी' होकर ही सन्तुष्ट नहीं थी, वह 'सम्मान' पुरस्सर 'रानी' होना चाहती थी। प्रजा के दुःखों को गोपनभाव से जानने के अपराध में विक्रम ने जब उसे रोकना चाहा तब वह घर से निकलकर तपस्विनी हो गयी। राजा ने सैन्य लेकर उसके पिता के राज्य पर चढ़ाई की, इसका परिणाम हुआ—सुमित्रा का बलिदान! 'राजा' नामक नाटक की रानी जब मान करके पिता के घर गयी तो उसे मान खोकर बिना राजा के लिवाये ही आना पड़ा। प्रवृत्ति की चंचलता का अच्छा प्रदर्शन 'चित्रांगदा' में किया गया है। चित्रांगदा जीवन-भर पुरुष-वेश में ही अपनी राजधानी में लालित हुई है। उसके पितृकुल को शिव का वरदान है कि पुत्र के सिवा दूसरी सन्तान नहीं होगी। वह इस वरदान का अपवाद है। अतः, पिता ने उसे राजकुमार के रूप में सजाया है, धनुष-विद्या की भी शिक्षा दी है। उसे अपने स्त्रीत्व का ज्ञान ही नहीं है। अचानक एक दिन उसने मार्ग में सोये हुए ब्रह्मचारी अर्जुन को देखा। अवज्ञापूर्वक पैरों से ठेल दिया, परन्तु जब अर्जुन जगकर खड़े हो गये तो उसका स्त्रीत्व पहली बार जग पड़ा। जीवन-भर का अभ्यास प्रवृत्ति की आँच के सामने क्षण-भर न टिक सका। अर्जुन का परिचय पाकर वह उनसे मिलने के लिए व्याकुल हो उठी। मिलने पर अर्जुन ने सीधा-सा उत्तर दिया—'मैं ब्रह्मचारी हूँ!' परन्तु यह उत्तर क्षणिक था।

चित्रांगदा ने मदन की आराधना की। अपने मित्र वसन्त के साथ मदन आये। आने पर उसने अपनी सारी कथा और अभिलाषा सुनायी :

"जिस दिन पहले-पहल मैंने उसे देखा था, उसी दिन अनन्त वसन्त हृदय में पैठ गया। बड़ी इच्छा हुई थी कि उस यौवन-समीर में मेरा सारा शरीर देखते-देखते, लक्ष्मी के चरणतलशायी कमल की भाँति अपूर्व पुलक से प्रस्फुटित हो उठता। हे वसन्त, हे वसन्त-सखे! मेरी वह वासना केवल एक दिन के लिए पूरी करो!"

कामदेव और वसन्त ने एक दिन की जगह एक वर्ष तक बराबर सहायता करने

का वचन दिया। परन्तु वासना की पूर्त्ति का अवसर आने पर मानवहृदय को कामदेव और वसन्त की सहायता के मृणाल-तन्तु को छिन्न करने में कितनी देर लगी ? अर्जुन ने कहा :

"देवि, मैं ही अर्जुन हूँ (जिसे तुम चाह रही हो)। तुम्हारे हृदय के द्वार पर मैं प्रेमार्त्त अतिथि हूँ।"

"चित्रांगदा—सुना है, अर्जुन ने द्वादश-वर्ष-व्यापी ब्रह्मचर्य-पालन करने का व्रत लिया है। वही वीर व्रत-भंग करके कामिनी की कामना कर रहा है ! हे संन्यासी, क्या तुम्हीं अर्जुन हो ?

"अर्जुन—जिस प्रकार चन्द्रमा उदित होकर क्षण-भर में निशीथ की योग-निद्रा भंग कर देता है, उसी प्रकार तुमने मेरा व्रत भंग किया है।

"चित्रांगदा—धिक् पार्थ, धिक् ! मैं कौन हूँ, मेरे पास क्या है ? तुमने क्या देखा है ? मुझे क्या समझा है ? किसके लिए अपने को भूल रहे हो ? क्षण-भर के लिए सत्य-भंग करके किसके लिए अर्जुन को 'अनार्जुन' कर रहे हो ? मेरे लिए नहीं। इन दोनों नील-कमल जैसी आँखों के लिए, इस अवनी-निन्दित बाहुपाश में, सत्य-बन्धन को छिन्न करके आज सव्य-साची अर्जुन पकड़ा गया है। प्रेम की मर्यादा कहाँ गयी ? नारी का सम्मान कहाँ रहा ? हाय, मेरा यह तुच्छ शरीर मुझे अतिक्रम कर गया ! ..."

प्रेम की भिखारिणी ने प्रेम को देखते ही सम्मान की ओर हाथ बढ़ाया ! परन्तु कब तक ? मदन के पूछने पर चित्रांगदा मिलन-समय की अवस्था कहती है :

"...सुना—'प्रिये, प्रियतमे !' इस गम्भीर आह्वान से मेरा सौ-सौ जन्म एक ही शरीर में जग पड़ा। मैंने कहा—ले लो, जो कुछ है, हे मेरे जीवन-वल्लभ ! सब ले लो ! ..."

परन्तु दूसरे ही क्षण,

"निःश्वास फेंककर उठ पड़ी, मालती के लता-जाल को सावधानी से झुका दिया और इस प्रकार सुप्त मुख से रवि-किरणों को ओट में कर दिया ! —देखा, चारों ओर वही पूर्वपरिचित पृथ्वी है। अपने को आप ही याद आ गया। अपनी ही छाया से त्रस्त हरिणी की भाँति वह नव प्रभात में विकीर्ण हरसिंगार के पुष्पों से आच्छादित वनस्थली में होकर भाग आयी।"

मदन अपनी असफलता पर 'हाय !' करके रह गये। दूसरा कवि शायद मदन के उद्दाम वेग के बाद यह कहलाना भूल जाता :

"वह भी अच्छा है देव ! इस छद्मवेशिनी से मैं सौ गुना श्रेष्ठ हूँ। मैं अपने को प्रकाशित करूँगी, उन्हें यदि अच्छा न लगे, वे यदि घृणा से (छोड़कर) चले जायें, छाती फटकर अगर मेरी मृत्यु हो जाये तो भी मैं 'मैं' तो रहूँगी। इन्द्रसखे ! वह भी अच्छा है।"

यह सत्य है कि मदन का प्रथम आवेग संसार को मधुमय कर देता है, परन्तु उस आवेग के बाद क्या उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही सत्य नहीं है ! जो केवल

प्रेम के मदन-सौन्दर्य को चरम-सौन्दर्य समझते हैं उनके लिए 'अमृत छोड़ खण्ड-रस चाखा तृष्णा ताप नसानी !' कथन सत्य है।

'खेया' की कविताओं में कवि की साधनाओं का यथार्थ रूप चित्रित है। 'सब पेयेछिर देश' (सब-पा-लिया-है का देश) में कवि ने इस साधना को दिखाया है। परन्तु इसमें कुछ भी असामान्यता नहीं है। अवश्य ही "दूर का राही एक रात के लिए आकर देख ही नहीं पाता कि इस 'सब-पा-लिया-है के देश' में क्या है ?" परन्तु जो डटकर देखते हैं, उन्हें 'सब-पा-लिया-है' को कुछ बड़ी दूर खोजने नहीं जाना पड़ता। फिर वह कहाँ है ?

इनमें—

"रास्ते के किनारे वृक्षों की छाया में घास उगी है, उसी के पास से स्वच्छ-तरल स्रोतधारा बह रही है, कुटियों में मेंड़ के ऊपर झपकती हुई लता हिल रही है; (वहाँ) सवेरे से ही मधुमक्खियों की व्यस्त व्याकुलता (खेल रही है)।"

इन्हीं में है सब-पा-लिया का देश ! कितना नजदीक है। अथच—

"एक रजनीर तरे हेथा दूरेर पांथ एसे
देखते ना पाय कि आछे एइ सब-पेयेछिर देशे।"

यह है सब सत्य को रसमय करके प्रत्यक्ष उपलब्ध करने की साधना—विश्व-प्रकृति, मानव-प्रकृति, मानव-इतिहास, सभी को एक अखण्ड सत्य के रूप में समझने की साधना है। वेदना वहीं है, जहाँ पर सौन्दर्य-बोध की परिपूर्णता का अभाव है। परिपूर्ण सौन्दर्य भावना-संसार को आनन्दमय देखता है। 'राजा' नाटक में यह बात सुदर्शना के चरित्र में दिखलायी गयी है। सुदर्शना जिस राजा की रानी है, उसके राज्य में कोई राजा को देखता नहीं; स्वयं सुदर्शना ने भी नहीं देखा। वह एक अन्धकारमय कमरे में रखी गयी है। प्रकाश के लिए यह व्याकुल है। सुवर्ण, जो छद्मवेशी राजा बनकर निकलता है, अपने 'चोख भोलानो'—चक्षुस्तृप्तकर—रूप का जादू रानी सुदर्शना पर डालता है। रानी राजा के 'सब-रूप-डोबानो-रूप' को भूल जाती है और अवज्ञा करके पिता के घर चली जाती है। परन्तु इसी आत्मा-भिमान की ज्वाला में वह जलने लगती है—छटपटा उठती है। अन्त में अन्य राजाओं के चढ़ आने पर जब सुदर्शना का पिता बन्दी कर लिया जाता है, तब राजा आकर उनसे सुदर्शना का उद्धार करता है—परन्तु रूप नहीं दिखाता है—लिवा नहीं जाता। रानी का मान उसे काटने लगता है। इस मान में कितनी विशाल वेदना है। दूसरी ओर 'ठाकुर्दा' (दादा) का चरित्र इतना उज्ज्वल अंकित किया गया है कि कवि की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। ठाकुर्दा सबसे मिल सकता है, सबके भीतर तक प्रवेश कर सकने की उसमें क्षमता है—आनन्द ही उसका मन्त्र है। राजा कौन है ? कुछ नागरिकों के वार्त्तालाप से उसका परिचय मिल जायेगा :

प्रथम पथिक—अजी, महाशय !

पहरेदार—क्यों जी ?

दूसरा पथिक—रास्ता कहाँ है ? हम लोग विदेशी हैं, हमें रास्ता बता दो।

पहरेदार—कहाँ का रास्ता ?

तीसरा पथिक—सुना है, कहीं आज उत्सव होगा। किधर से रास्ता है ?

पहरेदार—यहाँ सब रास्ता-ही-रास्ता है। जिधर से जाओगे, ठीक स्थान पर पहुँच जाओगे। सामने चले जाओ। (प्रस्थान)

पहला—सुनो, एक बार इसकी बातें तो सुनो। कहता है, सब एक ही रास्ता है ! यदि यही होता तो इतने (रास्तों) की जरूरत ही क्या थी ?

दूसरा—तो भई, खीजते क्यों हो ? जिस देश की जैसी व्यवस्था। हमारे देश में तो रास्ता नहीं है, कहना ही ठीक है। टेढ़ी-मेढ़ी गलियाँ—एक गोरखधन्धा ! हमारा राजा कहता है, खुला रास्ता न रहना ही अच्छा है—रास्ता पाते ही प्रजा-गण बाहर हो जाते हैं। इस देश में उलटा है, जाने से कोई रोकता नहीं, आने से कोई मना नहीं करता। तो भी आदमी तो बहुत देख रहा हूँ। ऐसा खुला होने पर हमारा राज्य तो उजाड़ हो गया होता।

(ठाकुर्दा और कुछ नागरिकों की बातचीत)

"................

दूसरा—देखो दादा, आज एक बात मन में बड़ी खटकती है।

ठाकुर्दा—भला सुनूँ तो।

दूसरा—इस बार देश-विदेश के लोग आये हैं; सभी कहते हैं, सब तो अच्छा है किन्तु राजा क्यों नहीं दिखायी देता ? किसी को जवाब न दे सका। हमारे देश में यही एक बड़ा फाँक है।

ठाकुर्दा—फाँक ! हमारे देश में राजा एक जगह दिखायी नहीं देता, इसीलिए तो सारा राज्य राजा से ठसाठस भर गया है—इसी को फाँक कहते हो ? उसने तो हम सभी को राजा बना दिया है। ये जो दूसरे राजा हैं, उन्होंने तो उत्सव को पीस-पासकर धूल में मिला दिया !—उनके हाथी, घोड़ा, प्यादा-पल्टन की मार से दक्षिण-पवन का दाक्षिण्य अब नष्ट हो गया—वसन्त के दम घुटने की अवस्था आ गयी है। किन्तु हमारा राजा अपने लिए जगह नहीं रखता, सबके लिए छोड़ देता है···

तीसरा—मगर दादा, उसे न देख सकने के कारण लोग अनायास ही उसके नाम पर जो इच्छा आती है कह देते हैं। यही नहीं सहा जाता।

पहला—यही देखो न, मुझे गाली देने पर दण्ड मिलेगा, किन्तु राजा को गाली देनेवाले का मुँह बन्द करनेवाला कोई नहीं है।

ठाकुर्दा—इसका मतलब है, राजा का प्रजा में जितना अंश है, उसी शरीर पर आघात लगता है, उसके बाहर उसके शरीर पर कुछ भी आघात नहीं लगता। सूर्य का जो तेज दीपक में है वह एक फूंक भी नहीं सह सकता, किन्तु हजार आदमी मिलकर भी अगर सूर्य पर फूंकें तो वह अम्लान ही रहेगा।"

रहस्य का यह कोई ऐसा जटिल जाल नहीं है जिसमें प्रवेश कर सकना गहन हो। बड़ी आसानी से इस अदृश्य राजा को पहचाना जा सकता है। इसी राजा को छोड़कर मान करके सुदर्शना चली जाती है। सुदर्शना जब तक अपना सारा अहंकार नहीं छोड़ देती तब तक फिर मिलन नहीं होता। राजा ने सात राजाओं के हाथ से उसका उद्धार अवश्य किया, परन्तु दर्शन नहीं दिया। क्योंकि वह जानता है कि जिसमें जितना ही अधिक अहंकार है, उसकी पीड़ा उतनी ही गम्भीर है और उस पीड़ा के अन्त का मिलन भी उतना ही पूर्ण है। सुरंगमा—सुदर्शना की सखी—एक सरल भक्त का चित्र है। मान-भंग के पश्चात् दोनों की बातचीत का थोड़ा-सा अंश विषय के स्पष्टीकरण के लिए दिया जाता है।

"सुदर्शना—बच गयी, सुरंगमा, मैं बच गयी! हार मानकर बची हूँ। अरे बाप रे! कैसा कठिन अभिमान है—किसी तरह पिघलना नहीं चाहता! मेरा राजा मेरे पास क्यों आने लगा!—मैं ही जाऊँगी, यह बात किसी तरह मन से नहीं कहला सकती थी। सारी रात उसी खिड़की के पास धूल में लोटकर काट दी। दक्षिणी हवा (रात-भर) हृदय की पीड़ा की भाँति हू-हू करके बही और कृष्ण चतुर्दशी के अन्धकार में उलूक चार पहर चिल्लाता रहा—मानो वह अन्धकार का क्रन्दन था!

सुरंगमा—अहा! मालूम होता था, जैसे कल की रात का भिनसार किसी प्रकार होगा ही नहीं!

सुदर्शना—किन्तु कहने से तू पतियायेगी नहीं, कि मेरे मन में बार-बार मालूम होता था मानो कहीं उसकी वीणा बज रही है। जो निष्ठुर है, उसके कठिन हाथों से क्या ऐसा विनय का स्वर बज सकता है? बाहर के लोग केवल मेरा असम्मान ही देख गये, किन्तु गोपनीय रात्रि का वह स्वर तो मेरे सिवा और किसी ने नहीं सुना! वह वीणा क्या तूने सुनी है, सुरंगमा? नहीं, वह हमारा स्वप्न था!

सुरंगमा—वही वीणा सुनने के लिए ही तुम्हारे साथ हूँ। अभिमान को गला देनेवाला स्वर बजेगा, यही जानकर तो कान लगाकर पड़ी थी।

सुदर्शना—उसी की प्रतिज्ञा रही—रास्ते से बाहर करके ही तो छोड़ा!..."

इसी अभिमान के निकल जाने पर अखण्ड मिलन होता है।

रवीन्द्रनाथ ने समस्त संसार को संगीतमय पाया है। उनका सारा काव्य इस विश्व-संगीत का सन्देश सुनाता है। लताएँ अपने मन्द आन्दोलन के रूप में, तरंगिणी अपनी मुखरित कल-ध्वनि के रूप में दक्षिण हवा अपने मन्थर-संचार में—एक अमर गान गा रहे हैं। सारा विश्व एक अज्ञात, अनिर्वचनीय वीणा के स्वर में अपना स्वर मिला रहा है। मानव-हृदय, गुप्त रूप से हो या प्रकट रूप से, सुदूर की वंशी-ध्वनि के लिए व्याकुल है—रवीन्द्रनाथ की कविता में इस स्वर को सुनने की व्याकुल उत्सुकता पद-पद पर फूट पड़ी है! 'रक्त करबी' (लाल कनेर) नाटक में कवि ने इस विश्व-संगीत को दिखाया है। एक पुरानी चिट्ठी में वे लिखते हैं:

"अनन्त के भीतर एक प्रकाण्ड, अखण्ड, चिरविरह-विषाद है, वह सन्ध्याकाल

की परित्यक्त पृथ्वी पर उदास आलोक से कुछ प्रकाशित कर देता है—समस्त जल, स्थल और आकाश में एक विचित्र भाषा से परिपूर्ण नीरवता है; देर तक चुपचाप बैठकर देखते-देखते ऐसा जान पड़ता है कि यदि चराचर में व्याप्त यह पूर्ण नीरवता अपने को और अधिक नियन्त्रित न कर सके, सहसा यदि उसकी अनादि भाषा विदीर्ण होकर प्रकाशित हो उठे, तो एक गहरा, गम्भीर, शान्त, सुन्दर, करुण संगीत पृथ्वी से नक्षत्र-लोक तक बज उठे। असल में यही हो रहा है। बात यह है कि जगत् के कम्पनकाल में जो आघात करता है वह है शब्द! हम अगर निविष्ट चित्त से स्थिर होकर चेष्टा करें तो जगत् के समस्त सम्मिलित आलोक और वर्णों में जो एक विशाल harmony है, उसे मन-ही-मन एक विपुल संगीत के रूप में अनूदित कर सकते हैं।"

कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ की कविताओं में कभी-कभी जो अस्पष्टता का अनुभव होता है, वह इसी संगीत की उपलब्धि के कारण है। कवि के ही शब्दों में—"संगीत स्रोते भेसे जाइ दूरे, खुँजे नाहि पाइ कूल।" अर्थात् मैं संगीत के स्रोत में बह जाता हूँ, खोजकर भी किनारा नहीं पाता।

'रक्त करवी' का घटना-स्थान है एक यक्षपुरी—सोने की खान। यहाँ के लोग दिवा-रात्रि सोना खोदते हैं। इसमें जो मजदूर एक बार आ जाते हैं, फिर वे जा नहीं सकते। अगर निकलते हैं तो वे नहीं—उनके प्रेत, उनके कंकाल। इस मृग-मरीचिका की ओर आने पर फिर उद्धार नहीं। इस पुरी का राजा कभी बाहर नहीं आता। सदा जाल से आवृत एक घर में रहता है। अत्याचार की वह मूर्त्ति है—लोभ का वह आश्रय है। इसके सरदार व्यापारिक दुर्ग्रहणीय शक्ति के मूर्त्ति-मान प्रतीक हैं। दया नहीं, माया नहीं, केवल कुटिल चक्र है! इस नाटक में आधु-निक सभ्यता का वह सर्व-संहारी दानवी रूप दिखलाया गया है जो मनुष्यता को कुचलकर प्रकृति के दुर्भेद्य जाल को छिन्न-भिन्न कर उसके युग-युगान्तर के संचित भण्डार को लूटने में ज़रा भी कुण्ठित नहीं होता। इसी पुरी में नन्दिनी विद्रोह की ध्वजा लेकर आती है। इस विद्रोह का प्रतीक है 'रक्त करवी'—लाल कनेर। जहाँ भी वह जाती है, अशान्ति, अस्थिरता और अधीरता फूट पड़ती है। जिससे वह भेंट करती है वही उस विश्व-संगीत को सुनने के लिए उत्सुक हो जाता है। पर्वतों में, निर्झर में, आकाश में, मैदान में, स्पष्टतः या अस्पष्टतः वही संगीत सुन पड़ता है। किशोर उसका बिना पैसे का गुलाम है—वह उसके लिए प्राण देकर भी करवीर या लाल कनेर जुटा सकता है। श्रमिक फागुलाल उसके द्वारा न जाने कौन-सा ओज पाता है; वह उसका अनुगत हो जाता है। शुष्क-हृदय, विद्यावागीश अध्यापक उस पर लट्टू है; पागल विशु उसका क्रीतदास है—ऐसी है वह संगीत सुनाने-वाली नन्दिनी। राजा स्वयं उसे प्यार करता है।

किन्तु नन्दिनी के हृदय को जीता है रंजन ने[1]। रंजन प्रसन्न, साहसी, उत्साह-परायण, सुन्दर युवक है। नन्दिनी रंजन का मार्ग देख रही है। वह जानती है कि रंजन के आने से सब ठीक हो जायेगा। इन श्रमिकों को मुक्ति मिल जायेगी—यक्षपुरी का वज्र-कपाट टूट जायेगा। रंजन के साथ उसका ठीक मिलन होगा। उसने उसके लिए हार तैयार कर रखा है। रंजन आता है, उसे किसी तरह वश में न कर सकने के कारण सरदार उसकी हत्या करना चाहते हैं और राजा के पास बिना उसका नाम बताये भेज देते हैं। राजा उसे मार डालता है। इसके पहले ही किशोर मार डाला गया है, विशु बन्दी है। उत्कण्ठिता नन्दिनी राजा के पास आती है, उसे मालूम हो गया है कि विशु बन्दी है। आज पहली बार दरवाजा खुलता है। नन्दिनी राजा को बैठा पाती है—पास ही रंजन का मृत शरीर है। किशोर भी मरा पड़ा है।

"नेपथ्य से राजा का कथन—मैं थका हूँ, बहुत थका हूँ। ध्वजा-पूजा की थकावट दूर करके आऊँगा। इस समय अगर बाधा दोगी तो रथ के पहिये के नीचे धूल हो जाओगी।

नन्दिनी—छाती पर से पहिया निकल जाय, हिलूँगी नहीं।

नेपथ्य से— नन्दिनी, हमारे पास तुमने आश्रय पाया है, इसीलिए नहीं डरतीं। आज डरना ही पड़ेगा।

नन्दिनी—मैं चाहती हूँ कि जैसे सबको भय दिखाते फिरते हो, वैसे ही मुझे भी दिखाओ। आश्रय को मैं घृणा करती हूँ।

नेपथ्य से—घृणा करती हो? स्पर्द्धा चूर्ण कर दूँगा। तुम्हें अपना परिचय देने का समय आया है।

नन्दिनी—परिचय के लिए तो इन्तजार कर रही हूँ। द्वार खोलो! (द्वार-उद्घाटन) यह क्या है? यह कौन पड़ा है? रंजन की भाँति जान पड़ता है!

राजा—क्या कहा रंजन? रंजन कदापि नहीं है।

नन्दिनी—हाँ जी, वही तो हमारा रंजन है।···राजा, रंजन को जगा दो। सभी कहते हैं कि तुम जादू जानते हो, उसे जगा दो।

राजा—मैंने यमराज से जादू सीखा है! जगा नहीं सकता, जागरण भंग कर सकता हूँ।

नन्दिनी—तो मुझे भी उसी नींद में सुला दो। मैं नहीं सह सकती! क्यों तुमने ऐसा सर्वनाश किया?"

यहीं पर राजा अपनी भूल समझता है। वह स्वयं विद्रोही हो उठता है। और

1. इस लेख को सुनने पर रवीन्द्र-साहित्य के श्रेष्ठ मर्मज्ञ अध्यापक श्री क्षितिमोहन सेन (विश्वभारती) ने लेखक को बतलाया कि इस नाटक में कवि ने भावी युवक-आन्दोलन की ओर संकेत किया है। नाटक को पढ़ने से स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यवसायवाद (commercialism) से आबद्ध मानव-नन्दिनी (मनुष्यता) का उद्धार युवकों के बलिदान पर ही निर्भर है।

इस विद्रोह की ध्वजा उठाती है वही रक्त-करवीर-धारिणी नन्दिनी। राजा के सेवक उसी के विरुद्ध हो जाते हैं। उच्छ्वसित श्रमिक-समूह नन्दिनी का साथ देता है।

पागल विशु अन्त में रंगमंच पर आकर वही रक्त-करवीर की माला पाता है। उस समय का अन्तिम गान—नन्दिनी की अनुप्राणता का फल है—नाटक के रहस्य को स्पष्ट कर देता है।

विशु—उससे मैंने कहा था, उसके हाथ से कुछ नहीं लूँगा। पर यह लेना पड़ा।

(जाता है)

(दूर से गान सुनायी देता है)

पौष तोदेर डाक दियेछे, आय रे चले,
आय, आय, आय।
धूलार आँचल आज भरेछे पाका फसले
मरि, हाय, हाय, हाय !

[पौष तुम लोगों को बुला रहा है—आ, चला आ, चला आ। आज धूल का आँचल पकी फसलों से भर गया है। हाय-हाय, कैसा आश्चर्य है !]

नन्दिनी मनुष्यता का आदर्श है। सौन्दर्य और ऐश्वर्य—रंजन और राजा—उसके मूल में अपने को निछावर कर देते हैं। शक्ति और ज्ञान इस आदर्श के उपासक हैं। पवित्रता और परिश्रम—विशु और फागुलाल हैं।

इसके अनुगत नन्दिनी मनुष्यता की मूर्त्ति है। 'रक्त करवी' का यही कथन है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता में किसी रूपक निकालने का सदैव निषेध किया है। इस नाटक की भूमिका में तो उन्होंने इसे विशेष रूप से मना किया है। वे कहते हैं :

"हमारे नाटक भी एक ही समय मनुष्य और मनुष्यश्रेणी, दोनों के रूप हैं। श्रोतागण यदि कवि की सलाह की अवज्ञा न करें तो मैं कहूँगा कि श्रेणी की बात भूल जाइए। यही समझ रखिए कि 'रक्त करवी' का समस्त प्लाट नन्दिनी नामक एक मानवी का चित्र है। चारों ओर के पीड़न के बीच होकर उसका आत्म-प्रकाश हुआ है—फव्वारा जैसे संकीर्णता के पीड़न से हँसी, अश्रु और कल-कल ध्वनि के रूप में उच्छ्वसित हो उठता है, वैसे ही। उसी चित्र की ओर ही अच्छी तरह देखते रहें तो शायद कुछ रस पा सकते हैं, नहीं तो 'रक्त-करवी' की पँखुड़ियों की ओट में अर्थ खोजते समय कुछ अनर्थ हो जाय तो इसका जिम्मेवार कवि नहीं है। नाटक में ही इस बात का आभास दिया गया है कि जिस पाताल में खनिज-धन खोजा जाता है, नन्दिनी वहाँ की नहीं है। मिट्टी के ऊपर जहाँ प्राण का और रूप का नाच है, जहाँ प्रेम की लीला है वह उसी सहज सुख की है—उसी सहज सौन्दर्य की है।"

एक युग था जब नाटक दर्शन-योग्य काव्य को ही कहते थे। उस समय वर्त्तमान साधन उपलब्ध नहीं थे। परन्तु कवि की कल्पना की तूलिका उन साधनों को शब्दों की झंकार के साथ बाँध देती थी। श्रोता उन्हें आसानी से पा जाता था। युग बदल

गया है। आप जैसा भी नाटक दुनिया के सामने क्यों न रखें, रंगमंच का निपुण निरीक्षक उसमें 'ननु' लगा ही देगा। सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शा ने ठीक लिखा है :

"मैं पूर्वयुगीन सुखान्त और दु:खान्त नाटकों से उसी तरह घृणा करता हूँ जैसे धर्मोपदेश और स्वर-समन्वय से। किन्तु मैं पुलिस तथा विवाह-विच्छेद के समाचार या किसी प्रकार का नृत्य और सजावट आदि पसन्द करता हूँ, जो मुझ पर या मेरी पत्नी पर बढ़िया प्रभाव डालते हैं। बड़े लोग चाहे जो कहें, मैं किसी प्रकार के बुद्धिमूलक कार्य से आनन्द नहीं उठा सकता और न यही विश्वास करता हूँ कि कोई दूसरा उससे आनन्द उठा सकता होगा। ऐसी बातें नहीं कही जातीं, फिर भी यूरोप और अमरीका के 90 फी सदी प्रसिद्ध पत्रों में नाटकों की समालोचना के नाम पर इन्हीं बातों का विस्तारपूर्वक और पालिश किया हुआ अर्थान्तर प्रकाशित होता है। अगर इन समालोचनाओं का यह अर्थ नहीं तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं है।"

Saint Joan; Preface IX.

कहना नहीं होगा कि यूरोप और अमरीका की यह हवा भारतवर्ष के वायुमण्डल में घुस चुकी है। यही कारण है कि आये दिन रवीन्द्रनाथ के कृपालु समालोचक उनके नाटकों को 'मिस्टिसिज्म' की बुनियाद पर रचित बताकर बिना विचार किये 'नाटक' की सीमा के बाहर पहुँच जाते हैं। प्रथम तो रवीन्द्रनाथ के नाटकों में सब-के-सब इस 'मिस्टिसिज्म'—रहस्यवाद—की बुनियाद पर नहीं बने, जो कुछ हैं भी वे इतने सीधे-सादे और मार्मिक हैं कि प्रस्तुत लेखक उन बुद्धिमान आदमियों के इस तर्क को समझ ही नहीं सकता। मुझे नहीं मालूम होता कि 'राजा' की रानी को आत्मा का प्रतीक समझनेवालों को कौन-सा रस-निर्झर मिल जाता है, जो उसे सीधी रानी समझनेवालों को नहीं मिलता ! उन्हें कूटबुद्धिमूलक आनन्द मिल जाता होगा; परन्तु रस की प्रसन्न निर्झरिणी से भेंट नहीं होती होगी। रामायण के राम-सीता-रावण को धर्म-भक्ति-पाप, खुदा-कुदरत-शैतान, समझनेवाले न जाने क्या आनन्द पाते हैं !

इस लेख में रवीन्द्रनाथ के कुछ प्रमुख नाटकों के उद्धरण देकर पाठकों के सामने उनकी नाटक-रचना-कला का एक उदाहरण उपस्थित किया गया है। उनके सब नाटकों पर लिखने से तो पूरी पुस्तक तैयार हो सकती है।

कविवर रवीन्द्रनाथ का 'डाकघर'

'डाकघर' एक छोटा-सा रूपक है। मुश्किल से इसमें सात सौ पंक्तियाँ होंगी। इसका विषय भी बहुत अपरिचित नहीं है। वैद्य की आज्ञा से घर में आबद्ध रोगी बालक बाहर निकलना चाहता है। इसका प्लाट इतना सादा है कि उद्भट समालोचक इस सादगी पर झुँझला उठता है। इस इतनी-सी बात के लिए नाटक लिखने की क्या जरूरत थी ! एक कविता या एक गान लिख देना क्या पर्याप्त न होता ? रवीन्द्रनाथ को कविता या गान लिखने में तो जरूरत से ज्यादा शक्ति प्राप्त है, फिर उन्होंने यह नाटक का जंजाल क्यों खड़ा कर दिया ?

इस स्वतन्त्रता की शताब्दी के गम्भीर समालोचक बीती हुई शताब्दियों की वर्गीकरण-पद्धति का उपहास करते हैं। भरत से लेकर धनिक-धनंजय तक सभी नाट्याचार्य मनोभावों और अभिनय-क्रियाओं का वर्गीकरण करते आये हैं। उनमें नाटक (रूपक) के मूल-सूत्र की कोई परवा ही नहीं की गयी ! और आज का नाट्य समालोचक नाटक के रस, उसके प्रभाव, उसके technique आदि का सूक्ष्म विवेचन करता है, प्लाट की जटिलता को अपनी सूक्ष्म बुद्धि के बल पर सुलझाया करता है, और अपनी इसी मनोवृत्ति को स्वतन्त्रता कहा करता है। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' जब पहले-पहल यूरोप में पहुँची, तो यूरोपियन समालोचक-वर्ग ने चकित भाव से कहा—mystic—रहस्यवादी ! और मध्ययुग के ईसाई रहस्यवादियों के साथ उसकी तुलना शुरू हो गयी। मानो ईसाई-युग के रहस्यवादियों से तुलना हुए बिना रहस्यवाद (mysticism) की समालोचना हो ही नहीं सकती। इसी तरह 'डाकघर' को देखकर किसी अंग्रेजी पढ़े साहित्य-शूर ने सन्देह के साथ कहा था—"शेक्सपियर ! प्लाट !" मानो शेक्सपियर ही नाटक की अन्तिम सीमा-रेखा है और प्लाट ही चरमविचार्य ! तो क्या आधुनिक समालोचक धनिक-धनंजय की पुरानी खाई की ओर ही अग्रसर नहीं हो रहा है ?

थोड़े में 'डाकघर' की कहानी इस प्रकार है :

माधवदत्त के कोई पुत्र नहीं है। उसने अमल को, अपनी स्त्री के विवश करने पर, गोद लिया है। वह भी उसे प्यार करता है। अमल बीमार है। वैद्य ने उसे बाहर की हवा से बचाने का आदेश किया है; किन्तु अमल घर में बन्द होकर रहना नहीं चाहता। वह सामने के पहाड़ को पार करके सुदूर चला जाना चाहता है। वह गिलहरी होकर भी बाहर रहना चाहता है। अच्छे होते ही, उसकी अभिलाषा है कि 'मैं टेढ़े-मेढ़े झरने के जल में पैर डुबोकर पार होता हुआ चला जाऊँगा—दोपहर के समय जब सब लोग दरवाजे बन्द करके घर में सोते रहेंगे, उस समय मैं काम खोजते-खोजते, घूमने-फिरने न-जाने कहाँ कितनी दूर चला जाऊँगा।'

माधवदत्त के समझाकर चले जाने पर बालक खिड़की पर बैठ जाता है। सामने की सड़क से 'दही-दही' की आवाज लगाता हुआ दहीवाला निकल जाता है। बालक

उसे बुलाता है, और उसका घर-द्वार पूछता है। बालक अमल दहीवाले के गाँव कभी गया नहीं; पर न-जाने क्यों उसे जान पड़ता है कि वह उस गाँव में गया है, 'अनेक पुराने वृक्षों के नीचे एक लाल रंग के रास्ते के किनारे' वह गाँव है, 'वहाँ पहाड़ पर गायें चरा करती हैं, लड़कियाँ नदी से घड़े में जल भरकर सिर पर लेकर आती हैं, उनकी साड़ी लाल होती है।' इसके बाद बालक 'दही-दही' की मीठी और सुरीली आवाज सीखकर दही बेचने के सुन्दर कार्य को करने की अभिलाषा प्रकट करता है। इसी तरह वह पहरेवाले को बुलाकर उसके घण्टे के बजने का कारण पूछता है। वह जानना चाहता है कि समय कहाँ जा रहा है। 'वह देश शायद किसी ने देखा नहीं! मेरी बहुत इच्छा होती है कि समय के साथ ही चला जाऊँ--जिस देश की बात कोई नहीं जानता, उसी बहुत दूर के देश में!' यह सुनकर बालक को बड़ी प्रसन्नता होती है कि उस देश में सभी को जाना होता है। प्रहरी से उसे मालूम होता है कि सामने के झण्डेवाले मकान में डाकघर है।

अमल—डाकघर? किसका डाकघर?

पहरेदार—डाकघर और किसका होगा? राजा का डाकघर। यह लड़का तो अजीब है!

अमल—राजा के डाकघर में राजा के यहाँ से सब चिट्ठियाँ आती हैं?

पहरेदार—और नहीं तो क्या? देखना, एक दिन तुम्हारे नाम भी चिट्ठी आयेगी!

अमल—मेरे नाम भी चिट्ठी आयेगी? मगर मैं तो लड़का हूँ।

पहरेदार—लड़कों को राजा इतनी-इतनी-सी छोटी-छोटी चिट्ठियाँ लिखा करते हैं।

अमल—ठीक होगा! मैं कब चिट्ठी पाऊँगा? मुझे भी वे चिट्ठी लिखेंगे, तुमने कैसे जाना?

पहरेदार—ऐसा न होता तो इतने बड़े एक सुनहरे रंग के झण्डे को फिहराकर वे ठीक तुम्हारी खिड़की के सामने ही डाकघर खोलने क्यों जाते?—लड़का मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है।

अमल—अच्छा, राजा के पास से चिट्ठी आने पर मुझे कौन ला देगा?

पहरेदार—राजा के बहुत-से डाक-हरकारे हैं—देखा नहीं तुमने, छाती पर गोल-गोल सोने का तमगा लगाकर वे घूमा करते हैं।

अमल—अच्छा, वे घूमते कहाँ हैं?

पहरेदार—घर-घर, देश-देश।—इसके सवाल सुनकर तो हँसी आती है।

अमल—बड़े होने पर मैं राजा का डाक-हरकारा बनूँगा।

इसके बाद से बालक को एक ही रट है, राजा की चिट्ठी उसके पास आयेगी और वह देश-विदेश चिट्ठी बाँटता फिरेगा! प्रहरी से वह प्रार्थना करता है कि हरकारे को उसका नाम बता दे। इसके बाद सरदार आता है, जिसके डर से पहरेदार सरक जाता है। सरदार महादुष्ट है, किसी की उन्नति वह नहीं देख सकता।

बालक उसे भी बुलाकर राजा की चिट्ठी के बारे में सवाल करता है। वह बालक के सरल प्रश्नों की केवल दिल्लगी ही नहीं उड़ाता, माधवदत्त की अनिष्ट-चिन्ता भी करने लगता है। इसके बाद मालिन की लड़की सुधा आती है, और उसकी आधी खुली खिड़की भी बन्द कर देना चाहती है। वह फूल चुनकर माला बनाया करती है। जल्दी के कारण वह रुक नहीं सकती; परन्तु यह प्रतिज्ञा करती जाती है कि वह फूल लेकर आयेगी और बालक को भूल नहीं जायेगी। फिर लड़कों का दल आता है। उन्हें अपने खिलौने देकर अमल उनसे अनुरोध करता है कि वे उसके सामने ही खेलें। लड़के जब खेल शुरू कर देते हैं, तो वह ऊँघने लगता है, इस पर लड़के जाने लगते हैं। अमल उनसे अनुरोध करता है कि वे किसी डाक के हरकारे से उसका परिचय करा दें।

अन्तिम समय में अमल अधिक रुग्ण हो जाता है। माधवदत्त उसे और अधिक बन्द करना चाहता है। बालक कहता है कि अगर वह खिड़की के पास न बैठेगा, तो उसका फकीर लौट जायेगा। फकीर के वेश में ठाकुर्दा (पितामह--दादा) प्रवेश करता है। ठाकुर्दा का प्रवेश सर्वत्र है, वह बालकों को पागल कर देता है। फकीर को देखते ही बालक प्रसन्न हो जाता है। उसके पूछने पर फकीर (ठाकुर्दा) बताता है कि वह क्रौंचद्वीप से आ रहा है। क्रौंचद्वीप का सौन्दर्य बालक के निकट मानो अपरिचित नहीं है। ठाकुर्दा भी बालक की प्रत्येक बात का समर्थन कर उसका उत्साह बढ़ाता है। फिर चिट्ठी की बात उठती है। बालक बताता है कि वह जैसे देख रहा है कि राजा का हरकारा पहाड़ के ऊपर से उतरा आ रहा है। उसके बायें हाथ में लालटेन है, कन्धे पर चिट्ठी का थैला। न-जाने कितने दिन से वह उतरा ही आ रहा है। फिर वह राजा के निकट जाने की इच्छा प्रकट करता है, और उसका डाक-हरकारा होने की इच्छा भी प्रकट करता है। वैद्य आकर उसकी बुरी दशा देखकर माधवदत्त को और भी सावधान रहने को कह जाता है। फिर सरदार आता है। बालक के पूछने पर सरदार दिल्लगी के लिए एक सादा कागज देकर कहता है कि, 'हाँ जी, तुम्हारे साथ राजा की दोस्ती है न! यह चिट्ठी लो। घर में सत्तू-पिसान तैयार रखो, राजा ने दो-एक दिन के भीतर ही आने को कहा है!' सरल बालक इस पर विश्वास करता है, और ठाकुर्दा सरदार की कुटिलता को जानकर भी कहता है कि 'हाँ बेटा, सचमुच यह राजा की चिट्ठी है।' माधवदत्त सरदार के व्यंग्य से अनिष्ट की आशंका से घबराकर उसकी खुशामद करना चाहता है। इसी बीच राजा का दूत सचमुच उपस्थित होता है और राजा के आने की सूचना देता है। सरदार फीका पड़ जाता है। माधवदत्त अमल से कहता है कि 'बेटा, हमारी अवस्था खराब है, राजा से कुछ माँग लेना।' इस पर उत्साहित होकर अमल कहता है कि वह राजा से डाक-हरकारे का पद माँग लेगा! थोड़ी देर बाद राजा के भेजे राजवैद्य आते हैं, और सारे दरवाजे खोल देने का आदेश करते हैं। दीपक भी बुझवा देते हैं। अमल अतिशय प्रसन्न हो जाता है।

"राजवैद्य—आधी रात को जब राजा आयेंगे, तो तुम बिछौना छोड़कर उनके

साथ बाहर चल सकोगे ?

"अमल—जरूर, चल सकूँगा। बाहर होने से मेरा प्राण बचेगा। मैं राजा से कहूँगा कि इस अन्धकारपूर्ण आकाश में ध्रुवतारा को पहचनवा दो। मैंने उस तारा को, जान पड़ता है, कितनी ही बार देखा है; परन्तु वह कौन है, यह तो मैं नहीं पहचानता।

"राजवैद्य—वे सब पहचनवा देंगे।···

(कुछ देर के बाद बालक ऊँघने लगता है)

"राजवैद्य—कुछ जरूरत नहीं, इस बार तुम सब लोग स्थिर हो जाओ। यह आयी, उसे नींद आयी। मैं बालक के सिरहाने बैठूँगा, उसे नींद आ रही है।···"

और बालक सो जाता है। इसी समय सुधा आती है और फूल दे जाती है।

"सुधा—वह कब जगेगा ?

"राजवैद्य—अभी, जब राजा आकर उसे बुलायेंगे।

"सुधा—तब तुम एक बात उसके कानों में कह दोगे ?

"राजवैद्य—क्या कहना होगा ?

"सुधा—कहना कि सुधा तुम्हें भूली नहीं।"

यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

कविवर रवीन्द्रनाथ का विश्वास है कि हमारी आत्मा नाना रूपों से विकसित होती हुई बराबर पूर्णता की ओर बढ़ती जा रही है। अपने सैकड़ों गानों और कविताओं में कवि ने इस बात को नाना रूप में प्रकाशित किया है। 'डाकघर' में भी यह विश्वास स्पष्ट ही पाया जाता है। अमल के निकट कुछ भी अपरिचित नहीं, वह नीलनिर्झर, वह पर्वतों पर चरता हुआ गो-यूथ, वह रक्त-वस्त्र पहने, सिर पर कलशी लिये ग्राम-वधूटियाँ—सबकी एक अस्पष्ट स्मृति-सी उसके मन में उठती है। जैसे उसकी आत्मा ने इसे कभी प्रत्यक्ष देखा हो। नाना संकीर्णताओं में बद्ध मनुष्य सुदूर की उस सुन्दरता के लिए व्याकुल है, जिसके विषय में उसका इस जन्म का ज्ञान नितान्त कम है। जिस राजा की चिट्ठी के बारे में उसे कुछ भी नहीं मालूम उसके लिए उसकी कितनी गम्भीर व्याकुलता है! 'एक दिन मेरी चिट्ठी आयेगी, यह बात याद करते ही मैं खूब प्रसन्न होकर चुपचाप बैठा रह सकता हूँ। किन्तु राजा की चिट्ठी में क्या लिखा होगा सो तो मैं नहीं जानता।' परन्तु फिर भी यह क्या कम आनन्द की बात है कि राजा की चिट्ठी आयेगी! अमल ने किसी डाक-हरकारे को अब तक देखा भी नहीं; किन्तु वह कहता है कि 'मैं जैसे प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ—जान पड़ता है, जैसे मैंने अनेक बार देखा हो—सो भी बहुत दिन पहले—कितने दिन पहले, सो याद नहीं। बताऊँ? मैं देख रहा हूँ, राजा का डाक-हरकारा पहाड़ पर से अकेला केवल उतरता ही आ रहा है—उसके बायें हाथ में लालटेन है, कन्धे पर चिट्ठी का थैला। कितने दिनों और कितनी रातों से वह केवल उतरा ही आ रहा है। पहाड़ की तलहटी के पास जहाँ झरने का रास्ता समाप्त हो जाता है, वहाँ टेढ़ी नदी का रास्ता पकड़े वह बराबर चला ही आ रहा है—नदी के किनारे

ज्वार का खेत है; उसी की तंग गलियों के भीतर होता हुआ वह बराबर आ रहा है--उसके बाद है ईख का खेत—उस ईख के खेत के पास से ऊँची मेंड़ चली गयी है, उसी मेंड़ के ऊपर होता हुआ वह बराबर आ ही रहा है—रात-दिन अकेला ही चला आ रहा है; खेत में झींगुर झनकार कर रहा है, नदी के किनारे एक भी आदमी नहीं, केवल हारिल दुम हिला-हिलाकर घूम रहा है—मैं सब देख रहा हूँ। जितना ही उसे आते देखता हूँ, मेरे हृदय में भारी प्रसन्नता हो रही है।' यह कैसा रहस्य है ? मगर यह रहस्य कुछ भी नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का यह अनुभव है कि किसी अज्ञात स्थान का नाम सुनते ही एक विचित्र प्रकार की अनुभूति होती है। दक्षिण-मेरु पर जानेवालों की संख्या संसार में कितनी है ? पर मन-ही-मन सबने कुछ-न-कुछ यात्रा की है। इसका क्या कारण है कि जिसको हम कुछ भी नहीं जानते, उसकी एक विचित्र कल्पना, एक भय और आनन्द से रंजित चित्र हमारे हृदय में खिंच जाता है ? शायद इसका कारण यही हो कि मानव-आत्मा का उनसे किसी तरह का सम्बन्ध हो।

'डाकघर' के मूल वक्तव्य का कुछ-कुछ आभास हमें कवि की 'सुदूर' कविता में मिलता है— "अजी, मैं चंचल हूँ, मैं सुदूर का प्यासवाला हूँ।"

आमि चंचल हे
आमि सुदूरेर पियासी।

"दिन वीता जाता है, मैं अनमने भाव से उसी की आशा से, खिड़की पर बैठा देखा करता हूँ; अजी, मैं प्राण और मन से उसी के स्पर्श पाने का प्रयासी हूँ—मैं सुदूर का प्यासवाला हूँ; अजी, ओ सुदूर, विपुल सुदूर, तुम तो व्याकुल बाँसुरी बजाया करते हो। मेरे पर नहीं हैं, एक जगह (पड़ा) हूँ, यह बात तो मैं भूल जाता हूँ।

"अजी, मैं उत्सुक हूँ; हे सुदूर, मैं प्रवासी हूँ। तुम दुर्लभ दुराशा की तरह सर्वदा हमें क्या सुनाया करते हो, तुम्हारी बात सुनकर हृदय ने तुम्हें अपना स्वभाषी समझा है; हे सुदूर, मैं प्रवासी हूँ। अजी, ओ सुदूर, विपुल सुदूर, तुम तो व्याकुल बाँसुरी बजाया करते हो। मैं रास्ता नहीं जानता, मेरा रास्ता भी नहीं है, यह बात तो मैं भूल जाता हूँ।

"मैं उन्मन हूँ, हे सुदूर, मैं उदास हूँ। धूप से सनी हुई अलस वेला में, वृक्ष के मर्मर में, छाया के खेल में, तुम्हारी नील आकाशशायिनी न जाने कौन-सी मूर्त्ति आँखों में आभासित हो उठती है। हे सुदूर, मैं उदास हूँ। अजी, ओ सुदूर, विपुल सुदूर, तुम व्याकुल बाँसुरी बजाया करते हो। हमारे घर का दरवाजा बन्द है, यह बात तो मैं भूल जाता हूँ।"

पर अगर 'डाकघर' की रचना नाटक के रूप में न होकर इसी तरह की कविता या गान में हुई होती, तो वह नाना भावों से इतना विचित्र और मधुर न हो उठता। वीणा के एक तार से ही वह मधुर ध्वनि नहीं निकल सकती, जो अन्य अनेक अप्रधान तारों के संयोग से सम्भव है। उसका परिणाम इतना सहज, इतना मधुर

और इतना हृदयग्राही नहीं हो सकता। वह एक अलग वस्तु होती।

यह परिणाम है क्या? स्पष्ट है, मृत्यु। यह रवीन्द्रनाथ की लेखनी का ही जादू है कि मृत्यु को उसने इतने मधुर रूप में उपस्थित किया है। कवि ने मृत्यु को सर्वदा जीवन को पूर्ण करने का साधन समझा है। उनके मत से जीवन और मरण में एक अतिशय प्रेम-सम्बन्ध है: "ऐ मेरे इस जीवन की अन्तिम परिपूर्णता—मरण, मेरे मरण, तुम मुझसे बातें करो।"

ओगो आमार जीवनेर
शेष परिपूर्णता।
मरण, आमार मरण, तुमि केओ
आमारे कथा।

संसार में कुछ भी नहीं रहेगा; सब नष्ट हो जायेगा; इसीलिए तो यह माया है, ममता है, मोह है, प्रेम है। मृत्यु है, इसीलिए संसार संचय के विकार से भार-ग्रस्त नहीं है। यदि यह मृत्यु न हो, यदि यह नित्य नूतन की क्रीड़ा क्षणभर के लिए भी रुक जाये—'यदि तुमि मुहूर्त्तेर तरे, दाँड़ाओ थमकि' तो अनर्थ हो जाय—"विश्व चौंककर उछल पड़े, राशि-राशि वस्तुओं के पर्वतों से वह भर जाय।··· छोटे-से-छोटा परमाणु अपने भार से ही—जो भार संचय के चिर-विकार का फल है—विद्ध हो जाय।" इसीलिए मृत्यु की महिमा है। उसने सारे संसार को करुण और प्रेममय बना दिया है। मगर 'डाकघर' का परिणाम यह मृत्यु भले ही हो, उसमें की 'चिट्ठी' का अर्थ मृत्यु कदापि नहीं है। उसका अर्थ है—"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, तुम्हारे लिए व्याकुल हूँ, तुम मेरे हो।" संसारी राजा बन्धन का आदर करता है, 'डाकघर' का राजा मुक्ति का; संसारी राजा भय से शासन करता है, 'डाकघर' का प्रेम से; संसारी राजा बड़े आदमियों के घर जाया करता है, 'डाकघर' का सर्वत्र।

हम लोगों की—साधारण कोटि के जीवों की—आदत हो गयी है कि प्रत्येक चीज को अपनी बुद्धि के माप-पात्र से नापा करते हैं। अगर वस्तु ऐसी हुई कि तोड़-मरोड़कर कई बार करके बुद्धि के वर्त्तन से नापी जा सके, तब तो हम लोग उसकी विशालता को कथंचित अनुभव कर लेते हैं; मगर यदि वस्तु ऐसी हुई कि उसके टुकड़े होना असम्भव हो, और साथ ही इतनी बड़ी हो कि छोटे बुद्धि-पात्र में उसका घुसना असम्भव हो, तो नाना प्रकार के संशय करने लगते हैं। मान लिया कि 'डाकघर' का राजा ईश्वर है और उसकी चिट्ठी प्रेम, पर माधवदत्त कौन है? दही-वाला कौन है? पहरेदार से क्या मतलब है? कविराज, सरदार या सुधा कौन-सी वस्तु हैं? ठाकुर्दा की ही क्या व्याख्या है? इत्यादि नाना प्रश्नों की वर्षा होने लगती है। हम लोग भूल जाते हैं कि बुद्धि से भी बढ़कर हमारे पास एक चीज है, सहजबोध (intuition)। क्या हुआ अगर 'डाकघर' के प्रत्येक पात्र का अर्थ समझ में नहीं आया? देखो चीज सुन्दर हुई है या नहीं, हृदयग्राही हुई है या नहीं? फूल की प्रत्येक पंखुड़ी नोचकर उसका गुण-अवगुण जानने का नाम सहृदयता नहीं।

विदग्धता वस्तु के विच्छिन्न अंगों से रस नहीं ग्रहण करती। अमल के ही शब्दों में —'राजा के पास से रोज़ अगर एक-एक चिट्ठी पाऊँ, तो अच्छा हो— इसी खिड़की के पास बैठ-बैठकर पढ़ा करूँगा; किन्तु मैं तो पढ़ नहीं सकता। कौन पढ़ देगा? बुआ तो रामायण पढ़ा करती है। वह क्या राजा की लिखावट पढ़ सकेगी? कोई यदि नहीं पढ़ सकेगा, तो जमा करके रख दूँगा, बड़ा होकर मैं ही पढ़ूँगा।'

समाप्त करते समय स्वर्गीय अजितकुमार चक्रवर्ती की समालोचना का एक अंश उद्धृत किया जा रहा है :

"यही रवीन्द्रनाथ का आश्चर्यजनक कृतित्व है कि वे अपने सारे जीवन नाटक के नाना अंकों की विचित्र अभिज्ञताओं को इस प्रकार के एक सरल सूत्र में गूँथ सके हैं। अपनी कल्पना, सौन्दर्य-व्याकुलता, आध्यात्मिक वेदना, संशय, द्वन्द्व, उपेक्षा, शान्ति—सबकुछ इस नाटिका में कहीं एक सतर में या आधी पंक्ति में वे छूते गये हैं,—कहीं सीधा रास्ता छोड़कर गली से जाते समय ऐसे रहस्यों को उन्होंने बिखेर दिया है कि विस्मय से अभिभूत हो जाना पड़ता है; जैसे सुधा की बात। वह अमल की आधी खुली खिड़की को भी बन्द कर देना चाहती थी—अपना क्षणिक मोह अमल की मृत्यु के बाद भी वह रखती गयी—उसने कहा, 'वह जब जगे, तो कहना कि सुधा तुम्हें भूली नहीं।' कवि इस एक ही बात में सारी नारीप्रकृति का एक रहस्य कौशल से छू गये हैं।"

सचमुच 'डाकघर' एक अनुपम सृष्टि है। अत्यन्त परिमित साधन से अति परिचित बातों को लेकर कवि ने सीमाहीन की ओर इशारा किया है। हमारे चारों ओर सौन्दर्य का समुद्र लहरा रहा है; पर जानकारी के 'प्रधान' साधन समझी जाने-वाली पुस्तकों में दिन-रात चिपटे रहकर हम इस सहज सत्य, सहज सौन्दर्य से दूर हो जाते हैं। अमल के शब्दों में, नाटक के आरम्भ में ही मानो कवि कह रहा है—'मुझे ठीक मालूम हो रहा है कि यह पृथ्वी बोल नहीं सकती, इसीलिए इस प्रकार (पर्वत के रूप में) नील आकाश में हाथ उठाकर बुला रही है।' अनेक दूर के वे मनुष्य भी, जो घर में बैठे रहते हैं, दोपहर को अकेले खिड़की के किनारे बैठकर वह आवाज सुन पाते हैं। पण्डित लोग शायद नहीं सुन पाते ('क्यों'?); इस पर माधवदत्त कहता है, 'वे तो तुम्हारे-जैसे पागल नहीं हैं, वे सुनना चाहते भी नहीं!'

'डाकघर' की आवाज को भी वे लोग नहीं सुन पायेंगे, सुनना चाहेंगे भी नहीं, जिनका मस्तिष्क पुस्तकी विद्या के शिकंजों से जकड़ा हुआ है। किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय के अध्यात्मवाद का हू-ब-हू रूपक इसमें नहीं मिलेगा, और किसी भी नाट्य-कला-कोविद की निर्धारित नाटकीय रूप-रेखा से इसकी रूप-रेखा का सामंजस्य नहीं होगा।

फकीर वेशधारी ठाकुर्दा ने अमल को एक 'हल्के' देश की बातें बतायी थीं—वहाँ किसी चीज का कुछ भार नहीं। बालक ने यह कहानी एक अन्धे को सुनायी। यही बात ठाकुर्दा से कहते समय वह पूछता है, 'अच्छा फकीर, उस देश में किधर से जाया जाता है?'

"ठाकुर्दा—भीतर की ओर से एक रास्ता है। उसको खोज निकालना शायद मुश्किल है।"

हाँ, सचमुच भीतर की ओर एक रास्ता है, उसको खोज निकालना शायद मुश्किल है। 'डाकघर' की रचना शायद इस मुश्किल को सरल कर देने के लिए ही हुई है।

पुनश्च

'पुनश्च' रवीन्द्रनाथ की प्रकाशित कविता-पुस्तकों में सबसे नयी है। केवल समय के हिसाब से ही नयी नहीं है, सब तरह से नयी है। अब तक इस प्रकार का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया था। वे स्वयं कहते हैं :

"मैंने 'गीताञ्जलि' के गानों का अंग्रेजी गद्य में अनुवाद किया था। यह अनुवाद काव्य- श्रेणी में गण्य हुआ। तभी से मेरे मन में यह प्रश्न था कि पद्य-छन्द की सुस्पष्ट झंकार न रखकर अंग्रेजी की तरह ही बँगला-गद्य में कविता का रस दिया जा सकता है या नहीं। याद आता है, सत्येन्द्रनाथ से ऐसा करने का अनुरोध किया था। उन्होंने स्वीकार भी किया था; पर कोशिश नहीं की। तब मैंने स्वयं परीक्षा की, 'लिपिका' की कुछ कविताओं में यह बात है। छापते समय काव्यों को पद्य की भाँति खण्डित नहीं किया गया था—जान पड़ता है, भीरुता ही इसका कारण थी। इसके बाद मेरे अनुरोध से एक बार अवनीन्द्रनाथ इस चेष्टा में प्रवृत्त हुए। मेरा मत यह है कि उनके लेख काव्य की सीमा में आये थे; पर भाषा-बाहुल्य के कारण उनमें परिमाण की रक्षा न हो सकी थी। और एक बार मैं उसी चेष्टा में प्रवृत्त हुआ हूँ।

" 'पुनश्च' इसी चेष्टा का फल है; पर इस सम्बन्ध में एक बात कहने की है। गद्य-छन्द में अति निरूपित छन्द का बन्धन तोड़ना ही पर्याप्त नहीं है, पद्य-काव्य की भाषा और प्रकाश-रीति में जो ससज्ज और सलज्ज अवगुण्ठन की प्रथा है, उसे भी जब दूर कर दिया जायगा, तभी गद्य के स्वाधीन क्षेत्र में उसका संचरण स्वाभाविक हो सकता है। मेरा विश्वास है कि असंकुचित गद्य-रीति से काव्य का अधिकार बहुत दूर तक बढ़ा देना सम्भव है, और उसी ओर लक्ष्य रखकर मैंने इस ग्रन्थ में प्रकाशित कविताएँ लिखी हैं। इनमें कई कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें तुक नहीं है। पद्य-छन्द है; किन्तु उनमें भी मैंने पद्य की विशेष प्रकार की भाषा-रीति त्याग करने की चेष्टा की है।"

इस प्रकार छन्द और भाषा की दृष्टि से 'पुनश्च' एक अपूर्व रचना है। यह कवि की उस अवस्था की रचना है, जब उनका हाथ इतना साफ़ हो गया है कि उससे जो कुछ लिखा जाता है, कविता हो जाती है, और जो कुछ कट-कुट जाता है, चित्र-कला का सुन्दर नमूना हो जाता है। 'पुनश्च' में वही हाथ यत्नपूर्वक सँवारने के काम में लगाया गया है, इसीलिए उसकी भाषा प्रांजल, चुलबुली, चटुल और रस-मय हुई है। सर्वत्र उसके ऊपर विनोद-रस का फुहारा झरता रहता है।

इसमें की अधिकांश कविताएँ छोटी-छोटी कहानियों के रूप में लिखी गयी हैं। अत्यन्त साधारण कोटि की घटनाएँ हैं। आरम्भ करते समय कवि की मोहनी भाषा ही उसका एकमात्र गुण रहती है। जान पड़ता है, अगर ऐसी भाषा न होती, तो कहानी प्राणहीन-सी हो जाती, कोई उसे न पढ़ता; पर कविता समाप्त होने के बाद सहृदय को हृदय थामके रह जाना पड़ता है। सुदूर की कोई अज्ञात ध्वनि उसका प्राण व्याकुल कर देती है। मान लीजिए, एक कहानी इस प्रकार शुरू हुई :

"पछाँह में एक शहर है।
उसी के दूर के किनारे पर निर्जन में
दिन का ताप अगोर रहा है एक अनादृत घर को
चारों ओर छाजन झुक पड़ी है।
घरों में पड़ती है चिरकाल की छाया पट होकर,
और चिरबन्दी पुरातन की एक गन्ध।
मेज़ के ऊपर पीली जाजम है,
(जिसके) किनारे-किनारे छपी हुई बन्दूकधारी
बाघ मारनेवाले शिकारियों की मूर्त्तियाँ हैं।
उत्तर ओर शीशम पेड़ के नीचे से
निकल गया है सादी मिट्टी का रास्ता, उड़ती है धूल,
तेज धूप का उसके शरीर पर मानो हल्का ओढ़ना है।
सामने के कछार में गेहूँ, अरहर, फूट और तरबूज़ के खेत हैं,
दूर झिलमिला रही है गंगा,
उसके बीच-बीच में रस्सी से खींची जा रही हैं नावें,
स्याही के खुरचन-से अंकित चित्र की तरह।
बरामदे में चाँदी का कंकण पहने भजिया
गेहूँ पीसती है जाँते में,
गान गा रही है एक धृष्ट सुर में,
गिरधारी दरबान बहुत देर से उसके पास बैठा है,
मालूम नहीं, किस फरियाद में।
पुराने नीम के पेड़ के नीचे कुआँ है,
बैलों से पानी खींचता है माली,
अकरुण हो गया है, उसकी काकुध्वनि से मध्याह्न,
और उसकी जलधारा-से चंचल भुट्टे का खेत।"

यह कहानी की भूमिका नहीं है। यहाँ तक आकर कवि के वक्तव्य का पाँच-षष्ठांश समाप्त हो गया। क्या कहानी सुननेवाले की तबीयत झुँझला न उठेगी? यह भी कोई कहानी है? आखिर इसमें कहनेवाला कहना क्या चाहता है? आगे बढ़िए :

"गर्म हवा में आम की मंजरी की भीनी महक आ रही है,
खबर मिलती है महा-नीम की मंजरी में बसे हुए
मधुमक्खियों के मेले की।
अपराह्न में शहर से आती है एक प्रवासी लड़की,
ताप से कृश पाण्डुवर्ण और उदास हो गया है उसका मुख,
मृदु स्वर में पढ़ा करती है विदेशी कवि की कविता।"

इस पंक्ति को पढ़ने के बाद सारी व्यर्थता सार्थक हो जाती है। वह पुराना अनादृत घर, वह चिरबन्दी पुरातन गन्ध, वह शीशम के नीचे से निकल जानेवाला सादी मिट्टी का रास्ता, वह दूर की झिलमिलाती गंगा, वह जाँते की घरघराहट के साथ एक धृष्ट (monotonous) गान, वह कुएँ से पानी निकालनेवाले माली की करुण काकुध्वनि और चंचल भुट्टे का खेत, वह आम्रमंजरी की भीनी-भीनी महक, निम्बमंजरी की मधुमक्खियों की गुंजार— सब इस प्रवासी बालिका के विदेशी कवि के गान को अधिक करुण, अधिक उदास और अधिक मर्मस्पर्शी कर देते हैं। हाय, इस प्रखर धूप में उस कृश, पाण्डुवर्ण बालिका का उदास मन किस अज्ञात प्रेमी के लिए छटपटा रहा है? क्या कहा गया होगा इस विदेशी कवि की कविता में?

नील रंग की जीर्ण चिक की छाया-मिले अस्पष्ट आलोक में,
भींगी खस की टट्टी की गन्ध से
सागर-पार के मानव-हृदय की व्यथा प्रवेश करती है।
मेरा प्रथम यौवन खोजता फिरता है विदेशी भाषा में अपनी भाषा
जिस प्रकार तितली घूमा करती है
विलायती मौसमी फूलों की क्यारी में
नाना वर्ण की भीड़ में।

सारे जगत् की मनोवेदना एक ही सुर में गुँथी हुई है। पूर्व-पश्चिम का भेद मिथ्या है, ग़रीब और अमीर का भेद कृत्रिम है, वृद्ध और युवा का अन्तर सामयिक है—सत्य है मनुष्य का मन। नहीं तो कहाँ वह विदेशी ग़रीब बालिका और कहाँ 'मैं'! कविता आरम्भ हुई थी, तो बिल्कुल खबर नहीं थी कि उसकी परिणति इस प्रकार की मनोव्यथा में होगी। कविता समाप्त करने के बाद एक ऐसा 'अनुरणन' हुआ है कि उसकी प्रत्येक पंक्ति से 'सागर-पार के मानव-हृदय की व्यथा प्रवेश करती है!'

'पुनश्च' की कविताओं में प्रायः ही कवि की विनोदी भाषा आरम्भ में एक ऐसा चित्र खड़ा कर देती है कि सहृदय एक बार हँसे बिना नहीं रहता। और यदि स्वयं कवि के मुँह से उसे सुनना पड़े, तो ब्रह्माबाबा भी अपनी गम्भीरता नहीं

सम्हाल सकते; पर कविता समाप्त होते समय हँसने की शक्ति ही नहीं रह जाती। उस हँसी के हल्के आवरण में कहीं दो सजल स्निग्ध आँखें झाँका करती हैं, कहीं उपेक्षित मनुष्यता बाहर निकलना चाहती है, कहीं अनादृत उदारता ताका करती है। समाप्त करने पर सहृदय को उसे देखना पड़ेगा ही, और फिर हँसी कैसी ? कविता या कहानी, जो कहिए, इस तरह शुरू होती है :

जो सुन्दर नहीं, ऐसे लोगों का दुनिया में अभाव नहीं है,—
पर यह आदमी उसमें कुछ अधिक था, यह अद्भुत था।
सामने के मस्तक पर बेतुकी गंजी खोपड़ी
चिड़िया चुगे केश कहीं सादे, कहीं काले।
छोटी-छोटी दो आँखें रोआँ नहीं उनमें,
भ्रू कुंचित करके जाने क्या देखता है खोंट-खोंटकर,
उसका देखना मानो आँखों की उञ्छवृत्ति है।
जैसी ऊँची वैसी चौड़ी है उसकी नाक
सारे मुख के बाहर आने का वह हिस्सेदार है
माथा विशाल
उसके उत्तर दिगन्त में नहीं हैं केश, दक्षिण दिगन्त में नहीं भ्रू।
दाढ़ी-मूँछ-हीन मुख से
भण्डाफोड़ हुआ है विधाता की शिल्प-रचना की अवहेला का।
कहीं अलक्ष्य में आलपीन पड़ी है, मेज के कोने में
उठाकर लगा रखता है अपने कुरते में,
उसे देख मुँह फिराकर हँसा करती हैं जहाज़ की लड़कियाँ;
पारसल जिससे बँधा था उस फीते को संग्रह करता है मेज़ पर से,
सम्हल-सम्हलकर लगा देता है उसमें गाँठ;
फेंके हुए अखबारों को समेटकर रखता है टेबिल पर
भोजन में है खूब सावधान,
पाकेट में रहता है हाज़मे का चूर्ण
खाते बैठते ही उसे खाता है जल में मिलाकर
खाने के अन्त में खाता है पाचक-बटी।
यहाँ तक सचमुच यह आदमी विनोद की अच्छी सामग्री है, पर—
स्वल्पभाषी है, बातें अटक जाती हैं,
जो कुछ कहता है मूर्ख की तरह जान पड़ता है।
उसके साथ जब कोई पॉलिटिक्स की बातें करता है,
नाना तरह समझाके कहता है—
वह रहता है चुपचाप, कुछ समझा कि नहीं,
मालूम ही नहीं होता।
हम एकसाथ एक ही जहाज पर सात दिन चले हैं।

बिना कारण सभी उस पर खफ़ा हैं,
उसे व्यंग्य करके चित्र खींचा करते हैं,
उसे लेकर परस्पर हँसा करते हैं।
उसके नाम अत्युक्तियाँ बढ़ती ही जाती हैं,
उसे दिन-दिन मुँहा-मुँही सबने रचना कर ली है।
विधि की रचना में कहीं-कहीं जगह खाली रह जाती है।
कहीं-कहीं अस्फुटता रह जाती है।
वे भर दिया करते हैं अपनी रचना की दैनिक 'रविशों' से,
विशुद्ध सत्य की तरह हो जाता है उसका चेहरा
ये खुद विश्वास करते हैं।
सबने तै कर लिया है कि वह दलाल है,
कुछ लोग कहते हैं, रबर की कोठी में मैनेजर है,
बाज़ी रखा करते हैं अन्दाज़े पर।
सभी उससे बचा करते हैं
यह बात उसे पहले से ही बरदाश्त हो गयी है।
चुरुट पीने के घर में यात्री जुआ खेला करते हैं,
वह उनकी आँख बचाकर निकल जाता है,
वे मन-ही-मन उसे गाली दिया करते हैं
कहते हैं, कृपण है, कहते हैं, छोटा आदमी है।
वह मिला करता है चटगाँव के खलासियों के साथ।
वे बोलते हैं अपनी बोली में
वह बोलता है कौन-सी भाषा, कौन जाने,
शायद ओलन्दाजी।
सवेरे से रबर के नल से वे डेक धोया करते हैं
वह उनके बीच जा, धमा-चौकड़ी किया करता है,
वे हँसते हैं।
उनमें था एक छोटी उमर का लड़का
साँवला रंग, काली आँखें, लम्बे केश,
छरहरा बदन।
वह उसके लिए ले आ देता है सेब, नारंगी,
उसे दिखाता है चित्रों की किताब।
यात्री क्रोध किया करते हैं यूरोप के असम्मान के कारण।
जहाज आया सिंगापुर में।
खलासियों के डेक पर उसने उन्हें दिया सिगरेट
और रुपये के दस-दस नोट।
लड़के को दी एक सोने की घड़ी।

कप्तान से बिदा लेकर जल्दी-जल्दी उतर गया घाट पर।
तब उसका असली नाम ज्ञात हो गया।
जो लोग चुरुट पीने के घर में तास खेलते,
हाय-हाय कर उठा उनका मन।

'पुनश्च' की कविताओं में सर्वत्र यह बात पायी जाती है। लोगों का मन हाय-हाय कर उठा उस मनुष्य से रुपये न मिलने के अफसोस में और कवि का मन हाय-हाय कर उठा है उनकी उस उपेक्षाबुद्धि पर। उसकी उदारता ने उसके सारे हास्यजनक व्यापारों में एक सरसता भर दी है। हँसी के भीतर इस प्रकार की विशाल वेदना को बिना बाह्य-व्यय के स्पष्ट कर देना कवि का ही काम है। बेनी प्रवीण की एक ब्रजगोपी की उक्ति में भी एक इसी जाति की वेदना है :

आवे हँसी हमें देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर घोरी;
एते बड़े ब्रजमण्डल में न मिली कहुँ माँगेहु रंचक रोरी।"

इस 'आवे हँसी' में कितनी बड़ी मनोव्यथा छिपी हुई है! यह कविता व्यंग्य का उत्तम उदाहरण है; पर उससे भी उत्तम है 'पुनश्च' की उक्त कविता। ब्रजबाला की सारी वेदना व्यंग्य है सही; पर भारतीय परम्परा उसके भाव को व्यक्त करने में पर्याप्त सहायता देती है। सौत के चरणों पर सिर रगड़ने के कारण लाल के भाल में लगा महावर औरों के लिए भले ही हँसी का कारण हो; पर उस एकान्त प्रेमिका ब्रजबाला के लिए गम्भीर मनोव्यथा का कारण है। पर 'पुनश्च' की कविता के समझने में ऐसी किसी परम्परा की सहायता बिल्कुल नहीं मिलती, फिर भी यह गूढ़ व्यंग्य नहीं है। हमारा विश्वास है कि अगर वाग्देवतावतार मम्मट को इस युग में 'काव्यप्रकाश' लिखना पड़ता है और उनके सामने ये कविताएँ होतीं, तो वे निश्चय ही इन्हें उत्तम व्यंग्य के उदाहरणों में स्थान देते।

एक छोटी-सी मामूली बात है, मैना एक बार दिखायी पड़ी और फिर नहीं। परन्तु कवि की भाषा ने उसे नवीन रूप दिया है, नवीन जीवन।

उस मैना को क्या हो गया, यही सोचता हूँ।
क्यों वह दल से अलग होकर अकेले रहती है।
पहले दिन देखा था सेमर के पेड़ के नीचे,
मेरे बागीचे में,
जान पड़ा जैसे एक पैर से लँगड़ा रही हो।
इसके बाद उसे रोज सवेरे देखता हूँ,—
संगीहीन होकर, कीड़ों का शिकार करती फिरती है।
चढ़ आती है मेरे बरामदे में।
नाच-नाचकर चहलकदमी किया करती है,
मुझसे ज़रा भी नहीं डरती।
क्यों है ऐसी दशा ?

समाज के किस दण्ड पर उसे निर्वासन मिला है,
दल के किस अविचार से उसे अभिमान हुआ है ?
कुछ ही दूर पर और मैनाएँ
बक-बक कर रही हैं,
घास-घास पर वे उछल-कूद रही हैं
उड़ती फिरती हैं शिरीष-वृक्ष की शाखाओं पर,
पर उसे, देखता हूँ, यह कुछ भी शौक नहीं है।
उसके जीवन में कहाँ गाँठ पड़ी है
यही बात सोचता हूँ।
सवेरे की धूप में मानो सहज मन से
आहार चुग-चुगकर
झरे हुए पत्तों पर
कूदती फिरती है सारा दिन।
किसी के ऊपर उसका कुछ अभियोग है,
यह बात बिल्कुल नहीं जान पड़ती।
वैराग्य का भी तो नहीं है गर्व उसकी चाल में
या दो आग-सी जलती आँखें।
किन्तु उसे सायंकाल तो नहीं देखा
जबकि वह अकेले घोंसले में जाया करती है,
उस डाल के कोने में।
झींगुर जब अन्धकार में झनकारता है,
हवा में बाँस के पत्तों में झरझराहट आती है
दरख्त के फाँक से पुकारा करती है
नींद तोड़नेवाली
सन्ध्या तारा।

इस छोटी-सी घटना के भीतर से भी कवि के प्रेमी हृदय को आसानी से देखा जा सकता है। और कोई होता, तो उस मैना की तरफ ध्यान भी न देता; पर कवि ने उस मैना का चित्र इस सुन्दरता से अंकित किया है कि आश्चर्य होता है। समाज से निर्वासित इस लँगड़ी मैना का हृदय तो देखिए, न उसे किसी के प्रति शिकायत है, न अभिमान। पास ही अन्य साथी-संगी फुदक रहे हैं; पर इस मैना का अपना काम निर्विकार चित्त से चल रहा है। भूलकर भी उधर नहीं देखती। मगर उसके चेहरे से वैराग्य का भाव प्रकट नहीं होता, मान का भी नहीं, दुःख का भी नहीं ! हाय, वह मैना क्या हो गयी ? अकेली ही वह अपने घोंसले में जाया करती थी, पर अब ?

'पुनश्च' सचमुच कवि की अपूर्व रचना है। पुस्तक जिस चटुलता के साथ शुरू होती है, उसी गम्भीरता के साथ समाप्त होती है। कवि की चिरपरिचित साधना

अत्यन्त आसानी से इसकी सहज पदसंघट्टना में प्रतिफलित हो गयी है। पुस्तक के अन्त की एक छोटी-सी कविता पाठकों का मनोरंजन कर सकती है। नाम है 'छुट्टी'।

दो ना छुट्टी,
कैसे समझाकर कहूँ
किस जगह ?
जहाँ उस शिरीष-वन के गन्ध-पथ पर
मधुमक्खियों के पंख सारा दिन काँपा करते हैं।
जहाँ वह मेघ-वाहिनी सुदूरता है;
जल का प्रलाप जहाँ प्राणों को उदास कर देता है
सन्ध्या तारा उदय होते समय;
जहाँ सब प्रश्न रुक गये हैं,
शून्य गृह में पुरानी स्मृति गुनगुनाकर
नींद तोड़े नहीं रहती, अब अधिक
बादल भरी रात में।
जहाँ है यह मन
गाय चरनेवाले मैदान के बरगद के पेड़ के समान,
गाँव के चलनेवाले रास्ते की एक ओर।
कभी कोई आता है, पहर-भर
बैठता है नीचे;
और कोई पैर फैलाकर वंशी बजा जाता है,
नववधू की पालकी को उतारकर रखते हैं
क्लान्त दुपहरिया में;
कृष्ण एकादशी की रात को
छाया के साथ झिल्लीरव से जकड़ जाता है
चाँद का शीर्ण आलोक।
आवागमन का स्रोत बहा करता है
दिन-रात;
पकड़ रखने का कोई आग्रह नहीं।
दूर रखने का कोई अभिमान नहीं।
रात की तारा स्वप्न-प्रदीप को
प्रभात के आलोक में बहा देकर
चली जाती है, कोई ठिकाना नहीं बताती।

इन्हीं कई पंक्तियों में अद्भुत उदासी की ओर इशारा किया गया है। कितना उदास होगा वह स्थान, जहाँ दिन-रात शिरीषवन के गन्धपथ पर मधुमक्खियाँ उड़ा ही करती हैं, सुदूर मेघ उड़ते नजर आते हैं, जहाँ जल की कल-कल ध्वनि प्राणों को उदास कर देती है, जहाँ पुरानी स्मृतियाँ इतनी पुरानी हो गयी हैं कि बादल-भरी

रात को अब अधिक नींद नहीं तोड़तीं। उस स्थान की कल्पना भी मन को उदास कर देती है। कल्पना कीजिए उस गाय चरनेवाले मैदान के पुराने बरगद के पेड़ की, जिसके नीचे कोई प्रहर-भर आकर बैठ जाता है, कोई पाँव फैलाकर वंशी बजा जाता है, नयी आशाओं और अभिलाषाओं की अधिष्ठात्री नववधू की पालकी भी उदास दुपहरिया में रुक जाती है, पर कोई रुकने का नाम भी नहीं लेता, कोई रोकने का आग्रह भी नहीं करता, ऐसा कोई भी नहीं है, जो दूर रखे जाने या बुलाये न जाने के कारण मान भी करे। झिल्ली की आवाज में जब चाँद की शीर्ण प्रभा मिल जाती होगी, तो वह स्थान सचमुच उदासी की रंगभूमि हो जाता होगा। और हमारा कवि उसी स्थान की यात्रा के लिए कहता है—"दो ना (मुझे) छुट्टी!" सहृदय का प्राण भी कातरता के साथ कह उठता है---"दो ना (मुझे) छुट्टी!" पर कहाँ, छुट्टी तो नहीं मिलती!

प्रान्तिक

सन् 1937 ई. में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बहुत सख्त बीमार हुए। 50 घण्टे से अधिक वे बेहोश पड़े रहे। कुशल चिकित्सकों की चिकित्सा और संसार के सौभाग्य से वे बच उठे। उस कठिन बीमारी के बाद उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, उन्हीं का संग्रह 'प्रान्तिक' नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रान्तिक छोटी-सी पुस्तक है—कुल 33 पृष्ठों की। इसमें कवि की छोटी-बड़ी अठारह कविताएँ संगृहीत हैं। ये कविताएँ अधिकांश में बेहोशी की हालत में कवि की अनुभूतियों का प्रकाश हैं। पहली ही कविता में, मानो इस नयी श्रेणी की कविताओं की भूमिका-सी बाँधते हुए, कवि ने कहा है कि "विश्व के आलोकलुप्त अन्धकार के अन्तराल में मृत्युदूत चुपचाप आया। जीवन के दिगन्त आकाश में जितनी सूक्ष्मधूलि की परतें पड़ी हुई थीं, सबको व्यथा के द्रावक रस से धो दिया। यह सफ़ाई, दारुण स्वप्न के नीचे-नीचे, प्रतिक्षण, सुदृढ़ हाथों से चुपचाप चल रही थी। न जाने किस क्षण में नट-लीला के विधाता की नयी नाट्यभूमि की यवनिका उठ गयी!" कवि ने इन दो-चार पंक्तियों में ही उस अवस्था का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, जबकि वह अपने भावी वक्तव्य के अनुभव करने योग्य अवस्था में पहुँचा था। सबसे पहली बात जो इस भूमिका में ध्यान देने योग्य है वह यह है कि कवि अनुभव करने लगा है कि हमारे चेतन मस्तिष्क ने जिस वस्तु को आलोक समझ रखा है उसके अन्तराल में गहन अन्धकार विद्यमान है। चेतन मन ज्यों ही रंगमंच से हटा, त्यों ही अवचेतन मन ने इस आलोक से आच्छादित

किन्तु वास्तव में सतत विद्यमान अन्धकार का अनुभव किया। वहाँ पीड़ा भी पावक वस्तु के रूप में अनुभूत हुई; क्योंकि इसी पीड़ा ने चेतन मन को दृश्य-पट पर से हटा दिया और अब तक गलत समझने के कारण जितने कुछ कूड़ा-करकट के समान भ्रान्त विश्वास जमे हुए थे, सबको साफ कर दिया, दृढ़ता के साथ परन्तु चुपचाप। पीड़ा धीरे-धीरे अपना काम करती गयी। और अचानक एक अज्ञात क्षण में विधाता की नाट्यभूमि का परदा उठ गया। इस पर्दे के उठने से जो कुछ दिखायी दिया वही 'प्रान्तिक' का वक्तव्य-विषय है। इस भूमिका से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि 'प्रान्तिक' की कविताएँ उसी चेतन मन की बँधी हुई रूढ़ियों से नहीं समझी जानी चाहिए जिसके अभाव में ही, इन सत्यों का साक्षात्कार किया गया है। इन कविताओं को समझने के लिए चेतन मन की कल्पित रूढ़ियों को अस्वीकार करके ही सहृदय अपने को इनका पात्र बना सकता है। और यह तो कहना ही व्यर्थ है कि आज तक की रवीन्द्रनाथ की कविताओं से इसकी भाव-भाषा अलग वस्तु है।

उसी कविता में आगे चलकर कवि कहता है, "शून्य से ज्योति की तर्जनी ने एक प्रान्त में स्तम्भित विपुल अन्धकार को छू दिया। फिर तो आलोक की सिहरन चमककर बिजली की तेजी से असीम तन्द्रा के ढूहों में दौड़ गयी, उन्हें विदीर्ण करके खण्ड-खण्ड कर दिया। ग्रीष्म की सूखी, अवलुप्त नदी के रास्ते में जिस प्रकार अचानक बरसी हुई तुरन्त जलधारा से बाढ़ का पहला नाच शुष्कता के वक्षःस्थल को भेदकर छमक उठता है—उसी तरह (उस ज्योति की तर्जनी ने) शून्य अन्धकार की गूढ़ नाड़ियों में अन्तःशीला ज्योतिर्धारा को प्रवाहित कर दिया। आलोक और अन्धकार ने मिलकर चित्ताकाश में अस्पष्ट और अर्द्धस्पष्ट विभ्रम की रचना की।"

स्पष्ट ही यह पहेली-सा जान पड़ता है। यह तो समझ में आ जाता है कि जिसे हम प्रकाश के रूप में समझ रहे हैं, उसके पीछे अन्धकार का अस्तित्व है। हम सभी किसी-न-किसी समय इस निगूढ़ अन्धकार का अनुभव कर चुके हैं; पर यह समझ में नहीं आता कि अचानक ज्योति की तर्जनी जो आ गयी और जिसने आते ही तन्द्रा के ढूहों को तोड़ दिया और अन्धकार में मिलकर जो एक भ्रम की सृष्टि कर गयी—यह सब क्या बला है! कवि स्वयं इस पहेली को सुलझा देता है, "पुराने मोह का स्थूल कारा-प्राचीर, क्षणभर में ही टूट गया। नवीन प्राणों की सृष्टि हुई—अवारित-स्वच्छ-शुभ्र चैतन्य के प्रथम प्रत्यूप के अभ्युदय से। अतीत के सञ्चय से पुञ्जित जो देह थी, जो आसन्न के वक्षःस्थल से भविष्य की ओर सिर उठाये हुए विन्ध्यपर्वत के समान व्यवधान का काम कर रही थी, आज देखा कि वह प्रभात-काल का अवसन्न मेघ हो गयी है, दिगन्त से छिटककर विच्युत हो गयी है। अपने-आपको सुदूर अन्तराकाश में बन्धनमुक्त पाया—छायापथ पर होकर अलोक आलोकतीर्थ के सूक्ष्मतम विलय के तट पर!" स्पष्ट ही जान पड़ता है कि कवि पहले-पहल जहाँ इह-जीवन के चेतन मनोगत रूढ़ियों का त्याग नहीं कर सका था,

वहाँ दूसरी अवस्था में वह अपने को सम्पूर्ण बन्धमुक्त पाता है। पुरातन संस्कारों का पुंजीभूत सञ्चय उसे मोहाच्छन्न नहीं बना सका है। वह कुछ अनुभव करने लगा है, कुछ देखने लगा है—और जिस अवस्था में वह देखने-समझने लायक हुआ है, उसे अन्धकार कैसे कहा जाय?

'प्रान्तिक' की कविताएँ अवचेतन अवस्था की अनुभूतियों पर बनी हैं। लेकिन आधुनिक सर-रियलिस्ट कवियों के अवचेतन मानस की अनुभूति से इस अनुभूति में अन्तर है। आधुनिक कवि इन मनोगत अनुभूतियों के ऊपर किसी सत्य में विश्वास नहीं करता। इसीलिए उसकी अवचेतन अनुभूतियाँ असम्बद्ध और विशृंखल प्रतिभात होती हैं। रवीन्द्रनाथ मनोगत चेतन और अवचेतन अनुभूतियों के ऊपर एक अन्य शाश्वत सत्य में विश्वास करते हैं। आधुनिक अतियथार्थवादी कवि की कविता चेतन अनुभूतियों की प्रतिक्रिया है; परन्तु रवीन्द्रनाथ की अव-चेतन अनुभूति उस तुरीय सत्ता को और भी गाढ़ भाव से अनुभव करने का साधन है। दोनों में यही मौलिक अन्तर है। इस मौलिक अन्तर के कारण रवीन्द्रनाथ की कविता में वह दुर्बोधता और अस्पष्टता नहीं है जो आधुनिक अतियथार्थवादी कवियों की कविता में साधारणतः पायी जाती है। एक कविता में से कुछ उद्धरण पाठकों को इस बात के समझने में सहायता पहुँचा सकता है, "हे प्रलयंकर, अचानक तुम्हारी सभा से तुम्हारा मृत्युदूत आ पहुँचा था। मुझे वह तुम्हारे विराट् प्रांगण में ले गया। आँख खोलके देखता हूँ तो केवल अन्धकार है! अन्धकार के प्रत्येक स्तर के पीछे जो अदृश्य आलोक है, उसे नहीं देख सका—आलोक, जो निखिल ज्योति की ज्योति है। मेरी दृष्टि मेरी अपनी ही छाया से आच्छादित थी। उसी आलोक का सामगान मेरी सत्ता की गम्भीर गुहा से सृष्टि के सीमान्त ज्योतिर्लोक तक मन्द्रित हो उठेगा—इसीलिए मेरा आमन्त्रण था। मैं 'चरम' की कवित्व-मर्यादा जीवन की रंगभूमि में प्राप्त करूँगा—केवल इसी के लिए आज तक मैंने तान साधी थी। (किन्तु) रुद्रवीणा निःशब्द भैरवराग से बज नहीं उठी, मर्मस्थल में 'भीषण' की प्रसन्नमूर्त्ति जाग नहीं पड़ी। इसीलिए तुमने लौटा दिया। ऐसा एक दिन आयेगा जब कवि की वाणी, पके हुए फल की भाँति, आनन्द की परिपूर्णता के भार से स्वयं ही 'अनन्त' की अर्घ्य-डाली में चू पड़ेगी। उस दिन, अन्त में, जीवन का अन्तिम मूल्य, अन्तिम यात्रा, अन्तिम निमन्त्रण सब चरितार्थ हो जायगा।"

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ की ये रचनाएँ आधुनिक कवि की भाँति अवचेतन मन की विशृंखल विचार-राशि नहीं हैं, बल्कि अवचेतन मस्तिष्क से और एक प्रकार से पूर्वानुभूत सत्य का साक्षात्कार है। इसको कवि ने इसलिए इतना महत्त्व दिया कि इस अवस्था में वह अपनी ही छाया से आच्छादित नहीं है, अपने ही चेतन मस्तिष्क की सीमित अनुभूतियों से, अपनी ही बनायी रूढ़ियों से दबा हुआ नहीं है। वह जो इस यात्रा में सफल नहीं हो सका, उसका कारण यह है कि वह अब भी सम्पूर्ण रूप से इस छाया से मुक्त नहीं हो सका था। अब भी वह रुद्रवीणा के माधुर्य को, भीषण की प्रसन्न-मूर्त्ति को, अन्धकार के स्तर-स्तर में व्याप्त अदृश्य आलोक को ठीक-ठीक

समझ नहीं सका था। उसकी यात्रा और उसका आमन्त्रण चरितार्थ नहीं हो सका। वह चरितार्थ होगा जब वह मृत्यु के द्वारा और भी पवित्र और, और भी रूढ़ि-मुक्त हो गया रहेगा।

अपने-आपको इसीलिए वह एक बार फिर उस भावी यात्रा की तैयारी के लिए उद्‌बुद्ध करता है—"कलरव-मुखरित ख्याति के प्रांगण में, न जाने कब, जो आसन बिछा दिया गया था, हे कवि, तुम वहाँ से उठ आओ। चाटुकारी की लुब्ध जनता देवी को वचन का अर्घ्य विरचित कर-करके जो पूजा तुमने शुरू की थी, उसे समाप्त कर दो। दिन के हजारों कण्ठ अब क्षीण हो गये, ध्वनि की खरीद-बिक्री का सामान ढोनेवाले पहरों ने सन्ध्या के निर्जन तट पर लंगर डाल दिया है। आकाश के उस आँगन में जहाँ पक्षियों की काकली शान्त हो गयी है, वहाँ देव-सभा की नृत्यपरायणा अप्सराबाला का वाष्प से बुना हुआ चेलाञ्चल लहराकर स्वर्णोज्ज्वल वर्ण-रश्मि की छटाएँ छिटका रहा है। अस्तलग्न का चरम ऐश्वर्य लेकर चित्रभानु ने शून्य को पूर्ण किया, मुझे 'कर'-स्पर्श दिया, अन्तर की देहली में दीप्त शिल्पकला को प्रसारित किया, गम्भीर अदृश्य लोक से तूली की रेखा पर इशारा प्रकट हुआ। आजन्म की विच्छिन्न भावनाएँ जो स्रोत के शैवाल की भाँति निरर्थक पड़ी हुई थीं, अनिश्चित हवा के झकोरों से उड़ती फिरती थीं, वे सभी रूप ग्रहण करके, भाटे की नदी के किनारे अनादृत मंजरी के अज्ञात घास-पात की तरह, दिखेंगी—कोई उनका नाम नहीं पूछेगा, उनके अधिकार के गर्व को लेकर कोई ईर्ष्या नहीं करेगा, ये अनामिक स्मृति-चिह्न, ख्याति से रहित अगोचर देश में मानो अस्पष्ट विस्मृति की तरह, पड़ी रहेंगी।" इस प्रकार जीवन का कोलाहल-मुखरित दिन का अवसान होगा, मृत्यु का सन्ध्याकाल आयेगा और कवि की आजन्म-विच्छिन्न भावनाएँ सदा के लिए विस्मृति के अगोचर देश में स्थिरता प्राप्त करेंगी। अब तक वे चंचल थीं, लक्ष्य-रहित थीं, निरर्थक थीं—अब मृत्यु के स्पर्श से वे स्थिर, सार्थक और शाश्वत हो रहेंगी।

मृत्यु को रवीन्द्रनाथ ने कभी भी ना-मूलक विभीषिका के रूप में नहीं देखा। वे उसे सदा अपने जीवन की परिपूर्णता के रूप में उपलब्ध करते रहे हैं। अनादि-काल से चलते हुए उनके अन्तर ने कभी क्लान्ति का अनुभव नहीं किया। निरन्तर जो यह चलना है, उसकी भी परिपूर्णता है। मृत्यु जीवन को पूर्ण करने का साधन है। अपने एक प्रिय स्वजन की मृत्यु के समय उन्होंने लिखा था कि "जिस वस्तु को मैंने ना-मूलक विभीषिका के रूप में देखकर इतना दुःख पाया था, उसे जब मुक्ति के रूप में देखा तो सारा विषाद दूर हो गया। जीवन की जो अपूर्णता है, जो कुछ दुःख है, जो कुछ शोक है वह हमेशा चिपटे नहीं रहेंगे। ये सारी अपूर्णताएँ एक दिन मृत्यु के द्वारा हटा दी जायेंगी।" 'प्रान्तिक' की एक कविता में भी वे कहते हैं. "आज विदाई के अवसर पर (अनिर्वचनीय के प्रकाश को) मैं स्वीकार करूँगा। मेरे लिए वह विपुल विस्मय का विषय था। आज मैं गाऊंगा: हे मेरे जीवन, हे मेरे अस्तित्व के सारथी, तुमने बहुत-से रणक्षेत्र पार किये हैं, आज मृत्यु की अन्तिम

लड़ाई में नवीनतर विजय-यात्रा के लिए मुझे ले चलो।"

कवि ने 'अवसन्न चेतना की इस गोधूलिवेला' में देखा कि उसका शरीर "अनुभूतियों की राशि को लिये हुए कालिन्दी के स्रोत में बहा जा रहा है, उस (देह) ने साथ में ले लिया है, अपनी विचित्र वेदनाओं को, आजन्म की सञ्चित स्मृतियों को और अपनी वंशी को। दूर से और भी दूर को जाते-जाते उसका रूप म्लान होता जा रहा है—घोर तमिस्रा में यह शरीर विलीन होता जा रहा है। नक्षत्र-वेदी के नीचे स्तब्ध भाव से मैं अकेला खड़ा हो गया, ऊपर की ओर ताकता हुआ हाथ जोड़कर बोला, 'हे पूषण, तुमने अपना रश्मि-जाल समेट लिया है। इस बार अपने कल्याणतम रूप को प्रकाशित करो ताकि मैं उस पुरुष को देख सकूँ जो तुममें और मुझमें एक ही है।' "

अवचेतन अनुभूतियों का यह सरस काव्य चेतन और सामंजस्य-प्रवण मन की रचना है। अति यथार्थवादी कवि अवचेतन अनुभूतियों पर चेतनता का पालिश देना नहीं चाहता। चूँकि वह एक ऐसे सत्य में विश्वास नहीं कर पाता, जो मन की चेतन या अवचेतन अवस्थाओं से विचलित या खर्व नहीं होता, इसलिए वह उन अनुभूतियों के भीतर योगसूत्र स्थापित करने का प्रयोजन नहीं अनुभव करता। इस प्रकार के प्रयोजन को वह कला का विघातक भी मानता है। पर रवीन्द्रनाथ उस सत्य को मानते हैं। इसीलिए उस अवस्था में भी वे एक सनातन जाग्रत तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। इस बीमारी के बाद से अपनी अन्तिम यात्रा को और भी गाढ़ भाव से अनुभव करने लगे हैं। ज्यों-ज्यों वे मृत्यु की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों संसार में अशान्ति और ईर्ष्या बढ़ती जा रही है। वे निराशा में भी एक बार गला साफ करके अपनी आवाज ऊँची करने की चेष्टा करते हैं। वृद्धावस्था में वे कुछ क्लान्त की भाँति, छटपटाहट के साथ 'प्रान्तिक' में कह रहे हैं :

"नागिनियाँ चारों ओर विषाक्त निःश्वास फेंक रही हैं। ऐसे समय में शान्ति की ललित वाणी व्यर्थ के परिहास की तरह सुनायी देगी। विदाई लेते समय, इसीलिए उन लोगों को एक बार पुकार जाता हूँ, जो घर-घर दानव के साथ लड़ने के लिए तैयार हो रहे हैं।"

गुरुदेव का शान्तिनिकेतन

देश में ऐसे सैकड़ों विद्यालय हैं जहाँ अध्यापक विद्यार्थियों को अनेक प्रकार की जानकारियाँ दिया करते हैं। शान्तिनिकेतन उनसे भिन्न है, ठीक उसी प्रकार जिस

प्रकार 'रामचरितमानस' सैकड़ों पौराणिक कहानियों से भिन्न है। निपुण कवि द्वारा निबद्ध आख्यायिका केवल कथा नहीं होती, उसमें एक प्रकार का समत्व (बैलेंस) रहता है और जो राग-विराग मनुष्य को प्रभावित करते हैं उनका ऐसा सुन्दर निबन्धन होता है कि मनुष्य उससे अनायास आनन्द पाता है, प्रेरणा पाता है, और जीवन-सत्य का साक्षात् परिचय पाता है। शान्तिनिकेतन कविवर रवीन्द्रनाथ के काव्यों की भाँति ही निपुण भाव से निबद्ध और सुचिन्तित योजना पर आधारित है।

शान्तिनिकेतन विद्यालय की स्थापना के कुछ ही दिन बाद उन्होंने अपने एक अध्यापक मित्र को लिखा था कि "बालकों के अध्ययन का काल व्रत-पालन का काल है। मनुष्यत्व की प्राप्ति स्वार्थ नहीं, परमार्थ है, यह बात हमारे पितृ-पितामहों को मालूम थी। इस मनुष्यत्व की प्राप्ति की आधारभूत शिक्षा को वे ब्रह्मचर्य व्रत कहते थे। यह व्रत केवल पढ़ाई घोख लेने और परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने का नाम नहीं है। संयम से, भक्ति-श्रद्धा से, शुचिता से और एकाग्रनिष्ठा से संसार के लिए और संसार से अतीत ब्रह्म के साथ अनन्त योग-साधना के लिए प्रस्तुत होने की साधना को ही ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं। यह एक धर्मव्रत है। दुनिया में बहुत-सी चीजें खरीद-बिक्री की सामग्री हैं, किन्तु धर्म इससे भिन्न है। वह कुछ पण्य द्रव्य नहीं है। इसे एक ओर से मंगलेच्छा के साथ दान करना होता है और दूसरी ओर से विनीत भक्ति के साथ ग्रहण करना होता है। इसीलिए प्राचीन भारत की शिक्षा पण्य द्रव्य नहीं थी। आजकल जो लोग शिक्षा देते हैं वे शिक्षक हैं, लेकिन उन दिनों जो लोग शिक्षा देते थे वे गुरु होते थे। वे लोग शिक्षा के साथ एक ऐसी वस्तु देते थे जो गुरु और शिष्य के आध्यात्मिक सम्बन्ध से भिन्न किसी प्रकार का देना-पावना हो ही नहीं सकती। विद्यार्थियों के साथ इस प्रकार के पारमार्थिक सम्बन्ध की स्थापना ही शान्तिनिकेतन विद्यालय का मुख्य उद्देश्य है।"

इस प्रकार शान्तिनिकेतन विद्यालय की स्थापना के समय कवि के मन में गुरु और शिष्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध ही उद्देश्य था। यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आश्रम-रूप में शान्ति-निकेतन बहुत पहले से ही स्थापित हो चुका था। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने धार्मिक उद्देश्य से इस आश्रम की स्थापना की थी। उस आश्रम में विद्यालय की स्थापना करते समय कवि के चित्त में भी धर्म-भावना ही प्रबल थी, इसीलिए उन्होंने शिक्षा को धर्मव्रत ही समझा था। उन्होंने अध्यापकों से आशा की थी कि वे लोग भी अध्यापन के पवित्र कार्य को व्रत के रूप में ही ग्रहण करेंगे। अपने उसी पत्र में उन्होंने लिखा था कि "मैं आशा किये बैठा हूँ कि अध्यापकगण मेरे अनुशासन से नहीं, बल्कि अपने भीतर के कल्याण-बीज को सहज ही विकसित करके आग्रहपूर्वक और आनन्द के साथ इस ब्रह्मचर्याश्रम के जीवन के साथ अपने जीवन को एक कर सकेंगे। वे प्रतिदिन जिस प्रकार विद्यार्थियों की सेवा और प्रणाम ग्रहण करेंगे, उसी प्रकार आत्मत्याग और आत्मसंयम के द्वारा अपने-आपको उनकी वास्तविक भक्ति का

पात्र बना लेंगे। पक्षपात, अविचार, अधैर्य, अकारण रोष, अभिमान, अप्रसन्नता, चपलता, लघुचित्तता, छोटे-मोटे अभ्यास-दोष, इन सबको प्रतिदिन सारी शक्ति लगाकर वर्जन करते रहेंगे। स्वयं त्याग और संयम का अभ्यास न करने से विद्यार्थियों को दिया हुआ सब उपदेश निष्फल हो जायेगा और आश्रम की उज्ज्वलता बराबर म्लान होती रहेगी। हमें इस विषय में बहुत सावधान रहना होगा कि विद्यार्थी बाहर से भक्ति और भीतर से उपेक्षा करना न सीखें।"

शुरू-शुरू में इसी धार्मिक भावना के साथ विद्यालय का कार्य प्रारम्भ हुआ था। कवि के मन में उस समय 10 विद्यार्थियों को स्वदेश-भक्त बनाने की भी बड़ी प्रबल इच्छा थी। उन्होंने लिखा था, "इस विद्यालय के छात्रों को मैं विशेष रूप से स्वदेश के प्रति भक्ति-श्रद्धावान् बनाना चाहता हूँ। जिस प्रकार पिता-माता में देवता का विशेष आविर्भाव होता है, उसी प्रकार अपने देश के प्रति भी देवता-बुद्धि होनी चाहिए। पिता-माता जिस प्रकार देवता हैं उसी प्रकार स्वदेश भी देवता है। इसे लघुचित्त, अवज्ञा और घृणा···यहाँ तक कि दूसरे देशों की तुलना में उसे छोटा समझना जैसे हल्के भाव से देखने की आदत विद्यार्थियों में जड़ न जमाने पाये, इस ओर मैं विशेष रूप से दृष्टि रखना चाहता हूँ। अपनी स्वदेशीय प्रकृति के विरुद्ध चलकर हम कभी सार्थकता नहीं प्राप्त कर सकेंगे।"

सो, रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में स्वदेश-भक्ति भी एक प्रकार की धार्मिक भावना ही थी। जैसे-जैसे रवीन्द्रनाथ की कीर्त्ति फैलती गयी, वैसे-वैसे संसार के और स्वदेश के बड़े-बड़े मनीषी उनकी ओर खिंचते गये और शान्तिनिकेतन महान् पुरुषों का आश्रम बनता गया। रवीन्द्रनाथ अपने बाल्य-जीवन में 'चहारदीवारी में बन्द दम घुटानेवाली' शिक्षा का कटु अनुभव प्राप्त कर चुके थे और उससे भाग खड़े हुए थे। इसीलिए वह निरन्तर इस दम घुटानेवाली शिक्षा के विरुद्ध बोलते रहे और शान्तिनिकेतन में उन्होंने अधिक-से-अधिक विद्यार्थियों को प्रकृति के साहचर्य में रखने का प्रयास किया। उन्होंने बराबर इस बात पर जोर दिया था कि गाँव-गाँव में फैला हुआ यह वृहत्तर मानवसमाज ही हमारी वास्तविक पुस्तक है। विद्यार्थियों को इसे ही पढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। और फिर जंगलों, पहाड़ों और मैदानों में फैली हुई विश्व-प्रकृति ही वास्तविक पाठशाला है। शिक्षा कोई जड़ वस्तु नहीं है, वह चिन्मय वस्तु है। जो लोग पुस्तकों में बद्ध प्राणहीन शिक्षण-प्रणालियों में आयोजित शिक्षा को ही प्रधान वस्तु समझते हैं, वे मूल में ही गलती करते हैं। सबसे बड़ी चीज है मनुष्यत्व। मनुष्य के सम्पर्क में आने से ही विद्यार्थी का सच्चा मनुष्यत्व जाग्रत होता है। प्राचीन भारत ने मनुष्य की इस महिमा को समझा था। इसीलिए उसने समस्त शिक्षा-प्रणाली के केन्द्र में गुरु को स्वीकार किया था। इसी अर्थ में भारतवर्ष की शिक्षा-प्रणाली गुरुकुल-प्रणाली है।

सन् 1912 ई. में उन्होंने एक पत्र में लिखा था, "शिक्षा के सम्बन्ध में हमने एक बहुत आवश्यक तथ्य सीखा था। हमने सीखा था कि आदमी आदमी से ही सीख सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जल से जलाशय होता है, दीपशिखा

से शिखा जल उठती है और प्राण से प्राण संचारित होता है। मनुष्य को काट-छाँट देने से वह मनुष्य नहीं रह जाता, उस समय वह आफिस, अदालत या कल-कारखाने की सामग्री बन जाता है, उसी हालत में वह मनुष्य न बनकर 'मास्टर साहब' बनना चाहता है, उसी हालत में वह प्राणदान के अयोग्य हो जाता है, सिर्फ पाठ-दान करने लगता है, सबक रटाने का उस्ताद हो जाता है।''

ऐसे ही गुरुओं की साधना ले रवीन्द्रनाथ निरन्तर लगनशील रहे और गुरुदेव के महान् व्यक्तित्व से खिचकर ऐसे ही महान् गुरु शान्तिनिकेतन पहुँचे। पियर्सन और तान युन, विण्टरनित्ज़, विधुशेखर भट्टाचार्य और क्षितिमोहन सेन, नन्दलाल बसु और दिनेन्द्रनाथ ठाकुर, हरिचरण बन्द्योपाध्याय और जगदानन्द राय, गुरुदयाल मल्लिक और निताई बिनोद गोस्वामी, मौलाना जिआउद्दीन और इन्हीं के समान अनेक तपस्वी साधकों ने शान्तिनिकेतन को बनाया है।

रवीन्द्रनाथ की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वे ऐसे महान् व्यक्तित्वों को आकृष्ट कर सके। जब 1921 ई. में देश का महान् स्वातन्त्र्य-संघर्ष शुरू हुआ और देश में सरकारी यान्त्रिक शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हुआ और सैकड़ों विद्यार्थी विद्यालय छोड़कर उपयुक्त शिक्षण-संस्था की खोज में भटकने लगे, तो कवि ने इन्हीं गुरुओं के सहयोग से 1923 ई. में 'विश्वभारती' की स्थापना की जिसमें उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था के साथ ही पूर्णांग जीवन की भी व्यवस्था की गयी। कला-भवन, संगीत-भवन, विद्या-भवन (रिसर्च विभाग) तथा शिक्षा-भवन (कालेज) का संगठन किया गया। आगे चलकर चीनी और तिब्बती विद्याओं के अध्ययन और शोध के लिए चीन-भवन, हिन्दी के उच्चतर अध्ययन और शोध के लिए हिन्दी-भवन तथा देश-विदेश की धर्म-साधनाओं के अध्ययन के लिए दीनबन्धु-भवन की स्थापना हुई। ग्रामीण जनता में नयी सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक प्रेरणा संचारित करने के उद्देश्य से तथा ग्रामीण शिल्पों को उन्नत करने के उद्देश्य से श्रीनिकेतन नाम की संस्था की स्थापना भी हुई। 'विश्वभारती' का जन्म किसी एक व्यक्ति के सत्प्रयत्न से नहीं बल्कि साधक कवि के व्यक्तित्व से आकृष्ट महान् गुरुओं की मंगलेच्छा से हुआ है। इसीलिए 'विश्वभारती' जीवन्त शिशु की भाँति उत्पन्न हुई है, कारखाने में ढली मशीन की भाँति नहीं। रवीन्द्रनाथ ने एक बार कहा था कि ''निर्जीव जीवन से भयंकर भार और कुछ नहीं। इस बात का पूरा ध्यान रहे कि शान्तिनिकेतन की शिक्षा निर्जीव न बनने पाये।'' परन्तु देश के चारों ओर का वातावरण जिस प्रकार की प्राणहीन शिक्षा के भार से बोझिल बना हुआ है, उसका प्रभाव बार-बार शान्तिनिकेतन को अपने आदर्श के धरातल से नीचे आने को बाध्य करता रहा है। रवीन्द्रनाथ को इससे समझौता भी करना पड़ा था और इस उतार के लिए वे जीवन-भर दुःखी और अशान्त रहे। रह-रहकर डिग्री का मोह, परीक्षा की गुलामी, विदेशी भाषा और भाव की नकल और रटन्त विद्या का आग्रह, बढ़ती हुई नदी की बाढ़ के समान इन आदर्शों को दबोच लेने का प्रयत्न करते रहे हैं और रवीन्द्रनाथ उनसे जूझते रहे हैं। निरन्तर अपने लेखों और

व्याख्यानों से, नाटकों और उपन्यासों से, व्यंग्यों और प्रहसनों से इस बीमार मनोवृत्ति को स्वस्थ बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनके तिरोधान के बाद देश स्वाधीन हुआ है और विचारशील लोगों के मन में यह आशा उत्पन्न हुई है कि भारतवर्ष में वास्तविक शिक्षा का प्रचलन होगा, डिग्री-लोलुपता की मात्रा कम होगी, विदेशी भाव-भाषा की नकल करने की हास्यास्पद सनक समाप्त होगी और हम प्रकृतिस्थ होकर मनुष्यत्व को उद्बुद्ध करनेवाली शिक्षा-पद्धति को अपनायेंगे।

राष्ट्रीय सरकार ने अब विश्वभारती को विश्वविद्यालय की मर्यादा दे दी है। और आशा करनी चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने जिस पूर्णांग शिक्षा की कल्पना की थी, वह चरितार्थ होगी। गुरु और शिष्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध, पवित्र और निस्पृह जीवन, विश्व-प्रकृति का साहचर्य, देश-भर में फैले हुए विशाल मानव-समाज का अध्ययन और मनुष्य की सामंजस्य-विधायिनी सौन्दर्यदृष्टि का आकलन रवीन्द्र के आदर्शों के प्रधान अंग हैं। उनके मत से अध्यापन का कार्य एक धर्मव्रत है और विद्यार्थी-जीवन तपस्या का काल है। जिस प्रकार धर्म पण्य वस्तु नहीं हो सकता, वैसे ही अध्ययन-अध्यापन भी पण्य वस्तु नहीं हो सकता। आशा की जानी चाहिए कि शान्तिनिकेतन का विश्वविद्यालय गुरुदेव के इन आदर्शों को जीवन्त और प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न अवश्य करेगा।

सम्पूर्ण देश आज नया मार्ग खोज रहा है। परीक्षाओं की प्रणाली अब विचारशील लोगों को सन्तोष नहीं दे रही है, डिग्री के मोह ने वास्तविक ज्ञान को आच्छन्न कर लिया है, विद्यालयों की पढ़ाई का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं रह गया है। सर्वत्र यह अनुभव किया जा रहा है कि यान्त्रिक जड़ता से मुक्ति पाने का कोई उपाय खोजना चाहिए। शिक्षा यदि इस प्रकार की दृष्टि नहीं पैदा कर सकती जो मनुष्य-जीवन के श्रेष्ठ मानों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर सके, सामाजिक मंगल की चेतना उत्पन्न कर सके और मानवता के आदर्श को जीवन में प्रतिष्ठित कर सके तो वह भार-मात्र है। रवीन्द्रनाथ ने उसे चिन्मय और पूर्णांग बनाने का प्रयत्न किया था। उनके प्रयत्नों का मूर्त्त विग्रह शान्तिनिकेतन है। विश्वभारती विश्वविद्यालय से इन्हीं प्रयत्नों को अधिक व्यापक और अधिक प्रभावोत्पादक रूप मिलना चाहिए। तथास्तु।

रवीन्द्रनाथ की हिन्दी-सेवा

आज से तीन वर्ष पूर्व श्रावणी पूर्णिमा को कविवर रवीन्द्रनाथ ने इहलोक की लीला समाप्त की थी। उन्होंने नाना प्रकार से देश की सेवा की है और विदेश में भारत-

वर्ष की मर्यादा-रक्षा का दुःसाध्य कार्य किया है। कम लोगों को ही मालूम होगा कि शान्तिनिकेतन का हिन्दी-भवन उनकी स्थापित संस्थाओं में अन्तिम है। यही मानो उनके महान् सेवा-यज्ञ की अन्तिम पूर्णाहुति है। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से समझा था कि हिन्दी संसार की परम शक्तिशाली भाषाओं में से एक है। आज भारतवर्ष की राजनीतिक पराधीनता के कारण वह उस उचित स्थान को नहीं पा सकी है जिसकी वह अधिकारिणी है, परन्तु यह निश्चित है कि कुछ ही दिनों में वह संसार की प्रमुख भाषाओं में गिनी जायेगी। वह लाखों-करोड़ों के सुख-दुख और आशा-आकांक्षा को प्रकट करनेवाली ऐसी लोकभाषा है जिसे संस्कृत, प्राकृत, पाली के साथ-ही-साथ अरबी-फारसी और अंग्रेजी जैसी अत्यन्त समृद्ध भाषाओं के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। वह ऐसी भाषा है जिसे भारतवर्ष-जैसे देश को गुलामी के बन्धनों से निकालकर स्वाधीनता का वरमाल्य पहनाने का अवसर शीघ्र ही मिलनेवाला है। वह ऐसी भाषा है जो गुलामी का बन्धन काटते-काटते बड़ी हुई है, संघर्ष ही में जनमी है, संघर्ष ही में पली है और संघर्ष में ही शक्ति-संचय करती गयी है। जिस दिन यह भाषा दीनता के अन्धकार को फाड़कर बाल-सूर्य की भाँति स्वाधीन भारत में उदित होगी, उस दिन दुनिया इसकी अन्दरूनी ताकत को देखकर आश्चर्य करेगी। यह बात मैं स्वभाषा-भक्ति के आवेश में नहीं कह रहा हूँ; अपनी विद्या-बुद्धि पर खूब सोच-विचारकर ही मैंने यह निष्कर्ष निकाला है। यह विश्वास मेरे जीवन का प्रधान सम्बल रहा है। मैं दृढ़तापूर्वक विश्वास करता हूँ कि इतिहास-विधाता इस भाषा के माध्यम से बड़े-बड़े काम कराने का संकल्प रखते हैं। हिन्दी अपनी भीतरी जीवनी-शक्ति के बल पर अत्यन्त अल्पकाल में एक अत्यन्त शक्तिशाली भाषा हो गयी है। विश्वविद्यालयों की सहायता से वह बड़ी नहीं हुई है, राजशक्ति के बल पर वह नहीं चली है—विश्वविद्यालय और राज्य, दोनों ने ही अनिच्छापूर्वक और अगत्या उसे स्वीकार किया है। देश के विश्वविद्यालयों से आशा की जा सकती थी कि वे इस भाषा को अंगीकार करते और इसे समृद्ध बनाने में सहायता पहुँचाते; परन्तु उन्होंने इस विषय में कोई सहायता नहीं पहुँचायी। जब देश की लोकशक्ति बहुत आगे बढ़ गयी और जब विश्वविद्यालयों के लिए अधिक टालमटोल करना असम्भव हो गया तब बड़ी कृपापूर्वक उन्होंने हाईस्कूल इण्टरमीडिएट तक के स्टैण्डर्ड के लिए हिन्दी का माध्यम स्वीकार किया, परन्तु इसमें भी कितनी हिचकिचाहट दिखायी गयी है! अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाने का जन्मसिद्ध अधिकार भी इस अभागे देश में तर्क और बहस-मुबाहिसे का विषय बना हुआ है।

कविवर रवीन्द्रनाथ अपने देश के विश्वविद्यालयों की इस अकर्मण्यता से ऊब उठे थे। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के उपाधिवितरणोत्सव के समय उन्होंने बड़ी हृदयद्रावक भाषा में अपनी क्षुब्ध-कातर प्रार्थना इस प्रकार प्रकट की थी—"मैं अपनी प्यासी मातृभाषा की तरफ से अपने ही देश के विश्वविद्यालय के द्वार पर खड़ा, चातक की तरह उत्कण्ठित वेदना के साथ प्रार्थना करता हूँ; तुम्हारे अभ्रभेदी

शिखर को घेरे हुए जो पुञ्ज-के-पुञ्ज श्यामल मेघ घूम रहे हैं, उनका प्रसाद आज फलों और शस्यों पर बरसने दो; पुष्पों और पल्लवों से पृथ्वी सुन्दर हो उठे, मातृभाषा का अपमान दूर हो, युग-शिक्षा की उमड़ती हुई धारा हमारे चिन्तन की सूखी नदी के रेतीले मार्ग से बाढ़ की तरह बह निकले, दोनों तट पूर्ण चेतना से जाग उठें, घाट-घाट पर आनन्द-ध्वनि मुखरित हो उठे।" कवि की वह वाणी बहुत कम सुनी गयी है। मातृभाषा अब भी इस देश के विश्वविद्यालयों में उपेक्षित ही है।

साधारणतः शिक्षा विभाग के अधिकारी किसी देशी भाषा को शिक्षा का माध्यम नहीं बनने देने में प्रधान कारण पुस्तकों का अभाव बताते हैं। पहले कोई उनके लिए पुस्तकें लिख दे, छाप दे, अध्यापकों को हिन्दी बोलने की आदत डलवा दे तब शायद वे विचार करेंगे कि प्रस्ताव पर ध्यान दिया जा सकता है या नहीं। नाना कारखानों से नाना भाँति के अंग-प्रत्यंग बन आयें, तब वे शिक्षा-पुरुष को जोड़-बटोरकर तैयार कर लेंगे। यह उचित रास्ता नहीं है। शिक्षा एक सजीव वस्तु है। विधाता बालक की रचना समग्र रूप में ही करते हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, "कोई छोटा बच्चा जब किसी प्रौढ़ व्यक्ति के बगल में खड़ा होता है तो वह अपनी समग्रता का सम्पूर्ण संकेत लेकर ही खड़ा होता है। ऐसा नहीं कि किसी कोठरी में एक-दो वर्ष तक बच्चे के सिर्फ पैर ही बनाये जा रहे हों और दूसरी में हाथ की कुहनी तक ही लग्गा लग चुका हो। इतनी दूर तक सृष्टिकर्त्ता की सतर्कता नहीं पहुँची। सृष्टि की भूमिका में भी अपरिणति के होते हुए भी समग्रता होती है। उसी तरह से देशभाषा के विश्वविद्यालय की भी एक सजीव समग्र शिशु-मूर्त्ति देखना चाहता हूँ। वह मूर्त्ति कारखानों में बनी खण्ड-खण्ड विभागों की क्रमशः योजना नहीं होगी। पूरी उम्रवाले विश्वविद्यालय के बगल में ही वह खड़ी हो जाय—बालक विश्वविद्यालय के रूप में। उसकी बालकमूर्त्ति में ही हम देखेंगे उसकी विजयी मूर्त्ति और देखेंगे उसके ललाट पर राजासन-अधिकार का प्रथम टीका।" विश्वभारती ऐसा ही विश्वविद्यालय है। उसका सबसे नवीन विभाग हिन्दी-भवन ऐसा ही शिशु है। शिशु की सब कमजोरियाँ उसमें हैं, ह्रास-वृद्धि की सभी सम्भावनाएँ हैं, फिर भी वह सजीव और समग्र है। हिन्दी-भवन की स्थापना के समय उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक से कहा था, "तुम्हारी भाषा परम शक्ति-शाली है। बड़े-बड़े पदाधिकारी तुमसे कहेंगे कि हिन्दी में कौन-सा रिसर्च होगा भला! तुम उनकी बातों में कभी न आना। मुझे भी लोगों ने बँगला में न लिखने का उपदेश दिया था। मैंने बहुत दुनिया देखी है। ऐसी भाषाएँ भी हैं जो हमारी भाषाओं से कहीं कमजोर हैं, परन्तु उनके बोलनेवाले अंग्रेजी के विश्वविद्यालय नहीं चलाते। हमारे ही देश में लोग परमुखापेक्षी हैं। तुम कभी अपना मन छोटा मत करना, कभी दूसरों की ओर मत ताकना। देखो, मैं पके हुए बाँसों पर भरोसा नहीं करता। उन्हें झुकाना कठिन है। कच्चे बाँस ही ले आओ। देशी भाषाओं को कच्चे युवकों की जरूरत है। साहस ज्यादा जरूरी है। लग पड़ोगे तो सब हो

जायेगा। हिन्दी के माध्यम से तुम्हें ऊँचे-से-ऊँचे विचारों को प्रकट करने का प्रयत्न करना होगा। क्यों नहीं होगा ? मैं कहता हूँ जरूर होगा। ठूँठ-प्रवीणों से आशा नहीं है। नवीन युवक असाध्य-साधन कर सकते हैं।" मुझे उनकी शब्दावली याद नहीं है, पर भाव यही हैं। ये मेरे चित्त पर वज्रलेख की तरह अंकित हो गये हैं।

जिस दिन दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ ने हिन्दी-भवन का शिलान्यास किया था, उस दिन वे अस्वस्थ थे। सोचा गया था कि उन्हें उत्सव-स्थान पर नहीं लिवाया जायगा, परन्तु वे माने नहीं। बोले, "देखो, मैं जरूर चलूँगा और वैदिक मन्त्र मैं ही पढ़ूँगा। तुम लोग मुझे रोक नहीं सकते।" उन्होंने ही शिलान्यास के अवसर पर इस शुभ अनुष्ठान का पौरोहित्य किया था। वे मनुष्य की शक्ति में पूर्ण विश्वास रखते थे। कभी उन्होंने मनुष्य को छोटा नहीं समझा। इसीलिए वे उस भाषा की महिमा को जानते थे, जिसे करोड़ों मनुष्यों के सुख-दुःख को प्रकट करने का अवसर मिला है। वे मनुष्य की अजेय शक्ति में विश्वास रखते थे। हिन्दी को वे एक ऐसी लोकभाषा मानते थे जिसकी अद्भुत और अक्षय शक्ति अभी प्रकट नहीं हुई। स्व. प्रेमचन्दजी की मृत्यु का समाचार पाकर उन्होंने बड़े दुःख के साथ कहा था, "तुम्हें एक आदमी मिला था जो सचमुच तुम्हारी भाषा की शक्ति को पहचानता था, पर दुःख है, विधाता ने उसे छीन लिया। तुम्हारी भाषा में बड़ी शक्ति है और बड़ी सम्भावनाएँ हैं।"

हिन्दी-भवन का द्वारोद्‌घाटन पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने किया था। उस अवसर पर भी कविगुरु वहाँ उपस्थित थे। उस दिन वे बहुत प्रसन्न थे। हम लोगों के साथ देर तक बातें करते रहे। हम सबको प्रायः हँसाते रहे।

वह शुभ दिन था जब पं. बनारसीदासजी, श्री सीतारामजी सेकसरिया के साथ, शान्तिनिकेतन पधारे थे। सीतारामजी ने पाँच सौ रुपये देकर हिन्दी-भवन की स्थापना की सम्भावना में वृद्धि की थी। बाद में श्री सेठ भागीरथजी कानोडिया आये और हिन्दी-भवन की स्थापना उनके ही शुभ संकल्पों से सम्भव हुई। दीनबन्धु ने कहा था कि कानोडियाजी उन श्रीमन्तों में हैं जिनका दायाँ हाथ बायें हाथ के दिये हुए की खबर नहीं रखता। उनकी कृपा के बल पर ही हिन्दी-विभाग चलता रहा है। हिन्दी-भवन में स्व. रायबहादुर मोतीलाल विश्वेश्वरलालजी हलवासिया ट्रस्ट का रुपया लगा है। स्वर्गीय हलवासिया की दानवीरता अति परिचित बात है। इसी ट्रस्ट ने हिन्दी-भवन में कार्य आरम्भ करने के लिए भी उदार सहायता दी है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिन्दी-भवन की स्थापना में इतने शुद्ध-हृदय महामना व्यक्तियों का सहयोग कैसे मिल गया! रवीन्द्रनाथ, सी. एफ. एण्ड्रयूज़, जवाहरलाल नेहरू, मो. वि. हलवासिया, सीताराम सेकसरिया, भागीरथ कानो-डिया, रामदेव चोखानी, बनारसीदास चतुर्वेदी—इनमें किसी एक का भी नाम जुड़ा रहने से संस्थाएँ गौरवान्वित हो सकती हैं। हिन्दी-भवन को इन सबका सहयोग कैसे मिल गया ? यह क्या आकस्मिक घटना है ? मेरा विश्वास है कि यह आक-स्मिक बात नहीं है। हिन्दी की यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति किसी महान् भविष्य की

ओर इंगित करती है।

हिन्दी-भवन की स्थापना करके स्व. कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह साधारण नहीं है। उन्होंने किसी सद्यःप्राप्य फल की आशा से यह काम नहीं किया। वे भारतवर्ष की आत्मा को सबल और सतेज बनाने के लिए दीर्घ तपस्या की आवश्यकता में विश्वास करते थे। हिन्दी-भवन को वे साहित्य और संस्कृति की साधना के पीठ के रूप में देखना चाहते थे। यह हिन्दी-प्रेमियों का पावन कर्त्तव्य है कि वे देखें कि उनका संकल्प सत्य हो, उनकी इच्छा पूर्ण हो और हिन्दी इस योग्य बने कि विश्व के दरबार में उस महान् भारतीय सन्देश को पहुँचा सके जिसे कबीर, सूर, तुलसी और मीराबाई ने इस भाषा में रखा था।

रवीन्द्रनाथ और आधुनिक हिन्दी-साहित्य

आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने रवीन्द्रनाथ से क्या प्रेरणा पायी है, यह बात नाप-तोलकर ठीक-ठीक बता देना सम्भव नहीं है। प्रवर्द्धमान आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने इतने स्थानों से अपना पोषक खाद्य संग्रह किया है और कर रहा है कि सबका हिसाब लगाना सम्भव हो ही नहीं सकता। जीवित जन्तु की मांस-पेशियों और रक्त-कणों में किस खाद्य ने कब क्या वस्तु दान की है, इसका हिसाब कौन बता सकता है? ऐसे साहित्यिक लेख हमने पढ़े हैं, जिनमें एक-एक पंक्तियाँ उद्धृत करके इस कवि के ऊपर उस कवि का प्रभाव सिद्ध किया गया है; पर यह नितान्त ऊपरी विवेचना है। पंक्तियों का एक-जैसा दिख जाना प्रभाव का द्योतक नहीं है। प्रभाव भीतरी होता है। वह आत्मा और मन को प्रेरणा देता है। वेश-भूषा के अनुकरण को प्रभाव कहना ग़लती है। रवीन्द्रनाथ की तीन दर्जन से अधिक पुस्तकें हिन्दी में अनूदित हुई हैं। किसी-किसी के अनुवाद में एकाधिक अनुवादकों ने प्रयत्न किया है। 'चित्रांगदा' के तीन अनुवाद हमारे जाने हुए हैं। 'गीताञ्जलि' के भी कई अनुवाद हो चुके हैं। कुछ अनुवाद मूल बँगला से हुए हैं और कुछ उसके अंग्रेज़ी अनुवाद से। 'स्मरण' के भी एकाधिक अनुवाद हुए हैं। अब भी अनुवाद जारी हैं और कई बार एक-एक कविता के कई-कई अनुवाद प्रकाशित होते रहे हैं। पर सब मिलाकर ये अनुवाद इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि हिन्दी के आधुनिक साहित्य को इनसे प्रेरणा मिली है। यद्यपि इतना निर्विवाद है कि हिन्दी के साहित्यिक इससे प्रभावित हुए हैं। और साहित्यिकों का प्रभावित होना ही साहित्य के प्रभावित होने का मूल है।

'गीताञ्जलि' में जो मरमी भाव है, जिसे पश्चिम में मिस्टिसिज्म कहा गया था और उसी के तोल पर हिन्दी में उसके लिए 'रहस्यवाद' शब्द चला दिया गया, उसने हिन्दी के कवियों को बहुत प्रभावित किया था। कितने ही नौसिखुओं ने कलम सँभाली। फिर एक ऐसा भी जमाना गया है, जब छायावाद के नाम पर ऐसी कविताएँ लिखी गयी हैं, जो नितान्त उथले विचारों की उपज थीं और जिनके लिखनेवालों में से बहुतेरे अनुभवहीन व्यक्ति थे। इन कविताओं को लेकर हिन्दी में काफी आन्दोलन चला। पक्ष और विपक्ष में नाना प्रकार के तर्कजाल उपस्थित किये गये। कभी-कभी इन असम्बद्ध उथले विचारों के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन के लिए रवीन्द्रनाथ का नाम लेते थे और कभी-कभी तो कविता में अस्पष्टता को एक आवश्यक गुण कहकर भी विज्ञापित किया गया था। इस सिलसिले में भी रवीन्द्रनाथ का नाम बराबर याद किया जाता रहा और कभी-कभी तो उनके लिखे हुए प्रबन्धों से उद्धरण भी दिये जाते रहे, जिनसे यह साबित होता था कि वे अस्पष्टता के पक्षपाती हैं। मैंने इस प्रकार के जो दो-एक उद्धरण देखे हैं, उनमें यह नहीं बताया गया है कि वे किस पुस्तक या निबन्ध से लिये गये हैं, इसलिए यह मेरे लिए कठिन ही है कि उनकी वास्तविकता की जाँच कर सकूँ। परन्तु मैं जानता हूँ कि रवीन्द्रनाथ की एकाध कविताओं में इस तरह की बात आयी है, जिसे उनकी काव्य-धारा से अपरिचित व्यक्ति को सन्देह हो सकता है कि उनमें अस्पष्टता की प्रशंसा की गयी है। सही बात यह है कि प्रत्येक आध्यात्मिक साधक की भाँति रवीन्द्रनाथ ने भी एक ऐसी अवस्था को स्वीकार किया है, जो वाणी के अतीत है। काव्य का अदना विद्यार्थी भी जानता है कि अनादिकाल से सहृदय लोग एक ऐसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करते आये हैं, जो वक्ता, शब्दानुशासन, अर्थ और व्याख्या के परे है।

तो प्रकृत बात यह है कि रवीन्द्रनाथ के नाम और काव्य तथा अन्य लेखों ने एक जमाने में हिन्दी-साहित्य के तर्क-युद्ध को काफी सजग और गर्म बना रखा था, और कौन कह सकता है कि इन सबका सम्मिलित फल साहित्य के नवीन वेग को और अधिक गतिमान नहीं बना गया है? हिन्दी में एक महत्त्वपूर्ण किन्तु कमजोर साहित्य छायावाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यंग्यात्मक साहित्य के रूप में बना है। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि इसने साहित्यिकों में आत्मचेतना का भाव जरूर जगाया है और कमजोर इसलिए कि इसमें एक भी ऐसी कृति नहीं है, जो दस-बीस वर्ष तक भी जी सके।

ज्यों ही अधकचरे और अनुभवहीन मौसमी कवियों का आवरण हटा त्यों ही कुछ स्वस्थमना और वास्तविक कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा ने नवीन साहित्य को प्राणवान और गतिशील बनाया। इनमें शायद सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ही ऐसे थे, जिन पर रवीन्द्रनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव बहुत आरम्भिक अवस्था में ही पड़ा था। वे बंगाल में ही पैदा हुए थे और बंगाली वायुमण्डल के प्रत्येक उपादान से रस निचोड़ सके थे। शुरू में 'निराला'

विद्रोही कवि थे। उनकी सबसे बड़ी देन उनका उत्कट विद्रोह है, जिसने नयी पौध के कवियों को पुरानी रूढ़ियों के प्रति विद्रोही बना दिया और पुराने ढर्रे के कवियों को झकझोर दिया। 'निराला' की प्रारम्भिक कविताओं में इसीलिए झक-झोर देनेवाला तत्त्व ही प्रधान है, और यही कारण है कि व्यंग्यात्मक साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा सीधे 'निराला' को जवाब देने की चेष्टा में लिखा गया है। सुमित्रानन्दन पन्त भी विद्रोही कवि थे। उन्होंने केवल काव्य के वक्तव्य-विषय की ही आलोचना नहीं की, व्याकरण और छन्द तक को चुनौती दी। परन्तु पन्त शुरू से ही रचनात्मक अधिक थे। उनका विद्रोही रूप गौण था। रवीन्द्रनाथ का प्रभाव इन पर भी था; यद्यपि न तो निराला ही और न पन्त ही हू-ब-हू वही हैं, जो रवीन्द्रनाथ थे। पन्त ने रवीन्द्रनाथ को ठीक-ठीक समझने की कोशिश की। उन्होंने बँगला और हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति का सूक्ष्म विवेचन किया और बड़ी अद्भुत सफलता के साथ हिन्दी-छन्दों की प्रकृति को पहचान लिया। पन्त ने प्रथम बार निर्भीकतापूर्वक घोषणा की, न तो वर्णिक वृत्त ही और न संस्कृत और बँगला के अनुकरण पर लिखे हुए अतुकान्त पद्य ही हिन्दी की प्रकृति से सामंजस्य बनाये रख सकते हैं। निस्सन्देह पन्त के निष्कर्ष चरम और निर्भ्रान्त नहीं थे; पर वे अधिकांश में ठीक और युक्तियुक्त थे। जो लोग बँगला-छन्दों के अनुकरण पर हिन्दी में छन्दःसंस्कार करने पर तुले हुए थे, उनका प्रभाव जाता रहा। यह बहुत बड़ा कार्य था। जब आधुनिक कविता का स्वरूप स्थिर हो जायगा, तो भावी समालोचक पन्त के इस महान् कार्य की अधिक न्यायपूर्वक प्रशंसा कर सकेगा। परन्तु यह भुलाया नहीं जा सकता कि उक्त कार्य को सूक्ष्मतापूर्वक निबाहते समय पन्त के सामने रवीन्द्र-साहित्य और तत्प्रभावित हिन्दी के साहित्यिक थे। 'निराला' ने बाद में चलकर रवीन्द्रनाथ के छन्दों के आधार पर 'गीतिका' में सात, बारह, सोलह आदि मात्राओं के गान लिखे; परन्तु ये गान और छन्द हिन्दी में अभी तक लोकप्रिय नहीं हो सके हैं। किन्तु प्रसादजी केवल विद्रोही कवि नहीं थे। उनकी समस्त काव्य-साधना के पीछे उनका अध्ययन है, इसीलिए वे बुद्धिवृत्तिक या intellectual अधिक हैं। उनके नाटक 'अजातशत्रु' में रवीन्द्रनाथ की 'नटी की पूजा' का प्रभाव स्पष्ट है; पर जहाँ तक उनकी कविताओं का सवाल है, वे अधिक मौलिक हैं। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा में यद्यपि बौद्धिकता कम नहीं है; परन्तु उसके अन्यान्य अंगों ने उसे बहुत उचित सामंजस्य में रख दिया है। प्रसादजी के अन्यान्य उपादान अपेक्षाकृत कम वजनदार थे, इसीलिए उनकी बुद्धिवृत्ति सब पर हावी हो गयी है। फिर प्रसादजी पर रवीन्द्रनाथ का अप्रत्यक्ष प्रभाव था। शायद 'गीताञ्जलि' के पुरस्कृत होने के बाद ही उन्होंने अपने विषय और भाषा में परिवर्त्तन किया था।

परन्तु रवीन्द्रनाथ की मर्म-भावना का ठीक-ठीक प्रतिरूप महादेवी की कविताओं से मिलता है, यद्यपि मेरे लिए यह कह सकना कठिन ही है कि महादेवी वर्मा ने रवीन्द्रनाथ से कितनी प्रेरणा पायी थी। कवि की मृत्यु के बाद महादेवीजी ने एक

कविता लिखी थी, जो 'वीणा' में प्रकाशित हुई थी। मेरा यह दावा नहीं है कि रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में जितने कवियों ने श्रद्धांजलि रूप में कविताएँ लिखी हैं, उन्हें मैंने देख लिया है, और इसीलिए 'सर्वोत्तम' जैसा विशेषण तो मैं नहीं दे सकता; परन्तु मेरा अनुमान है कि महादेवीजीवाली कविता बेजोड़ थी। मन और प्राण पर बहुत गहरा चिह्न हुए बिना इस प्रकार की कविता लिखी ही नहीं जा सकती। असल में जिसे रहस्यवाद कहकर 'गीताञ्जलि' के समालोचकों ने प्रशंसा की है, वह भाव हिन्दी के कवियों में सिर्फ महादेवी की कविताओं में ही पाया जाता है। आत्मार्पण की व्यग्र व्याकुलता, किसी के पदचाप के प्रति उत्कर्ण उत्सुकता और एकान्त तन्मयता की दृष्टि से महादेवी की कविताएँ 'गीताञ्जलि' की जाति की ही हैं।

'गीताञ्जलि' के अंग्रेजी अनुवाद ने हिन्दी में उस सुकुमार गद्य-शैली को जन्म दिया है, जिसे नाट्य-काव्य कहा जाता है। बाबू रायकृष्णदास की 'साधना' पं. रामचन्द्र शुक्ल-जैसे सावधान पण्डित से भी प्रशंसा प्राप्त कर सकी है। नये-नये लेखक अब भी गद्य-काव्य लिखते जा रहे हैं। मैंने दिनेशनन्दिनी चोरड्या की लिखी हुई ऐसी रचनाएँ देखी हैं, जो यद्यपि 'गीताञ्जलि' की तरह आध्यात्मिक ऊँचाई पर जानेवाली तो नहीं हैं, पर सरस जरूर हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक प्रबन्ध लिखा था—'काव्य की उपेक्षिताएँ'। इस प्रबन्ध ने मैथिलीशरण गुप्त-जैसे लोकप्रिय और उत्कृष्ट कवि को प्रेरणा दी है, और इस प्रेरणा ने न केवल हिन्दी-भाषा को 'साकेत'-जैसा काव्य उत्पन्न करके गौरवान्वित किया है, बल्कि समूचे भारतीय साहित्य को भी महिमान्वित बनाया है। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा ने हिन्दी-साहित्य को और कुछ न भी दिया होता और केवल मैथिलीशरण गुप्त को यह काव्य लिखने के लिए ही प्रेरित किया होता, तब भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका स्थान चिर-स्मरणीय बना रहता। 'साकेत' हिन्दी के उत्तम काव्यों में से एक है।

कबीर की सौ कविताओं का जो अंग्रेजी अनुवाद रवीन्द्रनाथ ने किया था, उसने हिन्दी साहित्य के इतिहास को नवीन चिन्तन-सामग्री ही नहीं दी, समस्त हिन्दी-भाषी जनता को दृप्त और तेजस्वी बना दिया। मिश्र-बन्धुओं के 'हिन्दी-नवरत्न' के प्रथम संस्करण में कबीर को कोई भी स्थान नहीं मिला था। रवीन्द्र-नाथ ने कबीर का जब आदर किया, तो द्वितीय संस्करण में कबीर को भी एक रत्न माना गया। नौ की संख्या दुरुस्त रखने के लिए भूषण और मतिराम को 'त्रिपाठी-बन्धु' कहकर काम चला लिया गया। परन्तु एक दल ऐसा भी निकला, जो नयी पौध के युवकों को रवीन्द्रनाथ की 'बँगला के प्रत्येक ताल-सुर पर नाचते' देख क्षुब्ध हो उठा था। बाबू श्यामसुन्दर दास ने ऐसे युवकों को गौरवबोध कराने के लिए ही जरा कड़े शब्दों में रवीन्द्रनाथ की खबर ली है! "बँगला में वर्त्तमान कवीन्द्र रवीन्द्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्यवाद का बीज उन्होंने कबीर में पाया, परन्तु उनमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी है। भारतीय रहस्य-

वाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से सजाया है। इसी से यूरोप में उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई।" इस अवतरण में लेखक का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, इसकी बातें ठीक नहीं हैं। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ इतनी हिन्दी नहीं जानते थे कि मूल में कबीर के भावों को पढ़ सकें। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुवादों के आधार पर ही उन्होंने अपना अनुवाद किया था और उसके पहले वे कबीर से नाममात्र को ही परिचित थे। 'कथा' नामक अपने काव्य में उन्होने 'कबीर' पर एक कविता लिखी है, और सूरदास और तुलसीदास पर भी कविताएँ लिखी हैं; परन्तु इन सबको उन्होंने नाभादास के 'भक्तमाल' के आधार पर लिखा था। 'भक्तमाल' भी उन्होंने मूल रूप में नहीं देखा था। आज से सैकड़ों वर्ष पहले नाभादास के 'भक्तमाल' और उसकी प्रियदासवाली टीका का बँगला-अनुवाद किसी कृष्णदास (लालदास ?) नामक महातमा ने किया था। कवि ने उसी अनुवाद को देखा था। कबीर का प्रत्यक्ष परिचय तो उन्हें बहुत बाद में हुआ और उसके बहुत पहले उन्हें वह चीज प्राप्त थी, जिसे 'रहस्यवाद' कहा जाता है। जो हो, उसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर के अनुवाद का जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान हुआ, उसने हिन्दी के साहित्यिकों के चित्त की लघुता-ग्रन्थि को शिथिलबन्ध बना दिया।

रवीन्द्रनाथ के महिमाशाली व्यक्तित्व ने हिन्दी के साहित्य को दवा नहीं दिया, बल्कि उसके निर्माताओं में आत्म-गौरव और आत्म-चेतना का भाव जाग्रत कर दिया। हिन्दी आज भारतवर्ष की उन्नत भाषाओं में गिनी जाती है, एक दिन आयेगा— जो बहुत दूर नहीं है—जब वह संसार की उन्नत भाषाओं में गिनी जायेगी, उस दिन का आलोचक यह निश्चय ही लक्ष्य करेगा कि इस साहित्य के आदि निर्माताओं को दृप्त और साहसी बनाने में रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का जबर्दस्त हाथ है।

कवीन्द्र का सन्देश

रवीन्द्रनाथ महामानव थे। वे कल्पना-विलासी कवि नहीं थे, द्रष्टा कवि थे। जीवन की उच्छल प्राणधारा में उनका अडिग विश्वास था। जहाँ यह जीवन-धारा अबाध गति से बह रही है, वहीं मनुष्यता सतेज रहती है। जहाँ वह रुद्ध हो जाती है वहीं जड़िमा पुंजीभूत होकर समाज की अग्रगति में बाधा पहुँचाती है। लोभ, भय और मोह इसी जड़ता से उत्पन्न होते हैं। देश के युवकों पर उनका अखण्ड विश्वास था। उन्होंने गाया था—"जय हो, जय हो, नवीन अरुणोदय की जय हो; पूर्वी आकाश

ज्योतिर्मय हो उठें। ओ अपराजित वाणी आओ, कसकर असत्य पर आघात करो। नाश हो शंका का, नाश हो संशय का, हे नवजाग्रत प्राण, आओ, आ जाओ, चिर-यौवन के विजय-संगीत, आओ मृत्य को जीतनेवाली और जड़ता को विध्वंस करने-वाली आशा, स्वागत है! क्रन्दन दूर हो, बन्धन का क्षय हो।" प्राणधारा का सर्वाधिक उच्छल वेग युवावस्था में होता है। वहीं आशा रखी जा सकती है। उन्हें युवकों पर इतना अधिक विश्वास था कि उनकी अनुभव-हीनता, अपरिपक्वता और चंचलता को भी वे गुण ही मानते थे :

चलना न चाहतीं मिट्टी की सन्तानें
पग रखकर मिट्टी पर (इसे अशुचि वे मानें)!
अपनी अपनी उनकी हैं बाँस मचानें
जिन पर अडोल आसन बाँधे वे सुस्थिर!
आ रे अशान्त, आ अपरिपक्व, आ अस्थिर!
सब तुझे रोकना चाहेंगे भरसक वे
सोचेंगे देख प्रकाश नया औचक वे
यह कैसा अद्भुत काण्ड आज दिखता रे!
पाकर तेरा संघात खीझ जायेंगे
शयनीय छोड़ निज दौड़ दौड़ आयेंगे;
इस अवसर पर निद्रा से जग जायेंगे
फिर गुत्थमगुत्थी सत्य और मिथ्या की!
आ रे प्रचण्ड, आ अपरिपक्व, एकाकी!

—बँगला से अनूदित

उनका विश्वास था कि युवक सत्य और मंगल के लिए प्राणों की बाजी लगा सकते हैं; रूढ़, निष्प्रांण विधि-निषेधों की जंजीर तोड़ सकते हैं और सत्य को अनायास स्वीकार कर सकते हैं। तपस्या द्वारा, सत्य-निष्ठा द्वारा, ज्ञानार्जन की दुरन्त क्षुधा के द्वारा वे देश को सही रास्ते ले जा सकते हैं। जड़ता के मोह-पाश में बँधी दुनिया से वे ऊब उठे! 'नवजाग्रत प्राणों' को उद्बुद्ध कर गये थे। युवकों को छोटे झगड़ों में पड़ा देखते थे तो उन्हें कष्ट होता था। वे चाहते थे कि युवकों की शक्ति जड़ता के ध्वंस करने में और महान् मानवीय आदर्शों के निर्माण में लगे। देश के युवक ही इतिहास-विधाता की मंगलमयी रचना-प्रक्रिया को गतिशील बना सकते हैं।

रवीन्द्र-दर्शन [1]

रवीन्द्रनाथ हमारे युग के क्रान्तदर्शी कवि थे। उन्होंने अपने देशवासियों को और समूचे जगत् को ऐसा महान् जीवनदर्शन दिया है जो आधुनिक परिस्थितियों के लिए अत्यधिक हितकर और ग्राह्य है। आज की दुनिया जिस प्रकार के अनास्था-व्याकुल वातावरण में चल रही है, वैसा कदाचित् इससे पहले कभी दिखायी नहीं दिया था। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है कि "मानव इतिहास के किसी भी समय में इतने लोगों के सिर पर इतना बड़ा बोझ नहीं पड़ा है, या वे इतनी बड़ी यन्त्रणाओं और अन्तर्वेदनाओं के कष्ट के शिकार नहीं हुए। हम ऐसे संसार में जी रहे हैं जिसमें विषमता सर्वव्यापी है। परम्पराएँ, संयम, स्थापित कानून और यथास्थित आदर्श शिथिल हो गये हैं। जो विचार कल तक सामाजिक भद्रता और न्याय से अविच्छेद्य समझे जाते थे और जो शताब्दियों से लोगों के आचरण का निर्देशन और अनुशासन करने में समर्थ समझे जाते थे, वे आज बह गये हैं। संसार गलतफहमियों, कटुताओं और संघर्षों से विदीर्ण हो गया है।" यह समय एक ओर जहाँ पुरानी मान्यताओं के प्रति संशय की भावना से जर्जर है वहाँ दूसरी ओर नयी मान्यताओं की स्थापना के अभाव में अस्थिर-चित्तता और अनास्था को उत्तेजन दे रहा है। मनुष्य का चित्त परम्पराओं से न तो मुक्त ही हुआ है न वह नयी आस्था ही खोज पा रहा है। संसार के मनीषी चिन्तित हो उठे हैं, जनता अवश्यम्भावी सत्यानाशी युद्धों की विभीषिकाओं और सम्भावनाओं से त्राहि-त्राहि कर उठी है। सर्वत्र कुछ ऐसे की खोज हो रही है जो आस्था ले आ सके, भयंकर सम्भावनाओं की रोकथाम का उपाय बता सके। संसार के भयत्रस्त, अनास्था जर्जर जनसमूह को शान्त और आश्वस्त करनेवाला जीवनदर्शन चाहिए। रवीन्द्रनाथ इसी सभ्यता के संकटकाल के मनीषी हैं। उन्होंने अपनी कविताओं और अन्य साहित्यिक रचनाओं के द्वारा गुम-राह मनुष्य के चित्त में आस्था उत्पन्न की है, संशय और भय के मूल में आघात किया है, लोभ और मोह के नवीन रूपों का पर्दाफाश किया है और मनुष्य के पुराने बहुमानित जीवन-मूल्यों में जो उपयोगी है, जो सनातन है, उसे खोज निकाला है और अनास्था जर्जर मानवता को आशा और विश्वास का मन्त्र दिया है।

आधुनिक जीवन-दर्शन के बारे में संसार के मनीषियों ने अनेक प्रकार से लिखा है। आज का शिक्षित मनुष्य स्वर्ग और नरक की पुरानी मान्यताओं पर आस्था खो चुका है। जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए मध्ययुगीन मनुष्य के चित्त में जो विश्वास शताब्दियों से प्रतिष्ठित हो चुके थे, वे एकाएक ढहकर भहरा गये हैं। मनुष्य की बुद्धि ने प्रकृति के रहस्यों की जो जानकारी प्राप्त की है उसने उसे आत्म-केन्द्रित बना दिया है। अपनी बुद्धि पर उसकी आस्था निरन्तर बढ़ती जा रही है, परन्तु यह बुद्धि स्वयं ही अपनी समस्या बनती जा रही है। क्या जीवन यों ही जड़-तत्त्वों के आकस्मिक घटन-अवघटन से उत्पन्न हुआ आकस्मिक संयोग-संचित या

किसी अदृश्य शक्ति की सुनियोजित व्यवस्था का अंग है ? भारतवर्ष के पुराने तत्त्वदर्शियों ने जो उत्तर दिये हैं वे बहुत सटीक हैं, पर आधुनिक शिक्षित मनुष्य को वे ग्राह्य नहीं हो पाते। उसे वर्त्तमान के सन्दर्भ में उत्तर मिलना चाहिए।

बहुत तरुण वयस में रवीन्द्रनाथ ने एक कविता लिखी थी--'जीवनदेवता'। इस कविता में उन्होंने पुराने भारतीय मनीषियों की सोची हुई चीज को नयी भाषा में प्रकट किया था--अत्यन्त मधुर और हृदय-ग्राह्य बनाकर। इस कविता में उन्होंने अपने जीवनदेवता को सम्बोधन करके पूछा था--"हे मेरे जीवनदेवता, मेरे अन्तर में वास करके तुम्हारी क्या सारी प्यास बुझ सकी है ?" इस कविता में कवि ने एक सनातन प्रेमपिपासु देवता की कल्पना की है। वह देवता है जो जीवन के विविध रंगों-रूपों-वर्णों में निरन्तर वास करके अपनी प्रेमतृष्णा शान्त करना चाहता है। यह लीलावाली पुरानी वैष्णव कल्पना का नया रूप है। यह जीवन हमारा अपना नहीं है, किसी चिरपुरातन प्रेमी की लीला का साधन है। मनुष्य की समस्त वासनाएँ, सारी त्रुटियाँ, अशेष स्खलन उस चिरपुरातन प्रेमी की ओर उन्मुख होकर धन्य हो जाता है। यह जीवन उस चिरन्तन गायक की वीणा है, जो भी राग उसके मन के अनुकूल बजते हैं वे धन्य हैं।

जिस सुर में तुमने बाँधे थे इस वीणा के तार सखे,
बार-बार वे उतर गये हैं, बिखरे बारम्बार सखे,
कवि तुमने जो राग बजाना चाहा वह क्या मेरे बस का ?

इस कविता में कवि रवीन्द्रनाथ ने एक सनातन प्रेमी की बात कही थी। जिसे आत्मसमर्पण करके ही जीवन धन्य होता है, जिसके चरणों में अपने-आपको दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर निःशेष भाव से उँड़ेल देने में ही मनुष्यजीवन चरितार्थ होता है। जीवन के प्रथम उन्मेषक्षण में रवीन्द्रनाथ ने यह सत्य देखा था और बाद में अपनी अनेक रचनाओं में इस मूल बात को नाना भाँति से हृदयग्राह्य बनाया। घनघोर वर्षा के विषय में लिखते समय एक बार उन्होंने जो लिखा था उसे हिन्दी में इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है :

इस उत्ताल तुमुल निनाद मन्द्रिल छन्द से
घनघनित मोहन घुमड़ते पदबन्ध से
तुम राग जो चाहो बजाना आज मेरी प्राणवीणा पर
बजा लो खींच
इस घनघोर वर्षा बीच।

चटकती कलियों में, मर्मरित पत्तों में, हरहराती नदियों में, घुमड़ते मेघों में, पत्थरतोड़ परिश्रम में, उल्लास-चंचल अपांगों में, छलकते आँसुओं में उन्होंने इस जीवनदेवता का लीला-विलास पाया। यह जीवनदेवता अनेक में एक होकर विराजमान है। इसकी उपेक्षा मनुष्य को विकृतियों का शिकार बना देती है। जीवन के हर उल्लास और अवसाद में, हर गति और हर मोड़ में उल्लसित होनेवाला यह जीवनदेवता ही उपनिषदों का 'नानात्व में एक' रूप में विद्यमान परमतत्त्व है। जो

कुछ इसके लिए किया जाता है, जो कुछ उसकी प्रीति के लिए उत्सर्गीकृत है वही धन्य है। जीवन के सभी कार्य तभी चरितार्थ होंगे जब मनुष्य अविचलित निष्ठा के साथ विश्वास करे कि वह परमप्रेमिक प्रभु निरन्तर हृदय में विराजमान है। एक गान में उन्होंने कहा है :

क्या लोग कहा करते हैं इस पर ध्यान न दे
शत आकर्षण में खिचा-खिचा तू जान न दे,
केवल इतना तू भूल नहीं
तेरे राजा हैं तेरे ही हिय में वर्त्तमान।

जीवन को चालित करनेवाले महान् प्रेमिक को कवि ने राजा, नाथ, प्रिय, सखा आदि विभिन्न रूपों में देखा है। इसे प्राप्त करने के लिए मध्य-युग में वैराग्य-मूलक साधना प्रचलित हुई थी, या विह्वल भक्तिमार्ग का आविष्कार हुआ था। रवीन्द्रनाथ इन बातों को ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार करते। अपनी कविता में उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में कहा है, जिसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार होगा :

भक्ति, जो तुमको ग्रहण कर भुला देती धैर्य
क्षणभर में कि जो कर डालती विह्वल तरलतर नृत्य से, संगीत से
अज्ञात भावोन्माद की उन्मत्तता से,
भक्ति की यह उद्भ्रमित फेनोच्छला मदधार
है बिल्कुल न मेरी काम्य, मेरे नाथ
मुझे दो शान्तरस वह भक्ति जिसके स्निग्धतर पीयूष से
परिपूर्ण मंगलकलश
इस संसार भवन-द्वार पर शोभे।
कि जिसकी अमृतधारा फैल जाये सकल जीवन में
निगूढ़ गम्भीर सारे कार्य को बल दे,
विफल शुभ यत्न को भी करे फल से युक्त,
परमानन्द से, कल्याण से, सब प्रेम में दे तृप्ति
सारे दुःख में दे क्षेम, सब सुख में समुज्ज्वल दीप्ति दाहविहीन
ऐसी भक्ति जो नित संवरण कर भावविह्वल अश्रु को
कर दे हृदय परिपूर्ण,
जो हो अप्रमत्त गम्भीर

इस भक्ति में उस प्रकार का वैराग्यभाव नहीं है जो मध्यकाल में बहुत धार्मिक भाव से दिखायी दिया था। यह भक्ति संसार की कठिनाइयों और जिम्मेवारियों से भागने की नहीं होती। अपनी एक कविता में उन्होंने इस भागनेवाली प्रवृत्ति को लक्ष्य करके ही कहा था :

हूँ खड़ा आकर यहाँ रणभूमि के आघात-प्रत्याघात से जर्जर,
उतार-उतार फेंक दिया वलय-कुण्डल गले का हार,
अंगद प्रभृति भूषण-भार,

दो इस हाथ में निज हाथ से अपनी अमोघ शरावली,
अपना विकट तूणीर अक्षय,
अस्त्रदीक्षा दो मुझे रणगुरो,
ऐसा हो कि होवे ध्वनित प्रभु का प्रबलतर पितृस्नेह
आज कठोरतर आदेश में।
मुझको करो सामान्य नूतन वीर सज्जा में
कठिन कर्त्तव्य का दे भार,
दु:सह और दारुण वेदना देकर
सुसज्जित करो पहनाकर निदारुण चोट के, क्षतचिन्ह के,
आभरण मेरे अंग में।
हे नाथ, धन्य करो अभाजन दास को
सब सफल चेष्टा में विफल आयास में।
रखो न ढँककर इसे कोमल भाव के मोहन-ललित उत्संग में, हे प्रभु
कठिनतर कर्म के भी क्षेत्र में कर दो इसे सक्षम तथा स्वाधीन।

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ का जीवनदेवता आधुनिक युग के संघर्षजटिल वातावरण में प्रेरणा और शक्ति का स्रोत है। यह जीवनदेवता हमारे अस्तित्व के साथ एकमेक होकर विराज रहा है।

रवीन्द्र-दर्शन [2]

सत्य क्या है ? सौन्दर्य क्या है ? यह जो परिदृश्यमान विश्वब्रह्माण्ड है, वह क्या सत्य है या प्रतीतिमात्र है ? प्रतीति किसे होती है ? इन मूल प्रश्नों पर ही मनुष्य के विविध आचारों का मूल्यांकन हो सकता है। रवीन्द्रनाथ एक समष्टिमानव (युनिवर्सल मैन) में विश्वास रखते थे। यह समष्टिमानव सब मनुष्यों का आश्रय है, सबको मिलाकर विराजमान होने के कारण ही वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। इस समष्टिमानव को हम अपनी भावनाओं और कार्यों के द्वारा अनुभव करते हैं या अनुभवगम्य बनाते हैं। ऊपर-ऊपर से व्यक्तिमानव अलग-अलग दिखते हैं। वैज्ञानिक बताता है कि जिसे हम ठोस पिण्ड समझते हैं, वह छोटे-छोटे असंख्य परमाणुओं से बनता है। ये परमाणु एक-दूसरे से सटे नहीं हैं, उनमें व्यवधान है फिर भी हमें पूरा पिण्ड एक और अभिन्न दिखायी देता है। इसी प्रकार मनुष्य की इकाइयों के व्यवधान और अन्तर के होते हुए भी समष्टिमानव एक और अभेद्य है। यह

समष्टिमानव व्यक्तियों से परे है, परन्तु है वह मानवविराट् ही। सत्य वही है जिसे यह विराट् मानवचित्त धारण करता है। मानव-निरपेक्ष कोई सत्य हो भी तो उसे हम जान नहीं सकते। व्यक्तिमानव सीमाओं में बँधा है, परन्तु यह समष्टि-मानव सीमाहीन है। व्यक्तिमानव जो कुछ अनुभव करता है, विचार करता है, विवेक से ग्रहण करता है वह सत्य तभी होता है जब इस समष्टिमानव की धारणाओं के अनुकूल हो। इसी विराट् सत्ता में जो परिपूर्ण सामंजस्य (आइडिया आव कम्प-लीट हारमनी) है उसे हमें 'सुन्दर' कहते हैं, और जो परिपूर्ण बोध या कम्पलीट एप्रीहेंशन है वही सत्य है। व्यक्तिमानव अपनी विविध चेष्टाओं, त्रुटियों और भाव-नाओं को लेकर ही उसके सम्मुखीन होता है। सत्य और कुछ नहीं, उस विराट् मानव की सत्ता ही है, उससे अभिन्न है। ऐसा न होता तो व्यक्तिमानव सत्य को सत्यरूप में स्वीकार ही नहीं कर पाता। विज्ञान या तर्कशास्त्र सत्य का जो कुछ भी रूप हमारे सामने उपस्थित करता है वह मानवीय है; क्योंकि वह मानवीय चित्त या बुद्धि का ही विषय है। रवीन्द्रनाथ ने बताया है कि व्यक्तिमानव जब अपनी व्यक्तिगत सीमाओं को इस विराट् मानवीय सत्ता में निमज्जित कर देता है, अपने राग-विराग, मान-अभिमान के ऊपर उठकर इस सीमातीत सत्ता के साथ एकमेक अनुभव करने लगता है तभी वह सत्य का साक्षात्कार करता है।

बात बहुत साफ नहीं हुई। रवीन्द्रनाथ मानते हैं कि जो कुछ हम जानते हैं, जान सकते हैं, अनुभव करते हैं और अनुभव कर सकते हैं वह मानव-दृष्टि से देखा हुआ ही सत्य है। मानव के दो रूप हैं: एक तो उसका व्यक्तिरूप, दूसरा समष्टि-रूप। देश और काल में बहुधा अभिव्यक्त व्यक्तिमानव को 'एक' के रूप में उपलब्ध करना समष्टिमानव की दृष्टि है। इसी समष्टिमानव के मस्तिष्क में—विराट् समष्टिचित्र में संसार-जैसा कुछ दिख रहा है वही मानवीय है। इससे भिन्न कोई सत्य हो तो हम उसे जान नहीं सकते। जानने का कोई उपाय नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि हम जो कुछ सत्य या सुन्दर रूप में देख या अनु-भव कर रहे हैं, वह सब मानव-सत्य है। मनुष्यनिरपेक्ष कुछ भी नहीं। सन् 1930 ई. में जब रवीन्द्रनाथ यूरोप गये थे तो महान् वैज्ञानिक अलवर्ट आईन्स्टीन से मिले थे। दोनों में जो बातचीत हुई थी उसका विवरण 'रेलिजन आफ मेन' व्याख्यानमाला में परिशिष्ट रूप में छपा है। आईन्स्टीन इस मत से सहमत नहीं हो पाये। उन्होंने पूछा, 'क्या सत्य और सौन्दर्य मनुष्य से स्वतन्त्र नहीं हैं?' रवीन्द्रनाथ ने उत्तर दिया—'नहीं।' आईन्स्टीन ने कहा, 'मान लीजिये मनुष्य एकदम दुनिया से लोप हो जाय तो क्या वेलवेडियर का अपोलो सुन्दर नहीं रह जायेगा?' रवीन्द्रनाथ का संक्षिप्त और स्पष्ट उत्तर था—'नहीं।' इस पर आईन्स्टीन ने उत्तर दिया कि 'जहाँ तक सौन्दर्य की धारणा का प्रश्न है मैं आपसे सहमत हूँ, पर जहाँ तक सत्य का प्रश्न है, मैं इस मत को स्वीकार नहीं कर सकता।' रवीन्द्रनाथ ने कहा, 'क्यों नहीं स्वीकार कर सकते? आखिर सत्य की उपलब्धि मनुष्य के द्वारा ही तो होती है?' आईन्सटीन ने कहा, 'मैं यह साबित तो नहीं कर सकता कि मेरी धारणा सही है,

पर यह बात अर्थात् सत्य को मानवनिरपेक्ष स्वतःसिद्ध समझना मेरा धर्म है।' इस बात को और भी स्पष्ट करने के लिए महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने कहा था कि 'मैं यह बात निश्चित रूप से सिद्ध तो नहीं कर सकता कि सत्य मानवता से स्वाधीन और निरपेक्ष रूप में स्वीकार्य है, पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह ऐसा ही है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि ज्योमेट्री का पाइथोगोरियन सिद्धान्त (कि समकोण त्रिभुज के लम्ब और आधार का वर्गयोग कर्ण के वर्गयोग के समान होता है) प्रायः सत्य है, मनुष्य दुनिया में रहे या न रहे। जो भी हो, अगर दुनिया में मनुष्य से स्वतन्त्र कोई वास्तविकता है तो उस वास्तविकता से सम्बद्ध कोई सत्य भी अवश्य है और इसी प्रकार पहले को (मनुष्यनिरपेक्ष वास्तविकता को) अस्वीकार करने से दूसरे का सत्य भी स्वीकार योग्य नहीं रहता।' लेकिन रवीन्द्रनाथ मानते थे कि सत्य विश्वात्मा (युनिवर्सल वीइंग) के साथ एकमेक और अभिन्न है और वास्तविक रूप से मानवीय है। ऐसा नहीं होता तो व्यक्ति-मानव जिस किसी वस्तु को सत्य कहता है, वह सत्य कहा ही नहीं जा सकता। विशेष रूप से वैज्ञानिक सत्य के बारे में यही बात है; क्योंकि जिसे हम वैज्ञानिक या तर्कसम्मत सत्य मानते हैं वह मानवीय बौद्धिक उपकरणों से ही उपलब्ध होता है। भारतीय दर्शन ब्रह्म को परमसत्य के रूप में स्वीकार करता है। परमसत्य अर्थात् एब्सोल्यूट ट्रुथ। इस परमसत्य को व्यक्ति-मानव की विभिन्नता से या पृथकत्व से नहीं उपलब्ध किया जा सकता, शब्दों से नहीं समझाया जा सकता, बल्कि व्यक्ति को—विभेद को उसकी निस्सीमता में विलीन करके ही उपलब्ध किया जा सकता है। यह उपलब्ध परमसत्य वैज्ञानिकों द्वारा बताया गया सत्य नहीं है। विज्ञान में जिस सत्य की चर्चा की जाती है वह केवल वास्तविक सत्य की अभिव्यक्तिमात्र होने से प्रतीतिमात्र है—एक प्रकार की भ्रान्ति है, माया है। मतलब यह कि विज्ञान द्वारा प्राप्त सत्य मानव-मस्तिष्क को सत्यवत् प्रतिभात होता है, सत्य वह नहीं है। पूर्ण सत्य जो है वह मनुष्य के दोनों प्रकार से गृहीत सत्यों का मिलित रूप है। एक तो मनुष्य ऐसे सत्य को जानता है जो तर्क और विज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। यह व्यक्तिनिरपेक्ष होता है। दूसरा वह है जो उसके भावों के अनुरूप होता है। पहले को हम चलती भाषा में वस्तुनिष्ठ सत्य कहते हैं, दूसरे को सुन्दर कहते हैं। पर परमसत्य के ये दोनों पक्ष हैं। न तो हम पहले को ही अस्वीकार कर सकते हैं, न दूसरे को ही; परन्तु यह सब मनुष्यदृष्ट सत्य है।

रवीन्द्रनाथ की बात ऊपर-ऊपर से पहेली-जैसी जान पड़ती है। पर वह पहेली नहीं है। मनुष्य के रूप में अभिव्यक्त विश्वात्मा को वे सर्जनात्मक प्रक्रिया के भीतर से गुजरता देखते हैं। इस बात को अगर इस प्रकार समझा जाय तो बात बहुत स्पष्ट हो जायेगी—मान लीजिए कोई ऐसी वास्तविकता है जो मानव-निरपेक्ष है। आईन्स्टीन को अगर प्रतिनिधि वैज्ञानिक माना जाय तो कह सकते हैं कि वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि कोई ऐसी वास्तविकता है अवश्य, जो मानव-निरपेक्ष है। मनुष्य रहे या न रहे, वह वास्तविकता रहेगी। साधारणतः वैज्ञानिक परीक्षणों और

प्रयोगों से सिद्ध बात तक आकर रुक जाता है। परन्तु आईन्स्टीन ने खुद कहा था कि यह उनका विश्वास है—धर्म है। उसके लिए वे कोई सबूत नहीं दे सकते। रवीन्द्रनाथ इसको इस प्रकार व्यक्त करते हैं—'वास्तविक सत्ता या विश्वात्मा अपने को बहुधा विचित्र सुस्पष्ट प्रक्रिया के द्वारा अभिव्यक्त करता हुआ मनुष्यरूप में अभिव्यक्त हुआ है। उसका एक रूप व्यक्तिगत विभेद के द्वारा व्यक्त हुआ है, पर विभेद केवल ऊपर-ऊपर की अभिव्यक्तिमात्र है, मूलतः वह स्रष्टा-विश्वात्मा विभेदों की लहरों के नीचे शान्त-स्तब्ध पड़ा हुआ है। परमसत्य को हम जितना और जैसा कुछ उपलब्ध करते हैं, वह असल में उसके उस रूप के माध्यम से ही करते हैं जिसे उसने अभिव्यक्त किया है।' रवीन्द्रनाथ ने अपने अन्य लेखों में मनुष्य के दो 'मैं'-रूपों का उल्लेख किया है, छोटा 'मैं' और बड़ा 'मैं'। छोटा 'मैं' विभेद में अभिव्यक्त व्यक्तिमानव है और बड़ा 'मैं' समस्त विभेदों और नानात्वों के भीतर एकरस होकर वर्त्तमान विश्वात्मा है। वस्तुतः यह समझना कि मुझसे भिन्न कोई सत्ता है, भ्रान्ति है। सत्य बात यह है कि मैं-रूप में अभिव्यक्त सत्ता ही चरम और परम सत्ता है। मानव-निरपेक्ष कोई अलग वास्तविकता है, यह कहना उतना ठीक नहीं है। उसे पाने के लिए अपने 'अहं' का विसर्जन करना पड़ता है। अपने समंजस-रूप में अनुभूत होने पर वही सुन्दर कहा जाता है और अपने सर्जनात्मक स्वभाव के अनुकूल नियोजित और आधारित होकर वही धर्म कहा जाता है। अनुभूति सौन्दर्य है, जागरण धर्म। इस परमसत्य को, जो निरन्तर अभिव्यक्त हो रहा है, स्वीकार करने में ही मनुष्य का कल्याण है। इस बात को प्रकट करने के लिए रवीन्द्रनाथ अपने परमप्रिय इस औपनिषद् मन्त्र को उद्धृत करते हैं :

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवो
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु

रवीन्द्र-दर्शन [3]

अपने 'ततः किम्' नामक निबन्ध में रवीन्द्रनाथ ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि आत्मा क्या है। इस सवाल का ठीक उत्तर पाने के लिए यह जरूरी है कि जान लिया जाय कि जीवन क्या है। क्या वह शरीर के क्रिया-कलापों का—जैसे साँस लेना, भोजन पचा लेना आदि का, या इन क्रिया-कलापों में अन्विति ले आनेवाली

सामंजस्यविरोधी शक्ति का नाम है ? रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि जीवन इन दोनों में नहीं अँटता । जीवन उस शक्ति का नाम है जो वर्त्तमान के आवरण से नित्य-निरन्तर भविष्य को खोलती जाती है । गुलाब के अंकुर में कली भी है, फूल भी है । कोई नहीं बता सकता कि वह शक्ति किस अज्ञात में बैठी हुई वर्त्तमान के इस अंकुर में से भविष्य की कली और फूल को किस प्रकार उभारती जाती है । जड़ निर्जीव वस्तु से यदि यह पराभूत होता है तो निश्चय ही अनन्त भविष्य की सम्भावनाओं को खो देता है, उस समय वह उस वंचक व्यक्ति के समान होता है जो अपने न्यास का ही वारान्यारा कर देता है । इस रहस्यमयी प्राणशक्ति के दो रूप हैं—वर्त्तमान की सीमा और अनागत अनन्त भविष्य की सम्भावना । आत्मा उस अनन्त सम्भावनाओंवाले रूप का नाम है । सीमा में वह नहीं अँटती । सीमा के बन्धन को तोड़कर वह असीम में पहुँच जाने को व्याकुल है । वह मानो रवीन्द्रनाथ के ही शब्दों में निरन्तर पुकारती जा रही है—'आमि चंचल हे, आमि सुदूरेर पियासी' अर्थात् 'अजी, मैं चंचल हूँ, मैं सुदूर की प्यासीवाला हूँ ।' जिस प्रकार धरती में पड़ा हुआ बीज अपनी सीमा के बन्धन को तोड़कर प्रकाश की दुनिया में आने को व्याकुल रहता है, अनुकूल परिस्थितियों के पाते ही अन्धकार के कारागार की दीवालों को तोड़कर ज्योतिर्लोक में आकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मानवदेह की कारा में बद्ध 'सुदूर की प्यासीवाला' असीम के ज्योतिर्मय लोक में आ जाती है । बीज का अंकुर-रूप में फूटकर प्रकाश में आ जाना क्या कोई पुरस्कार है ? कोई मोल है ? नहीं, यह उसकी सहजवेदना, सहजप्रवृत्ति है । मनुष्य के भीतर विराजमान आध्यात्मिक चेतना का भी असीम में आ जाना उसका सहज धर्म है । वही उसकी चरितार्थता है । जो लोग मुक्ति को पुरस्कार मानते हैं, सालवेशन आर्मी या मुक्ति फौज का संगठन करते हैं, उनकी पंक्ति में रवीन्द्रनाथ नहीं खड़े हो सकते । आत्मा की असीम के लिए व्याकुलता उनका सहज धर्म है । उनकी वास्तविक चरितार्थता है ।

सीमा जड़ का बन्धन है । जो लोग जड़ सम्भार का संचय करते हैं, वे आत्मा के विकास का पथ अवरुद्ध करते हैं । निरन्तर गति के लिए निरन्तर आत्मदान की जरूरत है । अपने-आपको महा-अज्ञात के चरणों में निःशेष भाव से उलीच देने का नाम ही पूर्णता है । जिस समय नदी पूर्ण होती है, उस समय निखिल जगत् की हो जाती है । नदी अगर तालाब की भाँति संचय करने लगे, तो गति खो देती है । यह गति ही है, जिससे वर्त्तमान भविष्य बनता है । जो अपने-आपको निश्शेष भाव से नहीं दान कर सकता, वह संचय के जड़ विकार का शिकार हो जाता है । जहाँ आत्मदान नहीं है, वहाँ गति भी नहीं है; वहीं सड़ाँध है, गँदलापन है, शुष्कता है ।

जो इस तत्त्ववाद में विश्वास करता है, वह मृत्यु को जीवन का शत्रु नहीं मान सकता । रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि आजकल लोग मृत्यु को अनिवार्य स्वाभाविक परिणति के रूप में नहीं स्वीकार करके, दैन्य के साथ स्वीकार करते हैं । मृत्यु

असीम के साथ एकमेक होने के लिए निरन्तर व्याकुल आत्मतत्त्व की नहीं होती। होती है, जड़ आवरण की।

सीमा के बन्धन में उलझे असीम के पिपासु आत्मा की इच्छा कैसे पूरी हो ? वैराग्य से नहीं; —'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय।' जो मुक्ति वैराग्य की साधना से सिद्ध होती है, वह मेरी नहीं है। फिर ? रवीन्द्रनाथ कहते हैं, 'मैं असंख्य बन्धनों में रहकर मुक्ति का स्वाद पाना चाहता हूँ।' उपनिषद् के ऋषि ने कहा है कि जो दुनियावी सुख-सम्पत्ति की वासना करते हैं, वे ठीक नहीं करते, पर जो दुनिया के सुख को छोड़कर परम सत्य को पाना चाहते हैं, वे और भी गलती करते हैं। रवीन्द्रनाथ वैराग्य साधनवाली मुक्ति को जीवन की अस्वीकृति समझते हैं। "हे प्रभु, दृश्य में, गन्ध में, गान में जो आनन्द है, उसी में तुम्हारा आनन्द ओतप्रोत रहेगा। मैं उसी को पाकर धन्य हूँगा। उसी अन्तर्निगूढ़ आनन्द से मेरा मोह भस्म होगा और मेरा प्रेम, भक्ति के रूप में चरितार्थ होगा।" इस संसार के विविध बन्धनों में आनन्दरूप परमात्म-ज्योति प्राप्त होती है। इसे छोड़कर जो भगवदानन्द की तलाश करते हैं, उनके साथ चलने को रवीन्द्रनाथ तैयार नहीं हैं, वे लोग भगवान् को कहीं बाहर खोजते हैं, वे भावोन्माद से अधीर होते हैं। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "ऐसी भक्ति मेरी काम्य नहीं है। मुझे तो वह भक्ति मिलनी चाहिए जो मेरे दुख को कल्याण बना दे, मोह को प्रेम में रूपान्तरित कर दे, बन्धन को असीम में उड़ने का पंख बना दे।"

यह अमृतोमय अप्रमत्ताभक्ति ही जीवन की चरितार्थता है। कठिन कर्त्तव्यों के संघर्ष में, जीवन के उत्थान-पतन में यह समरसता ले आती है। रवीन्द्रनाथ कर्म की उपेक्षा, संघर्ष से पलायन और सब कुछ छोड़कर भाग जाने को त्याग मानने की प्रवृत्ति को जीवन की परिपूर्णता में बाधक मानते हैं। कर्मक्षेत्र में अनेक दुख-सुखों को सरस करनेवाली भक्ति ही उनका लक्ष्य है—वही परिपूर्णता है, वही मुक्ति है।

सो, विश्वात्मा के प्रति सरस प्रेममय सम्बन्ध के भीतर से मानवात्मा की परमसार्थकता उपलब्ध हो सकती है। मानव के अन्तरतर में विद्यमान निगूढ़ आत्म-शक्ति संयत, कर्मबहुल, सुख-दुखमय जीवन के भीतर से आनन्द का सहज रस प्राप्त करती असीम में एकमेक हो जाय, यही उसकी सार्थकता है। यही चरितार्थता है, यही चरम और परम उपलब्धि है।

रवीन्द्रनाथ और हिन्दी-साहित्य

रवीन्द्रनाथ इस युग के केवल श्रेष्ठ कवि ही नहीं थे, महान् तत्त्वद्रष्टा और विचारक भी थे। उनकी कविताएँ, गान, नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध और आलोचनाएँ भारतीय मनीषा की अत्यन्त समृद्ध देन हैं। उनका व्यक्तित्व महान् और विशाल था, उनकी दृष्टि अन्तर्दर्शिनी और बुद्धि मर्मोद्घाटिनी थी, उनकी प्रतिभा के प्रभाव से सारी दुनिया के साहित्यकार प्रभावित हुए हैं। हिन्दी बँगला के पड़ोस की भाषा है। दोनों में वैषम्य की अपेक्षा साम्य अधिक है। भारतवर्ष का समूचा साहित्य एक ही विशाल संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी के साहित्यकार रवीन्द्रनाथ से प्रभावित न हों, यह सम्भव नहीं था। प्राण के स्पर्श से प्राण प्रभावित होता है, प्रभावित नहीं होना निर्जीवता का सबूत है। सच्चा कवि प्राणों को स्पर्श करता है। वह चालित आन्दोलित और गतिशील बनाता है। प्रभाव का अर्थ है प्राणों को आन्दोलित करने की क्षमता और प्रभाव वही ग्रहण कर सकता है जिसके प्राणों में आगे बढ़ने की शक्ति हो। प्रभाव का अर्थ अनुकरण नहीं है। बहुत बार निर्जीव अनुकरण केवल बाहरी ढाँचे को जैसे-तैसे ग्रहण करके शान्त और सन्तुष्ट हो जाता है। यह एक घटिया किस्म का प्रभाव है। स्वस्थ और वांछनीय प्रभाव मनुष्य के अपने व्यक्तित्व को अपने ढंग से अपनी दिशा में गतिशील करता है। रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व इतना विशाल था कि उनकी शैली का या भावों का ठीक-ठीक अनुकरण करना सम्भव नहीं था। हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों ने उनकी शैली का अनुकरण करने का प्रयास किया, पर वे सफल नहीं हो सके। सफल वे हुए, जिनका अन्तरतर हिल्लोलित हुआ। जो अपने 'स्व'-धर्म को पहचानने में समर्थ हुए। ऐसे साहित्यकारों की संख्या बहुत है, जो रवीन्द्रनाथ के साहित्य के बाहरी ढाँचों के अनुकरण में या उनके सुर में सुर मिलाकर बोलने के प्रयत्न के चक्कर में तो नहीं पड़े, पर उनके साहित्य से उनकी 'स्वकीयता'—जिसे अंग्रेजी में 'ओरिजिनैलिटी' कहते हैं—निखर पड़ी। रवीन्द्रनाथ ने भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, महनीय है, वरेण्य है, उसे रूप देकर, रस देकर, संसार के सामने रखा। वे शुष्क तर्क और थोथे महिमागान के बल पर नहीं, रसमय अभिव्यक्ति के बल पर, समर्थ रूपसर्जना के सहारे संसार को उस बात को समझा सके जो हमारी परम्परा की गौरवशालिनी निधि है। हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों और मनीषियों पर इसका प्रभाव पड़ा है।

रवीन्द्रनाथ ने एक लेख लिखा था—'काव्य की उपेक्षिताएँ'। इसमें उर्मिला को काव्य की उपेक्षिताओं में गिनाया गया था। स्वयं उन्होंने उर्मिला पर कोई बड़ा काव्य या नाटक नहीं लिखा। पर हिन्दी के श्रेष्ठ कवि मैथिलीशरण गुप्त को यह बात लग गयी। इस छोटी-सी बात ने हिन्दी को 'साकेत'-जैसा महान् ग्रन्थ दिया। मैथिलीशरण गुप्त ने उस लेख से प्रेरणा प्राप्त की। उनका अपना महान् व्यक्तित्व

क्रियाशील हुआ। 'साकेत' सब प्रकार से निराला ग्रन्थ है। इसमें कदाचित् ऐसा कुछ भी नहीं ढूँढ़ा जा सकता जो रवीन्द्रनाथ की किसी उक्ति से प्रभावित हो; परन्तु इसमें कौन सन्देह कर सकता है कि प्राणों ने प्राणों को जाग्रत किया था। हमारे कई श्रेष्ठ कवि—प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा—रवीन्द्रनाथ के काव्य के प्रेमी हैं। अनुकरण किसी ने नहीं किया, पर रवीन्द्रनाथ की मर्मोद्घाटिनी कविताओं ने उनके अन्तरतर को स्पर्श किया। उससे उनकी स्वकीयता गतिशील हुई। हिसाब लगाकर बताना कठिन है कि किस स्थान पर, किस मात्रा में, किस भंगिमा से उनके भीतर का कवि जाग्रत हुआ है, पर जाग्रत हुआ है।

रवीन्द्रनाथ अनुकरणीय हैं। जो लोग हिसाब लगाकर बताते हैं कि अमुक कवि या लेखक रवीन्द्रनाथ का अमुक क्षेत्र में अनुकरण कर रहा है, वे वस्तुतः उस कवि की कमजोरियों का ही हिसाब करते हैं। समर्थ कवि या लेखक प्रभावित होकर अपने-आपको ही प्रकट करता है, अधिक शक्तिशाली अभिव्यक्ति के द्वारा।

हिन्दी में रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों, नाटकों और कहानियों आदि के अनुवाद काफी मात्रा में हुए हैं। परन्तु इन साहित्यांगों में रवीन्द्रनाथ की स्वकीयता इतनी अधिक मात्रा में है कि इनका अनुकरण होना कठिन है। अनुवादों की संख्या से प्रभाव की मात्रा नहीं आँकी जा सकती। कई बार अनुवाद होते ही प्रभाव नहीं पड़ता। कई बार बिना अनुवाद के भी प्रभाव पड़ जाता है। अनुवाद का होना या न होना प्रभाव का परिमापक नहीं है। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ का पूरा गद्यसाहित्य उनके अद्भुत व्यक्तित्व के कारण इतना विचित्र है कि उनका ठीक-ठीक अनुकरण हो ही नहीं सकता। पर प्रभाव वे डालते हैं। प्रतिभाशाली कवि या लेखक को वे अपने ढंग से अपनी बात कहने की प्रेरणा देते हैं। कुछ उल्टी दृष्टि से देखनेवालों को लगेगा कि इन साहित्यांगों ने हिन्दी-साहित्य को कुछ भी नहीं दिया, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। यह सत्य है कि कथा-साहित्य में प्रेमचन्द के आ जाने के बाद हिन्दी के इस साहित्य की मुख्यधारा अपनी गति से चल पड़ी, पर इसका सिर्फ यही मतलब है कि हिन्दी कथा-साहित्य ने बाहरी रूप-रंग से रवीन्द्रनाथ के ऐसे ही साहित्य से कुछ भी नहीं लिया। पर जिन लेखकों ने उनके 'घर बाहर', 'गोरा' आदि उपन्यासों को पढ़ा है, वे उससे कुछ ग्रहण नहीं कर सके, ऐसा समझना ठीक नहीं है। यहाँ भी लेखक का निजी व्यक्तित्व निखरा है। परन्तु विशेष रूप से इन विधाओं ने रवीन्द्रनाथ से कम ही ग्रहण किया है।

आज की इस वार्त्ता में मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि हम हिन्दी की प्रत्येक साहित्य-विधा से यह खोजने का प्रयत्न करें कि वह कितनी दूर तक रवीन्द्रनाथ के साहित्य से प्रभावित हुई है। मैं आज केवल यह कहना चाहता हूँ कि जिन दिनों रवीन्द्रनाथ का साहित्य हिन्दी में आया, उन दिनों हिन्दी का साहित्यकार काफी समर्थ हो चुका था। इसके पूर्व जिस प्रकार बँगला के उपन्यासों का अनुकरण चल रहा था वैसा इस समय नहीं हो रहा था। हमारा साहित्यकार अपनी बात अपने

ढंग से कहने लगा था। इस समय हिन्दी साहित्य के विविध क्षेत्रों में समर्थ और प्राणवान साहित्यकार उत्पन्न हो गये थे। उन्होंने अन्धानुकरण नहीं किया, परन्तु रवीन्द्रनाथ के साहित्य से मिलनेवाली प्रेरणा को वे स्वस्थ भाव से ग्रहण कर सके। उससे वे प्रेरणा पाकर अपनी बात अपने ढंग से कह रहे थे।

रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य को सबसे बड़ा दान यही है कि उन्होंने इसकी स्वकीयता को उकसाया और बल दिया। उन्होंने देश के साहित्यकारों को दृष्टि दी है। उन्होंने लोभ और मोह से अभिभूत आधुनिक सभ्यता की कमजोरियों का ठीक-ठीक स्वरूप समझा है। प्रभावशाली लेखक दूसरों के निजी व्यक्तित्व को अभिभूत कर देते हैं। वह प्रभाव स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। स्वस्थ प्रभाव वही है जहाँ स्वकीयता की गति रुद्ध न हो, व्यक्तित्व का विकास अपने ढंग से हो, ग्रहण करनेवाले में अपने-आपके प्रति अनास्था न उत्पन्न हो जाय। रवीन्द्रनाथ ने अपने साहित्य के द्वारा भारतवर्ष की प्राणशक्ति को स्पन्दित किया। उसे स्वयं को पहचानने की दृष्टि दी। उन्होंने उपनिषदों से, बौद्ध साहित्य से, मध्यकालीन साहित्य से और समूचे देश के कोने-कोने से उन वस्तुओं का संग्रह किया जो भारतीय गरिमा को उज्ज्वल वेश में उपस्थित कर सकी थी। जो वस्तुएँ अभी भी जीती-सी दिख रही हैं पर जो मूलजीवनीधारा से विच्युत हो गयी हैं, उन्हें उन्होंने छोड़ दिया। जो हमारा महान् है, जीवन्त है, प्राणवन्त है उसे ही उन्होंने बहुमान दिया है और इस प्रकार भारतीय मनीषा के उज्ज्वल महिमान्वित रूप को प्रकट किया। देश के साहित्यकारों को इससे बल मिला। वे इससे प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी निजी स्वकीयता को अभिव्यक्त किया। यही वांछनीय है। हमारे देश की महनीय आध्यात्मिक सम्पत्ति की ओर उन्होंने देश के कलाकारों को उन्मुख किया।

हमारी प्रान्तीय भाषाओं की अपनी-अपनी परम्परा है। हिन्दी का इस विषय में बहुत बड़ा सौभाग्य है। उसके पुराने साहित्य में जितना आध्यात्मिक वैचित्र्य है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। उसकी छाप हिन्दी के आधुनिक लेखकों पर हो, यह स्वाभाविक है। फिर भी आधुनिक काल में उसके साहित्यकार उसी से सर्वात्मना अभिभूत नहीं रहे। उन्होंने पश्चिम से आयी हुई नवीन धारा को ग्रहण किया है। कभी-कभी यह भावधारा अन्य प्रान्तीय भाषाओं, विशेषकर बँगला से छनकर भी आयी है। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं बहुत-कुछ ग्रहण किया। कई बार बाहरी प्रभाव उनके माध्यम से भी आया है। रवीन्द्रनाथ की यह विशेषता रही है कि उन्होंने बाहरी प्रभाव को पचाकर 'अपना' बना लिया है। इस प्रकार उनके माध्यम से आयी हुई भावधारा नवीन रूप में नयी प्राणशक्ति के साथ आयी है। उसमें उन्होंने भारतीय परम्परा से उपलब्ध जीवन-दर्शन का रस भरा है। उनका आविर्भाव न हुआ होता, तो कदाचित् पश्चिम का प्रभाव हमें अन्ध-अनुकर्त्ता बना देता। उन्होंने वर्तमान सभ्यता की चकाचौंध को हटाकर, सात्विक जीवन और आन्तरिक शक्ति पर जोर दिया इससे हमारे तरुण साहित्यकार मूलतः प्रभावित हुए। उन्हें स्वस्थ दृष्टि मिली। पिछली आधी शताब्दी तक रवीन्द्रनाथ ने इस देश की मनीषा को अजस्र

दान दिया है। वे युगद्रष्टा ही नहीं, युग-मार्ग-दर्शक भी सिद्ध हुए हैं। हमें इस महान् भारतीय कवि पर उचित गर्व है। उन्होंने हमारे साहित्यकारों की दातृत्व शक्ति को उद्‌बुद्ध किया है। एक जगह उन्होंने कहा है, 'क्यों तू हाथ फैलाये खड़ा है ? हमें दान की नहीं, दाता की जरूरत है।'

इस दातृत्व शक्ति को सबल और सशक्त बनाना उनका मुख्य ध्येय था। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने साहित्य की विधाओं को नहीं, साहित्यकार की जीवन-दृष्टि और दातृत्व शक्ति को ही प्रभावित किया है। उन्होंने इस धरती को इसके लाख-लाख सुख-दुख की धाराओं के साथ प्रेम करने की दृष्टि दी है। जड़ता के संचय को उन्होंने समस्त विकारों के मूल में पाया है। जड़ सम्पत्ति के मोह ने ही भय और लोभ को प्रोत्साहन दिया है, जिसके कारण समूची मानव-सभ्यता नाश के कगार पर आकर खड़ी हो गयी है। हमारे भीतर वही चैतन्य है, वही मंगलमय है। उसकी उपेक्षा से ही हमारी आधुनिक सभ्यता आँख मूँदकर विनाश की ओर बढ़ रही है। रवीन्द्रनाथ के इस सन्देश ने देश के कवियों को नयी दृष्टि दी है। हमारे साहित्य-कारों ने इस मन्त्र को अपने-अपने ढंग से ग्रहण किया है।

शान्तिनिकेतन की स्मृतियाँ

आज से लगभग 30 वर्ष पहले की बात है। 6 नवम्बर, 1930 ई. को मैं घर से शान्तिनिकेतन के लिए रवाना हुआ। उस दिन कार्त्तिकी पूर्णिमा थी। गंगा और छोटी सरयू के संगम पर सहस्रों स्नानार्थी स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी थी। स्टीमर पर पहुँचने में बहुत अधिक समय लगा। मेरे मन में जल्दी-से-जल्दी शान्तिनिकेतन पहुँच जाने की व्याकुलता थी, परन्तु जनता को उससे भी अधिक व्याकुलता उस पुण्यमुहूर्त्त में स्नान करके पुण्यार्जन करने की थी। जिस स्टीमर से मुझे गंगा पार करके बक्सर जाना था, उसमें काफी भीड़ हुआ करती थी, परन्तु उस दिन यात्रियों की संख्या बहुत ही कम थी। ऐसा जान पड़ा कि वह मुहूर्त्त विशेषरूप से प्रतीका-त्मक था। सारी दुनिया जिस रास्ते जा रही थी, उससे भिन्न मार्ग पर मैं अकेला यात्री था। 7 नवम्बर को प्रातःकाल मैं शान्तिनिकेतन पहुँचा और सीधे आशा दीदी के घर गया। उस समय वे घर पर नहीं थीं। घर के भृत्य ने बताया कि वे क्लास ले रही हैं और उँगली उठाकर दिखा भी दिया कि वहाँ क्लास ले रही हैं। और मैंने देखा कि मैदान में आशा दीदी अध्यापन कर रही हैं। स्वयं भी एक छोटे आसन पर बैठी हैं और उनके इर्द-गिर्द कुछ छात्र-छात्राएँ भी छोटे-छोटे आसनों

पर बैठकर एकाग्र चित्त से उनका भाषण सुन रही हैं। थोड़ी दूर पर एक पेड़ के नीचे एक वृद्ध अध्यापक उसी प्रकार एक छोटे आसन पर बैठे हुए उसी प्रकार की एक मिली-जुली श्रेणी को पढ़ा रहे थे। थोड़ी देर में तीन-तीन करके तीन बार घण्टा बजा। यह क्लास समाप्त होने की वार्निंग थी। आशा दी के नौकर ने बताया कि अब क्लास खत्म होनेवाला है। थोड़ी ही देर में एक-दो-तीन करके घण्टा बजा, जिसका अर्थ हुआ अब तीसरा पीरियड शुरू हुआ। अध्यापक और छात्र पुस्तक और आसन लेकर उठ खड़े हुए। आशा दी भी उठीं। कदाचित् उनको दूसरे क्लास में जाना था, परन्तु नौकर ने दौड़कर सूचना दी, 'कोई महमान आये हैं,' अतः वे लौट आयीं। आशा दी मुझे देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं। बोलीं, 'कोई सूचना नहीं दी? बिना सूचना दिये ही आ गये।' मैंने कहा, 'आना तो था ही, सूचना क्या देता!' आशा देवी ने तुरन्त जलपान कराने की व्यवस्था की और उससे जल्दी-जल्दी छुट्टी पाकर मुझे आश्रम घुमाने चलीं। मैंने शान्तिनिकेतन के बारे में बहुत-कुछ पढ़ रखा था। लेकिन प्रत्यक्ष देखने पर मेरा कुतूहल और भी बढ़ता गया। विद्यार्थियों और अध्यापकों का ऐसा सहज सम्बन्ध, पढ़ाई-लिखाई का ऐसा अनाडम्बर वातावरण मेरी कल्पना के अतीत था। सबसे विचित्र बात यह थी कि उस आश्रम का प्रत्येक वृक्ष या कुंज आश्रम का उतना ही जीवन्त आत्मीय सदस्य जान पड़ता, जितना कोई अध्यापक या छात्र हो सकता है। आशा दी ने प्रत्येक वृक्ष का कुछ-न-कुछ इतिहास बताया। मैंने उन स्थानों को देखा जहाँ कभी दीनबन्धु एण्ड्रूज़ रहते थे, प्रोफेसर सिलवाँ लेवी पढ़ाते थे, स्टेन कोनो भाषाविज्ञान का अध्यापन करते थे, जहाँ कभी गुरुदेव रहते और गान या कविता लिखा करते थे। सबसे आकर्षक और प्रेरणादायक सप्तपर्णा का वह घनच्छाय निकुंज था जो आश्रम का मूलस्थान कहा जाता है। इस घनच्छाय वृक्ष के नीचे गुरुदेव (कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर) के पूज्यपिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर कभी आसन जमाया करते थे और उपनिषदों का तथा साथ-ही-साथ हाफिज़ का भी अध्ययन-मनन किया करते थे। इसी स्थान पर बालक रवीन्द्रनाथ को वे पढ़ाया-लिखाया करते थे। इतना ही नहीं, मूल शान्तिनिकेतन इन्हीं वृक्षों को केन्द्र करके गठित हुआ, जिसमें बहुत दिनों बाद कवि ने बोलपुर ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की जो आजकल 'विश्वभारती' के रूप में एक बहुत बड़ी संस्था बन गयी है।

उन दिनों बच्चों के छात्रावास में प्रत्येक कमरे में एक अध्यापक के रहने की व्यवस्था थी। शुरू-शुरू में सात विद्यार्थियों के साथ रहने की मेरी भी व्यवस्था की गयी। आशा दी कि कृपा से उस दिन कुछ और लोगों से जान-पहचान हो गयी। एक-दो हिन्दी-भाषी विद्यार्थी भी परिचित हो गये और उन्होंने आश्रम दिखाने का भार अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार नवम्बर की सातवीं तारीख आश्रम से परिचित होने में व्यतीत हुई। रात को मैं अपने विद्यार्थियों के साथ सोया। उस दिन मुझे अनुभव हुआ कि आश्रम में हर समय घण्टा बजता रहता है। विद्यार्थी ही मुझे बताते रहे कि किस घण्टे का क्या अर्थ है—कौन-सा घण्टा क्लास जाने का है, कौन-

सा भोजन या विश्राम का। यह सब सभी आश्रमवासियों को मालूम था। रात को अब सोने का घण्टा बजा और हम लोग सोने गये। थोड़ी ही देर बाद रास्ते से एक मधुर संगीत-ध्वनि सुनायी पड़ी। पूछने पर मालूम हुआ कि यह रात्रि का वैतालिक है, मैं उत्सुकतावश बाहर आया। देखा, छात्र-छात्राओं का एक दल बड़ा ही उद्बोधक गीत गाता धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। साथ में वीणा भी बज रही थी। लगभग आध घण्टे तक वह दल आश्रम के मुख्य मार्गों पर उसी प्रकार संगीत-ध्वनि करता हुआ घूमता रहा। फिर वे लोग भी अलग-अलग चले गये। मुझे बताया गया कि प्रत्येक विभाग से प्रतिदिन विद्यार्थी वैतालिक संगीत के लिए चुनकर भेजे जाते हैं। उनके साथ दो-तीन अध्यापक भी अवश्य रहते हैं। दिन-भर का थका हुआ मैं गहरी नींद सोया। प्रातःकाल साढ़े-चार बजे उठने का घण्टा बजा और साथ-ही-साथ प्रातःकालीन वैतालिक संगीत का दल रवीन्द्रनाथ का एक गान गाता हुआ आश्रम के मुख्य मार्गों से निकल गया। बँगला भाषा से उस समय मेरा अधिक परिचय नहीं था, परन्तु उस गान की एक कड़ी आज तक कानों में गूँजती है—'मुक्त करो भय'। प्रभातफेरी के समय मैंने पहले भी बहुत-से उद्बोधन-संगीत सुने थे, लेकिन इस गान के स्वर और ताल तथा अर्थ और भाव सचमुच ही प्रेरणा देनेवाले थे। बिस्तर से उठने की इच्छा नहीं हो रही थी, लेकिन इस संगीत ने जैसे झकझोरकर जगा दिया और मैं फिर बाहर जाकर उस मनमोहक उद्बोधक संगीत का आनन्द लेता रहा। धीरे-धीरे अन्य कार्यों के लिए घण्टे बजते रहे। झाड़ू देने का घण्टा बजा, स्नान के लिए घण्टा बजा और अन्य अनेक कार्यों के लिए घण्टा बजता रहा। सबके बाद सारा आश्रम ग्रन्थागार के सामने एकत्र हुआ। एक वेदमन्त्र का पाठ हुआ, एक चुना हुआ गान हुआ और कार्यारम्भ हुआ। उसी दिन से मैंने भी आश्रम की सेवा का कार्य आरम्भ किया। इस दिन को मैं अपना दूसरा जन्मदिन मानता हूँ।

उन दिनों आश्रम का वातावरण संगीतमय था। संगीत जीवन का इतना अविच्छेद्य अंग हो सकता है, इसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। आश्रम का प्रत्येक कार्यक्रम संगीत से आरम्भ होता था, जितने गाने गाये जाते थे रवीन्द्रनाथ के लिखे होते थे। रवीन्द्रनाथ उनमें सुर देते थे और उन्हीं के निर्देश पर उनके प्रिय शिष्य और भ्रातृपुत्र श्री दिनेन्द्रनाथ ठाकुर उनकी स्वरलिपि कर लिया करते थे। रवीन्द्रनाथ केवल गान ही नहीं लिखते थे, प्रत्येक गान के लिए अलग सुर का निर्धारण भी कर दिया करते थे। यदि कहा जाय कि रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा मूलतः संगीतात्मक थी तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। उन्होंने सैकड़ों गान लिखे हैं, प्रत्येक गान के लिए सुर निर्धारित किया है। उनके काव्य, उनके नाटक संगीतमय हैं और सारे आश्रम का जीवन भी संगीतमय था। बीस वर्ष मैं आश्रम के जीवन के साथ निविड़भाव से घुलमिलकर रहा था। स्वयं कवि के अन्तिम जीवन के बारह वर्ष तक साथ रहने और उनका स्नेह पाने का सौभाग्य प्राप्त किया। इस दीर्घकाल में आश्रम की व्यवस्था में कई बार परिवर्तन हुए, परन्तु एक बात आदि से अन्त तक ज्यों-की-

त्यों बनी रही—संगीतप्राणता !

आश्रम का दूसरा मुख्य तत्त्व था सहज कलाप्रेम। चाहे बच्चों की सभा हो, चाहे कोई बड़ा अनुष्ठान हो—बड़े-से-बड़े अध्यापक उसमें सम्मिलित होते थे। इस कलाप्रेम में कोई बनावट नहीं थी। ऐसा जान पड़ता था जैसे किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा पर छोटे-छोटे बच्चों के चित्त में रचनात्मक कला स्वयं उद्भूत हो जाती है और सौन्दर्य-निर्माण के प्रति उनमें स्वाभाविक आदरभाव जाग्रत हो जाता है।

तीसरा मुख्य तत्त्व जो मुझे बहुत ही आकर्षक जान पड़ा, वह था बड़े-बड़े विद्वानों का—जो इस देश के भी थे और बाहर के भी—आगमन होता रहता था। इनमें बिना किसी आडम्बर के सहजभाव से विद्वद्चर्चा के प्रति सहज अनुराग था। मैंने ऐसे विद्वानों को यहाँ अत्यन्त साधारण जीवन बिताते देखा है जिनका दर्शन करने के लिए दूर-दूर से लोग आते थे। सहज जीवन शान्तिनिकेतन आश्रम का मूलमन्त्र था।

मुझे अत्यन्त खेद है कि आज के इस छोटे वार्त्तालाप में बहुत-कुछ नहीं कह सकूँगा। बीस वर्ष की स्मृतियाँ विस्मृति के पर्दे को तोड़कर बाहर निकलना चाहती हैं, परन्तु समय का अभाव है। नहीं तो आश्रम के वयोवृद्ध मनीषियों का तपस्यापूर्ण जीवन, विद्यार्थियों की आनन्दोल्लास से परिपूर्ण दिनचर्या, अनेक प्रकार के ऋतु-उत्सवों के मोहक संस्मरण, नाटक नृत्यादि के आनन्दोन्मुख अनुष्ठान से बढ़कर गुरुदेव का प्रेमपूर्ण व्यवहार धक्का मारकर हृदय से बाहर निकलना चाहता है। इस थोड़े से समय में न तो मैं अपने बीस वर्षों के अनुभवों की तालिका ही पेश कर सकता हूँ और न गुरुदेव के शिक्षाविषयक तत्त्वदर्शन का ही परिचय दे सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि न मैं अपने प्रति न्याय कर रहा हूँ और न अपने श्रोताओं के प्रति ही। शान्तिनिकेतन में बीस वर्ष जीवन का सर्वाधिक सुखमय काल था और उसकी स्मृति-चित्त में एक अजीब-सी व्याकुलता पैदा करती है। सोचता हूँ, आज के विद्यापीठों में जो विचित्र उलझनें दिखायी दे रही हैं उनके समाधान में देश के सबसे बड़े मनीषी के प्रयोगों का क्या कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता ?

परिशिष्ट

रवीन्द्रनाथ की जन्मपत्री

स्व. कविवर रवीन्द्रनाथ की जन्मकुण्डली एक छोटी-सी नोटबुक में संगृहीत है। इस नोटबुक में उनके कुल के अन्यान्य व्यक्तियों की जन्मकुण्डलियाँ भी दी हुई हैं।। कुण्डलियाँ बहुत संक्षिप्त हैं और उनमें मोटी-मोटी ज्ञातव्य बातें ही दी हुई हैं। रवीन्द्रनाथ का जन्मपत्र उक्त संग्रह के अनुसार निम्नांकित होगा। इस प्रसंग में इतना और निवेदन कर देना उचित है कि कई अंग्रेजी अखबारों में जो उनकी जन्मपत्री छपी है, वह इस प्रामाणिक जन्मपत्री से कुछ भिन्न है।

जन्मकुण्डली
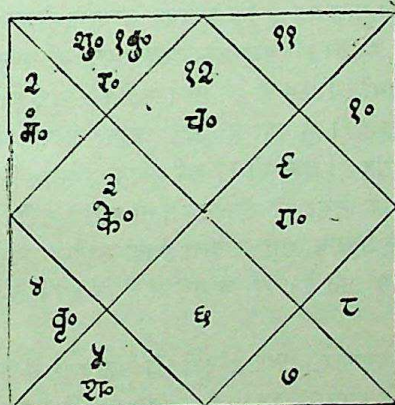
संवत् 1918, शकाब्द 1783, सौर वैशाख, कृष्ण पक्ष, सोमवार, त्रयोदशी तिथि, रेवती नक्षत्र, मीन राशि और मीन लग्न में उनका जन्म हुआ। सूर्योदय से इष्टकाल 53।00।00। अंग्रेजी मत से सन् 1861 ई., 7 मई (आधी रात के बाद होने के कारण), मंगलवार, 2 बजकर 38 मिनट 37 सेकेंड पर प्रातःकाल जन्म हुआ।

संग्रह में शुक्रदशा का भोग्य वर्षादि 14।3।11।39 दिया हुआ है। स्पष्ट ही यह अष्टोत्तरी दशा है, क्योंकि रेवती नक्षत्र इसी दशा के अनुसार शुक्र के अधीन है। विंशोत्तरी मत से बुध की दशा होगी। इसी पर से अनुपात करने से विंशोत्तरी मत से बुध की दशा का भोग्य मोटे तौर पर 11 वर्ष 6 महीने 22 दिन होंगे। इस प्रकार विंशोत्तरी दशा का चक्र इस प्रकार होगा :

बुध	की दशा 7 मई,	1861 से 28 नव.	1872 तक
केतु	,, 20 नवं.	1872 से 28 ,,	1879 ,,
शुक्र	,, ,, ,,	1879 ,, ,, ,,	1899 ,,
सूर्य	,, ,, ,,	1899 ,, ,, ,,	1905 ,,
चन्द्रमा	,, ,, ,,	1905 ,, ,, ,,	1915 ,,
मंगल	,, ,, ,,	1915 ,, ,, ,,	1922 ,,
राहु	,, ,, ,,	1922 ,, ,, ,,	1940 ,,
बृहस्पति	,, ,, ,,	1940 ,, ,, ,,	1956 ,,

सन् 1941 ई. में उनका देहान्त हो गया।

इसमें कुछ मनोरंजक योगों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाने के लिए यहाँ उनके जीवन की दो-एक प्रधान घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है। चन्द्रमा की दशा 1905 से 1915 ई. तक रहती है। यह काल उनके जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। इसके विषय में विचार करने के पूर्व कुछ और महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा कर ली जाय।

विवाह—9 दिसम्बर, 1883 ई.—शुक्र की महादशा में सूर्य की अन्तर्दशा। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि चन्द्रमा लग्नस्थ होकर कलत्र भाव को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है, इसलिए विवाह-योग वस्तुत: शुक्र की दशा में चन्द्रमा के अन्तर में पड़ना चाहिए, अर्थात् 1884 ई. के मार्च महीने में शुरू होना चाहिए। परन्तु यहाँ तीन महीना पहले ही हो गया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दशा की गणना में मोटे तौर पर 24 घण्टे को 17 वर्ष मानकर हिसाब किया गया है, इसलिए जन्मकाल में अगर एक मिनट की भी देर हो, तो करीब-करीब 1 सप्ताह का अन्तर पड़ सकता है। हमने हिसाब लगाकर देखा है कि रवीन्द्रनाथ की जन्मकुण्डली में सभी योग कुछ देर से आते हैं। क्या जन्मकाल के लिखने में 5-10 मिनट की गलती हुई है?

पत्नी-मृत्यु—नवम्बर, 1902—सूर्य की महादशा में शनि की अन्तर्दशा।

'गीतांजलि' की रचना—1910 ई.—चन्द्रमा की महादशा में बृहस्पति की अन्तर्दशा।

द्वितीय यूरोप-यात्रा—27 मई, 1912 ई.—चन्द्रमा की महादशा में बुध की अन्तर्दशा।

'गीतांजलि' का प्रथम प्रकाशन—नवम्बर, 1922 ई.—चन्द्रमा की महादशा में बुध की अन्तर्दशा।

नोवेल-पुरस्कार—13 नवम्बर, 1913 ई.—चन्द्रमा की महादशा में शुक्र की अन्तर्दशा ।

यहाँ विचारणीय और ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि की जन्मपत्री में चन्द्रमा, बृहस्पति और शुक्र बहुत ही उत्तम ग्रह हैं । बृहस्पति उच्च का होकर लग्नेश है और चन्द्रमा के साथ उसका विनिमय योग है । शुक्र और मंगल का भी ऐसा ही विनिमय योग है; पर वह अच्छा नहीं है । बृहस्पति विद्या-स्थान में है । प्रथम योग बहुत ही महत्त्व का है । इस योग का फल निस्सन्देह बहुत ऊँचे दर्जे का कवि, विद्वान् तथा कीर्त्तिशाली होना है । मैं ज्योतिष के फलित भाग को अन्ध-भाव से नहीं देखता और मानता; परन्तु यह योग ऐसा ठीक उतरा है कि यह मेरे-जैसे संशयालु को भी आश्चर्यचकित करता है । मुझे मानना चाहिए कि यह योग पूरी तौर पर घटा है । एक और मार्के की बात है बुधादित्य योग । शुक्र इस योग को और भी महत्त्वपूर्ण बना देता है । धन-स्थान में बुध और सूर्य का योग बहुत फलप्रद बताया गया है । यह लक्ष्य करने की बात है कि 'गीतांजलि' की रचना का आरम्भ चन्द्रमा की दशा और बृहस्पति की अन्तर्दशा में हुआ है, उसका प्रकाशन चन्द्रमा की दशा और बुध की अन्तर्दशा में हुआ है और उसका पुरस्कृत होना चन्द्रमा की दशा और शुक्र की अन्तर्दशा में हुआ है । ये तीनों ही योग अद्भुत भाव से घटे हैं ।

मृत्यु—बृहस्पति की दशा और उसी की अन्तर्दशा में क्यों हुई, यह ज्योतिषियों के लिए विचारणीय प्रश्न है । मेरी समझ में यह समय बहुत ही उत्तम योग का था । रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविताओं में मृत्यु को बहुत ही उत्तम प्राप्तव्य बताया है । क्या फलित ज्योतिष ने उनकी फिलासफी को स्वीकार कर लिया है ? यहाँ भी यह ध्यान देने योग्य है कि राहु की महादशा 1940 के नवम्बर में समाप्त हुई । क्या गणना में भूल होने के कारण यही दशा 1941 तक चलती रही ?*

*हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानख़ाना (रहीम) ने एक पुस्तक लिखी है, 'खेट कौतुकम्' इसमें मौजी रहीम ने नाना प्रकार की भाषाओं की खिचड़ी में ज्योतिष के महत्त्वपूर्ण योगों की चर्चा की है । इन भाषाओं में अरबी है, फ़ारसी है, संस्कृत है और हिन्दी है । एक योग बड़े आश्चर्यजनक ढंग से रवीन्द्रनाथ की जन्मपत्री में घटा है । रहीम कहते हैं कि यदि बृहस्पति (मुश्तरी) कर्क राशि में हो या धनु राशि में हो और शुक्र (जशमखोरा) प्रथम (मेष) या दसवीं (मकर) राशि में हो, तो ज्योतिषी को कुछ पढ़ने-लिखने की जरूरत नहीं, बालक निस्सन्देह बादशाही करेगा ! [रवीन्द्रनाथ की कुण्डली में बृहस्पति कर्क में है और शुक्र मेष राशि में ।]—

'यदा मुश्तरी कर्कटे वा कमाने
यदा चश्मख़ोरा ज़मीं वाऽऽसमाने ।
तदा ज्योतिषी क्या पढ़े क्या लिखेगा
हुआ बालका बादशाही करेगा !'

रवीन्द्रनाथ : स्फुट रचनाएँ

कालिदास और रवीन्द्रनाथ

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पुराने भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। उपनिषदों के बाद जिस साहित्य ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया था वह है कालिदास का साहित्य। उनके अनेक निबन्धों और कविताओं में कालिदास अनायास आ जाते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'तपोवन' में उन्होंने भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम की झलक के लिए जिस प्रकार उपनिषदों को आधार बताया है, उसी प्रकार कालिदास की रचनाओं को। अन्य धर्म और दर्शन-विषयक मान्यताओं के स्पष्टीकरण के लिए भी उन्होंने कालिदास की रचनाओं को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। कालिदास के प्राय: सभी ग्रन्थों पर उनकी कविताएँ मिलती हैं। एक मनोरंजक कविता में तो उन्होंने यह भी बताया है कि 'मैं अगर कालिदास के ज़माने में पैदा हुआ होता तो क्या होता!' कालिदास उनके मन में इतना रमे थे कि उनकी श्रेष्ठ रचनाओं में अनेक शब्दावली कालिदास के ग्रन्थों से अनायास आ जाती है। भारतवर्ष के कवियों में वे कालिदास को अपना समानधर्मा मानते हैं। यदि किसी प्रकार कभी कालिदास से उसी प्रकार की कविता लिखने को कहा जाता कि वे यदि बीसवीं सदी में पैदा होते तो कैसा होता, तो कदाचित् वे रवीन्द्रनाथ का नाम लेकर छुट्टी पा जाते।

एक जगह उन्होंने लिखा है, "मनुष्य जिस जगत्-प्रकृति से घिरा है, उसका मनुष्य के चिन्तन के साथ और उसके कार्य के साथ आन्तरिक योग है। यदि मनुष्य का संसार नितान्त 'भावमय' हो उठे, यदि मनुष्य के पीछे-पीछे प्रकृति भी उसमें प्रवेश न कर सके, तो हमारे विचार और कर्म कलुषित और व्याधिग्रस्त होंगे, अपनी मलिनता के अथाह सागर में वे आत्महत्या कर बैठेंगे। प्रकृति हमारे बीच नित्य काम करते हुए भी यह दिखाती है कि वह चुपचाप खड़ी है। जैसे हमीं कामकाज में व्यस्त हों और वह बिचारी केवल अलंकार की वस्तु हो। लेकिन हमारे देश के कवियों ने प्रकृति को अच्छी तरह पहचाना है। प्रकृति मानव के समस्त सुख-दु:ख में अपना स्वर मिलाये रहती है। यह स्वर हमारे देश के प्राचीन

काव्य में लगातार ध्वनित हुआ है।"

इस बात के प्रमाण के लिए वे 'हमारे देश के प्राचीन काव्य' के लिए कालिदास को ही चुनते हैं, जिसका अर्थ है कि वे इसी कवि को भारतीय मनीषा का प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'ऋतु संहार' की रचना कालिदास ने अपरिपक्व आयु में की थी। इसमें तरुण-तरुणियों का जो मिलन-संगीत है वह वासना के निम्न सप्तक से शुरू होता है, लेकिन 'शाकुन्तल' और 'कुमारसम्भव' की तरह तपस्या के तारसप्तक तक नहीं पहुँचता। फिर भी कवि ने नवयौवन की लालसा को प्रकृति के विचित्र और विराट् संगीत के साथ मिलाकर उसे उन्मुक्त आकाश में झंकृत किया है। ग्रीष्म की धारा-यन्त्र-मुखरित सन्ध्या में चन्द्रकिरण अपना स्वर मिलाती है। वर्षा-ऋतु में नवजल-सिंचित वनान्त में हवा में झूमती हुई कदम्बशाखाएँ भी इसी छन्द से आन्दोलित हैं; इसी के ताल पर शारद-लक्ष्मी अपने हंसरव-नूपुर की ध्वनि को मन्द्रित करती है। वसन्त के दक्षिण समीरण से चंचल कुसुमों से लदी हुई आम्रशाखाओं का कल मर्मर इसी की तान-तान से प्रसारित होता है।" फिर " 'कुमारसम्भव' के तृतीय अंक में कामदेव के आकस्मिक आविर्भाव से चंचल यौवन का उद्दीपन वर्णित हुआ है। यहाँ कालिदास ने उन्मत्तता को संकीर्ण सीमा के बीच नहीं देखा और न यह दिखाने का प्रयास किया है कि उन्मत्तता ही सबकुछ है। एक विशेष तरह का शीशा होता है जिसमें से यदि सूर्यकिरणें किसी बिन्दु पर पड़ें तो वहाँ आग जल उठती है। लेकिन वही सूर्यकिरणें जब आकाश में सर्वत्र स्वाभाविक रूप से प्रसारित होती हैं, तो ताप तो देती हैं लेकिन जलाती नहीं। वसन्त-प्रकृति की सर्वव्यापी यौवनलीला के बीच हर-पार्वती के मिलन-चांचल्य को विन्यस्त करके कालिदास ने उसकी मर्यादा सुरक्षित रखी है। उन्होंने पुष्पधनु की प्रत्यंचा-ध्वनि को विश्व-संगीत के स्वर से विच्छिन्न नहीं होने दिया।" उन्होंने अपनी एक कविता में कहा है कि कालिदास आज भी मानसलोक में बसे हुए हैं। उज्जयिनी का मोहक वातावरण नहीं रहा, विक्रमादित्य का प्रतापशाली शासन नहीं रहा, नवरत्नों की जगमगाती मण्डली नहीं रही, क्षणिक स्वप्न के समान वे एक मीठी स्मृति-भर छोड़ गये हैं; किन्तु कालिदास अब भी मानसलोक में बसे हुए हैं, क्योंकि महादेव के वे अपने कवि थे। इसका तात्पर्य यह है कि कालिदास महान् विश्वव्यापी देवता की महिमा गानेवाले कवि हैं। वे शाश्वत हैं। महान् विश्वव्यापी देवता ही रंग में, रूप में, वर्ण में, प्रभा में, सौकुमार्य में, पौरुष में, अकुतोभव वीर्य में अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा है। 'कुमारसम्भव' को जिसने सर्वात्मना विशुद्ध रूप से स्वीकार किया है, वही यह बात कह सकता है। शिव विश्वमूर्त्ति हैं। उन्होंने व्यक्ति में पुरुष-नारी के रूप में और समष्टि में हर-पार्वती के रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त किया है। 'कुमारसम्भव' उसी समष्टिव्यापी महादेवता का यशोगान है। रवीन्द्रनाथ ने कालिदास के काव्य में उसी सदा-मुखरित केन्द्रीय सत्य को स्वीकार किया था। उनके काव्यों, निबन्धों और भाषणों में निरन्तर यह सत्य

मुखरित है। जिस कविता की अभी चर्चा की गयी है वह बंगला में है। उसका अनुवाद देना तो कठिन है, पर फिर भी यहाँ उसका एक हिन्दी रूपान्तर देने का प्रयास किया जा रहा है। हिन्दी रूपान्तर कुछ इस प्रकार होगा :

तुम महेश्वर के निजी कवि थे महाकवि
मानसस्थित रम्यगिरि कैलास के उत्तुंग शिखरों पर
उन्हीं के मन्दिर प्रांगण-सभा में
नीलकण्ठद्युति समान स्निग्ध नीले चिरस्थिर घन मेघदल में,
ज्योतिर्मय सप्तर्षिगण के तपोलोक तले मनोरम।
आज भी तुम बस रहे हो यहाँ मानस धाम में
बसे रहोगे भी नियत इसमें कवीश्वर सर्वदा सब भाँति
मुखरित कर भुवन को विमल शंकरचरित के यशगान से।
जाने कहाँ से आ गया था शुभ्र क्षिप्रातटविहारी राजभवन विशाल,
नरपति विक्रमार्क महान्, उनका दीप्तिमय नवरत्नमण्डल
स्वप्न की क्षणभंगुरा शोभा मनोहर।
पर स्वप्न वह अब खो गया है, चपल शोभा खो गयी है
रह गये हो तुम कवे, इस विश्वमानस-लोक में सुस्थिर!

—'कवीश्वर कालिदास'

इस कविता में रवीन्द्रनाथ ने अप्रत्यक्ष रूप से बताया है कि किस प्रकार देश-कालातीत कालिदास उनके मन में रमे हैं। 'कुमारसम्भव' और 'शाकुन्तल' तथा 'मेघदूत' पर तो उन्होंने कई कविताएँ और निबन्ध लिखे हैं। अपनी एक कविता में उन्होंने कालिदास से पूछा है कि 'हे अमर कवि कालिदास, तुम जब जीवित थे तो क्या तुम्हें आशा-निराशा का संघर्ष, अपमान, षड्यन्त्र आदि नहीं सहने पड़े! तुमने सबको सहा, पर उससे काव्य को लिप्त नहीं होने दिया। जीवन को मथने पर जो विष निकला उसे तुम स्वयं पी गये, अमृत को दोनों हाथों लुटा गये। इस कविता में केवल कालिदास के प्रति आदरभाव ही नहीं व्यक्त हुआ है, काव्यगत आदर्श की ओर इंगित भी है। जो रवीन्द्रनाथ को निकट से जानता है, वही जानता है कि वे कितना विष पीकर अमृत लुटा गये हैं। इस कविता से स्पष्ट है कि वे कालिदास के काव्यगत आदर्शों से भी प्रभावित हुए थे। उस कविता का हिन्दी भाषान्तर कुछ इस प्रकार होगा :

उस समय भी क्या न थे सुख-दुःख के संघर्ष, आशा-निराशा के द्वन्द्व,
प्रतिदिन हमारी ही भाँति, बोलो हे अमर कवि ?
क्या न पद-पद पर हुआ करते रहे षड्यन्त्र राजसभा-भवन में ?
पीठ पीछे के (घृणित) आघात ?
क्या नहीं सहनी पड़ी तुमको कभी अपमान की कटु मार ?
दारुण अनादर, सन्देह या अन्याय ?—
क्या कभी तुमने न अनुभव किया क्रूर अभाव का अभिशाप

निद्राहीन, हृदय-विदीर्णकारी रात का सन्ताप ?
फिर भी ढँक सभी को और सबके उर्ध्व
निर्मल-निर्विकार-अलिप्त शतदल ललित कोमल काव्य का विकसित तुम्हारा।
उल्लसित आनन्द से, मुख किये अपना प्रभाकर की ओर।
उसमें कहीं भी दिखता नहीं दुख-दैन्य का आभास,
कातर चित्त का लवलेश।
जीवन को मथित कर, जो मिला विष उसे तुम ही पी गये निःशेष,
पाया जो अमृत उसको लुटाया है उलीच-उलीच।

निस्सन्देह कालिदास भारतीय मनीषा के सर्वश्रेष्ठ दान हैं। उन्होंने अपने युग तक की समूची संस्कृति का नवनीत दिया है। उसके बाद इतिहास-विधाता का रथ-चक्र आगे बढ़ता गया। अनेक मानव-मण्डलियों के सम्पर्क और संघर्ष से भारतीय मनीषा ने नयी ज्योति का सन्धान पाया है, नये समाधान ढूंढ़े हैं। रवीन्द्रनाथ ने इन दो हजार वर्षों की महिमामयी साधना की विरासत भी पायी है, और इसीलिए वे ठीक वही नहीं हैं जो कालिदास हैं; पर जहाँ तक समूची भारतीय संस्कृति के नवनीत के आकलन का प्रश्न है, वे कालिदास के समान ही निपुण हैं।

रवीन्द्रनाथ का पुण्यस्मरण

गत 7 अगस्त को कविवर रवीन्द्रनाथ का तिरोधान-दिवस सारे देश में मनाया गया है। भारतीय तिथियों के अनुसार यह श्राद्धदिवस श्रावणी पूर्णिमा को पड़ना चाहिए। मुझे लगभग बारह वर्ष तक उनका स्नेह प्राप्त करने का अवसर मिला था। इस बीच उनके अनेक उपदेश सुनने को मिले हैं, अनेक आदेश पालन करने पड़े हैं, अनेक सरस विनोदों और झिड़कियों को भी सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है—इन बातों की स्मृति आज अन्तस्तल में चुभती रहती है। इतना बड़ा प्रेमी, इतना बड़ा सदाशय, ऐसा महान् मानव-विश्वासी मनुष्य मैंने नहीं देखा। उनके पास दस मिनट बैठने के बाद चित्त में अपूर्व आत्मबल का संचार होता था। ऐसे लोग तो संसार में बहुत मिलेंगे जिनके पास जाने से मनुष्य अपने भीतर के दोषों को देखता है, अपने अन्तस्तल के असुर को प्रत्यक्ष देखकर निराश हो जाता है, पर ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे जो उसके भीतर के देवता को प्रत्यक्ष करा दें। रवीन्द्रनाथ ऐसे ही महापुरुष थे। वे मनुष्य के अन्तस्तल में निस्तब्ध देवता को प्रत्यक्ष करा देते हैं। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनके काव्यों की भाँति ही मनोहर,

उद्बोधक और प्रेरणादायक तत्त्वों से संघटित था। मैंने उन्हें अनेक विचित्र और जटिल समस्याओं के भीतर निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति प्रशान्त तेज से जलते देखा है, एक बार भी उन्हें ऊँचे आसन से नीचे उतरते नहीं देखा, एक बार भी उन्हें अभिभूत होते नहीं देखा। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों से स्निग्ध प्रीतिधारा झरती-सी रहती थी। मैंने उन्हें वृद्धावस्था में देखा था। फिर भी कैसी अपूर्व शोभा उनके इस वृद्ध शरीर में थी। जिस ओर से भी देखिए, विधाता ने उन्हें अपूर्व चारुता-सम्पत्ति दे रखी थी। मुखमण्डल से कान्ति की धारा झरती रहती थी, बड़ी-बड़ी आँखों से स्नेह की पावन धार बरसती रहती थी और श्वेत श्मश्रु से आच्छादित अधरोष्ठों के मन्दस्मित से तो अपूर्व शान्ति की स्रोतस्विनी ही बह जाया करती थी। उनके विराट् मानस में औदार्य, तेज और प्रेम की त्रिवेणी लहराया करती थी और कुशाग्र बुद्धि जगत् की गूढ़तम समस्याओं को अनायास भेद जाया करती थी। जितना ही सोचता हूँ उतना ही लगता है, रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व अपूर्व था, अद्भुत था। ऐसे महापुरुष के सान्निध्य को विधाता के वरदान के सिवा और क्या कहा जा सकता है और स्नेहाधार से विमुक्त होने को दुर्दैव के भयंकर अभिशाप के सिवा और क्या कहा जाय। उनके ही विषय में आज कहना है—आँखिन में जो सदा रहते तिनकी यह कान कहानी सुन्यो करें।"

जिस दृष्टि की प्रेमाप्लुत मोहिनी शक्ति की मैंने ऊपर चर्चा की है वह दृष्टि बड़ी भेदक थी। उसने इस युग के सम्पूर्ण रहस्य को इस सहज भाव से देखा था कि आश्चर्य होता है। उसमें सौन्दर्य और सत्य तक पहुँचने की अपूर्व शक्ति थी। यूरोप की सभ्यता ने हमारे देश के पिछले इतिहास को अभिभूत कर रखा था। कुछ लोग उसके प्रभाव में एकदम बह गये थे, कुछ दूसरे लोग ठीक बह तो नहीं गये थे पर उसकी ओर से धक्का खाकर अपने प्राचीन आचारों से चिपट गये थे। ये लोग पद-पद पर 'हमारे यहाँ' का ब्रह्मास्त्र चलाया करते थे। रवीन्द्रनाथ ने इस सभ्यता के दोष और गुण दोनों को विवेक के साथ परखा था। इस युग में यूरोप ने निश्चय ही किसी बड़े सत्य को पाया है; न पाया होता तो इतनी उन्नति उसकी न होती। रवीन्द्रनाथ ने इस सत्य से अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा था कि "भौतिक जगत् के प्रति व्यवहार सच्चा होना चाहिए, यह आधुनिक वैज्ञानिक युग का अनुशासन है। इसे नहीं मानने से हम धोखा खायेंगे। इस सत्य को व्यवहार करने की सीढ़ी है मन को संस्कार-मुक्त करके विशुद्ध प्रणाली से विश्व के अन्तर्निहित भौतिक तत्त्वों का उद्धार करना।" आगे चलकर वे इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं। यह बात सही है। "किन्तु और भी सोचने की बात रह जाती है। यूरोप ने जिस बात में सिद्धि प्राप्त की है उस पर हमारे देशवासियों की दृष्टि बहुत दिनों से पड़ी है, वहाँ पर उसका जो ऐश्वर्य है वह विश्व के सामने प्रत्यक्ष है। किन्तु जिस बात में उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है वह गहराई में है इसीलिए वह बहुत दिनों तक दुनिया की आँखों के ओझल रही है। यहीं उसने विश्व की भयंकर क्षति की है और यह क्षति अब धीरे-धीरे उसी की ओर लौट रही है।

यूरोप के जिस लोभ ने चीन को अफीम खिलायी है वह लोभ तो चीन की मृत्यु से ही मर नहीं जाता। हम बाहर से देख सकें या नहीं, यह लोभ यूरोप को प्रतिदिन बेरहमी के साथ मोहान्ध बनाता जा रहा है। केवल भौतिक जगत् में ही नहीं। मनुष्य की दुनिया में निष्काम चित्त से सत्य का व्यवहार करना आत्मरक्षा का आखिरी और उत्तम उपाय है। उस सत्य व्यवहार पर से पश्चिमी जातियों की श्रद्धा प्रतिदिन कम होती जा रही है। इसी कारण उनकी लज्जा भी दूर होती जा रही है और इसीलिए उनकी समस्या भी जटिल होती जा रही है। विनाश नजदीक आता जा रहा है।''

क्या मानव जगत् और क्या भौतिक जगत्, क्या स्वदेश और क्या विदेश, सर्वत्र सत्याचरण को ही उन्नति और अभ्युदय का मूल मन्त्र मानना चाहिए। कवि ने अपने जीवन में भी और अपने ग्रन्थों में भी सर्वत्र इस सत्य का जयगान किया है। इस सत्य पर दृष्टि निबद्ध रहने के कारण ही आज से बीसियों वर्ष पहले वे ऐसी बात लिख गये हैं जो आज आश्चर्यजनक भविष्यवाणी जैसी लगती हैं। सन् 1916 में चीन-समुद्र से उन्होंने अपने एक प्रिय-जन को पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने चीनी मजदूरों की अपूर्व कर्म-तत्परता को देखकर लिखा था—"कर्म की यही मूर्त्ति है। एक दिन इसकी जीत होगी। यदि न हो, यदि वाणिज्य-दानव ही मनुष्य की घर-गिरस्ती, आनन्द-आजादी आदि को लीलता चला जाये और एक वृहद् गुलाम-सम्प्रदाय की सृष्टि कर डाले तथा उसी की मदद से कुछ थोड़े-से लोगों का आराम और स्वार्थ-साधन करता रहे तब यह पृथ्वी रसातल को चली जायेगी। चीन को यह इतनी बड़ी शक्ति (कर्म करने की शक्ति) जिस दिन हमारे इस युग के सर्वश्रेष्ठ वाहन को पा सकेगी अर्थात् जिस दिन विज्ञान को हाथ कर लेगी उस दिन संसार की कौन-सी शक्ति है जो उसे बाधा दे सके?" रवीन्द्रनाथ की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई है। चीन को बाधा देने की समस्त चेष्टाएँ व्यर्थ हुई हैं। चीन की इस कर्म-तत्परता को देखकर उन्हें अपना देश याद आ गया था। उन्होंने दीर्घ निश्वास त्याग करते हुए लिखा था—"कब मिलेगी यह तस्वीर भारतवर्ष में देखने को। यहाँ तो मनुष्य अपना बारह आना अंश अपने आपको ही धोखा देकर काट रहा है। नियमों का ऐसा जाल फैला है जिससे केवल बाधा ही बाधा पाकर, केवल उलझ-उलझकर ही, अपनी शक्ति का अधिकांश फिजूल खर्च कर देता है, बाकी अंश को काम-काज में जुटा ही नहीं पाता। विपुल जटिलता और जड़ता का ऐसा समावेश पृथिवी में और कहीं नहीं मिल सकता। चारों ओर केवल जाति के साथ जाति का विच्छेद, नियम के साथ काम का विरोध, और आचार-धर्म के साथ काल-धर्म का द्वन्द्व फैला हुआ है। इस प्रकार उन्होंने भारतीय धर्म की जड़ विधियों का तिरस्कार किया था, परन्तु सत्यों का सत्य यह है कि उपनिषदों के अपूर्व रस का मन्थन करने के बाद ही उन्होंने सिद्धान्त सिद्ध किया था। रवीन्द्रनाथ मनुष्य की जीवनधारा में पूर्ण आस्था रखते थे। वे जानते थे कि ऊपर का हो-हल्ला क्षणिक है। समस्त अशान्ति और आलोड़न के नीचे

मनुष्य जाति की वह सहज कर्मशील धारा ही एकमात्र जीवित रहती है जो मैदानों में परिश्रम करती है, जो जड़ संचय के बल पर नहीं बल्कि जीवन्त प्राणमय कर्म-शक्ति पर भरोसा रखती है। इसीलिए वे प्रबल उत्तेजना के समय भी शान्त निस्तब्ध रह सके थे। उनका उस परमात्मा में विश्वास था जो विलास और शक्तिमद में नहीं रहता बल्कि कर्ममय मानव जीवन के साथ नित्य चला करता है। एक कविता में उन्होंने इस भाव को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है :

वे चिरकाल रस्सी खींचते हैं, पतवार थामे रहते हैं।
वे मैदानों में बीज बोते हैं, पका धान काटते हैं—
वे काम करते हैं नगर और प्रान्तर में।
राजछत्र टूट जाता है, रणडंका बन्द हो जाता है।
विजयस्तम्भ मूढ़ की भाँति अपना अर्थ भूल जाता है,
लहूलुहान हथियार धरे हाथों के साथ सभी लहूलुहान आँखें
शिशुपाठ्य कहानियों में मुँह ढाँपे पड़ी रहती हैं।
वे काम करते हैं—देशदेशान्तर में।
अंग वंग कलिंग में
समुद्र और नदियों के घाट घाट में
पंजाब में बम्बई में गुजरात में।
उनके गुरु गर्जन और गुन-गुन स्वर
दिन-रात में गुँथे रहकर दिन-यात्रा को मुखरित किये रहते हैं।
मन्द्रित कर डालते हैं जीवन के महायन्त्र की ध्वनि को
सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नावशेष पर
वे काम किये जा रहे हैं!

रवीन्द्रनाथ ने कई सौ ग्रन्थ लिखे हैं, इनमें कविता हैं, उपन्यास हैं, कहानियाँ हैं, नाटक हैं, निबन्ध हैं, आलोचना हैं—साहित्य अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित करता है उन सब पर उनका अबाध अधिकार था। देश और दुनिया की सभी समस्याओं पर उन्होंने विचार किया है। सर्वत्र उन्होंने सत्य का पक्ष लिया है। सम्राटों की विकट भृकुटियों की उन्होंने परवा नहीं की, धनकुबेरों की भरी थैलियों की ओर उन्होंने आँख उठाकर नहीं ताका। वे विशुद्ध मनुष्यता के गीत गाते रहे। उन्होंने समय रहते ही संसार को विनाश की आँधी से बचने की सतर्क वाणी उच्चारित की थी पर ऊँचे सिंहासनों तक वह वाणी पहुँच नहीं सकी। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उनके चित्त में यह आशंका प्रबल रूप धारण करती जा रही थी कि संसार फिर एक बार शिशुघाती प्रबल बीभत्सता का शिकार होने जा रहा है। उन्होंने व्याकुल भाव से अपने इतिहास-विधाता से इसका प्रतिरोध करने लायक शक्ति माँगी थी :

इधर दानव पक्षियों के झुण्ड उड़ते आ रहे हैं क्षुब्ध अम्बर में
विकट वैतरणिका के अपर तट से यन्त्रपक्षों के विकट हुंकार से करते अपावन

गगनतल को, मनुज शोणित मांस के ये क्षुधित दुर्दम गिद्ध !
--कि महाकाल के सिंहासनस्थित हे विचारक शक्ति दो मुझको—
निरन्तर शक्ति दो, दो कण्ठ में मेरे विकट वह वज्रवाणी करूँ कठिन प्रहार
इस बीभत्सता पर, बालघाती नारिघाती इस परम कुत्सित अनय को
कर सकूं धिक्कार-जर्जर ! शक्ति दो ऐसी कि यह वाणी सदा स्पन्दित
रहे लज्जातुरित इतिहास के हृद्देश में उस समय भी जब रुद्धकण्ठ
भयार्त्त यह शृंखलित युग चुपचाप हो प्रच्छन्न अपने चिता-भस्मस्तूप में ।

निस्सन्देह रवीन्द्रनाथ की यह वज्रवाणी इतिहास के लज्जातुर स्पन्दन में सदा अंकित रहेगी और जब यह शृंखलित युग चुपचाप चिता-भस्म के नीचे दब जायेगा तो वह विशुद्ध मानवता अंकुरित होगी जिसके लिए वे इतना कुछ कर गये हैं। तथास्तु ।

[1958 'प्रज्ञा' भाग-2 में प्रकाशित]
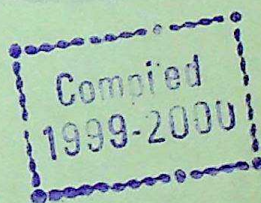
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

हजारीप्रसाद द्विवेदी

बचपन का नाम बैजनाथ द्विवेदी। श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 (1907 ई.) को जन्म। जन्म-स्थान आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया, बलिया, उत्तरप्रदेश। पिताश्री अनमोल द्विवेदी और माता श्रीमती ज्योतिष्मती। 1927 ई. में श्रीमती भगवती देवी के साथ विवाह। सात पुत्र-पुत्रियाँ। संस्कृत महाविद्यालय, काशी, में शिक्षा। 1929 ई. में संस्कृत साहित्य में शास्त्री और 1930 में ज्योतिष विषय लेकर शास्त्राचार्य की उपाधि पायी।

8 नवम्बर 1930 को हिन्दी शिक्षक के रूप में शान्तिनिकेतन में कार्यारम्भ। वहीं अध्यापन 1930 से 1950 तक। अभिनवभारती ग्रन्थमाला का सम्पादन, कलकत्ता : 1940-46। 'विश्वभारती' पत्रिका का सम्पादन 1941-47। हिन्दी भवन, विश्वभारती, के संचालक 1945-50। लखनऊ विश्वविद्यालय से सम्मानार्थ डॉक्टर ऑफ लिट्रेचर की उपाधि 1949। सन् 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रोफेसर और हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्ति। 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय की एक्जीक्यूटिव काउन्सिल के सदस्य 1950-53। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष 1952-53। साहित्य अकादेमी दिल्ली की साधारण सभा और प्रबन्ध-समिति के सदस्य। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के हस्तलेखों की खोज (1952) तथा साहित्य अकादेमी से प्रकाशित नेशनल बिब्लियोग्रैफी (1954) के निरीक्षक। राजभाषा आयोग के राष्ट्रपति-मनोनीत सदस्य 1955 ई.। सन् 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधि से सम्मानित। सन 1960-67 के दौरान, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, में हिन्दी प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष। सन् 1962 में पश्चिम बंग साहित्य अकादेमी द्वारा टैगोर पुरस्कार। 1967 के बाद पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में, जहां कुछ समय तक रैक्टर के पद पर भी रहे। 1973 में केन्द्रीय साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत। जीवन के अन्तिम दिनों में 'उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान' के उपाध्यक्ष रहे। 19 मई 1979 को देहावसान।